कालिदास

▲

निधौ रसानां निलये गुणाना-
मलंकृतीनामुदधावदोषे ।
काव्ये कवीन्द्रस्य नवार्थतीर्थे
या व्याचिकीर्षा मम तां नतोऽस्मि ॥

प्रणेता
श्री चन्द्रबली पांडे

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

हिन्दी-संस्कृत पुस्तक विक्रेता

पो० ब० ७५, बनारस ।

मूल्य ७॥)

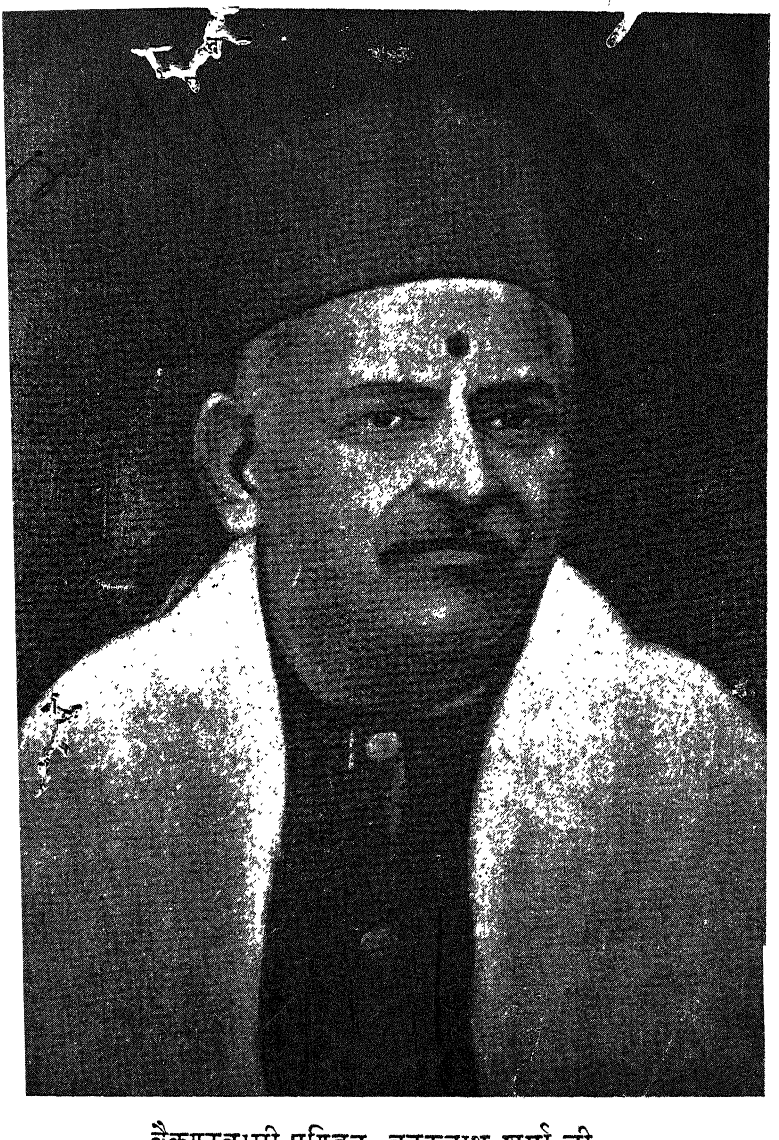
प्रथम आवृत्ति] [संवत् २०११

सर्व प्रकार की पुस्तकें निम्न लिखित स्थानों से
मिल सकती हैं—

१—मोतीलाल बनारसीदास, पोस्ट बाक्स ७५, बनारस ।

२—मोतीलाल बनारसीदास, पोस्ट बाक्स १५८६, दिल्ली ।

३—मोतीलाल बनारसीदास, बाँकीपुर, पटना ।



वैकुण्ठवासी पण्डित वटुकनाथ शर्मा जी

वैकुण्ठवासी पण्डित बटुकनाथ शर्मा जी

की पुण्य-स्मृति में

उन्हीं के

एक

बटुक की

अमर भारती के

सरस उपासकों को सादर तुच्छ भेंट

निवेदन

इतिहासदर्शी, वाग्देवतागुरु, कवि कालिदास के विषय में इस जन को कुछ लिखने की क्यों सूझी और क्यों इसने ऐसा कुछ लिख डाला आदि प्रश्नों का समाधान यह जन नहीं कर सकता। इसको तो बस इतना भर बता देना है कि कालिदास के अध्ययन के वर्तमान से संतुष्ट न होने के कारण ही इसको ऐसा करना पड़ा। पहले जब कभी जैसी कुछ प्रेरणा हुई कुछ कविकुल-गुरु के विषय में लिख दिया गया और जहाँ-तहाँ किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित भी करा लिया गया। किन्तु संतोष इससे हुआ नहीं। उलटे कुछ और लिखने की भावना बढ़ती गई। होते-होते हुआ यह कि यह 'कालिदास' प्रकाश में आ गया और अपने मन की प्यास इस दिशा में कुछ काल के लिये बुझ गई। आगे समय पाकर कुछ और भी हो सका तो अच्छा ही अन्यथा इस राष्ट्रकवि के लिए इतना भी अपनी दृष्टि में कम नहीं। आधार बन गया आवास बनता रहेगा।

कविकुलगुरु कालिदास के अध्ययन की अबतक जो दृष्टि रही वह एक ओर अपनी थी तो दूसरी ओर परायी। अपनी अंधी हो चली थी तो दूसरी दूषित। ऐसी स्थिति में दोनों के मेल वा संयोग से जो अपना मार्ग निकाला गया है वह कहाँ तक साधु अथवा समीचीन है, इसकी मीमांसा संस्कृत के कुशल शास्त्री और उद्भट विद्वान् करें। आचार्य देखें और डाक्टर समझें। अभी अपने आप को तो इतना ही पर्याप्त है कि इसमें कालिदास को देखने की आँख और उनकी रचना को परखने की दृष्टि का विधान है। कवि के जीवन की खोज में जो समय लगा है उसका सदुपयोग हुआ और उससे उसके जीवन-चरित्र की कुछ झाँकी मिली तो जिज्ञासा को बल मिला अन्यथा बुद्धि-विलास तो है ही। उससे कृति-परिशीलन में बाधा नहीं। हाँ, उसके सहारे कवि को समझने में सुविधा अवश्य है।

वाग्देवता कालिदास की वाणी का प्रमाण क्या? कितने कालिदास और कितनी उनकी कविता? जिज्ञासा पुरानी है पर समाधान नया। नवीनता यह कि प्रश्न उठा नहीं, समाधान हुआ नहीं पर बात बन गई। पता आप ही चल गया

कि वास्तव में कितने कविकर्म इस 'कवि' के हैं और हैं तो तक किस ग्रंथ में। 'ग्रंथ-मीमांसा' का यही तो महत्त्व है ? जिसकी यहाँ चर्चा नहीं वह इस कवि कालिदास की कृति नहीं। किसी और ही कालिदास की रचना हो वह, तो उससे यहाँ अपना प्रयोजन क्या ? अपना कार्य तो बस उस 'कालिदास' को भर आँख देख भर लेना है जिस कालिदास को देखने को विश्व की आँख खुली है।

विश्व ने अपनी-अपनी भाषा और अपने-अपने भाव में अपने आपको समझने का जो प्रयत्न अपने-अपने ढंग से किया है वह आज किसी न किसी सूक्ष्म प्रेरणा से मानव-मात्र का बना चाहता है। कालिदास भी उसके सामने कभी के आ चुके हैं, इसमें सन्देह नहीं। यह सौभाग्य की बात है कि संस्कृत वाङ्मय में जहाँ 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का सर्वप्रथम अँगरेजी में अनुवाद हुआ वहीं 'ऋतुसंहार' का सर्वप्रथम छापे में मुद्रण। बात तो कुछ होगी ही जो इस कवि को यह महत्त्व मिला ? उस बात को परखने का यहाँ प्रयत्न किया गया है जिससे इन ग्रंथों को इस 'कालिदास' में कुछ विशेषता प्राप्त हो गई है। 'ऋतुसंहार' को हमने 'लोक' की दृष्टि से देखा है तो 'अभिज्ञान' को 'वेद' की दृष्टि से। हमारी दृष्टि में प्रथम 'अथ' है तो द्वितीय है 'इति'। शेष में इसी लोक-वेद का विस्तार है।

'मेघदूत' में अध्यात्म पढ़ने का प्रयत्न बराबर होता रहा है। इधर उसमें कुंडलिनी जगाने की विधि भी ढूँढी जा रही है। अच्छा ही है। कालिदास की व्यापक दृष्टि में इससे वृद्धि ही होती है। परन्तु अपना पक्ष ऐसा नहीं है। अपने को तो यहाँ 'पृथिवी' की विभूति ही गोचर होती है। यहाँ 'छायापथ' का उल्लेख कहाँ है ? है कहीं 'मेघदूत' में 'द्यौ' की आभा वा 'अंतरिक्ष' की फुहार ? यक्ष सभी कुछ तो 'धरती' की सोच रहा है। 'माता धरती' के सामने 'पिता गगन' की यहाँ पूछ कहाँ ? निश्चय ही मेघदूत 'अधिकार' का काव्य है कुछ अध्यात्म का कूट नहीं। इसमें प्रमत्त 'अनुचर' का विषाद है कुछ प्रसन्न 'राजराज' का प्रसाद नहीं। ध्यान देने और स्मरण रखने की बात यह भी है कि न तो किसी 'कामरूप प्रकृतिपुरुष' मेघ को किसी 'हठयोग' की आवश्यकता है और न उसकी आवश्यकता है किसी शापवश 'यक्ष' के लिए ही। फिर यह 'कुंडलिनी' की योग-साधना ? इससे किसी यक्ष का नाता क्या ? शाप मिटा नहीं कि

वह आप ही अपनी 'अलका' में जा रमा। फिर यह अध्यात्म की चढ़ाई कैसी ? यह तो अनुराग की घाटी है न ?

'कुमारसंभव' में 'संभव' के संकेत को न समझ सकने के कारण उसके विषय में जो ऊहा होती रही है उससे आँख बचाकर थोड़े में यह दिखा दिया गया है कि वास्तव में 'कुमारसंभव' अष्टसर्ग का पूर्ण काव्य है। उसके अष्टम सर्ग में इसी 'संभूति' किंवा 'गर्भाधान' का विधान है। इसके आगे का वर्णन कवि को इष्ट नहीं। उसका कार्य है 'कुमार' का 'संभव' न कि 'तारक' का 'वध'। अस्तु। उसको अष्टसर्ग का पूर्ण काव्य समझना चाहिए। संभोग शृङ्गार का यह अनुपम सरस शास्त्र है। इसे अश्लील समझना साधु नहीं। वस्तुतः रस की दृष्टि से 'मेघदूत' इसका पूरक काव्य है। 'संयोग' और 'वियोग' का यह संपुट प्रेम-साधना का सर्वस्व है। इस 'योग' का 'हठयोग' से कोई नाता नहीं। वैसे विल्वपत्र में वेद की ऋचा चाहे जो पढ़े।

'रघुवंश' को भी अपूर्ण समझने का कोई कारण नहीं। कालिदास की कविता मुग्धा की भाँति अपना रंग दिखाती है। 'गर्भाभिषेक' का रहस्य क्या ? 'कुमारसंभव' में कवि की दृष्टि 'संभव' पर है। असुर-विनाश बस इतने से ही हुआ समझिये। वह देवलोक की घटना है। मानवलोक की आशा बस गर्भ में है। 'रघु-वंश' में अब भी प्राणी हैं। तब भी प्राणी थे। फिर कालिदास उसका अन्त कैसे दिखाते और दिखाते भी तो उससे कोई कार्य कैसे सध जाता ? फलतः उन्होंने 'आसमुद्रक्षितीश' का व्रत लिया और उसे अपने काव्य में पूरा कर दिखाया। उसकी दुर्गति उनको इष्ट नहीं पर उसका आभास किससे अलक्ष्य रहा ? निदान इसको भी यहाँ स्पष्ट किया गया है और प्रत्येक सम्राट् का महत्त्व दर्शाया गया है।

'विक्रमोर्वशीय' में 'विक्रम' और 'उर्वशी' को समझने में अब तक भूल हुई है। विक्रम के उन्माद पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। सच पूछिए तो 'विक्रम' और 'दुष्यन्त' का निर्माण 'चित्त' की दृष्टि से हुआ है। 'चेत' का विलास देखना हो तो इनका अध्ययन करें, अनुशीलन करें और प्रत्यक्ष करें कि कालिदास को किसी 'मानस शास्त्र' का कितना बोध था। साथ ही यह भी समझ लें कि इस उदार कवि के विशाल हृदय में इतना स्नेह है कि यह मेनका सी 'विघ्नकारिणी'

अप्सरा को भी 'दुहितृवत्सला' बनाता है और 'उर्वशी'-सी स्वर्गशोभा को भी धर्मचारिणी बनाकर छोड़ता है। राजा 'दृष्टसन्तान' न बने इसके लिए उसका उपाय देखते ही बनता है। अप्सरा भोग्या भले ही हो पर है वह वस्तुतः माता ही, इसे कोई कालिदास में पढ़ देखे। 'उर्वशी' को लें वा लें 'मेनका' को, दोनों ही अन्त में 'माता' के रूप में ही सफल और सुखी दिखाई देती हैं। इसको खोलने का यहाँ प्रयत्न हुआ है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में क्या नहीं है जो उसके विषय में अलग से कुछ कहा जाय? कालिदास का अध्यात्म वहीं अपनी आँखें खोलता है। थोड़ा 'कुन्तलेश्वरदौत्य' के विषय में भी कह दिया जाय क्या? किन्तु कहने को आधार कहाँ? छिटफुट प्रसंग में जो इतिहास पकड़ में आ गया वह भी 'परिशिष्ट' में विस्तृत कर दिया गया। विशेष अधिक सामग्री उपलब्ध होने पर।

'ऋतुसंहार' और 'मालविकाग्निमित्र' के सम्बन्ध में निवेदन यह कर देना है कि इनका महत्त्व किसी रहस्य के उद्घाटन अथवा किसी तथ्य के प्रतिपादन में नहीं है। यहाँ 'प्रिया' का सम्बोधन और प्रेम का प्रपंच है। 'गृहस्थ' और 'स्त्रैण' का प्रदर्शन है। प्रथम में कवि का आत्मगत अभ्यास है तो द्वितीय में अपनी कला का समाजगत उपदर्शन। अतः उसके काव्य-जीवन के विकास में इनका भी अपना अलग महत्त्व है जिसको स्फुट करने का प्रयत्न भरसक हुआ है।

सब मिलाकर कालिदास का जो रूप बना और उससे मानव को जो मार्ग मिला उसको भी प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है। मानव को कालिदास से क्या मिलता और क्या मिल सकता है इसको भी प्रत्यक्ष किया गया है। इससे आप ही सिद्ध हो जाता है कि वास्तव में 'कविकुलगुरु' की उपाधि उनको यों ही नहीं मिली है। नहीं, सचमुच उन्हीं में इसकी पात्रता है। उनको 'वाग्देवतागुरु' भी यथार्थ ही कहा गया है। कहने को उनको बहुत कहा गया है। किसी को बहुत कहने से कोई लाभ नहीं। अतः कल्याण उनको भली भाँति समझने में है। आशा है इस 'कालिदास' के झिलमिल प्रकाश में उसका विकाश होगा। तथास्तु।

कालिदास के अध्ययन की अपने यहाँ भी एक परिपाटी थी। उस परिपाटी को आधुनिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया गया है। न जाने कितने कवियों ने कालिदास के समय से लेकर आज तक अपनी-अपनी भाषा में अपनी-अपनी

भावना के अनुकूल कालिदास का कीर्तन किया है। पहले विचार था कि इसके लिए एक स्वतन्त्र अध्याय का विधान हो, किंतु स्थल-संकोच के कारण ऐसा न हो सका। फिर भी 'अनामिका सार्थवती बभूव' में इसकी जो झाँकी मिली है वह परम्परागत इस परिपाटी के परिशीलन में प्रोत्साहन का कार्य करेगी, ऐसा विश्वास है। 'गागर में सागर' का साक्षात्कार सचमुच यहीं होता है। कवि जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' की रचना में इसका विवाद ही सा छेड़ दिया है। रचना पर रचना की आवश्यकता क्यों होती है और इसका प्रवाह क्यों सदा गतिशील रहता है, इससे प्रयोजन क्या? पते की बात तो यह है कि एक ही छन्द में कितने कवि अपनी-अपनी विशेषता के साथ 'कविता-कामिनी' की शोभा बढ़ाने के निमित्त यथास्थान एकत्र हो गए हैं। देखिए न कैसा अद्भुत है यह काव्य-सौन्दर्य। कवि-वचन है—

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुरः कर्णपूरो मयूरः,
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा भवति कविता-कामिनी कौतुकाय॥

प्रश्न समाधान चाहता है। उत्तर की प्रतीक्षा क्यों? 'कालिदास' को 'कविता-कामिनी' का 'विलास' कह देना पर्याप्त था। किन्तु नहीं। इससे उसकी 'गुरुता' का बोध कहाँ होता? फलतः कहा गया उसको 'कविकुलगुरु'। इस 'गुरु' की गुरुता को प्रकट करने का प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है इसका पता पंडितों के पास है। अपने हाथ तो यह स्वीकार करना है कि इस कार्य के संपादन में स्व० ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश' के संकलन से विशेष योग मिला है। 'कालिदास का व्यापक प्रभाव' यदि उनकी दृष्टि में न रहा होता तो अपना काम अत्यन्त कठिन हो जाता, इसमें सन्देह नहीं।

सर विलियम जोन्स से लेकर आज तक आधुनिक परिपाटी से कविकुलगुरु कालिदास का जो अध्ययन हुआ उसका यथासाध्य और यथाशक्ति उपयोग किया गया है। उल्लेख किस-किस का किया जाय? आभार सभी का स्वीकार कर कहना यह है कि इस प्रकार के अध्ययन में श्री भगवतशरण उपाध्याय के अध्ययन

का मुख्य स्थान है। कारण यह कि 'कालिदास' में 'भारत' को पढ़ने का पूरा प्रयत्न अभी तक उन्हीं ने किया है। उनकी 'इंडिया इन कालिदास' नामक पुस्तक से इसमें विशेष सहायता मिली है। कह लें प्रेरणा।

कालिदास-जयन्ती के विषय में मौन रह जाना ठीक नहीं समझा गया। अन्त में 'परिशिष्ट' रूप में उसकी भी चर्चा हो गई। हाँ, अभी जो होना था पर हो न सका वह है 'भारत' का वह चित्र जिसकी झाँकी 'कालिदास' में मिली है। आशा है विद्वानों के समीक्षण के पश्चात् अगले संस्करण में वह भी हो लेगा। अस्तु।

इस पुस्तक के प्रणयन में छोड़ा भी बहुत गया है। शिल्प ने कालिदास से क्या सीखा है इसका भी कुछ विचार यत्र-तत्र हुआ है। श्री उदयशंकर शास्त्री की प्रेरणा पर भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। कारण अपना इष्ट और स्थान का संकोच ही था। श्री पद्मा मिश्रा का सहयोग न होता तो क्या होता? कह नहीं सकता। श्री ज्ञानवती त्रिवेदी का हाथ अन्त में इसमें लगा ही। अपने भतीजे श्री तिलकधारी पांडे का योग भी इसमें पर्याप्त रहा है। काशी विश्व-विद्यालय का पुस्तकालय अपना पुस्तकालय सा हो गया है। उसके कर्मियों की कृपा का परिणाम है कि यह पुस्तक इस रूप में प्रकाश में आ रही है। पुस्तक के प्रणयन में सबसे बड़ा दोष यह आ गया है कि इसमें आदि से अन्त तक एक ही संस्करण का उपयोग नहीं हुआ है। विशेषतः 'मेघदूत' के अवतरण में। किन्तु आशा है कि पाठक इसे क्षमा कर देंगे और कुछ श्लोकों के हेरफेर के साथ इसे किसी संस्करण में पा सकेंगे। अवतरण के निर्देश में श्लोक-संख्या पहले दी गई है और फिर बाद में सर्ग वा अंक की संख्या। नाटकों में गद्यांश के अवतरण में 'पू०' का संकेत है 'पूर्व' और 'प०' का संकेत है पश्चात्।

'लोकवाद' का संकलन श्री सीताराम चतुर्वेदी-सम्पादित 'कालिदास-ग्रन्थावली' से किया गया है। एतदर्थ सबका ऋणी—

विजया दशमी
सं० २०११ वि०

चन्द्रबली पांडे
बनारस ५

विषय-सूची

जीवन-वृत्त

उपोद्घात—विश्व के कवियों में कालिदास की गणना किस कोटि में होती है अथवा इस देश के कवियों में उनका कौन सा स्थान है आदि बातों में हमारा मन नहीं लगता और न हमारा जी इसी से भरता है कि हम उनकी रचना का एकान्त आस्वादन लें और उसी में रम रहें। नहीं, हम तो सामाजिक प्राणी हैं और अपने प्राण का प्रसार समाज में ही देखना चाहते हैं। अतएव हमारा कर्तव्य हो जाता है मानवता की दृष्टि से कालिदास की कविता को मापना और उनके मानव-हृदय को कविता के साथ परख पाना। सौभाग्य से कालिदास हमारे हृदय में कवि के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं और हैं मानव के रूप में ही विराजमान। उनके 'व्यसन' और उनके 'विलास' की कहानी आप कहीं भी सुन सकते हैं और जान सकते हैं उनके विकास की गाथा भी। परन्तु जो बात छानने से भी आप को कहीं नहीं मिल सकती वह है उनकी जीवनी। कारण कदाचित् यही कहा जा सकता है कि इस देश के विकास में 'जीवन' है 'जीवनी' नहीं, 'ज्ञाति' है 'व्यक्ति' नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति के बिना ही ज्ञाति अथवा जीवनी के बिना ही जीवन है। नहीं ऐसी बात नहीं है। कालिदास के जीवन के विषय में बहुत कुछ जाना जा सकता है और कदाचित् अब यह भी सरलता से कहा जा सकता है कि कालिदास का यही समय और कालिदास का यही स्वरूप भी है—ध्रुव नहीं छाया के रूप में। आभास मात्र। कारण कि अनुमान को प्रमाण कहना ठीक नहीं और प्रत्यय को प्रत्यक्ष बताना साधु नहीं। तो भी जहाँ जी भरा और मन मान गया वहाँ सत्य की प्रतिष्ठा हो गई और आप को समाधान का सच्चा सुख मिल गया। निदान कहा जाता है कि कालिदास का समय तो निश्चित ही समझिए। शेष के विषय में विवाद ही कितना ?

कालिदासत्रयी—किसी से भी पूछ देखिए, कोई भी कह देगा कि कालिदास विक्रमादित्य के समकालीन थे। कवि कालिदास राजा विक्रमादित्य। बस जनता की जानकारी यहीं तक है। कितने कालिदास और कितने विक्रमादित्य

का प्रश्न उसके सामने नहीं। अतएव उसकी बात तो छोड़िए और लीजिए उन पुराणविदों को जो सदा तीन-तेरह के चक्कर में पड़े रहते और कभी मीन-मेष से मुक्त नहीं होते। उनका कहना है कौन सा कालिदास किस विक्रमादित्य के शासन में हुआ। पीछे की कौन कहे? राजशेखर के पहले भी तो तीन कालिदास हो गए हैं और विक्रमादित्यों की तो गणना ही कौन करे? निवेदन है, कुछ ध्यान से सुनें और स्वतंत्र दृष्टि से देखें कि स्वयं राजशेखर का मत क्या है। उनका कहना है—

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
श्रृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥ ६० ॥

ध्यान देने की बात है कि 'श्रीमदारोहकभगदत्तजल्हणविरचित सूक्तिमुक्तावली' में यह पद्य 'कविकाव्यप्रशंसा' के संदर्भ में आया है और इससे आज यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि कालिदास तीन हो गए हैं। परन्तु हमारी समझ में यहाँ कवि 'काव्य' का प्रतीक है। आज भी पंडित-मंडली में 'माघ' 'भारवि' आदि कवि के ही नहीं 'काव्य' के भी द्योतक हैं। 'मेघे माघे गतं वयः' में 'माघ' का जो संकेत है वही यहाँ 'कालिदास' का भी। 'भट्टि' कवि का नाम है पर प्रायः उसके काव्य 'रावणवध' के लिए भी यही व्यवहृत होता है। तात्पर्य यह कि यह संस्कृत की परिपाटी सी है कि कवि और काव्य को एक कर देते हैं। राजशेखर के कहने का सीधा अर्थ यह है कि कालिदास का एक ही काव्य उन्हें सर्वोपरि सिद्ध करने में पर्याप्त है फिर उनके तो तीन काव्य हैं और तीनों में ललितोद्गार है श्रृंगार का। अस्तु श्रृंगार के ललित चित्रण में उनकी समता तो कोई कर ही नहीं सकता। इसकी कल्पना भी कठिन है। पता नहीं जो लोग इसके आधार पर तीन कालिदासों की कल्पना करते हैं उनका मन्तव्य क्या है। भला इस प्रकार की प्रशस्ति का प्रयोजन क्या? और सच तो कहिए इस 'कालिदासत्रयी' का कहीं किसी और को पता भी है? नहीं, इसका निश्चित निर्देश है कवि कालिदास के तीन ललित प्रबन्धों की ओर कुछ तीन कालिदासों की ओर नहीं। 'श्रृंगारे ललितोद्गारे' की यही पुकार है। 'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' का तो कहना ही क्या, 'रघुवंश' में भी इसी 'ललितोद्गार' की प्रमुखता है। यहाँ तक कि कवि 'ताडका' के निधन के प्रसंग में लिखता है—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥२०॥११॥

बस, इसी से जाना जा सकता है कि शृंगार के ललितोद्गार तथा 'शृंगार' और 'ललितोद्गार' में कालिदास का महत्त्व क्या है और इस क्षेत्र में उनके किसी भी काव्य की क्या प्रतिष्ठा है । उनकी 'दृश्यत्रयी' में भी यही बात है । 'मालविकाग्निमित्र' 'विक्रमोर्वशीय' एवं 'अभिज्ञानशाकुन्तल' तीनों में शृंगार और 'ललितोद्गार' है । निदान, राजशेखर के इस कथन के आधार पर एक कालिदास को तीन कालिदासों में बाँटना ठीक नहीं ।

कालिदास की परीक्षा—जो हो, हमें अभी कालिदास के समय पर विचार करना है और देखना यह है कि राजशेखर के यहाँ इसका कोई सूत्र है अथवा नहीं । सौभाग्य से उनका यह कथन सामने है—

महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत् । तत्परीक्षोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च । श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः ।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥

[काव्यमीमांसा, १० अध्या०, पृ० ५५]

इस प्रसंग में 'परीक्षितौ' बड़े काम का है । इसका आशय है यह बताना कि कालिदास की मेण्ठ, अमर की रूप, सूर की भारवि तथा हरिचन्द्र की चन्द्रगुप्त के साथ 'काव्यकार' के रूप में परीक्षा हुई । इससे सिद्ध होता है कि कालिदास और मेण्ठ समकालीन थे और थे 'चन्द्रगुप्त' काव्यकार ।

मेण्ठ के बारे में राजशेखर ने जो कुछ लिखा है उससे उनके समय के निर्धारण में वह सहायता नहीं मिलती जो 'कल्हण' के इस कथन से मिलती है—

गुणी च दृष्टकष्टश्च वदान्यश्च स पार्थिवः ।
विक्रमादित्यतोऽप्यासीदभिगम्यः शुभार्थिनाम् ॥२५८॥
विवेचकतया तस्य श्लाघ्यया सुरभीकृताः ।
लक्ष्मीविलासाः क्ष्माभर्तुरशोभन्त मनीषिषु ॥२५९॥
हयग्रीववधं मेण्ठस्तदग्रे दर्शयन्नवम् ।
आसमाप्ति ततो नापत्साध्वसाध्विति वा वचः ॥२६०॥

अथ ग्रथयितुं तस्मिन्पुस्तकं प्रस्तुते न्यधात् ।
लावण्यनिर्याणभिया तदधः स्वर्णभाजनम् ॥२६१॥
अन्तरज्ञतया तस्य तादृश्या कृतसत्कृतिः ।
भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोर्पणम् ॥२६२॥

[राजतरंगिणी, तृतीय तरंग]

मातृगुप्त—इससे जाना जाता है कि 'मेण्ठ' वा 'भर्तृमेण्ठ' मातृगुप्त के समकालीन थे और मातृगुप्त कश्मीर में शासक थे 'विक्रमादित्य' की ओर से। विक्रमादित्य, मातृगुप्त, मेण्ठ और कालिदास का एक ही काल में होना इस प्रकार आप ही सिद्ध हो जाता है। किन्तु खेद का विषय यह है कि कल्हण ने विक्रमादित्य का जो परिचय दिया है वह स्थिति को स्पष्ट करने में पर्याप्त नहीं है। उनका कहना है—

तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान्हर्षापराभिधः ।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत् ॥१२५॥
भूपमद्भुतसौभाग्यं श्रीर्बद्धरभसाभजत् ।
विहाय हरिबाहूँश्च चतुरः सागरांश्च यम् ॥१२६॥
लक्ष्मीं कृत्वोपकरणं गुणो येन प्रवर्धिते ।
श्रीमत्सु गुणिनोद्यापि तिष्ठन्त्युद्धरकंधराः ॥१२७॥
म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेरवतरिष्यतः ।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्यभारो लघूकृतः ॥१२८॥
नानादिगन्तराख्यातं गुणावत्सुलभं नृपम् ।
तं कविर्मातृगुप्ताख्यः सर्वास्थानस्थमासदत् ॥१२९॥

[राजतरंगिणी, तृतीय तरंग]

इस विक्रमादित्य का दूसरा नाम यदि 'हर्ष' न होता तो आप इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही समझते और इसी प्रकार यदि 'मातृगुप्त' का नाम न होता तो आप इस 'कवि' को भी कालिदास ही समझते। परन्तु इतना कुछ होने पर भी इन नामधेयों के कारण आपको बहुत कुछ प्रमाण जुटाना होगा और तब कहीं जाकर कहना कि वास्तव में कल्हण का पक्ष यही है।

शकारि—कल्हण के विक्रमादित्य और मातृगुप्त को यहीं छोड़ अभी उनके 'शकारि' को लीजिए और देखिए यह कि उनके विषय में किसी और का कुछ कहना है अथवा नहीं। सो सौभाग्य से कवि अभिनन्द की साखी सामने है। कहते हैं—

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः
ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शकारातिना।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं।
सद्यः सत्क्रियायाऽभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत्॥

[रामचरित, गायकवाड़ प्राच्यमाला—४६, सर्ग ३२]

इससे इतना तो स्पष्ट होगया कि कालिदास की ख्याति में किसी शकारि राजा का भी हाथ है। इस 'शकारि' के संबंध में इतना और भी जान लें कि इसी 'अभिनन्द' की दृष्टि में—

शकभूपरिपोरनन्तरं कवयः कुत्र पवित्रसंकथाः।
युवराज इवायमीडितो नृपतिः काव्यकलाकुतूहली॥

[रामचरित, सर्ग २२]

और इस 'नृपति कवि' के प्रसंग में इतना और भी जान लें कि—

नमो नृपतिचन्द्राय पृथ्वीपालाय येन सा।
विकालमलिना दिक्षु दर्शिता कविपद्धतिः॥

[रामचरित, सर्ग ४]

तो क्या 'अभिनन्द' की दृष्टि में पृथ्वीपाल नृपति 'चन्द्र' ही 'शकारि' और कवि कालिदास की ख्याति के कारण नहीं हैं? उत्तर देने के पहले कुछ और खोजें और देखें कि कहाँ से क्या ध्वनि आती है। सो 'सुबन्धु' से कोविद का विषाद है—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

[वासवदत्ता]

'अभिनन्द' और 'सुबन्धु' के अवतरणों से इतना तो प्रकट है कि 'शकाराति' 'नृपतिचन्द्र' तथा 'विक्रमादित्य' का कविता से घना संबंध है; किन्तु उनसे यह

नहीं सिद्ध हो जाता कि वास्तव में ये तीनों एक ही पात्र के नामधेय हैं। अतएव कुछ इसकी जिज्ञासा भी की जाती है। अभिनन्द का कहना है कि कालिदास की कीर्ति में 'शकारपति' का हाथ है और उनके द्वारा उक्त कवि को ख्याति मिली है। दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि राजा विक्रमार्क को व्याख्यात किया है कवि कालिदास ने। देखिए, किसी कवि की वाणी है—

बल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजः।
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमार्कोनृपः॥

[सुभाषित]

विक्रमार्क—अस्तु, हम देखते हैं कि कालिदास का एक ओर 'शकाराति' से सम्बन्ध है तो दूसरी ओर 'विक्रमार्क' वा 'विक्रमादित्य' से। और इतिहास के जानकार कहते हैं कि वास्तव में 'विक्रमार्क' ही 'शकाराति' वा 'शकभूपरिपु' किंवा 'शकारि' भी हैं। अतएव सिद्ध करने की कोई बात रह गई तो यही कि यह 'विक्रमार्क' वा 'शकाराति' चन्द्रगुप्त ही है, इसके अतिरिक्त कोई और नहीं। सो सौभाग्य से 'हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्' से विदित ही है कि चन्द्रगुप्त 'काव्यकार' भी था; क्योंकि यह परीक्षा काव्यकारों की ही थी।

'हरिचन्द्र' के विषय में 'बाण' का कथन है—

पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥१२॥

[हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास]

और श्रीभगवद्दत्त की शोध है—

शक १०३३ (सं० ११६८) का वैद्यराज तथा गद्यपद्य कवि महेश्वर अपने विश्वप्रकाश कोश की भूमिका में लिखता है—

श्री साहसांकनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातडंगपदमद्वयमेव बिभ्रत्।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलंचकार॥५॥

इससे आगे श्लोक १२ में महेश्वर अपने साहसांकचरित नामक एक महाप्रबन्ध रचने का उल्लेख करता है। श्लोक १६ में पुनः लिखा है—साहसांक एक कोशकार भी था।

[नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, विक्रमांक, पृ० ३१८]

'श्री साहसांक' के कवि होने में कोई सन्देह नहीं। श्री जयदेव का मत है—

भासो रामिलसौमिलौ वररुचिः श्रीसाहसांकः कवि—
मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्दः सुबन्धुश्च यः।
दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती यदि भवेत्के तस्य सर्वेऽपि ते ॥१११॥

[सूक्तिमुक्तावली, पृ० ४६]

इतना ही नहीं अपितु किसी के विचार में—

शूरश्शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसांकः स भूपतिः।
सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनम् ॥५७॥

[सूक्तिमुक्तावली पृ०, ४४]

साहसांक—साहसांक का विक्रमादित्य से जो सम्बन्ध है वह भी अभी आँख से ओझल है। 'साहसांक' और 'विक्रमादित्य' को पर्याय माना जा सकता है और माना गया भी है; किन्तु विवाद नाम और विरुद का है। विक्रमादित्य को नाम और साहसांक को विरुद मानकर कालिदास के काल-निर्णय की जो चेष्टा की गई है वह कहाँ तक ठीक है, इसको ठीक ठीक कौन कह सकता है? तो भी कौन नहीं जानता कि स्वर्गीय पंडित केशवप्रसाद मिश्र जी के आत्मज श्री महावीर-प्रसाद मिश्र, भदैनी, काशी, के पास अभिज्ञानशाकुन्तल की जो अगहन सुदी ५, सं० १६९९ वि० की हस्तलिखित प्रति है उसके विशेष पाठों के कारण लोग उसके विक्रमादित्य को कुछ और ही समझने लगे हैं और उसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से सर्वथा भिन्न समझते हैं? परन्तु हमारी धारणा है कि उक्त लेख भी 'चन्द्रगुप्त' के ही पक्ष में अधिक है। टुक ध्यान से पढ़ें—

आर्ये! रसभावविशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसांकस्याभि-रूपभूयिष्ठेयं परिषत्। अस्याञ्च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः ॥

इससे 'विक्रमादित्य' और 'साहसांक' की एकता सिद्ध होती है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु देखना तो हमें यह है कि वास्तव में इस 'साहसांक' का महत्त्व क्या है। 'साहसांक' के विषय में भूलना न होगा कि वस्तुतः यह कोई अच्छा

विरुद्ध नहीं है। इसका रहस्य इसी से खुल जाता है कि 'साहस' की व्याख्या में कहा गया है—

सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्बलदर्पितैः
तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते ॥१॥
मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्शनम्।
पारुष्यं द्विविधं ज्ञेयं साहसं च चतुर्विधम् ॥२॥

[नारदस्मृति, अध्याय १४]

और यह इसी 'साहस' का परिणाम है कि इस 'साहसांक' पर अमोघवर्ष की यह फबती कसी गई और उसे इस साहसांक से बढ़कर सिद्ध किया गया। कारण यह दिखाया गया कि उसमें यह 'साहस' नहीं पर 'सामर्थ्य' और 'त्याग' इससे भी कहीं बढ़कर है। देखिए—

सामर्थ्ये सति निन्दिता प्रविहिता नैवाग्रजे क्रूरता
बन्धुस्त्रीगमनादिभिः कुचरितैरावर्जितं नायशः।
शौचाशौचपराङ्मुखं न च भिया पैशाच्यमंगीकृतं
त्यागेनासमसाहसैश्च भुवने यः साहसांकोऽभवत् ॥

[एपिग्राफिया इंडिका, भाग ७, पृ० ३६ : काम्बे ताम्रपत्र]

लीजिए, उसके विषय में इतना और जान लीजिए कि वह गुप्तवंशी है—

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा
लक्षं कोटिमलेखयत्किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।

[एपिग्राफिया इंडिका, भाग १८, पृ० २४८ : संजन ताम्रपत्र]

'गुप्तान्वय' साहसांक का साहस और भी स्पष्ट है बाण के इस कथन में—

अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्च चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयदिति।

[हर्षचरित षष्ठ उच्छ्वास, अन्त]

इसी को इसके टीकाकार शंकर कवि और भी खुले रूप में कह देते हैं—

शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानश्चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन रहसि व्यापादित इति।

देखा आपने ? साहसांक का 'साहस' और 'शकाराति' का शकवध यही तो है ? फिर इस चन्द्रगुप्त के 'साहसांक' और 'शकारि' होने में अड़चन कहाँ है ? काव्यकार तो यह स्वयं भी है और है काव्यपारखी भी। स्मरण रहे, इसी के बारे में भोजदेव का कहना है—

काले श्रीसाहसांकस्य के न संस्कृतवादिनः ।

[सरस्वतीकंठाभरण, २ : १५]

एवं राजशेखर का यह कथन—

श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसांको नाम राजा ; तेन च संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण ।

[काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृ० ५०]

उज्जयिनीनाथ—कहा जा सकता है कि उज्जयिनी का 'साहसांक' तो कोई और है; चन्द्रगुप्त तो मगध का सम्राट् है। निवेदन है, कुछ 'मुद्रा' की खोज लें और देखें कि उसकी छाप क्या है। डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—

मालव और सुराष्ट्र-विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने उन प्रान्तों के लिये चाँदी के सिक्के भी ढलवाए थे । उन पर पटदाँव इस प्रकार लेख है—

परमभागवत-महाराजाधिराध-श्रीचन्द्रगुप्त-विक्रमादित्यस्य ।

इसी लेख में 'विक्रमांक' विरुद का प्रयोग भी किया गया है—

श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-विक्रमांकस्य ।

अर्थात् गुप्तवंशी महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमांक की मुद्रा ।

[नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक, उत्तरार्ध, पृ० २६६]

साथ ही इतना और भी समझ रखना चाहिए कि इस समय श्रीचन्द्रगुप्त 'राजर्षि' के रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे। उनके सचिव 'शाव' का अभिलेख है—

तस्य राजाधिराजर्षेरचिन्त्योज्ज्वलकर्म्मणः ।
अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृतसन्धिविग्रहः ॥३॥
कौत्सश्शाव इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया ।
शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः ॥४॥

कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः ।
भक्त्या भगवतश्शम्भोर्गुहामेतामकारयत् ॥५॥

[सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४२, पृ० २७२]

श्री दिनेशचन्द्र सरकार ने प्राचीन अभिलेखों को एकत्र कर छाप दिया है और यथाशक्य उन पर टिप्पणी भी की है। अतः दिग्विजय का यह अभियान किस काल में हुआ इसका भी बोध हो सकता है। अभिलेख का काल गुप्त सं० ८२ (ई० ४०१) दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि इस समय चन्द्रगुप्त राजर्षि समझे जा रहे थे। प्रतीत होता है कि इसी विजय से चन्द्रगुप्त विक्रमांक बने, 'विक्रमादित्य' की प्रतिष्ठित उपाधि से विभूषित हुए, और उज्जयिनी को राजधानी का पद मिला। कर्नाटक के कुछ शासकों ने उन्हें 'उज्जयिनीपुरवराधीश्वर' कहा भी है। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी का मत है—

चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभियानों एवं विजयों से यह प्रकट होता है कि पूर्वी मालवा के विदिशा नगर से उनका सम्बन्ध था। जब कि, जैसा हम पहले देख चुके हैं, उनके साथ अपना सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाले कनारी प्रदेशों के कुछ शासकों ने उनका वर्णन पाटलिपुत्र के अधीश्वर के साथ-साथ 'उज्जयिनीपुरवराधीश्वर' के रूप में किया है। उनका उज्जयिनी के साथ सम्बन्ध परम्परागत शकारि विक्रमादित्य से उनकी अभिन्नता का अनुमोदन करता है।

[विक्रम स्मृति-ग्रंथ, ग्वालियर, पृ० २०३]

और डाक्टर हेमचन्द्र रायचौधुरी ने जिसे कृतज्ञ सन्तति ने शक-नृपति निषूदन एवं उजयिनीपुरवराधीश्वर के रूप में उद्घोषित किया [वही पृ० ४२५] कह कर इसी को दृढ़ किया है। अस्तु, चन्द्रगुप्त उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्यभी हैं।

प्रकरण प्राप्त तथा उपयोगी होने के कारण कुछ हरिस्वामी की जिज्ञासा भी हो लेनी चाहिए। श्री सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे की सम्मति में—

ये हरिस्वामी कई अध्यायों तथा कुछ ब्राह्मणों के अन्त में प्रशस्ति के पूर्व कुछ श्लोकों के द्वारा अपना अधिक परिचय देते हैं। इन श्लोकों की संख्या प्रायः तीन है। तथा उनका पाठ साधारणतः इस प्रकार है—

नागस्वामिसुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः ।
श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तितः पौष्करीयकः ॥१॥

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः ।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ॥२॥
भूभर्त्रा विक्रमार्केण क्लृप्तां कनकवेदिकाम् ।
दानायाध्यास्य कृतवान् श्रुत्यर्थविवृतिं हरिः ॥३॥

आगे आपका निष्कर्ष है—

इन तीनों श्लोकों के अर्थ का समन्वित विचार करने पर नीचे लिखे महत्त्वपूर्ण इतिहास की जानकारी हमें प्राप्त होती है । भाष्यकार आचार्य हरिस्वामी, जो पराशर गोत्री एवं नागस्वामी के पुत्र थे, मूलतः पुष्कर के निवासी थे, किन्तु भाष्यरचना के समय उज्जयिनी में आ बसे थे । वे उज्जयिनी के भूपति (=सम्राट्) विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष थे । विक्रमादित्य राजा ने अपने दानव्यवसाय के लिये एक सुवर्णमय वेदिका (= उच्चासन) का निर्माण किया था जिसके अधिष्ठाता भी ये हरिस्वामी ही थे । अर्थात् विक्रमादित्य के दानाध्यक्ष भी थे ।

[विक्रम स्मृति-ग्रन्थ, ग्वालियर, पृ० ३७७]

इसमें तो सन्देह नहीं कि हरिस्वामी का यह परिचय बड़े महत्त्व का है और घटित भी सटीक होता है सम्राट् विक्रमादित्य पर । किन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा है रचना-काल की—

यदादीनां (=यदाब्दानां) कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै ।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

इसका अन्वय आपने इस प्रकार किया है कि इसका रचना-काल संवती विक्रमादित्य का काल ठहरता है, पर इसका सीधा अर्थ आपने माना है कलि सं० ३७४० ही । आप का अन्वय है—

यदा कलेः अब्दानां त्रिंशच्छतानि, सप्त, अन्याः चत्वारिंशत् समाः च जग्मुः वै तदा इदं भाष्यं कृतम् ।

किन्तु काशी के श्रीमंगलदेव शास्त्री ने इस भाष्य की जो छानबीन (सिक्स्थ आल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस, पृ० ६०२) की है उसमें भर्तृहरि के वाक्यपदीय का भी एक अवतरण आया है जिससे स्थिति और भी उलझ जाती है । उधर हम देखते हैं कि भर्तृहरि का नाता कुछ चन्द्रगुप्त से भी जोड़ा जाता है । अतएव हमारा कहना है कि उक्त रचना-काल ही में कुछ भ्रम हो गया है । लिपिक ने कुछ का कुछ पद लिया

है। यदि इसका सीधा अर्थ ग्रहण करें तो इस सन (६२६ ई०) में किसी 'अवन्तिनाथ विक्रमार्क' का पता नहीं चलता। तो क्या इसका पाठ कुछ और नहीं हो सकता? हमारी समझ में तो यह आता है कि यह भ्रम से 'पंचत्रिंशच्छतानि' का 'सप्तत्रिंशच्छतानि' हो गया है। और 'चत्वारिंशत्समारचान्याः' का अर्थ है अन्य सं० का ४० वर्ष। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अपना संवत् भी चलता था और अपने वंश का भी। प्रमाण की दृष्टि से उसके मथुरा-स्तम्भ का यह अभिलेख पर्याप्त है—

श्रीचन्द्रगुप्तस्य विजयराज्यसंवत्सरे पंचमे ५ कालानुवर्त्तमानसंवत्सरे एकषष्ठे।

[सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० २७०]

यह गणना से ३८० ई० ठहरता है। इस दृष्टि से इस 'चत्वारिंशत्' का मान हुआ (३८०+४०—५) ४१५ ई०। जो इस विक्रमादित्य का अंतिम वर्ष कहा जा सकता है और सामान्यतः कलि के ३५०० वर्ष बीतने का परिचायक है।

संवती विक्रमादित्य—अब कालिदास को संवती विक्रमादित्य की ओर खींच ले जाने का एक ही साधन शेष रहा जो है उक्त अभिज्ञानशाकुन्तल की हस्तलिखित प्रति और जिसका भरतवाक्य बताया जाता है—

भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः॥

इसमें 'गण' का नाम क्या आ गया विद्वानों को गणतन्त्र का सूत्र मिल गया और हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने प्रमाण रूप से इसे प्रस्तुत किया। किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि चक्रवर्ती दुष्यन्त के साथ ही साथ किसी गणनायक का बोध इससे किस प्रकार और क्यों सम्भव है। जी।

'गण' शब्द के द्वारा इन्द्र और विक्रमादित्य के लिये यज्ञ और गणराष्ट्र दोनों की ओर कवि का संकेत है। इसमें राजा या सम्राट् जैसा कोई सम्बोधन विक्रमादित्य के लिये नहीं है।

आदि कह देने से ही कार्य नहीं सधता। 'विक्रमादित्य' तो प्रसंग के बाहर ही रह सकते हैं। अर्थ तो पहले दुष्यन्त पर घटना चाहिए जो निश्चय ही 'अप्रतिरथ' 'सम्राट्' और 'चक्रवर्ती' शासक है। जब प्रस्तुत की ही संगति इससे नहीं बैठती तब अप्रस्तुत 'विक्रमादित्य' की ध्वनि कहाँ तक ग्राह्य होगी? 'प्रसाद' ने 'स्कन्दगुप्त' में और भी ऐसी ही कई भूलें की हैं जिनके निराकरण की आवश्यकता तो है पर समय नहीं। उनके उपरान्त भी जहाँ-तहाँ इसकी चर्चा हुई है पर जमकर इसका प्रतिपादन कहीं भी नहीं हुआ है। यहाँ तक कि 'अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्, काशी' की ओर से 'नागरी' में जो इसका अनुवाद हुआ है वह भी कुछ 'गणनायक' के प्रतिकूल ही पड़ा है। देखिए उक्त अनुवाद है—

और सुनो। तुम्हारी प्रजा के लिये इन्द्र सदा भरपूर वर्षा किया करें और तुम भी सैकड़ों गणतन्त्रों पर राज्य करते हुए बहुत यज्ञ करके इन्द्र को प्रसन्न करते रहो। इस प्रकार एक दूसरे के लिये अच्छे-अच्छे काम करते रहो कि दोनों लोक सुखी रहें।

[कालिदास ग्रन्थावली, दूसरा खंड, पृ० ६६]

नम्र निवेदन है कि जो यही बात है तो कहना होगा कि यह 'गणोच्छेत्ता' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की शुभ कामना का द्योतक है कुछ गणतन्त्री विक्रमादित्य का नहीं। 'गणतन्त्र' भी इस समय वंशप्रधान बन चुके थे, अतः इन गणतंत्र राज्यों का उच्छेदन भी चन्द्रगुप्त के द्वारा हो गया। निदान मानना पड़ता है कि उक्त विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं।

विक्रम—दूसरी ओर कालिदास के ग्रन्थों के मथने से जो तथ्य निकलता है वह भी कुछ इसी ओर संकेत करता है। सबसे पहले नाम के नाते 'विक्रमोर्वशीय' को ही ले लीजिए। कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि इसमें 'पुरूरवा' को जो विक्रम का नाम दिया गया है उसका कुछ रहस्य है अन्यथा इसका नाम कुछ और ही होता। किन्तु 'विक्रम' का संकेत क्या है और क्यों यह कालिदास का 'अपूर्वनाटक' है इसका विचार अभी सन्तोषप्रद नहीं हुआ। हमारा नम्र निवेदन है कि कालिदास के इस रूपक का अध्ययन विशाखदेव के 'देवीचन्द्रगुप्त' की छाया में करें और देखें कि उर्वशी का सम्बन्ध कुछ ध्रुवदेवी से तो नहीं है।

यदि है तो इस 'विक्रम' की परख हो गई और कालिदास के अति विख्यात विक्रमादित्य भी आँख से ओझल न रहे। जानते हैं न? इस रूपक का आरम्भ होता है—

परित्रायतां परित्रायतां यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति।

से, और इसका अवसान होता है—

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता॥

अर्थात् 'उर्वशी' की रक्षा ही नहीं हुई, वह राजमहिषी और राजमाता भी बनी। उसका पुत्र 'सेनापति' 'महासेन' की तुलना में आ गया और राजा की कामना हुई—

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्।
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्॥

और आप जानते भी हैं कि 'लक्ष्मी' और 'सरस्वती' का विरोध जाता रहा 'विक्रम' और 'कालिदास' के समागम से। परन्तु यहाँ कुछ निष्ठुरता भी है। उर्वशी कहती है—

एहि वत्स! ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व।

किन्तु नारद कुछ और ही साधना चाहते हैं और सहसा बोल पड़ते हैं—

तिष्ठ समये तत्रभवत्याः समीपं गच्छसि।

इस ज्येष्ठ माता के प्रति कालिदास का जो व्यवहार है उसे ध्यान से पढ़ें और देखें यह कि इस 'देवी' का कहीं कुछ नाम भी है। रूपक के नाम में नायक पुरूरवा का नाम 'विक्रम' हो गया है तो रूपक के संविधान में देवी का काशिराज-पुत्री। 'काशिराजपुत्री' का नाम नहीं दिया गया तो इस का कुछ कारण है। रघुवंश में भी देखते हैं कि रघु की 'देवी' के नामधाम का कुछ पता नहीं। उसका भी कारण है। पहले 'विक्रम' के रहस्य को लीजिए फिर 'रघु' के भेद को, तो स्थिति स्पष्ट हो।

सीधी भाषा में हमारा यह कहना है कि 'विक्रमोर्वशीय' के विक्रम को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य समझें और उसकी प्रेयसी उर्वशी को ध्रुवदेवी मान लें, फिर देखें

कि महासेन के सैनापत्य की संगति कुमारगुप्त से बैठती है वा नहीं। रही 'ज्येष्ठ-माता' सो उसे प्रभावती गुप्ता की माता 'कुबेरनागा' मान लें और कहें क्या वह सचमुच 'काशिराज' की पुत्री थी ? क्या नागकुल के शासक अपने को 'काशिराज' कहते थे और क्या काशी विश्वविद्यालय के पर्याय 'नगवा' का इससे कुछ लगाव है ? स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल जैसे पुराविदों ने तो इसे माना भी है और भरसक सिद्ध कर देने का उद्योग भी किया है। निदान, यहाँ इतना निर्देश पर्याप्त है।

महेन्द्र—हां, 'रामगुप्त' की बात तो छूट ही गई। सो प्रत्यक्ष है। विक्रमोर्वशीय के 'महेन्द्र' रामगुप्त के प्रतीक हैं। 'उर्वशी' पर उनका अधिकार तो है पर उसका उद्धार होता है किसी पुरूरवा द्वारा ही। विक्रमोर्वशीय का महेन्द्र भी 'देवीचन्द्रगुप्त' के रामगुप्त की भाँति ही कह सकता है—

त्वय्यारोपितप्रेम्णा त्वदर्थे यशसा सह।
परित्यक्ता मया देवी जनोऽयं जन एव मे॥
[नाट्यदर्पण, प्रथमभाग, गायकवाड़ प्राच्यमाला—४८, पृ० १४२]

महाराज पुरूरवा ने हिरण्यपुरवासी दानव केशी से उर्वशी को मुक्त किया तो प्रसन्न हो कर चित्ररथ ने कहा—

दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।

और राजा के विनय-प्रदर्शन से तुष्ट हो बोला—

युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'विक्रम' का संकेत यहाँ भी वही है जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ 'विक्रमांक' किंवा 'साहसांक' का। 'महेन्द्र' की क्लीबता यहाँ भी कुछ कम नहीं है। 'नारद' के द्वारा दिए गए 'महेन्द्रसन्देश' में स्वपराक्रम कहाँ है। कहा है—

त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरसंगरो भावी। भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः। तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति।

राजा रामगुप्त की ऊढा देवी ध्रुवदेवी राजा चन्द्रगुप्त की देवी कब और कैसे बनी इसका कुछ आभास यत्र तत्र मिल जाता है और उसके आधार पर

सरलता से कहा जा सकता है कि निश्चय ही 'विक्रमोर्वशीय' की रचना में उसकी छाया है। और तो और, 'देवीचन्द्रगुप्त' की भाँति ही यहाँ भी पुरूरवा उन्मत्त होता है। अन्तर कुछ अवश्य है पर छाया को तो मानना ही होगा। 'देवी-चन्द्रगुप्त' से उद्धरण देते समय 'नाट्यदर्पण' के रचयिता (रामचन्द्र और गुणचन्द्र) ने लिखा है—

इयं स्वापायशंकिनः कृतकोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य चन्द्रोदय-वर्णनेन प्रवेशप्रतिपादिकेति।

एवं—

इयं उन्मत्तस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनाक् शत्रुभीतस्य राजकुलगमनार्थं निष्क्रमसूचिकेति।

'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक में 'मदनविकार' का गोपन नहीं प्रदर्शन है और है 'प्रकृति' के प्रायः उद्दीपन के रूप में ही।

देव—इतना ही नहीं। रहस्य की बात कुछ और भी है। 'राज्याभिषेक' के समय प्रथम वैतालिक कहता है—

विजयतां युवराजः।

अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दु-
बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः॥
भव पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तै-
रतिशयिनि समाप्ता वंश एवाशिषस्ते॥२१॥५॥

और द्वितीय का आशीर्वाद है—

तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्।
स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्पधैर्ये।
अधिकतरमिदानीं राजते राज्यलक्ष्मी-
र्हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गंगा॥२२॥५॥

द्वितीय के विषय में तो केवल इतना ही कहना है कि हिमालय से समुद्र तक गुप्तराज्यलक्ष्मी का प्रसार है और उससे दोनों की शोभा है। पिता-पुत्र के बीच राज्यलक्ष्मी का जो विलास दिखाया गया है काव्य की दृष्टि से चाहे वह

जैसा हो पर इतिहास की दृष्टि से उसका कुछ महत्त्व है। विक्रमादित्य के विरक्त-जीवन की भी कुछ कहानी है। उसका आभास कालिदास के इस 'अपूर्व नाटक' में कुछ है ही; परन्तु सबसे अधिक महत्त्व की बात कदाचित् यह है कि विक्रमोर्वशीय में 'देव' की वंशपरम्परा है—१—ब्रह्म, २—अत्रि, ३—सोम, ४—बुध, ५—पुरूरवा, और ६—आयुष। और गुप्तवंश के 'देव' की वंशपरम्परा है—

१—श्रीगुप्त, २-घटोत्कच, ३—चन्द्रगुप्त, ४—समुद्रगुप्त, ५—चन्द्रगुप्त और ६—कुमारगुप्त। इसमें टाँकने की बात यह है कि 'नाटक' में प्रथम वैतालिक ने 'देवः' शब्द का प्रयोग पुरूरवा के लिए किया है जो 'नाटक' का परिचायक मात्र कहा जा सकता है। परन्तु बात कुछ और ही दिखाई देती है। इतना तो इतिहास से सिद्ध है कि यह 'देवः' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का पर्याय है और इसका उल्लेख जहाँ तहाँ अभिलेखों में भी पाया जाता है। निदान कहना ही पड़ता है कि 'विक्रमोर्वशीय' के 'देव' 'चन्द्रगुप्तविक्रमांक' के परिचायक और युवराज 'आयुष' कुमारगुप्त के द्योतक हैं। नारद के सामने इस 'अभिषेक' के समय जो 'महासेन' के 'सेनापति' होने का दृश्य उपस्थित होता है वास्तव में वह ध्रुवदेवी के पुत्र 'कुमारगुप्त' के 'अभिषेक' की सुधि दिलाता है और यह कहने को विवश करता है कि हो न हो यह नाटक इसी शुभ अवसर पर अभिनीत हुआ है और इसके द्वारा वह कल्मष दूर किया गया है जो 'ध्रुवदेवी' के साथ जुटा है—भ्रातृजाया-प्रणय!

रघु-दिग्विजय—'विक्रमोर्वशीय' की 'काशिराजपुत्री' के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता कदाचित् अब नहीं रही। उसको 'कुबेरनागा' का रूप कहना अनुचित नहीं कहा जा सकता। अतएव अब 'रघुवंश' की उस देवी को लेना चाहिए जिसके कुल का भी पता नहीं पर जिसका निर्देश वहाँ है अवश्य। रघु-दिग्विजय को ध्यान से पढ़िए और देखिए कि उनका मन कहाँ रमता और कहाँ उन्हें विश्राम मिलता है। लीजिए, कालिदास किस रंगभरी लेखनी से लिखते हैं—

> दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
> तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥४९॥
> ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
> ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ॥५०॥

स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥५१॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलंघयत् ॥५२॥४॥

रघु के प्रसंग का यह वर्णन बहुतों को खला है पर उनको पता नहीं कि इसका भी कुछ रहस्य है । यहाँ जो कुछ हुआ है उसको और भी स्पष्ट करने के विचार से 'कविकुलगुरु' कालिदास ने लिखा है—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥४॥

काकुत्स्थ-दुहिता—संयमी रघु में जो असंयम 'पांड्य' और 'अपरान्त' के मध्य के भूभाग में देख पड़ता है उसका कारण है इस क्षेत्र का 'श्वसुरपुर-निवास' होना । इतिहास के पंडितों ने प्रायः मान लिया है कि रघु की यह दिग्विजय वास्तव में 'समुद्रगुप्त' की ही दिग्विजय है पर उनको यह नहीं लगता कि समुद्रगुप्त की ससुराल भी 'कदम्बकुल' में ही है । स्मरण रहे कदम्बकुल के नीति-निपुण राजा काकुत्स्थवर्मा की प्रशंसा में कहा गया है कि उसने 'दुहिता'-द्वारा गुप्तकुल को उजागर किया । देखिए—

गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि
स्नेहादरप्रणयसम्भवकेसराणि ।
श्रीमन्त्यनेकनृपषट्पदसेवितानि
योऽबोध्यद्दुहितृदीधितिभिः नृपार्कः ॥

[तालगुन्द का अभिलेख, एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग ७, शिकारपुर १७६]

इससे इतना तो प्रकट है कि गुप्तकुल के किसी व्यक्ति के साथ कोई कदम्ब-कन्या ब्याही गई थी, पर यह स्फुट नहीं है कि वह कब और किससे ब्याही गई थी । तो भी इतना तो मानना ही होगा कि वह उस समय कोई सम्राट् नहीं रहा होगा प्रत्युत ऐसा व्यक्ति रहा होगा जिसका गौरव इस संबंध से बढ़ा होगा । हमारी समझ से समुद्रगुप्त के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति नहीं जिससे यह सम्बन्ध जुटा हो । कारण, उधर उसका भी उल्लास है—

दत्तास्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का, हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता।
नित्यं गृहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्रसंक्रामणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा॥४॥
[सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० २६१]

'एरण' का यह अभिलेख इस दृष्टि से बड़े ही महत्त्व का है। इसमें बताया गया है कि 'दत्ता' या 'दत्तदेवी' को 'शुल्क' में पतिदेव की ओर से 'पौरुषपराक्रम' की ही प्राप्ति हुई थी। इसका सीधा अर्थ यही है कि अभी समुद्रगुप्त इस योग्य नहीं हुए थे कि उसको धनधान्य से परिपूर्ण कर देते। यदि आप इतिहास के तथा-कथित 'सनसम्बत' से मुक्त हो इसकी जाँच करें तो पता चले कि वास्तव में सत्य क्या है। लोग इसके विषय में क्या कहते हैं इसकी हमें चिन्ता नहीं, क्योंकि हम जानते हैं कि जो कुछ हम कह रहे हैं वह उभय पक्ष से सिद्ध है और उसकी सही रघुवंश से भी इस प्रकार हो रही है। अस्तु, हमारा पक्ष है कि कालिदास गुप्तवंश के कवि हैं और इसी की आभा अपने काव्य में दिखाते हैं। 'रघुवंश में गुप्तवंश' शीर्षक निबन्ध ('आजकल') में इसका कुछ विचार हुआ है अतएव यहां इतना ही अलं है।

पारसीक—हाँ, पारसीकों के प्रसंग में इतना अवश्य कह देना है कि यहाँ जो तत्त्वज्ञान का उल्लेख किया गया है उसका कारण है। पारसीक कूटनीति के भक्त थे निदान आक्रमण भी उन पर अचानक हुआ जिससे वे त्रस्त भी खूब हुए। इस क्रम में विशेष बात यह है कि कालिदास ने इनकी दाढ़ी का जो वर्णन किया है वह 'सासानी' काल का सूचक है कुछ 'पह्लव' काल का नहीं। सासानी शासकों की मधुछत्ते सी दाढ़ी आज भी उनके चित्रों में देखी जा सकती है। 'पारसीक' नाम भी इसी काल में सार्थक होगा। संवती विक्रमादित्य के समय में 'पारसीक' नहीं 'पह्लव' प्रभुत्व में थे और पारस पर भी उन्हीं का शासन था। 'हूण' की बाधा में तो अब कोई दम नहीं रहा। इसकी संगति भी इसी काल में ठीक ठहरती है। फलतः रघुवंश के आधार पर भी यही काल ठीक ठहरता है। हूण की अवस्थिति इस समय वही थी जो कालिदास के द्वारा रघुवंश में व्यक्त हुई है। इस समय हूण-पारसीक-संघर्ष भी था और हूण आगे बढ़ने से रोक भी दिए गए थे। वंक्षुतीर पर इनका निवास था और वहीं से समय पाकर फिर

गुप्तों पर टूट पड़े और स्कन्दगुप्त को उनसे इतना लोहा लेना पड़ा। अस्तु, हमारी समझ में रघुवंश में कोई ऐसी बाधा नहीं जिससे हम उसे इस काल की रचना न मानें। हाँ, विचारते समय इतना विचार अवश्य बना रहे कि यह काव्य है इतिहास नहीं। इसमें ध्वनि प्रधान होती है 'ध्वजा' नहीं।

अग्निमित्र—विपक्ष की ओर से विरोध में कहा जा सकता है—और अग्निमित्र? मालविकाग्निमित्र को कहाँ छोड़े जा रहे हैं? निवेदन है—सुनिए। यहाँ की साखी भी इसी साहसांक के पक्ष में है। 'अग्निमित्र' किस कोटि का शासक था इसकी झलक कुछ क्षीरस्वामी के इस कथन में मिल जाती है—

.........विक्रमादित्यः साहसांकः शकान्तकः।
शूद्रकस्त्वग्निमित्रो वा हालः स्यात्सातवाहनः॥

[अमरकोश २-८-२ की टीका]

विक्रमादित्य, शूद्रक और हाल की त्रयी में यदि 'अग्निमित्र' ही शूद्रक हैं तो कहना होगा कि 'मालविकाग्निमित्र' का अग्निमित्र इसका पात्र नहीं। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की रचना किस दृष्टि से की, इसमें हमें कोई सन्देह नहीं। हेतु यह कि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्निमित्र का वृद्ध पिता और प्रौढ़ पुत्र तो 'राजसूय' के उपक्रम और संग्राम में व्यग्र हैं और अधेड़ यह शासक 'हे विधि मिलै कौन बिधि बाला' में मग्न। देवी धारणी फटकारती भी किस ढंग से है! उसका विषाद है—

यदि राजकार्येष्वपीदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य तदा शोभनं भवेत्।

[प्रथम अंक, अंत]

और पिता पुष्यमित्र का पत्र है—

सोऽहमिदानीमंशुमतेव सगरः पौत्रेण प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।

[पंचम अंक, १६ के पूर्व]

और स्वयं आप का कहना है—

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि वैम्बिकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः॥१४॥४॥

'बैम्बिक' का अर्थ चाहे जो हो पर अग्निमित्र का यह 'कुलव्रत' प्रशंसनीय नहीं। कालिदास का 'विक्रम' उर्वशी को चाहता है और उसके वियोग में पागल भी हो जाता है पर कभी इस 'कुलव्रत' का अभिनय नहीं करता और नहीं करता है कालिदास का दुष्यन्त भी—यद्यपि चाहता है वह भी शकुन्तला को। निश्चय ही कालिदास का लक्ष्य है 'अग्निमित्र' को गिराने और चन्द्रगुप्त को ऊँचा उठाने का। इसी से तो नाटक में 'राजसूय' का प्रकरण बना है और पिता के साथ ही पुत्र का भी उल्लेख हुआ है और उसमें लिखा गया है 'विगतरोपचेतसा'। कह तो नहीं सकते पर कह देने में कोई क्षति भी नहीं कि यह बाप-बेटे की लड़ाई कुछ और ही रंग भरती है। बात यह है कि विशाखदेव ने मुद्राराक्षस में जैसे चन्द्रगुप्त' मौर्य को खिलवाड़ सा बना दिया है वैसे ही 'मालविकाग्निमित्र' में 'अग्निमित्र' को कालिदास ने। लक्ष्य दोनों का ही एक है और है इस प्रकार उनका अपकर्ष दिखा चन्द्रगुप्त को समाज की दृष्टि में ऊपर लाना। कार्य किस प्रकार सधा है इससे कोई प्रयोजन नहीं। लक्ष्य यही रहा है। यही यहाँ का प्रतिपाद्य विषय है। और इसी को सिद्ध करने के विचार से संक्षेप में इतना कह दिया गया है। शेष का विचार यथावसर होगा।

धारणी—अस्तु, 'मालविकाग्निमित्र' के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कालिदास गुप्त-काल में नहीं थे। जो लोग यह समझने का कष्ट करते हैं कि कालिदास इतने दिनों के बाद इतिहास के ऐसे जानकार नहीं हो सकते उन्हें यह समझ रखना चाहिये कि यह उनका शुद्ध भ्रम है। इतिहास के पोथीकार न सही जानकार तो तब भी होते ही थे। फलतः हमारा निष्कर्ष है कि यह नाटक भी इसी काल का है और इसकी महादेवी का नाम जो 'धारणी' दिया गया है उसका भी कुछ कारण है। महाराज चन्द्रगुप्त की दुहिता श्री प्रभावती गुप्ता के पूणा-ताम्रपत्र से पता चलता है कि उसका जन्म 'धारण' गोत्र में हुआ था। तो क्या हम 'धारणी' का संकेत कुछ इधर भी है? साथ ही इतना और भी स्मरण रहे कि इसी देवी धारणी का एक 'अवरवर्ण' का भ्राता वीरसेन भी है। बकुलावलिका जो धारणी की चेटी और मालविका की सखी है, कहती है—

अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम।

[प्रथम अंक, मिश्र विष्कम्भक, ६ के पूर्व]

तो क्या धारणी भी 'वर्णावर' कुल की थी और गुप्तवंश से उसका कुछ लगाव था? इतिहास न सही कालिदास की दृष्टि में? अन्यथा इस उल्लेख का महत्त्व क्या?

गर्भाभिषेक—'अभिज्ञानशाकुन्तल' की रचना जिस दृष्टिसे हुई है वह कुछ और ही है। फिर भी उसमें कुछ स्थल ऐसे हैं जिनसे कालिदास के काल-निर्णय में सहायता ली जा सकती है। 'समुद्रव्यवहारी सार्थवाह' का सन्दर्भ ऐसा ही है। राजा दुष्यन्त अमात्य का पत्र पढ़ता और कहता है—

कथम्। समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति! बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

प्रतिहारी का उत्तर है—

देव! इदानीमेव साकेतकस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायास्य श्रूयते।

राजा का निर्णय होता है—

ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ एवममात्यं ब्रूहि।

[षष्ठ अंक, २२ के पश्चात्]

'गर्भ' के प्रति कालिदास की ऐसी दृढ़ भावना क्यों है इसका विचार होना चाहिये। रघुवंश के अंत में भी हम देखते हैं कि 'गर्भ' का ही राज्याभिषेक होता है और यहाँ भी वही 'रिक्थ' का अधिकारी होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अपत्य के अभाव में स्त्री का कुछ अधिकार नहीं। प्रश्न 'अर्थ संचय' के उपभोग का नहीं व्यवस्था का है अतः वह 'राजगामी' समझा गया। रघुवंश में राजकुल की स्थिति यह है—

तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोका-
दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥५६॥१६॥

इतना ही नहीं अपितु—

तं भावार्थं प्रसवसमयाकांक्षिणीनां प्रजाना-
मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हैमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥५७॥१६॥

'रघुवंश' की इति जिस 'अथ' की आशा में हुई है वही जीवन का आधार है और कालिदास ने इसी को भली भाँति सर्वत्र व्यक्त भी किया है। अपत्य की यह लालसा कालिदास की वेदना में बसी है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पारसीक शापुर, जो समुद्रगुप्त का समकालीन प्रतापी सम्राट् था, गर्भ में ही अभिषिक्त हुआ था और यहाँ भी प्रभावती गुप्ता का शासन अपने बालतनयों के लिये हुआ था। अतएव इसके आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि वस्तुतः कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ही राजकवि थे और इसी से अपने काल के इतिहास से सभी प्रकार अभिज्ञ थे।

हाँ तो 'समुद्रव्यवहारी सार्थवाह' के प्रसंग में भूलना न होगा कि उसकी गर्भवती भार्या 'साकेत' के सेठ की कन्या है। 'साकेत' का ही नाम क्यों लिया गया इसका भी कुछ कारण है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिन यहीं बीते थे। सार्थवाह 'धनमित्र' राजधानी हस्तिनापुर का प्रतीत होता है, क्योंकि प्रतिहारी उसी समय इसकी सूचना दे देता है कि इसकी भार्या साकेत-दुहिता अभी 'पुंसवन' से निवृत्त हुई है। अतः इन बातों से जान पड़ता है कि इस समय मध्यदेश के व्यापारी भी समुद्रव्यवहार में प्रमुख बन गये थे। यह प्रमुखता गुप्त-शासन की देन है, ऐसा कहा जा सकता है। इसी काल में 'बृहत्तर भारत' की प्रतिष्ठा हुई ऐसा माना भी जाता है। इसके पहले इसका समाधान कठिन है।

अप्रतिरथ—इसके अतिरिक्त 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कुछ शब्द भी ऐसे हैं जिनसे उसके रचनाकाल का बोध होता है। हम यहाँ केवल एक शब्द का उल्लेख करते हैं। काश्यप शकुन्तला से सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥४॥

'वर्णाश्रम' की इसी मर्यादा के विचार से पुरूरवा आयुष को युवराज बना राजकाज से अलग होना चाहता था किन्तु 'महेन्द्र' के कहने से रुक गया। इस 'वर्णाश्रम' की स्थापना गुप्तकाल में फिर से हुई, ऐसा कहा जाता है। जो हो, हमें तो अभी इसी 'अप्रतिरथ' के संबंध में कुछ कहना है। अदिति का राजा दुष्यन्त को आशीर्वाद है—

वत्स ! अप्रतिरथो भव।

एवं मारीच की 'सर्वदमन' के प्रति शुभ कामना—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः।
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः॥
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्॥३३॥७॥

लोक के भरण के कारण जिसका नाम 'भरत' पड़ा उसी के नाम से यदि 'भारत' वर्ष का नाम जगा तो अच्छा ही हुआ। आज भी 'सर्वदमन' की अपेक्षा 'लोकभरण' ही भारत को इष्ट है। परन्तु कहना यहाँ यह है कि यह 'अप्रतिरथ' कालिदास को इसीलिए इतना प्रिय है कि यह वास्तव में गुप्तवंश की विभूति है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में इसका स्पष्ट उल्लेख है—

प्रिथिव्यामप्रतिरथस्य।

और उसकी अश्वमेधी मुद्रा पर अंकित है—

पृथिवीमवित्वा दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः।

एवं उसके तनय 'अप्रतिरथ' 'विक्रमादित्य' का यह अभिमान—

क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः।

कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में इसकी व्याख्या नहीं तो और क्या है? 'महेन्द्र' किस वंश के ऋणी हैं?

कालिदास का दौत्य—कालिदास के अध्ययन से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं प्रायः वह वही है जो विक्रमादित्य की मीमांसा से प्राप्त हुआ है। अतएव अब हमें यह देखना चाहिये कि वास्तव में इनका परस्पर लगाव क्या है। सो सौभाग्य से यहाँ भी कुछ सूत्र ऐसे हाथ लगे हैं जिन से हम चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ ही कालिदास के विषय में भी बहुत कुछ जान सकते हैं।

दुर्भाग्य की बात यही है कि उपलब्ध सामग्री साधन का सच्चा साथ नहीं देती जिससे स्थिति का साक्षात्कार तो नहीं हो पाता पर उसकी झाँकी अवश्य मिल जाती है। संस्कृत वाङ्मय की जो दुर्गति इस देश में इतने दिनों तक रही है, उससे इतना ही क्या कम है कि हमारे अनेक कवियों और काव्यों का कलेवर तो नहीं रहा पर उनका नाम नहीं मिटा और कुछ पदचिन्ह भी रह ही गए। कवियों नहीं पर इन्हीं काव्यों में एक 'कुन्तलेश्वरदौत्य' भी है जिससे जाना गया है कि कभी कालिदास ने विक्रमादित्य की ओर से 'दूत' का भी कार्य किया था। किस ढव से किया था, इसका आभास क्षेमेन्द्र के इस कथन में मिलता है—

अधिकरणौचित्यं यथा कुन्तलेश्वरदौत्ये कालिदासस्य—

इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणां,
इह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं,
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम्॥

अत्र महाराजदूतोऽपि सामन्तास्थाने स्वप्रभुसमुचितगौरवपूजार्हमासनमनासाद्य कार्यवशेन भूमावेवोपविष्टः प्रागल्भ्यगाम्भीर्येणैवं ब्रूते, यथास्मद्विधानां वसुधातल एव भुजगपतिभोगस्तम्भप्राग्भारनिष्कम्पे धरासने स्थानं युक्तं यस्मादिहैव मेरुस्थलचक्रवर्ती समुपविष्टः, सप्तमहाब्धयश्च, तत्तुल्यतैवास्माकमित्यौचित्यमाधिकरणपदसंबद्धमेव।

[औचित्यविचारचर्चा]

इस अवतरण में विचार करने की बात यह है कि कालिदास साधना क्या चाहते हैं। कतिपय विद्वानों ने इस 'दौत्य' का सम्बन्ध मंगलसूत्र वा विवाह से जोड़ा है और फलतः 'कुन्तलेश' की मनमानी व्याख्या भी की है। किन्तु हमारी अल्प मति में इसका प्रणय से कोई सम्बन्ध नहीं। इसमें तो खरी राजनीति भरी है। 'सामन्त' और 'सम्राट्' की मर्यादा का प्रश्न है। स्थिति को स्पष्ट करने के विचार से भोजदेव का यह उद्धरण लीजिए—

नैयायिकी यथा—कालिदासः किं कुन्तलेश्वरः करोतीति विक्रमादित्येन पृष्ट उक्तवान्—

असफलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि ।
पिबति मधु सुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥

इदमेवोहयित्वा विक्रमादित्यः प्रत्यूचे—
पिबति मधु सुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
मयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ?

[शृंगार प्रकाश, अष्टम प्रकाश]

किन्तु राजशेखर की काव्यमीमांसा में विक्रमादित्य का पाठ 'पिबति' नहीं 'पिबतु' है और संखक की 'साहित्यमीमांसा' में इस पर यह टिप्पणी भी है—

विक्रमादित्यः पिबतु मयीत्यूहयित्वा इदमेव पद्यमुत्तरं पपाठ । इयमूहतो नैयायिकी ।

[द्वितीय प्रकरण]

निश्चय ही विक्रमादित्य ने 'पिबति' को 'पिबतु' किया और कहा यह कि अच्छा ही है, ऐसा ही करता रहे । ध्यान देने और सोचने की बात है कि इसका 'दौत्य' से क्या लगाव है । 'कुन्तलेश्वर' विलास में मग्न रहे की कामना विक्रमादित्य क्यों करते हैं और क्यों कालिदास कहते हैं कि 'विक्रमादित्य' पर 'भार' छोड़ कर कुन्तलेश विहार कर रहे हैं । इसमें विक्रमादित्य की झल्लाहट या खीझ तो नहीं दिखाई देती । फिर इसका अर्थ यही क्यों न लिया जाय कि विक्रमादित्य को कुन्तलेश्वर की ओर से जो आशंका थी वह जाती रही और कालिदास के विनय तथा प्रयास से वह वश में आ गया । यदि यह ठीक है तो इसके अतिरिक्त और कहा क्या जा सकता है कि यह नीति-निपुणता और शुद्ध राजनीति का प्रश्न है । इसका परिणाम विवाह नहीं हो सकता और न विवाह के लिए यह प्रस्थान । निदान हमारा कहना है कि हो न हो इस दौत्य का लक्ष्य है कुन्तलेश को अधीन रखना । हमारा अनुमान है कि 'कुन्तल' का जो प्रदेश 'कदम्बकुल' से निकल कर 'वाकाटकवंश' में चला गया था वही जब फिर श्रीकृष्ण वर्मा के उद्योग से कदम्बकुल के हाथ लगा और प्रभावती गुप्ता के हाथ से जाता रहा तब उसके पिता महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को इसकी विशे

चिन्ता हुई और उन्होंने जब उसके 'अश्वमेध' का रंग देखा तब ताड़ लिया कि यह कुछ और चाहता है। निदान उसको सिद्ध करने के निमित्त कालिदास को भेजा और कालिदास ने छूटते ही दिखा दिया कि वास्तव में 'सामन्त' और 'सम्राट्' के व्यवहार में क्या भेद है और वस्तुतः 'चक्रवर्ती' के लक्षण क्या हैं। इसकी विशेष चर्चा 'कालिदास का दूत-कर्म' शीर्षक निबन्ध में की गई है जो 'विक्रम स्मृति-ग्रंथ, ग्वालियर' में प्रकाशित है। अस्तु।

कालिदास के विषय में जो महाराज भूपति रामदास ने अपनी 'रामसेतु-प्रदीप' टीका में लिख दिया है कि उन्होंने विक्रमादित्य के कहने से 'सेतुबन्ध' की रचना की उसका भी कुछ कारण है। उनका स्वतः कहना है—

इह तावन्महाराजप्रवरसेननिर्मितं महाराजाधिराजविक्रमादित्येनाज्ञप्तो निखिलकविचक्रचूडामणिः कालिदासमहाशयः सेतुबन्धप्रबन्धनं चिकीर्षुः।

[रामसेतु-प्रदीप, आरम्भ]

तथा उनका यह भी मत है—

अभिनवेन राज्ञा प्रवरसेनेनारब्धा कालिदासद्वारा तस्यैव कृतिरियमित्याशयः।

[प्रथम आश्वास, ८९ की टीका]

अभिनव राजा प्रवरसेन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दौहित्र थे और थे उस प्रभावती गुप्ता के पुत्र जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। इसकी चर्चा फिर होगी। अभी इस संबंध को व्यक्त करने को इतना बहुत है।

मातृगुप्त—कालिदास की इस दौत्य-सफलता को देखकर इतना तो भा गया होगा कि कालिदास ने राजनीति के क्षेत्र में भी कुछ काम किया पर यदि आप से कहा जाय कि वास्तव में इसी कालिदास ने विक्रमादित्य के 'शासन' से मातृगुप्त के नाम से कश्मीर का शासन भी किया तो आप को विश्वास न होगा। जी तो कहेगा कि ऐसा हो सकता है पर अर्जित ज्ञान कहेगा—नहीं। भला ऐसा कब सम्भव है? निवेदन है, सावधान और सतर्क हो सुनें और देखें कि वस्तुतः कल्हण का पक्ष क्या है और किस प्रकार सारे प्रसंग को उन्होंने छिपा कर रखा है। लीजिए, उनका उल्लास है—

अन्योन्यं साभिमानानामन्योन्यौचित्यशालिनाम् ।
त्रयाणामपि वृत्तान्त एष त्रिपथगापयः ॥३२३॥
[तृतीय तरंग]

परन्तु परखने का कष्ट करें तो पता चले कि प्रवरसेन की विक्रमादित्य से गहरी शत्रुता है। उसका स्वयं कहना है—

विक्रमादित्यमुत्सिक्तमुच्छेत्तुं यतते मनः ।
मातृगुप्तं प्रति न नो रोषेणारुषितं मनः ॥२८२॥३॥

प्रवरसेन का रोष विक्रमादित्य पर क्यों है, इसका कारण कल्हण के मुँह से सुनने को न मिलेगा। कल्हण की दृष्टि में तो यह विक्रमादित्य की कृपा थी जो उसने 'कश्मीर' की प्रार्थना पर 'मातृगुप्त' को वहाँ का शासक बना कर भेज दिया। किन्तु यदि किसी प्रकार कल्हण से इसका कारण पूछा जा सके कि फिर प्रवरसेन का विक्रमादित्य पर ऐसा रोष क्यों? तो स्यात् उत्तर मिलेगा—ध्यान से पढ़ें। बात है भी यही। कल्हण का कथन है—

पितृशोकार्द्रता तस्य क्रोधेनान्तरधीयत ।
तरोरिवार्कतापेन नैशाम्बुलवसिक्तता ॥२६६॥३॥

जिस 'पितृशोक' के कारण प्रवरसेन को आँसू पी कर रह जाना पड़ा और विक्रमादित्य के उन्मूलन का संकल्प करना पड़ा वह कोई सामान्य शोक न था। यदि केवल राज्य की बात होती तो स्थिति ही कुछ और होती। कल्हण का ही यह भी तो कहना है—

ततो विदितवृत्तान्तो मातृगुप्ताभिषेणनात् ।
निषिध्य सविधायातानमात्यानब्रवीद्वचः ॥२८१॥३॥

निश्चय ही मातृगुप्त का अभिषेक कुछ 'अमात्यों' को नहीं भाया और उन्होंने युद्ध का उपाय सोचा। परन्तु प्रवरसेन ने ऐसा उचित नहीं समझा। 'श्रीपर्वत' के 'सिद्ध' के उपदेश से उसने शंकर की आराधना की और उनकी कृपा से 'त्रिगर्त' को जीत भी लिया। वह आगे बढ़ ही रहा था कि विक्रमादित्य के निधन का समाचार मिला और मातृगुप्त ने कश्मीर का त्याग कर काशी की शरण ली। प्रवरसेन की मातृगुप्त से भेंट हुई तब उसकी आँख खुली और देखा कि वस्तुतः मातृगुप्त और विक्रमादित्य क्या थे।

प्रवरसेन—किंतु कहना यहाँ यह था कि इस 'पितृशोक' का कारण कुछ और था और और था इस प्रवरसेनी रोष का कारण भी जिसे खुलकर कल्हण कहते नहीं पर जिसका निर्देश यत्र-तत्र अपनी कविता में कर जाते हैं। चाहते हैं—

पितुर्बन्धेन सक्रोधं तं कालापेक्षयाक्षमम् ।
शिक्षयित्वा जयेन्द्रोथ कार्यशेषाय निर्ययौ ॥१२१॥३॥
उत्पिञ्जोत्पादनात् सज्जे तस्मिन्भ्रात्रा यदृच्छया ।
बन्धात्यक्तोनृतरणिस्तोरमाणोस्तमाययौ ॥१२२॥३॥

प्रवरसेन के पिता बन्दी थे किन्तु बन्धन से मुक्त कर दिए गए। कुछ करना ही चाहते थे कि 'अस्त' हो गए। कैसे अस्त हुए इसका पता नहीं पर इतना पाया गया है कि अग्रज हिरण्य ने ही उन्हें बन्दी किया था। कारण कहा गया है—

हिरण्यतोरमाणाख्यौ व्यधत्तामथ तत्सुतौ ।
साम्राज्ययुवराजत्वभाजने रञ्जनं क्षितेः ॥१०२॥३॥
बालाहतानां प्राचुर्यं विनिवार्यासमञ्जसम् ।
तोरमाणेन दीन्नाराः स्वाहताः संप्रवर्तिताः ॥१०३॥३॥

इस सारे प्रपंच से प्रतीत यह होता है कि मेघवाहन के उपरान्त 'हिरण्य' उसके सिंहासन पर बैठा और सन्तानहीन होने के कारण अपने अनुज 'तोरमाण' को 'युवराज' घोषित किया। किन्तु कुछ प्रबल पड़ जाने पर तोरमाण को सकल साम्राज्य की सूझी और फलतः कारावास मिला। फिर कुछ कारणों से प्रभावित हो उसने उसे मुक्त कर दिया और किसी कारण से उसका अन्त हो गया। हिरण्य ने तोरमाण को क्यों मुक्त किया इसका समाधान 'यदृच्छया' से नहीं हो सकता। राजनीति में 'यदृच्छया' के पीछे भी गहरी चाल रहती है। हमारी समझ में यह गुप्त-साम्राज्य को हड़पने की चाल थी और इसी तोरमाण के वध का संस्कृत वाङ्मय में जहाँ तहाँ 'शकाविरति' के रूप में उल्लेख है, जिसकी चर्चा कुछ पहले भी हो ली है। निदान दिखाना यह है कि सचमुच इसी वध का परिणाम था कि तोरमाण का आत्मज प्रवरसेन विक्रमादित्य का शत्रु हो गया था और 'कश्मीर' को उसके अधीन देखकर तड़प उठा था। कल्हण ने इसी विक्रमादित्य को 'शकारि' कहा है, यह भी सिद्ध है। कारण कि किसी 'प्रतापादित्याख्य' विक्रमादित्य के बारे में पहले ही लिख चुके हैं—

शकारिर्विक्रमादित्यः स इति भ्रममाश्रितैः ।
अन्यैरत्रान्यथालेखि विसंवादकदर्थितम् ॥६॥२॥

और फिर इस 'विक्रमादित्य' के संबंध में लिखते हैं—

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेरवतरिष्यतः ।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्यभारो लघूकृतः ॥१२८॥३॥

यह शकवध कहाँ हुआ था, इसके उत्तर में भी संस्कृत वाङ्मय दरिद्र नहीं। राजशेखर का अवतरण है—

दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात्खंडितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः ।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः ॥

[काव्यमीमांसा, नवम अध्याय, मुक्तक]

अब तो स्यात् विधिवत् कहा जा सकता है कि जिस न्याय से 'काव्यमीमांसा' में 'शक' का 'खस' और 'राम' का 'शर्म' हो गया कदाचित् उसी न्याय से 'राजतरंगिणी' में भी कुछ का कुछ और ही हो गया। और यदि न भी हो तो भी हमारा पक्ष पुष्ट है। हम पहले भी दिखा चुके हैं कि कालिदास और मेण्ठ तथा मेण्ठ और मातृगुप्त एक ही काल के प्राणी हैं। यहाँ भी विदित हो गया कि मातृगुप्त के विक्रमादित्य वास्तव में शकारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही हैं। अब इतना और भी जान लीजिए कि कल्हण की दृष्टि में भी मातृगुप्त कवि ही हैं कुछ आचार्य नहीं। देखिए उनका परिचय है—

नानादिगन्तराख्यातं गुणवत्सुलभं नृपम् ।
तं कविर्मातृगुप्ताख्यः सर्वस्थानस्थमासदत् ॥१२६॥
स गम्भीरस्य भूभर्तुरनुभावं महाद्भुतम् ।
विविधस्थानसंवृद्धस्तस्याभ्यूह्य व्यचिन्तयत् ॥१३०॥
भङ्ग्यामुष्मिन्विदधती स्वाभिप्रायप्रकाशनम् ।
वैदग्ध्यबन्ध्यतां नैति बुद्धिः कुलवधूरिव ॥१३३॥३॥

कवीन्द्र—इतना ही नहीं, खुले रूप में उन्हें 'कवीन्द्र' भी कहा जाता है। देखिए—

तदाकर्ण्य महीपालः साधुवादैः परिश्रमम् ।
अभिनन्द्य कवीन्द्रं तं पूर्वस्थानं व्यसर्जयत् ॥१८२॥३॥

आप ही कहें, 'कालिदास' के समय में कालिदास को छोड़ कर किसकी दृष्टि में कौन सा कवि 'कवीन्द्र' बना और आज भी उसको छोड़ कर कौन सा 'मातृ-गुप्त' उसका अधिकारी है ? कश्मीर में जाकर उसने जिस भागवतता का परिचय दिया वह उसकी नहीं उसके 'परम भागवत' प्रेषक की भावना थी । उसको लेकर मातृगुप्त को वैष्णव बना कालिदास से अलग नहीं किया जा सकता । कारण उसका स्पष्ट निर्वेद है और है परम त्याग भी । प्रवरसेन से किस ढब से कहता है वह—

मातृगुप्तस्ततोवादीत्कोपस्मितसिताधरः ।
अस्मानुत्सहते कश्चिन्नापकर्तुं बलाधिकः ॥२६३॥
नयता गण्यतामस्मानन्तरज्ञेन तेन हि ।
न भस्मनि हुतं सर्पिर्नोप्तं वा सस्यमूषरे ॥२६४॥
उपकारं स्मरन्तस्तु कृतज्ञत्ववशंवदाः ।
पदवीमुपकर्तॄणां यान्ति निश्चेतना अपि ॥२६५॥
निर्वाणमनु निर्वाति तपनं तपनोपलः ।
इन्दुमिन्दुमणिः किं च शुष्यन्तमनु शुष्यति ॥२६६॥
पुण्यां वाराणसीं गत्वा तस्माच्छमसुखोन्मुखः ।
इच्छामि सर्वसंन्यासं कर्तुं द्विजजनोचितम् ॥२६७॥३॥

अस्तु, मातृगुप्त को कालिदास मानने में कोई बाधा शेष नहीं रह जाती । वैसे तो तर्क-वितर्क की कोई इति नहीं और 'ऐसा हो सकता है' की कोई मर्यादा नहीं । माना कि बाद के लोगों ने 'मातृगुप्ताचार्य' का अलग उल्लेख किया है पर इससे हो क्या गया ? इसको उनकी भूल भी तो नहीं कह सकते ? यह तो जान-कारी की बात ठहरी । नाम-उपनाम का द्वन्द्व ठहरा । फिर इसकी गोहार कैसी ? अस्तु हमारी दृष्टि में तो यह स्फुट हो गया कि कालिदास और मातृगुप्त एक ही व्यक्ति के दो संकेत हैं—एक व्यक्ति तथा स्वच्छन्द कवि का प्रतीक है तो दूसरा 'शासक' और 'प्रतिरूप' का ; परन्तु काव्य दोनों को इष्ट है । पहला सचमुच कवि का काम करता है तो दूसरा आचार्य का । इसी से तो परवर्ती लोगों में 'कवि-कुलगुरु' कालिदास हैं और मातृगुप्त 'आचार्य' ।

हाँ, तो मातृगुप्त के विषय में विक्रमादित्य ने कहा था—

वैदेशिको निःशरणो गुणवान्बान्धवोज्झितः ।
दार्ढ्यं जिज्ञासुना कष्टं सोयमायासितो मया ॥१६१॥
कोस्याश्रयः किमशनं कानि प्रावरणानि वा ।
इत्यैश्वर्यविमूढेन मया हन्त न चिन्तितम् ॥१६२॥३॥

इससे इतना तो व्यक्त होता है कि कल्हण की दृष्टि में मातृगुप्त उज्जयिनी के मूलवासी नहीं और न पहले के परिचित ही। तो भी हम देख चुके हैं कि कालिदास इसके पहले भी विक्रमादित्य के लिए कुछ कर चुके हैं। फलतः हमारा कहना है कि यथार्थ में 'राजतरंगिणी' इतिहास नहीं इतिहास पर आश्रित काव्य है। 'रम्यनिर्माण' ही उसका लक्ष्य है कुछ शुष्क 'इतिवृत्त' नहीं। उसी के छंद में—

कोन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः ।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः ॥४॥
न पश्येत्सर्वसंवेद्यान्भावान्प्रतिभया यदि ।
तदन्यद्दिव्यदृष्टित्वे किमिव ज्ञापकं कवेः ॥५॥
कथादैर्घ्यानुरोधेन वैचित्र्येप्यप्रपञ्चिते ।
तदत्र किंचिदस्त्येव वस्तु यत्प्रीतये सताम् ॥६॥१॥

परिवार—अस्तु अब इस 'रम्यनिर्माण' के बारे में और अधिक कहने से कोई लाभ नहीं। हाँ, इसके इतिवृत्तों के आधार पर कालिदास को समझने का प्रयत्न करना अवश्य ही श्रेयस्कर है। सो इससे इतना तो सध ही गया कि वस्तुतः किस विक्रमादित्य के सभासद कालिदास थे और भर्तृमेण्ठ से उनका कैसा लगाव था। और यह भी तो कहा ही जा सकता है कि 'मातृगुप्त' के रूप में उनका जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से मेल मिला है वह उसका अंश सा हो गया है। परन्तु इतना ही तो बस नहीं। अभी तो यह जानना शेष रह गया कि कालिदास का कुछ परिवार भी था या यों ही रमा करते थे। कल्हण से इस प्रकरण में किसी भी रूप में क्या प्राप्त हो सकता है? और दूसरा कोई व्यक्ति नहीं जो विशेष रूप से कुछ कहे। निदान अब जनश्रुति का सहारा लेना पड़ता है और कुछ फुटकर प्रबन्धों के सहारे उनके जीवन का रूप खड़ा करना पड़ता है और भरसक यह देखना पड़ता है कि उसमें तथ्य कहाँ तक है।

कल्हण की राजतरंगिणी से अवगत होता है कि विक्रमादित्य के यहाँ 'मातृगुप्त' का प्रवेश कवि के रूप में नहीं 'भृत्य' के रूप में हुआ था और 'भृत्य' के कार्य से प्रसन्न होकर ही राजा ने उन्हें कश्मीर का राज्य दिया था। इधर मेरुतुंगाचार्य कुछ और ही गाथा सुनाते हैं और कालिदास को 'पशुपाल' के रूप में विक्रमादित्य का जामाता बना देते हैं। उनके कहने का सारांश यह है—

अवन्ती के राजा विक्रमादित्य की पुत्री प्रियंगुमंजरी जब पढ़ लिखकर पंडित हो गई तब यौवन-मद के कारण उसे अपने आचार्य वररुचि से परिहास की सूझी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने उसका गर्व चूर करने के लिये किसी प्रकार उसका विवाह एक महामूर्ख पशुपाल से करा दिया। जब भेद खुला तब भर्त्सना के अतिरिक्त 'प्रियंगु' के लिए और क्या रह गया था। पशुपाल भी अपनी आराधना से कालिदास बन गया।

कथा का मुख्यांश है—

उमया सहितो रुद्रः शंकरः शूलपाणिभृत्।
रक्षतु त्वां महीपाल टंकारबलगर्वितः ॥४॥

इति विदितेन श्लोकेन तत्पाण्डित्यगम्भीरतां वचनविस्तरेण व्याख्यातवान्। तत्प्रत्ययप्रीतेन नृपतिना स महिषीपालः स्वां पुत्रीं परिणायितः। पण्डितोपदिष्टं सर्वथा मौनमेवावलम्बमानो राजकन्यकया तद्वैदग्ध्यजिज्ञासया नवलिखितपुस्तकस्य शोधनायोपरुद्धः। करतले पुस्तकं विन्यस्य तदक्षराणि बिन्दुमात्ररहितानि नखच्छेदिन्या केवलान्येव कुर्वन् राजपुत्र्या मूर्खोऽयमिति निर्णीतः। ततः प्रभृति जामातृशुद्धिरिति सर्वतः प्रसिद्धिरभूत्। कदाचिच्च चित्रभित्तौ महिषीनिवहे दर्शिते सति प्रमोदात्स्वप्रतिष्ठां विस्मृत्य तदाह्वानोचितानि विकृतिवचनान्युच्चरन्महिषीपाल इति तया निश्चिक्ये। स तां तदवज्ञामाकलय्य कालिकां देवीं विद्वत्ताकृते आरराध। पुत्रीवैधव्यभीतेन राज्ञा निशिच्छद्मना दासीं प्रहित्य, तवाहं तुष्टास्मीत्यभिधाय, यावत्स उत्थाप्यते तावद्भिसबभीता कालिकैव देवी प्रत्यक्षीभूय तमनुजग्राह। तद्वृत्तान्तावबोधात्प्रमुदितया राजकन्यया तत्रागत्य 'अस्ति

कश्चिद्वाग्विशेषः' इत्यभिहिते, स तदैव कालिदासनाम्ना प्रसिद्धः कुमारसम्भवप्रभृतिमहाकाव्यत्रयषट्प्रबन्धान् रचयामास ।

[प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९८९ वि०, पृ० ४–५]

'ॐ नमः शिवाय' को ६ मास में घोख कर समय पर 'उशरट' कहने वाले पशु-पाल को जो कालिका देवी का वरदान मिला उसकी अलौकिक सिद्धि आप के सामने है और जिस प्रपंच से कालिदास विक्रमादित्य के दामाद बने वह भी अब आंखों से दूर नहीं। परन्तु सत्य का आग्रह और इतिहास का कथन क्या है, इसे कौन कहे ?

भोगभूमि—कालिदास के अध्ययन से इतना तो व्यक्त हो जाता है कि उज्जयिनी उनकी भोग-भूमि है, पर इसकी व्याप्ति कहाँ तक है इसी में विवाद हो सकता है। पहले 'मेघदूत' को लीजिए। कवि कहता है—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैर्यत्र पौरांगनानां
लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितः स्याः ॥२७॥
वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ॥
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः संनिपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥२८॥
वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥२९॥

और बड़े प्रेम से समझाता है—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा च भूर्विक्लवास्ताः ॥३९॥

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥४०॥

इन पंक्तियों में जो 'प्रणय', जो 'सौभाग्य' और जो 'विरह' की पुकार है उसको ध्यान में रखकर 'कस्यांचिद्भवन' की सुधि लें और 'सुप्तपारावतायां' की ध्वनि पर भी कान दे देखें यह कि 'वासवदत्ता-हरण' में कवि को इतना रस क्यों आ रहा है कि उसका विवरण वहाँ के अभिज्ञ लोग दे रहे हैं ऐसा । सुनिए—

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा—
दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥३२॥

सोचने की बात है कि इसमें कोई भी बात ऐसी कही गई है जिससे कालिदास का नाता अन्यथा सिद्ध हो । यदि कालिदास की क्रीडाभूमि उज्जयिनी न होती तो मेघदूत में उसका वर्णन कुछ और ही होता । जो लोग इस लगाव के कारण कालिदास को 'उदयन' के कुछ ही पश्चात् मानना चाहते हैं उन्हें इस 'अभिज्ञ' से मोरचा लेना चाहिए और बताना यह चाहिए कि काव्य में इसका महत्त्व क्या है और कालिदास इससे साधते क्या हैं । और यदि यह प्रक्षिप्त है तो बात ही और है । इससे हमारी स्थिति में कोई अन्तर नहीं ।

रघुवंश पर दृष्टि डालिए तो वहाँ भी इस नगरी का यही रूप दृष्टिगत होता है । सुनन्दा इन्दुमती से किस भाव से कहती है—

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥३४॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरंगानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥३५॥६॥

प्रवाद—तात्पर्य यह कि कालिदास की वाणी से सिद्ध होता है कि उनकी विहार-भूमि उज्जयिनी है । किन्तु कुछ प्रवाद इसके प्रतिकूल भी हैं । श्री तारानाथ जैसे प्रसिद्ध विश्रुत बौद्ध का कहना है कि कालिदास का विवाह वारा-

णसी के राजा भीमशुक्क की विदुषी दुहिता 'वासन्ती' से हुआ। वररुचि यहाँ भी घटक हैं और कालिदास पशुपाल। भेद नाममात्र का है। पर विशेषता यह है कि यहाँ कालिदास को 'मगध' का बताया गया है। यहाँ राजदुहिता की प्रेरणा से कालिदास फूल जुटाते और काली की आराधना करते हैं। परिहास में उसकी दासी प्रसाद के रूप में अपना चबाया पान देती है और काली के प्रसाद को प्रत्यक्ष पाने से प्रसन्न हो वह उसको निगल जाते हैं। बस इसी से उनमें दिव्यशक्ति का उदय होता है। दासी और वररुचि का उल्लेख प्रायः एक ही रूप में हुआ है अन्तर केवल नाम और स्थान का विशेष है। मेरुतुंगाचार्य के यहाँ 'उज्जयिनी' है तो तारानाथ के यहाँ 'वाराणसी'। पहले के यहाँ 'राजा विक्रमादित्य' हैं तो दूसरे के यहाँ 'भीमशुक्क'। 'प्रियंगुमंजरी' और 'वासन्ती' का 'नामभेद' भी कुछ ऐसा ही है। समय की दृष्टि से पहला सन १५०० ई० के पहले का है तो दूसरा सन १६०८ ई० का।

एक बात और। मैसूर तथा मगध में प्रचलित प्रवादों से पता चलता है कि कालिदास जन्म से ब्राह्मण थे। माता पिता के अभाव में एक ग्वाले ने उनका पालन-पोषण किया और इस प्रकार उनको पक्का अहीर बना दिया। मिथिला में तो दामोदरपुर का नाम भी बताया जाता है और वहीं का ग्वाला इनका पालक-पोषक भी कहा जाता है। घटा कुछ भी हो पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि यदि सारे प्रवादों को मथ डालें और इतिहास के प्रकाश में उन पर विचार करें तो पता चलेगा कि जनश्रुतियों के मूल में जो बात बनी हुई है वह आज भी बड़े काम की है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का जो सम्बन्ध 'मगध' और 'अवन्ती' से है उसे हम जानते हैं और 'साहसांक' तथा 'भीम' एवं 'आदित्य' तथा 'शुक्क' में जो ज्योति है उसे भी हम ओझल नहीं कर सकते। और विक्रमोर्वशीय के प्रसंग में किसी 'काशिराजपुत्री' को किसी 'कुवेरनागा' के रूप में देख भी तो चुके हैं। तो क्या इन सारी बातों के आधार पर यह स्थापना खड़ी नहीं हो सकती कि वास्तव में कालिदास का विवाह 'श्री प्रभावती गुप्ता' की किसी सगी बहिन से हुआ था? हो या न हो, परन्तु प्राप्त सामग्री के आधार पर हम अन्यथा कुछ कह भी नहीं सकते। विक्रमोर्वशीय की 'अपभ्रंश' भी तो 'आभीरादिगिरः' को ही चरितार्थ करती है? फिर संकोच कैसा?

पत्नी—अस्तु, हमारी धारणा में तो यही बात सत्य ठहरती है कि कालिदास का विवाह विक्रमादित्य साहसांक की राजदुहिता से हुआ था और उसके संसर्ग से इनमें कविता का बीज फूटा। एक बात और। कालिदास का कुछ लगाव प्रभावती गुप्ता से प्रत्यक्ष है। उसके पुत्र 'प्रवरसेन' के लिये 'सेतुबन्ध' की रचना उन्होंने नहीं की तो नहीं सही, पर उसका संशोधन तो किया ? और वह भी न सही, तो उसके हृदय में कविता का बीज तो बोया ? स्मरण रहे, कालिदास अपनी प्रिया से कह रहे हैं—

ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जर-
स्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः।
समागतो राजवदुद्धतद्युति-
र्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥

[ऋतुसंहार, द्वितीय सर्ग]

और इसी 'प्रिया' के वियोग में 'मेघदूत' में लिखते हैं—

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥२॥

इतना ही नहीं, अपितु 'ऋतुसंहार' में कहा गया है—

जलभरविनतानामाश्रयोऽस्माकमुच्चै-
रयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनम्राः।
अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखाभिः
समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम् ॥२७॥२॥

और वही 'मेघदूत' में फिर पाया गया है—

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७॥

अतएव उभय दशाओं में भूलना न होगा कि 'विन्ध्य' के 'आम्रकूट' से कालिदास का कुछ विशेष नाता है जिसे कोई हृदयालु कभी भुला नहीं सकता। इस 'प्रदेश' का गुण है—

नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्ता-
न्हृष्टान्यपुष्टनिनदाकुलसानुदेशान् ।
शैलेयजालपरिणद्धशिलातलौघा-
न्दृष्ट्वा जनः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः ॥२५॥६॥

[ऋतुसंहार]

जन्म-भूमि—तो क्या अन्यपुष्ट कालिदास के निनाद का यह आश्रय नहीं ? स्मरण रहे, कालिदास की रचनाओं में 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' ही दो ऐसी रचनायें हैं जिनकी रचना में कवि सर्वथा स्वच्छन्द है। इस दृष्टि से देखा जाय तो संयोग और वियोग की लीलाभूमि यही प्रदेश है और फलतः यहीं कहीं है कालिदास का निवास वा वास भी। प्रसंगवश इतना और जान लें कि यहाँ का मार्ग भी कुछ वक्र है, कुछ केवल उज्जयिनी का ही नहीं। सावधान हो सुनें। यक्ष कहता है—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥

अतएव हमारा दृढ़ मत है कि कालिदास के कवि-जीवन का जन्मघर यही प्रदेश है और इसी से उनकी 'रीति' को वैदर्भी कहा भी गया है। श्री दण्डी का छन्द है—

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिरः ।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥१५॥

[अवन्तिसुन्दरी कथा, दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला]

और नीतिनिपुणविदूषक का 'अग्निमित्र' से कथन—

अद्य खलु देव्या धारिण्या पण्डितकौशिकी भणिता। भगवति ! यदि त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे वैदर्भं विवाहनेप-

थ्यम् इति । तथापि सविशेषालंकृता मालविका ।

[मालविकाग्निमित्र पंचम अंक, ३ के पश्चात्]

रघुवंश में इन्दुमती के शरीर पर भी इस 'वैदर्भ विवाहनेपथ्य' का दर्शन हो सकता है और कहा जा सकता है कि कवि कालिदास ने जितना निकट से घुस कर विन्ध्यप्रदेश को देखा है उतना निकट से पैठकर 'हिमालय' को नहीं। माना कि 'कुमारसंभव' में उसका उदात्त वर्णन है और 'मेघदूत' तथा 'रघुवंश' में भी उसका कुछ वर्णन है ही। यही क्यों ? 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भी तो 'हिमालय' का दृश्य सामने आता है ? हाँ, अवश्य। पर देवभूमि या देवता के रूप में ही, मानव की कर्मभूमि के रूप में कितना ? निदान कालिदास के जीवन का जितना घना लगाव विन्ध्य से है उतना हिमालय से नहीं। कश्मीर की सुषमा कालिदास में कहाँ ? उनकी समझ में तो 'हिमालय' की महिमा का कारण है—

यज्ञांगयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ।।१७।।१।।

[कुमारसंभव]

हाँ, 'हिमालय' में 'गन्धमादन' ऐसा स्थान अवश्य है जिसका वर्णन कालिदास ने विशेष रूप से किया है। सच पूछिए तो वही 'प्रिय-प्रिया' की प्रसिद्ध विहार-भूमि है। 'विक्रम' और 'उर्वशी' ही की नहीं 'शिव' और 'पार्वती' को भी। किन्तु कालिदास का संस्कार दक्षिण का ही अधिक है और वहीं की वासना उनमें अधिक काम करती है, इसका एक दृढ़ प्रमाण उनका 'उत्तरकोशल' का प्रयोग है। यद्यपि कालिदास ने कहीं-कहीं 'कोशल' का ही उल्लेख किया है परन्तु तो भी सामान्यतः नाम लिया है उन्होंने 'उत्तरकोशल' का ही। देखिए—

पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ।।१।।९।।

[रघुवंश]

के 'उत्तरकोशल' के संकेत तथा आगे के 'कोशल' की व्याप्ति को। उसी क्रम में कहते हैं—

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
मगधकोशलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥१५॥६॥

इस 'कोशल' से कौशल्या का लगाव है और 'कौशल्य' नाम एक 'उत्तर-कोशल' का शासक भी था। दोनों का प्रयोग एकत्र देखिए—

कौशल्य इत्युत्तरकोशलानां पत्युः पतंगान्वयभूषणस्य ।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥२७॥१८॥

कहने का भाव यह है कि कालिदास ने देश के रूप में बराबर 'उत्तरकोशल' का ही व्यवहार किया है। इसका कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि उनके मन में बराबर एक दूसरे 'कोशल' का भी वास था जिसे उत्तर के लोग 'दक्षिणकोशल' या आजकल महाकोशल कहते हैं। यहाँ तक कि स्वयं रामचन्द्र दक्षिण से विमान से आते हैं तो अपनी जन्मनदी सरयू के बारे में कह जाते हैं —

यां सैकतोत्संगसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे संभावयत्युत्तरकोशलानाम् ॥६२॥१३॥

अति प्रसिद्ध 'कोशल' के स्थान पर 'उत्तरकोशल' का बार-बार प्रयोग इसी को पुकार कर कहता है कि कालिदास यथार्थतः दक्षिण के जीव और दक्षिण-कोशल से अति परिचित प्राणी हैं अन्यथा ऐसा निश्चित प्रयोग उनके काव्य में न होता। जब कोशलपति और 'कोशलाधिपति' का प्रयोग 'उत्तरकोशल' के अधि-पति के लिए रूढ़ है तब 'कोशल' की व्यंजना भी उसी के लिए सीमित रहती। किन्तु संस्कार के कारण कालिदास को उसे 'उत्तरकोशल' ही लिखना पड़ा। अस्तु, कालिदास का जन्मस्थान नहीं तो 'स्थान' किंवा विकास-स्थान तो दक्षिण में ही होना चाहिए। और होना चाहिए कहीं विंध्य प्रदेश में ही। हमारा अनु-मान तो यह है कि कालिदास 'विन्ध्यशक्ति' के कुल के प्राणी थे और इसी से 'वंश' के इतने प्रेमी भी। 'वंशकेतु' के अभिमानी को ही 'वंश' से इतना प्रेम हो सकता है कि उसकी सहज ध्वनि पर मुग्ध हो। न भी हो, तो भी इतना तो है ही कि कवि जिस प्रदेश की शोभा अपनी 'प्रिया' के साथ देखने में मग्न है वहाँ 'वंश' का भी कुछ महत्त्व है। कवि कहता है—

ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु
स्फुटति पटुनिनादैः शुष्कवंशस्थलीषु ।

प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन
　　　　ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलग्नो दवाग्निः ॥२५॥१॥

[ऋतुसंहार]

जन्म-स्थान—ऋतुसंहारके टीकाकार श्री मणिराम 'स्थली' का अर्थ 'कृत्रिमभूमि' देते हैं किन्तु कहा नहीं जा सकता कि वास्तव में उनका लक्ष्य क्या है। हम कह नहीं सकते कि 'वाकाटक' का लांछन 'वंश' क्यों बना था। परन्तु इतना देखते अवश्य हैं कि जिस प्रदेश में कालिदास अपनी 'प्रिया' के साथ वन-विहार करते हैं वह कहीं विन्ध्य में 'आम्रकूट' के पास ही है। हमें तो ऐसा लगता है कि इसका भी कुछ कारण है। कह नहीं सकते कि 'वाकाटक' की 'पुरिका' कहाँ थी पर जानते कुछ ऐसा ही हैं कि 'सतपुड़ा' में 'सप्तपुरिका' वा 'सप्तपुरका' का आभास है। फलतः इसी के पठार किंवा 'माल' को कालिदास का प्रिय प्रदेश मानने में कोई क्षति नहीं समझते।

ध्यान देने की बात है कि 'हेमन्त' में कालिदास शैल-शोभा का वर्णन नहीं करते। नहीं, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा, बस इन्हीं तीन ऋतुओं में पर्वत का उल्लेख होता है। कुछ शरत्, हेमन्त और शिशिर में नहीं। हेमन्त में ग्राम-शोभा सामने आती है और कहते हैं—

बहुगुणरमणीयो योषितां चित्तहारी
　　　　परिणतबहुशालिव्याकुलग्रामसीमा।
सततमतिमनोज्ञः क्रौञ्चमालापरीतः
　　　　प्रदिशतु हिमयुक्तः काल एषः सुखं वः ॥१८॥४॥

हम इस ग्रंथ की चिन्ता से अभी दूर रह उस 'आद्रि' का ही पता लगाना चाहते हैं जो वास्तव में कालिदास को इतना प्रिय था और जिसके बारे में लिखा है—

सफेनलोलायतवक्त्रसम्पुटं
　　　　विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मुखम्।
तृषाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरा-
　　　　दवेक्ष्यमाणं महिषीकुलं जलम् ॥२१॥१॥
पटुतरदवदाहोच्छुष्कसस्यप्ररोहाः
　　　　परुषपवनवेगोत्क्षिप्तसंशुष्कपर्णाः।

दिनकरपरितापक्षीणतोयाः समन्ता—
द्विदधति भयमुच्चैर्वीक्षमाणा वनान्ताः ॥२२॥१॥
श्वसितविहगवर्गः शीर्णपर्णद्रुमस्थः
कपिकुलमुपयाति क्लान्तमद्रेर्निकुञ्जम् ।
भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छ—
ञ्छरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात् ॥२३॥१॥

'जल' का अभाव, 'दव' का प्रकोप और 'कूप' का उल्लेख कुछ महत्त्व रखता है। पानी पड़ जाने पर इस प्रदेश की स्थिति यह हो जाती है—

सितोत्पलाभाम्बुदचुम्बितोत्पलाः
समाचिताः प्रस्रवणैः समन्ततः ।
प्रवृत्तनृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः
समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः ॥१६॥२॥

उधर मेघदूत में कहा जाता है—

तस्मिन्स्थित्वा वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य ॥१६॥१॥

ध्यान देने और सोचने की बात है कि 'रेवा' के पहले 'मेघ' को कहीं पानी पीना नहीं है। आम्रकूट पर विश्राम करना है 'वनोपप्लव' के शमन के लिए ही कुछ जलपान के लिए नहीं। निदान संक्षेप में हमारा कहना यह है कि वस्तुतः यही आम्रकूट कवि का निवासस्थान है। निदाघ किंवा ग्रीष्म वा उष्णकाल में कालिदास का यही निवास था और शीतकाल में इसी के पास किसी ग्राम में। कालिदास ने ऋतुसंहार में शैल, वन, उपवन और ग्राम का उल्लेख किया है और 'उपवन' को ही कदाचित् सीमान्त के रूप में लिया है। कुछ भी हो, निष्कर्ष हमारा यह है कि वास्तव में आम्रकूट ही कवि का जन्मदेश है और इसकी उपत्यका और अधित्यका ही उसकी निवासभूमि। ऋतुसंहार में इसका चित्रण तो है पर नामोल्लेख नहीं। होता भी कैसे? यहीं तो अपना घर है? मेघ को तो मार्ग बताना था इसलिए नाम का निर्देश अनिवार्य था।

आम्रकूट—परन्तु यह आम्रकूट भी तो 'कूट' ही है। इसका रहस्य अभी कहाँ खुला? 'अमरकंटक' को 'आम्रकूट' कहना शब्दसाम्य को बीजक मान लेना है। वह सभी प्रकार से स्थिति के प्रतिकूल है। कहाँ उत्तर और कुछ पश्चिम और फिर उत्तर की यात्रा और कहाँ उत्तर-पूर्व का यह पहाड़। नहीं 'अमरकंटक' 'आम्रकूट' हो नहीं सकता। तो फिर आम्रकूट है कहाँ? कुछ तो उसका पता होना चाहिए। स्मरण रहे कि इस प्रसंग में श्री मिराशी का कहना है—

यह आम्रकूट अमरकंटक है। ऐसा कुछ लोग समझते हैं। यह यथार्थ नहीं प्रतीत होता, कारण कि अमरकंटक पर्वत ईशान्य की ओर रह जाता है। इसके अतिरिक्त अमरकंटक का प्राचीन नाम आम्रकूट न हो कर 'मेकल' था। नर्मदा नदी का उद्गम अमरकंटक से होता है और उसे मेकलसुता कहते हैं, यह प्रसिद्ध ही है। इससे अमरकंटक का प्राचीन आम्रकूट होना सम्भव नहीं है। हमारे एक मित्र डा० कठाले यह संकेत करते हैं कि आम्रकूट छिन्दवाड़ा जिले में स्थित अमरवाड़ा नामक ग्राम होगा। यह अमरवाड़ा उसी नाम की तहसील का प्रधान स्थान है और रामटेक से उत्तर की ओर नागपुर एवं नरसिंगपुर को जोड़नेवाले मुख्य मार्ग पर स्थित है। आम्र का अपभ्रंश अमर हो जाना भी संभव है। फिर भी अमरवाड़ा एक ग्राम है, पर्वत नहीं। प्राचीन आम्रवाटक का वह भ्रष्ट रूप होगा। इसके उत्तर की ओर सात आठ मील के अन्तर पर सतपुड़ा की पर्वतमाला प्रारम्भ होती है। उसका नाम प्राचीन काल में आम्रकूट रहा होगा, यह अनुमान करने में भूल होने की अधिक सम्भावना नहीं है। स्वर्गीय डा० हीरालाल ने अपने एक लेख में यह प्रतिपादित किया है कि प्राचीन काल में सतपुड़ा के शिखरों के नाम 'कूट' शब्दान्त रहते थे। उदाहरणार्थ सालकूट अर्थात् बालाघाट जिले की साल पहाड़ी। एवं मधुकूट अर्थात् छिन्दवाड़ा का मोहतूर। इससे आम्रकूट भी अमरवाड़ा के समीपवर्ती सतपुड़ा का उस समय प्रसिद्ध शिखर होगा, यह अनुमान करने में कोई हानि नहीं है।

[विक्रमस्मृतिग्रंथ, पृष्ठ ३५२—३]

आम्रकूट सतपुड़ा के किस शिखर का नाम रहा होगा, इसका उल्लेख न कर आप इसके आगे लिखते हैं—

इसके उपरांत मिलनेवाली नर्मदा नदी का वर्णन ठीक वैसा ही है जैसा जबलपुर

से होशंगाबाद तक के प्रदेश में वर्षाकाल के आरम्भ में उस नदी का दृश्य होता है। ग्रीष्म ऋतु में जल सूखने पर नर्मदा नदी का प्रवाह संकुचित हो कर पथरीले प्रदेश में से बहता है। उसे देखकर कालिदास जैसे प्रतिभासम्पन्न कवि को हाथी के शरीर पर चित्रित चित्रविचित्र बेलों की उपमा का भास हुआ, इसमें आश्चर्य नहीं है। नर्मदा नदी का ऐसा दृश्य अमरकंटक के समीप कहीं नहीं दिखाई देता। इसके अतिरिक्त 'आम्रकूट पर्वत पार करके द्रुततर गति से कुछ दूर चलने पर विन्ध्यपर्वत के नीचे के प्रदेश में मेघ को नर्मदा पड़ेगी' मेघदूत के इस वर्णन की नर्मदा नदी के उद्‌गम स्थान अमरकंटक से संगति नहीं बैठती, यह स्पष्ट है।

इसमें संदेह नहीं कि 'रामगिरि' की अनेकता के कारण जो प्रश्न विवादग्रस्त समझा जा सकता था उसका समाधान इस 'उपलविषमविशीर्ण' रेवा से हो जाता है। परन्तु हमारा काम इससे तो नहीं सधता। जबलपुर और होशंगाबाद में प्रायः २०० मील का अन्तर है, तो हम उक्त स्थान का पता कैसे लगा लें जिससे हमारा काम बने। इसका समाधान स्यात् यही होगा कि हम मेघ की यात्रा पर पूरा ध्यान दें और यक्ष के निर्देशानुसार ही उक्त स्थान की खोज में बढ़ें। परन्तु रेवा के पहले ही 'आम्रकूट' को पहिचान लेना होगा अन्यथा २०० मील के भीतर भटकना अच्छा न होगा। मेघ से यक्ष ने इस यात्रा के विषय में जो कुछ कहा था उसका प्रसंग प्राप्त भाव यह है—

हे मेघ! इस स्थान से उत्तर को जाते हुए पहले तुम्हें, जहाँ की भूमि तत्काल जोती हुई होने के कारण सुगन्धित होगी, वह माल नामक पठार दिखाई देगा। उसको पार करके तुम किञ्चित् पश्चिम की ओर मुड़ कर पुनः उत्तर के पथ पर चलना (श्लोक १६)। तदुपरान्त प्रवास से खिन्न हुए तुम्हें आम्रकूट नामक सानुमान् पर्वत अपने शिखर पर धारण करेगा (श्लोक १७)। उस पर्वत पर पक्व फलों से सुशोभित वन्य आम्रवृक्ष होने से वहाँ पहुँचने पर कृष्णवर्णयुक्त तुम्हारा रूप भूमि के स्तन जैसा प्रतीत होगा। उस स्थान पर जलवृष्टि करने के पश्चात् तुम अपने मार्ग पर द्रुतगति से चल सकोगे। आगे चल कर विन्ध्यपर्वत के नीचे पथरीले प्रदेश में होकर प्रवाहित होने वाली नर्मदा, हाथी के शरीर पर चित्रित वल्लरी के समान दृष्टिगोचर होगी (श्लोक १९)। इनके पश्चात् तुम्हें दशार्ण देश पड़ेगा।

[वही, पृष्ठ २५०]

जिससे सिद्ध है कि मेघ ने आम्रकूट से ठीक उत्तर की यात्रा की और मार्ग में नर्मदा को पार कर दशार्ण पहुँचा। दशार्ण की राजधानी 'विदिशा' तक की यात्रा में पहले ही उसे 'माल' पर चढ़कर कुछ पश्चिम मुड़ना पड़ा था। नहीं तो बराबर उसकी यात्रा थी उत्तर को ही। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'आम्रकूट' 'विदिशा' के दक्षिण पड़ता है। विदिशा के 'नीचैर्गिरि' पर विश्राम की बात भी मेघ से कही गई है और 'आम्रकूट' के लिए 'तथोच्चैः' का प्रयोग भी किया गया है। इस 'नीचैः' और 'उच्चैः' का लगाव कुछ हो तो आश्चर्य नहीं। सौभाग्य से 'नीचैः' को विद्वानों ने 'उदयगिरि' मान लिया है पर इस 'उच्चैः' के विषय में तो कुछ स्थिर नहीं हुआ। 'अमरकंटक' तो हो नहीं सकता। फिर 'आम्रकूट' है कहाँ? निवेदन है छिन्दवाड़ा प्रदेश में सतपुड़ा का कोई शैल ही। इस शैल में मेघदूत की सारी बातें घट जाती हैं और ऋतुसंहार की 'स्थली' भी यही ठहरती है। इसको अन्यथा समझने का कोई कारण भी नहीं दीखता। निदान इसी को हम 'आम्रकूट' समझते हैं। आम्र का अभाव आज भी यहाँ नहीं है। अमरवाड़ा का प्रमाण भी इसके प्रतिकूल नहीं पड़ सकता।

सानुमान्—'सानुमानाम्रकूट' में 'सानुमान्' का प्रयोग सार्थक प्रतीत होता है। इनमें 'सानु' की प्रधानता है। ऋतुसंहार में भी यह सानु 'हृष्टान्यपुष्टनिनदाकुलसानुदेशान्' में पाया जाता है जिससे विदित होता है कि 'आम्रकूट' में बहुत सी चोटियाँ थी। सचेत हो देखने की बात यह है कि मेघ 'माल' पर चढ़कर (आरुह्य मालं) कुछ पश्चिम जाकर फिर उत्तर को मुड़ जाता है और फिर आम्रकूट पर कृपा करता है। आम्रकूट पर कवि उसे भेजता क्यों है? मेघ मुहूर्त भर वहाँ ठहरता अवश्य है पर अपने सुख वा विश्राम के लिए नहीं, 'वनोपप्लव' की शान्ति के लिए। इसका अर्थ यह हुआ कि यह आम्रकूट रामगिरि से बहुत दूर भी नहीं है। 'अध्वश्रम' से कुछ दूरी का भान होता है पर मूल में उपकार और शिष्टाचार की ही भावना अधिक है। 'परिगत' का प्रयोग इसी को व्यक्त करने के लिए किया गया है। इसके उपरांत यक्ष ने 'द्रुततरगति' की प्रार्थना की है और यह भी कहा है कि 'तोयोत्सर्ग' से चलना सुगम होगा। भार हलका हो जायगा। इस प्रकार कवि ने आम्रकूट की वकालत की है और उसके गौरव को बढ़ाया है जिसका कारण कवि का उक्त लगाव ही प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखा जाय

तो छिन्दवाड़ा प्रदेश की संभावना बहुत बढ़ जाती है और कोई प्रबल बाधा भी सामने नहीं रह जाती। निदान हम इसी को कवि का निवास-स्थान मानते हैं। हमारी दृष्टि में यही उसका जन्मदेश है। यहाँ उस 'कलम' का भी अभाव नहीं जिसके कारण कुछ लोग उसे बंगाल का सिद्ध करते हैं। ऋतुसंहार में वह कहता है—

भिन्नाञ्जनप्रचयकान्ति नभो मनोज्ञं
बन्धूकपुष्परजसारुणिता च भूमिः।
वप्राश्च पक्वकलमावृतभूमिभागा
उत्कण्ठयन्ति न मनो भुवि कस्य यूनः ॥५॥३॥

कवि ने नीले और लाल के मध्य में पीले की जो छटा दिखाई है उसको दृष्टि में रख कर रघुवंश के इस श्लोक को पढ़ें—

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्या गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥२०॥४॥

और ऋतुसंहार की शालिनिष्ठा को समझें तो कवि की वासना का पता चले। 'स्वादु शालीक्षुरम्यः' का यह पूर्व रूप ही तो है ?

एक बात और। रघुवंश में जो किसी 'वन्यकरी' का वर्णन है वह नर्मदा के किस स्थान का है। कवि कहता है—

निःशेषविक्षालितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥४४॥५॥

वैदर्भ—और मेघदूत में भी 'वनगज' का उल्लेख है ही। इतना ही नहीं 'मेघ' का 'तिक्त' ही 'रघु' में 'कटु' हो गया है। अतः हमारी समझ में 'मेघ' के पर्यटन में कुछ 'रघु' से भी सहायता मिलेगी। कवि ने रघुवंश में जो 'सौराज्य-रम्यानपरो विदर्भान्' का उद्घोष किया है उसका कारण क्या है ? कुछ भी हो, हम कालिदास को विदर्भ राज्य से अलग कर नहीं देख सकते। उनकी रीति का नाम 'वैदर्भी' है तो उनको 'वैदर्भ' क्यों नहीं कहने दिया जाता ? पक्ष में इतना कुछ कह दिया गया कि विपक्ष के खंडन की आवश्यकता नहीं रही। फलतः हम कालिदास को वैदर्भ ही घोषित करते हैं; मालवी, कश्मीरी या बंगाली नहीं।

इतना ही नहीं, अपि तु यह भी ज्ञात रहे कि 'रघुवंश' से स्वतः सिद्ध हो जाता है कि यथार्थतः 'विदर्भराज' और 'भोजराज' पर्यायवाची शब्द हैं। प्रतीत

होता है कि इसी से 'वाकाटक' भी 'भोज' कहे जाते थे। श्री रामदास ने सेतुबन्ध की ६ वीं गाथा की टीका में लिखा भी है—'प्रवरसेनो भोजदेव इति केचित्'। यदि यह सत्य है तो कालिदास और भोजदेव का सम्बन्ध भी खुल जाता है। कालिदास का वाकाटक-सम्बन्ध और भी गहरा दिखाई देता है। कौन जाने आते आते भोजप्रबंध में 'प्रभावती' ही 'लीलावती' बन गई हो। जो हो विद्वानों का ध्यान इधर भी शीघ्र जाना चाहिए और कालिदास को पहले इस वंश का राजकवि मानना चाहिए फिर गुप्तवंश का।

निधन—कालिदास के निधन की कथा और भी निराली है। कहते हैं—

अथकुमारसम्भवमहाकाव्ये नवभिः सर्गैः श्रृंगारसुखवर्णनकुपित-योमया कालिदासकवेः शापो दत्तः यत् त्वं स्त्रीव्यसनेन मरिष्यसि। तेन वेश्याव्यसनी बभूव। राज्ञा श्रीविक्रमेण व्यसनिनं मत्वा तिरस्कृतः। वेश्यासदने स्थितः। अत्रान्तरे राजवाटिकायां गतेन राज्ञा सरसि कमलं कम्पमानं विलोक्योक्तं—'पवनस्यागमो नास्ति' कैरपि कविभिः प्रत्युत्तरं न दत्तम्। राज्ञा नगरे पटहो वादितः। यः कोऽपि समस्यां पूरयति तस्य सुवर्णलक्षं दद्मि इति। वेश्यया कालिदासस्य निवेदितम्। तेनोक्तं—अहं पूरयित्वा तव समर्पयिष्यामि। पूरिता। तया सुवर्णलोभेन स मारितः। तदनु तया राज्ञोऽग्रे न्यगादि समस्या। यत्—पावकोत्क्लिष्टवर्णाभः शर्वरी।' राज्ञोक्तं—केन पूरिता? तयोक्तं—मया। 'कांते०' इति पदेन त्वया न बद्धा। ततस्तयोक्तं—कालिदासेन। स च मया मारितः। राज्ञो विषादोऽजनि।

[पुरातन-प्रबंध-संग्रह, सिंघी जैन ग्रंथ माला, १९३६ वि०, विक्रमप्रबंध, पृ० १०]

कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते ।

(कमल से कमल की उत्पत्ति केवल सुनी जाती है, देखी नहीं गई) कवि ने इसकी पूर्ति इस प्रकार कर दी—

बाले ! तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम् ॥

(हे सुन्दरी ! तुम्हारे मुख कमल से ये दो (नेत्र) कमल कैसे उग आए हैं ?)

कहा जाता है कि इसी सुंदरी के कारण कालिदास मार डाले गए । कुमारदास इस दुर्घटना से अत्यंत विचलित हुए और उन्होंने कवि की चिता पर आत्महत्या कर ली । अभी तक सिंघल द्वीप के दक्षिणी भाग में कालिदास की समाधि विद्यमान है । यह दन्तकथा भारत में प्रसिद्ध नहीं है परन्तु सिंघल के अनेक प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है ।

[संस्कृत कविचर्चा, संस्कृत बुकडिपो, कचौड़ीगली, काशी, १९३२ ई०, पृ. २२-४]

कुचक्र—कालिदास के अन्त का कारण क्या हुआ इसकी सच्ची जानकारी किसी को नहीं, पर इसका जैसा उल्लेख काशी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री बलदेव उपाध्याय जी ने किया है उससे सिद्ध होता है कि इसका कारण 'सुन्दरी' है । किसी 'सुन्दरी' के द्वारा कालिदास का अन्त हुआ यह अति प्रसिद्ध है । एक यह भी प्रवाद है कि कालिदास जब पत्नी के उपदेश से 'काली' की उपासना कर पक्के पंडित बन गए तब शिक्षा के कारण उसे माता मान लिया और उसके साथ पत्नी का व्यवहार छोड़ दिया । क्रुद्ध हो उसने 'वेश्याव्यसनी' का शाप दिया । यह किंवदन्ती मैसूर की है और 'इंडियन एंटीक्वेरी', अपरैल, सन १८७८ ई० के पृष्ठ ११५-६ पर अंकित है । इन सभी प्रवादों में कालिदास के इस व्यसन का उल्लेख अपने अपने ढंग से है । परन्तु सबसे विलक्षण इसका उल्लेख है 'भोजप्रबंध' में । श्री बल्लाल ने कालिदास की दुःखद गाथा का अच्छा विवरण दिया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके पराभव में लोग कितने लीन थे । कहते हैं कि कवि-मंडली के प्रपंच में आकर राजा भोज ने कालिदास को अपने राज्य से निकाल दिया किन्तु उनकी दयिता 'विलासवती' ने उन्हें कहीं जाने न दिया और कहा—

तदेवास्य परं मित्रं यत्र संक्रामति द्वयम् ।
दृष्टे सुखञ्च दुःखञ्च प्रतिच्छायेव दर्पणे ॥८५॥

तत् दयित ! दयितायां मयि विद्यमानायां किं ते राज्ञा, किंवा राजदत्तेन वित्तेन कार्यम् ? सुखेन निःशंकं तिष्ठ मद्गृहान्तःकुहरे' इति ।

कालिदास की प्रेयसी का यही सच्चा रूप है, उसके द्वारा उनका निधन सम्भव नहीं । किन्तु उधर कविमंडली की खलबली है—

अष्टमदिनस्य रात्रौ मिलितेषु तेषु कविषु बाणः प्राह—

अहो ! तारुण्यमदेन, राजसम्मानमदेन, किञ्चिद्विद्यामदेन च कालिदासो निःसारितोऽभवत् । समे भवन्तः सर्व एव कवयः विषमे स्थाने तु स एक एव कविः । तं निःसार्य्य इदानीं किं नाम महत्त्वम् आसीत् । स्थिते तस्मिन् कथम् इयम् अवस्थास्माकं भवेत् । तन्निःसारे या या बुद्धिः कृता, सा भवद्भिरेव अनुभूयते ।

सामान्यविप्रविद्वेषे कुलनाशो भवेत् किल ।
उमारूपस्य विद्वेषे नाशः कविकुलस्य हि ॥६१॥

[भोजप्रबन्ध द्वादशप्रबंध]

'उमारूप' कालिदास का अन्त किस प्रकार से हुआ, इसकी चर्चा भोजप्रबंध में नहीं । हाँ, उनके प्रति किए गए षड्यंत्रों का उल्लेख है । हमारी समझ में तो यह आता है कि कालिदास का अन्त किसी कुचक्र के कारण ही हुआ । यह कुचक्र कब और कैसे किया गया, इसका हमें पता नहीं; पर इसमें किसी सुन्दरी का योग था इसका आभास अवश्य है । कश्मीर में एक कहावत कही जाती है जिसका भाव है कि कालिदास सबको तो मार्ग दिखाते हैं पर अपनी बार चूक जाते हैं । इस चूक का हमें पता नहीं पर इसकी हूक तो अवश्य है । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उपरांत कुछ राजनीतिक दाँव पेंच चले, ऐसा कुछ लोगों का विश्वास है । हो सकता है कालिदास का निधन इसी हेरफेर में हुआ हो । राजतरंगिणी में मातृगुप्त के बारे में लिखा गया है—

अथ वाराणसीं गत्वा कृतकाषायसंग्रहः ।
सर्वं संन्यस्य सुकृती मातृगुप्तोऽभवद्यतिः ॥३२०॥३॥

परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कल्हण का ध्यान इतिवृत्त पर उतना तो है जितना पात्रों की दिव्यता पर । उन्होंने इस प्रकरण का समावेश कुछ इस गए से किया है कि जैसे इस प्रसंग से कुछ अपना भी काम लेना हो । उनके

पिता का राजवंश से जो सम्बन्ध था और उस समय के राजा 'हर्ष' के प्रतिकूल जो विद्रोह हुआ था वह भी उनकी दृष्टि में था ही और हो सकता है कि इसी से कुछ नामों में भी फेरफार कर दिया हो। अवश्य ही उनके 'त्रयाणामपि वृत्तान्त एष त्रिपथगापयः' का अध्ययन कुछ सोच समझ कर करना चाहिए, और 'कालिदास' तथा 'मातृगुप्त' की 'एकता' पर सभी दृष्टियों से ध्यान देना चाहिए। हमारी समझ में उनकी एकता 'नाम' ही नहीं 'धाम' तथा 'काम' से भी सिद्ध हो जाती है। कल्हण ने 'मातृगुप्त' को उज्जयिनी का निवासी नहीं माना है और इस 'कवीन्द्र' को 'भृत्य' के रूप में ही वहाँ रखा है। जो भी हो, कालिदास अब कोरे कवि नहीं रहे। वह मातृगुप्त के रूप में कश्मीर के शासक रहे वा न रहे, इसमें विवाद है पर वह राजकाज के अंग रहे, इसमें संदेह नहीं।

सिंहल-यात्रा—'कुन्तलेश्वरदौत्य' के कालिदास कभी 'सिंहल' भी किसी ऐसे कार्य से गए हों तो आश्चर्य नहीं, किन्तु विचारणीय है यह कि क्या सिंहल का शासक कोई कुमारदास 'जानकीहरण' महाकाव्य का कर्त्ता है। एक समय था जब प्रायः लोगों ने इसे सत्य मान लिया था और इसी के कारण कालिदास को भी इधर घसीट लिया था। किंतु अब स्थिति कुछ और ही हो गई है। अब 'जानकी हरण' काव्य का रचयिता कोई और ही कुमारदास माना जा रहा है। सिंहलेश का नाम था भी कुमार धातुसेन कुछ कुमारदास नहीं। श्री कृष्णमाचार्य ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में इसे भली भाँति दिखा दिया है अतएव उसका निर्देश कर हम यही कहना चाहते हैं कि अब इस 'प्रवाद' में कोई विशेष बल नहीं रहा, और कालिदास के समय की एक बड़ी बाधा दूर हुई। कालिदास के जीवन के अंत के विषय में फिर भी यह 'प्रवाद' काम का सिद्ध हो सकता है और कौन जाने किसी कुचक्र के कारण उनका निधन इसी रूप में हुआ हो। 'विदुषी' की फटकार से जिसका जीवन बना 'वेश्या' की वंचना से उसका अंत भी हो गया तो लोक में कुछ अनहोनी नहीं हुई और जनश्रुति को एक सीधा राज्यमार्ग मिल गया। सभी ने उसका स्वागत किया और समयानुसार उसमें कुछ नम[illegible] मिर्च लगाकर उसे रोचक और ग्राह्य बना लिया। नहीं तो सचमु[illegible] तो कालिदास के जीवन में 'काम' की अपेक्षा 'कार्य' अधिक है। हमें [illegible] नहीं का लेखा लेना तथा कवि के ध्येय का अध्ययन करना चाहिए। जो लोग [illegible]

दास और कुमारदास के संबंध को और भी निकट से जानना चाहते हैं उन्हें राजशेखर की इस उक्ति पर ध्यान देना चाहिए—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ॥७६॥

[सूक्तिमुक्तावली, कविकाव्यप्रशंसा]

राजशेखर ने अपने ढंग से कुमारदास को रावण की कोटि में रख कर क्या सिद्ध करना चाहा है, इसे हम नहीं कह सकते पर इतना जानते अवश्य हैं कि इसमें कालिदास की चिता पर जलनेवाले किसी कुमारदास का रूप नहीं। और सच तो यह है कि यहाँ 'यदि' का प्रयोग भी किसी और ही दृष्टि से हुआ है। 'यदि' के द्वारा जो 'सन्देह' व्यक्त होता है वह उपेक्षा का नहीं।

अस्तु, इस विवेचन के आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि वास्तव में कालिदास उस विक्रमादित्य के राजकवि थे जिसके विषय में श्री दिनेशचन्द्र सरकार का कथन है—

प्राचीनतम ऐतिहासिक विक्रमादित्य, मगध का चक्रवर्ती, गुप्त राजवंश में उत्पन्न, चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७६—४१४ ई०) था। उसके पिता दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त भी पराक्रमांक और 'श्री विक्रम' विरुद से विश्रुत थे। पूर्व में बंगाल से पश्चिम में काठियावाड़ तक विस्तृत उत्तरी भारत की समस्त भूमि पर चन्द्रगुप्त द्वितीय शासन करता था। इसी ने पश्चिमी भारत के शक राजाओं का उन्मूलन किया और इसी सम्राट् का उल्लेख 'उज्जयिनीपुरवराधीश्वर' तथा 'पाटलिपुरवराधीश्वर' इन दोनों रूपों में धारवाड़ जिले में गुत्तल के गुत्तओं (गुप्तों) के शिलालेखों पर अंकित अनुश्रुतियों में है। मालवा, काठियावाड़, तथा राजपूताना से शकों का उच्छेदन हो चुकने पर उज्जयिनी प्रत्यक्षतः गुप्तवंश के सम्राटों की अप्रधान राजधानी सी हो गई।

[विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृ० १६०]

यदि यह सत्य है और कालिदास का निधन भी किसी 'कुमार' से सम्बद्ध है तो कहना होगा कि कहीं कुमारगुप्त ही न सिंहल में पहुँच कर 'कुमारदास' बन गए हों और कालिदास का विलास ही उनके अंत का कारण समझा गया हो।

हो सकता है इसके पीछे कोई गहरी चाल भी हो। क्योंकि कालिदास कोरे कवि ही नहीं राजनीति के पक्के अंग भी तो थे ?

निष्कर्ष—अस्तु, कालिदास के जीवन के परिक्रमण से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह यह है कि वस्तुतः कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजकवि थे और इसके पहले वाकाटक राज्य में राजकवि थे वा थे कवि मात्र। इसमें कोई तर्क नहीं। गहरा विवाद तो इसमें है कि हम उन्हें संवती विक्रमादित्य का राजकवि क्यों न मानें ? निवेदन है उज्जयिनी की विशालता भी आप के पक्ष में नहीं। कालिदास ने मेघदूत में उसकी प्रशंसा में कहा अवश्य है—

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा—
न्पूर्वोद्दिष्टामुपसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैः कृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥३०॥

किन्तु 'पुरी' ही तक उसे सीमित रहने दिया है। उसको राजधानी का पद नहीं दिया है। हाँ, राजधानी का निर्देश है पास की 'विदिशा' के लिए ही। देखिए—

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमपि महत् कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यत्र
सभ्रूभंगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्म्याः ॥२४॥
नीचैराख्यंगिरिमधिवसेस्तत्र विश्रांतिहेतो-
स्त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्‌गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥२५॥

'प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं' में 'लक्षणा' की व्यंजना क्या है ? क्या 'विदिशां राजधानीं' से कवि का काम नहीं चल सकता था ? और यह 'राजधानी' है किसकी, कुछ इसका भी तो विचार होना था ? 'दशार्ण' की ही राजधानी अथवा किसी और की भी ? 'दिक्षु प्रथित' की पुकार क्या है ? इस समय 'दशार्ण' की मर्यादा क्या थी और कौन था यहाँ का शासक ? नीचैर्गिरि के 'शिलावेश्म' अभी

उद्दाम भोग के ही काम में आ रहे हैं कुछ अन्य कला के काम में नहीं। विदिशा की ख्याति तो दिगन्तर में है पर वह राजधानी रह गई है केवल एक जनपद दशार्ण की। निश्चय ही शुंगकाल नहीं, नागकाल नहीं और न यह वाकाटक का ही शासन है। यह दशा इसकी गुप्तशासन में ही हुई है। शासन की दृष्टि से इसका महत्त्व घट गया पर समर और व्यापार की दृष्टि से गुप्त-काल में भी बना रहा। हमारी समझ में 'लक्षण' का प्रयोग इसी को दृष्टि में रखकर किया गया है, गौरव तो वह नहीं रहा पर लक्षण अभी नहीं गया। 'नागर' उद्दाम यौवन में मग्न हुए और पण्य स्त्री का भाव बढ़ा। कामुक की विदिशा कालिदास के सामने है 'मालविकाग्निमित्र' में भी और 'मेघदूत' में भी। निदान कालिदास को संवती विक्रमादित्य के साथ देखना ठीक नहीं। निश्चय ही उसका उदय गुप्तकाल में हुआ है और हुआ है उस वंश के शिरोमणि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन में, 'शकारि' 'साहसांक' के राज्य में, जिसकी पुण्य गाथा अंकित है संक्षेप में इसी कवि के द्वारा मेहरौली के लौहस्तम्भ में, और व्यंजित है 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'अभिज्ञानशाकुंतल' के दानव-दलन में।

रचना—अस्तु कालिदास के जीवन की जो झाँकी अभी अभी देखने को मिली है, वह एक व्यस्त जीवन की झाँकी है। फिर भी कालिदास के नाम की अनेक रचनायें कही जाती हैं। जो हैं—१—शाकुन्तल, २—विक्रमोर्वशीय, ३—मालविकाग्निमित्र, ४—रघुवंश, ५—कुमारसंभव, ६—मेघदूत, ७—ऋतुसंहार, ८—कुन्तलेश्वर दौत्य, एवं अंबास्तव, कल्याणस्तव, कालीस्तोत्र, गंगाष्टक, घटकर्पर, चण्डिकादण्डकस्तोत्र, ज्योतिर्विदाभरण, दुर्घटकाव्य, नलोदय, पुष्पबाणविलास, मकरन्दस्तव, मङ्गलाष्टक, रत्नकोश, राक्षसकाव्य, लक्ष्मीस्तव, विद्वद्विनोदकाव्य, वृन्दावनकाव्य, वैद्यमनोरमा, शृङ्गारतिलक, श्रुतबोध, सेतुबन्ध आदि।

हम इनमें से प्रथम आठ को ही कालिदास की प्रामाणिक रचना मान उनकी स्वतन्त्र मीमांसा में आगे के अध्याय में लीन होते हैं।

ग्रन्थ-मीमांसा

१—कुमारसंभव

नाना मत—'अस्ति' को लेकर कालिदास ने जिस 'अस्त्युत्तरस्यां' की रचना की उसके विषय में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है। कालिदास की यही एक रचना ऐसी है जिसके सम्बन्ध की जिज्ञासा अभी शांत नहीं हुई। सप्तम सर्ग तक की रचना कालिदास ही की है, इसमें किसी को सन्देह नहीं। सन्देह का जन्म होता है अष्टम सर्ग में और फिर जी नहीं करता कि शेष सर्गों को भी कालिदास की रचना कह दें। कुछ इने गिने लोगों ने जहाँ-तहाँ इस बात की भरपूर चेष्टा की है कि शेष सर्गों की रचना को भी उसी लेखनी का फल कहें, पर कहना पड़ता है कि उनका श्रम सिकता से तेल निकालने के तुल्य ही रहा है। कोई भी पारखी झट कह सकता है कि यह कालिदास की रचना का चमत्कार नहीं। कालिदास की कलम का काम तो बस आठ सर्ग तक ही है। आगे क्यों नहीं है, इसका समाधान यही है कि भाषा, भाव, विचार, रंग, ढंग कुछ भी तो कालिदास का नहीं है, फिर उसको कालिदास की रचना क्यों कहें? प्रश्न उठता है, फिर कालिदास का यह काव्य अधूरा क्यों रह गया? निवेदन है, यही तो भूल है। वास्तव में यह काव्य पूरा है पर कवि का मर्म न पाने से अधूरा कह दिया गया है। जो कुछ अभी-अभी कहा गया है वह कितना सटीक और मान्य है इसकी सच्ची जानकारी के पहले इतना टाँक लें कि इस प्रसंग में एक मनीषी का कहना है—

ननु काव्ये यत्साध्यं तदनुसारेणैव काव्यस्य संज्ञा कर्तव्या। यथा—युधिष्ठिरविजयजानकीहरणशिशुपालवधप्रभृतीनाम्। अत्र तु तारकासुरनिग्रहः काव्ये साध्यतया निर्दिष्टः, 'तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः' इत्युपक्रमात्। तस्मात्तारकवध इत्येव संज्ञा कर्तव्या। तत्पर्यन्तं च काव्यं प्रवर्तयितव्यम्। न चैतत्कृतम्। तस्मादसमंजसमिदं काव्यम्। अपि च कुमारोत्पत्तिपर्यन्तमपि न काव्यं कृतम्। तस्मादनुपपन्नमिदं नामापीति। अत्रोच्यते—नात्र तारकासुरवधः काव्ये साध्यः, 'तदिच्छामो

विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये' इति देवैः कुमारसृष्टिमात्रस्यैव ब्रह्माणं प्रति प्रार्थितत्वात्। तारकासुरनिग्रहस्तु कुमारोद्भवप्रस्तावकतया निमित्तत्वेनापेक्षितः; यथा किरातार्जुनीये दुर्योधनजयः। तस्मात् कुमारसंभव इत्येव संज्ञा युक्ता। न चैवं सति तत्पर्यन्तं काव्यं प्रवर्तयितव्यमिति वाच्यम्, 'उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः। शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत्'। इति ब्रह्मणः प्रतिवचनेन शंभोश्चित्ताकर्षणमात्रस्यैव परमसाध्यत्वेन प्रतिपादनात्। कारणपौष्कल्ये कार्यस्यावश्यंभाव एव ब्रह्मणस्तथा निर्देशे हेतुरिति चावगन्तव्यम्। शंभोश्चिताकर्षणं पुनरष्टमे सर्गे विस्तरतः प्रतिपादितम्। यथोक्तमन्त्यश्लोके—

'समदिवसनिशीथं संगिनस्तत्र शंभोः
शतमगमदृतूनां साधमेका निशेव।
स न सुरतसुखेषु छिन्नतृष्णो बभूव
ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलेषु॥' इति॥

उक्तं च पंचमसर्गान्ते देवीं प्रति देवेनैव, 'अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः' इति। तस्मात् 'उमारूपेण' इत्युपक्रमात्, 'अद्यप्रभृति' इति परामर्शात्, 'समदिवसनिशीथम्' इत्युपसंहाराच्च शंभोश्चित्ताकर्षणमात्र एव तात्पर्यम्, 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये।' इति वचनात्। तच्च सम्यक् प्रतिपादितम्। अष्टमसर्गे संभोगवर्णनेन कुमारोत्पत्तेर्बिन्दूपक्षेपोऽपि कृत इति सर्वमनवद्यम्। यत्त्वत्र तारकासुरनिग्रहपर्यन्तं चिकीर्षितमिदं काव्यम्, निजसंभोगवर्णनेन कुपितया देव्या शापादसंपूर्णं जनितमिति कैश्चिदुक्तम्; तदप्युक्तया रीत्या परिहृतं वेदितव्यम्। कवेश्चिकीर्षाया एतत्पर्यन्तत्वस्य समर्थितत्वात्। देव्याः शापाभावं पुनरष्टमसर्गादौ निपुणमुपपादयिष्यामः। इति।

[कृष्णमाचार्य का इतिहास, पृ० ११५–६]

'संभव' का संकेत—श्रीनारायण पंडित ने 'विवरण' टीका में यह तो प्रतिपादित कर दिया कि वास्तव में अष्टम सर्ग भी कालिदास की ही रचना है पर उन्होंने खुल कर यह नहीं दिखाया कि यह इसी में पूर्ण भी है। बात यह है

कि अष्टम सर्ग की संभोग-लीला लोगों को इतनी खली कि किसी को ध्यान ही न रहा कि कालिदास के इस अश्लील सर्ग का उद्देश्य क्या है। यदि आलोचकों का ध्यान 'गर्भाधान संस्कार' पर जाता और उनकी आँखों के सामने से कार्तिकेय की जन्म-कथा कुछ हट सी न जाती तो उन्हें स्पष्ट हो जाता कि गर्भाधान ही कवि को इष्ट है कुछ कुमार-जन्म नहीं। 'कुमार' का जन्म किस क्रम से कब और कहाँ किस रूप में हुआ इसका वर्णन किसी ने कुमारसंभव में भी कर दिया है। अतएव उसके उल्लेख की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रही। तो भी इतना तो कहना ही होगा कि कुमार का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था सरपत के वन में, कृत्तिकाओं के पेट से। बस, इसी से समझ लीजिए कि आगे की कथा कवि कालिदास को कैसे भा सकती थी जो उसका विवरण देते और 'ध्वनि' को धौंसा में परिणत कर देते। नहीं, कालिदास ने प्रथम सर्ग में जो उमा के जन्म और बालजीवन का वर्णन किया है उसका कुछ रहस्य है। और यही कि आप अष्टम सर्ग के उपरान्त भली भांति जान लें कि—

कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसंगे।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवत्......

'गर्भ' के इस निर्देश को दृष्टिमें रखकर देखें, और यह भूल न जायँ कि 'गर्भ' ही पहला जन्म माना जाता है, तो कालिदास की कला का मुँह खुले और आप उसका भरपूर रस लें। श्रुति है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतः तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिंचत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥१॥

एवं—सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३॥

[ऐतरेयोपनिषद्, द्वितीय अध्याय]

कार्य—जगज्जननी पार्वती ने इस 'गर्भ' का पोषण किस प्रकार जल-थल और बन में किया इसका पता सभी लोगों को है। आग से लेकर पानी तक

ही नहीं, घास से लेकर नक्षत्र तक इसका प्रसार है पर कालिदास को यह इष्ट नहीं। नहीं उनको तो बस कुमार का प्रथम जन्म ही इष्ट है। क्यों इष्ट है, इसका उत्तर सरल पर साथ ही जटिल भी है। सरल इसलिए कि पत्नी के संसर्ग से जिस 'अस्ति' को महत्त्व मिला वह 'संभोग' का ही द्योतक है। इसलिए काली की कृपा से 'वंचना' को भावना का रूप मिला तो 'संभोग' भी पूरा ही होना चाहिए और हुआ भी कुमारसंभव में खूब। किन्तु 'जटिल' इसलिए कि इसमें कुछ 'इतिहास' भी देखा जाता है जिसकी तुक नहीं बैठती। असमंजस की बात यही है।

इतिहास में पैठने के पहले हमें सिद्ध कर देना चाहिए कि कुमारसंभव अष्टसर्ग का पूर्ण काव्य है। अर्थात् यह किसी दृष्टि से अधूरा नहीं, सभी प्रकार से पूरा काव्य है। कह तो नहीं सकता, पर समझ में नहीं आता कि किसी से यह कैसे हो गया कि उसने कालिदास के द्वारा किसी का वध करा दिया। वध से कालिदास कितना बचते हैं, इसका विचार काव्य के प्रकरण में होगा। अभी इतना ही कहना है कि कालिदास को यह इष्ट नहीं। तारकासुर का वध होना ही है, पर अड़चन है उस व्यक्ति के होने में जिसके द्वारा उसका वध होना निश्चित है। तारकासुर का परिचय यह है—

उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः।

और उसके नाश का सूत्र यह—

संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥५७॥२॥

बात तो बड़ी सरल है। नीललोहित के रेत के अंश मात्र से उसका विनाश हो सकता है; परंतु कितना कठिन है उस अंश को उत्पन्न करना। इसे आप परम पितामह ब्रह्मा के मुख से सुनिए—

स हि देवः परं ज्योतिस्तमः पारे व्यवस्थितम्।
परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया न च विष्णुना ॥५८॥२॥

तो फिर कार्य सधे तो कैसे सधे? उपाय भी सामने ही है—

उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः।
शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥५९॥२॥

कारण यह कि—

उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम् ।
सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥६०॥२॥

अपनी विवशता तो यह है कि विष के वृक्ष को लगाकर फिर काटा नहीं जाता तो वरदान देकर फिर तारक का विनाश अपने हाथों क्या करें। किन्तु इस उपप्लवी धूमकेतु से लोक का उद्धार तो होना ही चाहिए। निदान—

तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः ।
मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥६१॥२॥

प्रसंगवश भूलना न होगा कि स्वयं देवताओं की इच्छा यह है—

तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये ।
कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ॥५१॥२॥

अस्तु, कार्य हुआ सेनानी को प्राप्त करना और उपाय हुआ उमारूपी चुम्बक से लौहरूपी शिव को लगा देना। इसी से तो सुरेन्द्र भी कामदेव से कहते हैं—

अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः
स च त्वदेकेषुनिपातसाध्यो ब्रह्मांगभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा ॥१५॥
तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व ।
योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ॥१६॥३॥

फलागम—किन्तु कामदेव से इतना भी न बन पड़ा और देवता अपने उद्योग में असफल रहे। परन्तु विधि का विधान बाएँ नहीं जाता। अन्त में चुम्बक ने लोहे को खींच ही लिया और कालिदास ने किस उल्लास से अंकित भी कर दिया—

मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनंगदीपनम् ।
इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥७७॥
पार्वती तदुपयोगसंभवां विक्रियामपि सतां मनोहराम् ।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ॥७८॥८॥

'अम्बिका' और 'सहकारता' के द्वारा कवि ने जो कुछ कहा है उससे यदि पूरा न पड़ता दिखाई दे तो 'संभव' के प्रयोग पर ध्यान दे कृपा कर यह भी जान लें—

ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः ।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥८७॥८॥

आकर्षण यहाँ तक बढ़ा कि—

स प्रियामुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धिजननं सिषेविषुः ।
दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात् ॥९०॥८॥

तात्पर्य यह कि वस्तुतः इस प्रकार कुमार का प्रथम जन्म हो गया और देव-कामना पूरी हो गई। 'कुमारसंभव' के इस 'संभव' का एक यह भी प्रमाण है कि मनुस्मृति में भी कहा गया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥३६॥२॥

अर्थात् 'उमा' में 'नीललोहितरेत' की स्थापना ही कुमारसंभव का 'फलागम है और फलतः यह पूर्ण काव्य है, अधूरा नहीं।

मल्लिनाथ का प्रमाण—उधर हम देखते हैं कि कालिदास के प्रसिद्ध टीकाकार श्री मल्लिनाथ भी अष्टम सर्ग के आरम्भ में इसका कुछ निर्देश करते और कहते हैं—

अथशृंगारमुभयोः
कुमारसंभवफले सर्गेऽस्मिन्नाह संप्रति ॥

हमारी समझ में 'कुमारसंभवफले' से स्पष्ट है कि उसके आगे कालिदास की रचना नहीं और न मल्लिनाथ को उसका पता ही है। यह तो अतिप्रसिद्ध बात है कि श्री मल्लिनाथ की कुमारसंभव के शेष सर्गों की टीका नहीं मिलती पर अभी तक स्फुट नहीं कि क्यों नहीं मिलती। सो यहाँ बताया जा रहा है कि इसका कारण यही है कि इसके आगे कालिदास की कविता नहीं और न उसका मल्लि-नाथ को पता। यदि पता होता तो उसका कुछ समाधान अवश्य करते। प्रतीत होता है कि अष्टम सर्ग की टीका करने में पहले उनको कुछ हिचक हुई किन्तु बाद में कुछ सोच-विचार कर उसे भी कर ही डाला। अष्टम सर्ग के आदि में श्री सीताराम ने अपनी टीका में लिखा है—

टीका सप्तसु मल्लिनाथकृतिना संजीविनीसंज्ञिका,
या सर्गेषु कुमारसंभवमहाकाव्यस्य चक्रे पुरा ।

सैवैतद्व्यवशिष्टदिक्प्रमिततत्सर्गेषु विद्वन्मुदे,
सीताराम कवीश्वरेण हि यथाप्रज्ञं समापूर्यते ॥

श्री सीताराम की यह टीका सं० १८७० की है और इससे पाया जाता है कि सप्तमसर्ग तक ही जो मल्लिनाथ की टीका मानते हैं उसका भी कुछ कारण है। श्री मल्लिनाथ में पांडित्य था और था विवेक भी, इसलिए टीकाकार के रूप में उनकी ख्याति भी इतनी अधिक है। इसी से अष्टम सर्ग में 'शृंगार' का विकास किस क्रम से हुआ है इसका भी बोध उन्होंने अपनी टीका में करा दिया है। निदान कहना यहाँ यह है कि वस्तुतः मल्लिनाथ की दृष्टि में भी कुमारसंभव अष्ट सर्गों का ही पूर्ण महाकाव्य है। कुछ सत्तरह वा बाईस सर्गों का नहीं।

सर्ग-विधान—कुमारसंभव के सर्गों के नामों का अध्ययन करें तो पता चले कि सचमुच कुमारसंभव उमाप्रधान काव्य है कुछ शिवप्रधान नहीं। उसके सर्गों के नाम पुष्पिकाओं में इस प्रकार पाए जाते हैं—

१–उमोत्पत्तिर्नाम प्रथमः सर्गः, २–ब्रह्मसाक्षात्कारो नाम द्वितीयः सर्गः, ३–मदनदहनो नाम तृतीयः सर्गः, ४—रतिविलापो नाम चतुर्थः सर्गः, ५–तपःफलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः, ६–उमाप्रदानो नाम षष्ठः सर्गः, ७–उमा-परिणयो नाम सप्तमः सर्गः और ८–उमासुरतवर्णनं नामाष्टमः सर्गः।

उद्देश्य—इनसे स्पष्ट है कि कालिदास के समक्ष इस महाकाव्य में जितना 'उमा' का रूप है उतना किसी और का नहीं। उधर हम देखते हैं कि श्री बल्लाल ने भोजप्रबंध में अनेक अवसरों पर कालिदास को 'उमा' का अवतार कहा है और मेरुतुंगाचार्य ने इसी 'उमासुरतवर्णन' को उनके निधन का कारण भी बताया है। कालिदास के वेश्याव्यसन के विषय में हमें कुछ न कह दिखाना यह है कि यदि जनश्रुति में कुछ तथ्य है तो निधड़क कहा जा सकता है कि 'विदुषी पत्नी' को ही कालिदास ने 'उमा' के रूप में देखा है, और अनुचित न समझें तो इतना और भी कह लेने दें कि जब विक्रमादित्य के प्रताप से कालिदास कश्मीर के शासक–'मातृगुप्त' बने तभी उनको 'कुमारसंभव' की सूझी और तन्मयता की दशा में यह संभोग शृंगार का अनुपम महाकाव्य बना। सच पूछिये तो इसका उद्देश्य तारकासुर का बध अथवा कुमार की उत्पत्ति नहीं है। नहीं, यह तो उमा

के मधु-जीवन को ही अंकित कर संसार के सामने श्रृंगार का ललित रूप खड़ा करता है और भोग को मंगल का बीज समझता है। सन्तान की प्रेरणा को हटा कर देखें तो कुमारसंभव रह क्या जाता है? उमा का जन्म और कर्म ही नहीं, उनका भोग-विलास भी दिव्य है। इसी दिव्यता को कालिदास ने वाणी का रूप दे 'भारती' को मुखर किया और श्रृंगार को पूत बनाया है। इतना ही नहीं, अन्त में तो कवि ने इसे 'नित्य लीला' का रूप दे दिया है और स्पष्ट कह दिया है—

न स सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव।

किन्तु मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है। 'समदिवसनिशीथ' में 'सम' पुत्र की कामना का द्योतक है तो 'ऋतूर्मा' भोगकाल का परिचायक भी। स्मरण रहे, यह भोग 'रूप' का लोलुप नहीं 'तप' और 'शील' का प्रसाद है इसी से इसका प्रसव होगा सेनापति, तारक का विनाशकारी।

निष्कर्ष—'संभोग' का जैसा अनूठा काव्य कुमारसंभव है विप्रलम्भ का वैसा ही 'मेघदूत'। मेघदूत में कवि के जीवन की झाँकी बहुतों को मिली है पर कुमारसंभव में कदाचित् किसी को नहीं। परंतु जैसा कि प्रवाद है कालिदास ने इस काव्य की रचना उस 'अस्ति' से की जिसके द्वारा उन्हें पत्नी का मन मिला था। तो क्या यह उनकी निजी भावना का परिणाम नहीं है? होने में संदेह क्या है? न भी हो, पर इतना तो मानना ही होगा कि 'अस्ति कश्चिद्वाग्विशेषः' को जनसमाज में इतना जो महत्त्व मिल गया है उसका कुछ कारण है। और वह कारण कवि के जीवन में भले ही न हो, पर उसके काव्य में तो अवश्य है। कुमारसंभव, मेघदूत और रघुवंश के अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

मेघदूत के बारे में कुछ निवेदन करने के पहले हमें यह स्पष्ट कर देना है कि यदि मेरुतुंगाचार्य के 'कुमारसंभवमहाकाव्ये नवभिः सर्गैः श्रृंगारसुखवर्णनकुपितयोमया' में कुछ सार है और इस नवभिः में कुछ भूल नहीं है तो इसके आधार पर सरलता से कहा जा सकता है कि इस समय अर्थात् सं० १३६२ वि० में कुमारसंभव की सर्ग संख्या ९ तो निश्चित ही हो गई थी। परंतु कुछ इसकी संभावना भी तो है ही कि कहीं यह 'अष्टभिः' का पाठ भेद न हो? कुछ भी हो, हमारा पक्ष यह है कि वस्तुतः कुमारसंभव अष्ट सर्गों का महाकाव्य है और संभोगश्रृंगार ही इसका परम लक्ष्य है। परंतु ऐसा संभोग जिसका ध्येय हो

लोकमंगलकारी सन्तान उत्पन्न करना कुछ विषय-वासना की पूर्ति नहीं। संक्षेप में प्रकृति की प्रेरणा नहीं प्रकृति की पुकार या कामना से। इसी से कवि ने कहा है—

देवास्तदन्ते हरमूढभार्यं किरीटबद्धाञ्जलयो निपत्य
शापावसाने प्रतिपन्नमूर्तेर्ययाचिरे पञ्चशरस्य सेवाम् ॥९२॥७॥

और फलतः—

कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं
क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात् ॥९४॥७॥

—•—

२—मेघदूत

स्कन्द—संभोग की जैसी छटा कुमारसंभव में दिखाई देती है वैसी ही 'विप्रलंभ' की बानगी मेघदूत में। कुमारसंभव 'अस्ति' का काव्य है तो मेघदूत 'कश्चित्' का। शिव और शिवा का वियोग कैसा होता है इसे कौन कहे पर यक्ष और यक्षिणी का विरह कैसा रहा, इसे कोई कालिदास के मुँह से सुन ले और कृपा कर यह भी जान ले कि इस यक्ष को शिव और भवानी की ही नहीं अपितु 'स्कन्द' की भी कुछ विशेष चिन्ता है। वह अपने मित्र मेघ से कहता है—

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितमधुरं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वातः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४४॥
तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥४५॥
ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।

धौतापांगं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४६॥
आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लंघिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्य-
न्स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४७॥१॥

उज्जयिनी के 'महाकाल' के प्रति कालिदास की जो ममता है उसकी परख तो बराबर होती रहती है पर उसी महादेव के आत्मज देवगिरि के इस स्कन्द पर लोगों की दृष्टि क्यों नहीं पड़ती, यही आश्चर्य है । कालिदास के इस विस्तृत वर्णन का रहस्य क्या है और क्यों कवि ने देवगिरि को ही 'स्कन्द' की नियत 'वसति' कहा है । इसके साथ ही 'विक्रमोर्वशीय' के इस कथन पर भी दृष्टि डालें तो कदाचित् सत्य का पता चले । उर्वशी राजा से कहती है—

शृणोतु महाराजः । भगवता कुमारेण शाश्वतं कुमारव्रतं गृहीत्वा अकलुषो नाम गन्धमादनकच्छोऽध्यासितः कृतश्चैष विधिः ।

नियत-वसति—कुमारव्रतधारी कुमार का अधिष्ठान हिमालय का गन्धमादनकच्छ है कुछ विन्ध्य का देवगिरि नहीं । फिर भी मेघदूत में जो इसको 'नियतवसति' कह दिया गया है उसका रहस्य क्या है और क्यों कालिदास यहाँ भी 'वासवीनां चमूनाम्' का उल्लेख करते हैं । स्मरण रहे उज्जयिनी के विषय में कवि का कहना है—

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-
न्पूर्वोद्दिष्टामुपसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैः कृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥३०॥१॥

किन्तु यह धाम है चण्डीश्वर का ही । कारण—

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३५॥१॥

कुमारसंभव में गन्धमादन से शिव का जो लगाव था वही मेघदूत में इस गन्धवती के साथ भी है और कहा तो यहाँ तक जाता है कि उज्जयिनी का महाकालवन इसी से 'अप्सरा तीर्थ' कहा जाता है कि यहाँ अप्सरा उर्वशी का राजा पुरुरवा से मिलन हुआ था। तो क्या यह गन्धमादन का पर्याय नहीं? प्रतीत तो ऐसा होता है कि यह शिव का दूसरा कैलास ही ठहरा। इसी से यहाँ उनका पूरा कुटुम्ब निवास करता है। उज्जयिनी को शिवधाम की प्रतिष्ठा कब और कैसे प्राप्त हो गई इसे हम ठीक ठीक अभी नहीं बता सकते पर इतना निर्देश किए देते हैं कि गुप्तों के पहले जिन नागों और भारशिवों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था वे परम शैव ही थे और शैव ही थे वाकाटक भी। कहाँ तक कहें स्वयं 'कुमार गुप्त' और 'स्कंदगुप्त' के 'कुमार' और 'स्कंद' इसी शिवता के तो परिचायक हैं? इन नामों से क्या यह आप ही सिद्ध नहीं हो जाता कि स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी इसके सहायक वा पोषक थे। हाँ, यह भी ध्यान देने की बात है कि पिता और पुत्र, 'कुमार' और 'स्कन्द' में कौन कालिदास का प्रिय 'कुमार' है। सो इसकी चिन्ता आगे चल कर की जायगी अभी तो मेघदूत के स्कन्द के निवास को लीजिए और देवगिरि के उस मंदिर को देखिए जहाँ उनका निवास है। देवगढ़ को ही विद्वानों ने देवगिरि माना है और वहाँ स्वामी कार्तिकेय का एक मंदिर भी बताया गया है। परंतु ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ जो दशावतार का मन्दिर है उसमें अनन्तशायी विष्णु भगवान् तो अपनी योगनिद्रा में मग्न हैं और ब्रह्मा कमल पर विराजमान। विशेष बात यह भी विचारणीय है कि उनके दाएँ इन्द्र और कार्तिकेय हैं तो बाएँ शिव और पार्वती नन्दी पर सवार। साथ में एक गण भी है। ऊपरकी स्थिति तो यह है। नीचे की दशा कुछ और निराली है। पंचवीरों के साथ एक नारी भी बाईं ओर खड़ी है। सब का भाव चाहे जो हो पर इन्द्र के साथ कुमार कार्तिकेय का होना इस 'सुरी चमू' की सुधि दिलाता है और मन में आता है कि इसे भी कुछ इति- के साथ देखें।

शिष्य—कालिदास ने मेघदूत में विष्णु भगवान् को भी कई बार देखा

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् १२॥१॥

और फिर कृष्ण के गोपवेष को भी सामने ला खड़ा करता और किस उल्लास से कहता है—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥१५॥१॥

इतना ही नहीं, वह बराबर मेघ को विष्णु के रूप में ही देखना चाहता है। कभी उसे 'शार्ङ्गिणोवर्णचौर' समझता है तो कभी 'बलिनियमनेऽभ्युद्यत विष्णु'। देखिये शरवणभव की आराधना हुई नहीं कि कवि का ध्यान विष्णु पर गया और उसका यक्ष बोल उठा—

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी—
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥५०॥१॥

तथा—

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषा—
न्हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।
तेनोदीचीं दिशमनुपतेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनेऽभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥६१॥१॥

सारांश यह कि कालिदास की दृष्टि शिव पर ही नहीं विष्णु पर भी सदा वैसी ही जमी रही है। और सच तो यह है कि कवि को सम्भोग की जैसी भूमि शिव-पार्वती में मिली है वियोग की वैसी ही राम-सीता में। कवि ने शिव-पार्वती की ललित लीला को खुलकर दिखा तो दिया पर इससे उसकी भर्त्सना

भी कुछ कम नहीं हुई। निदान उसने विप्रलंभ का पात्र किसी और ही प्राणी को चुना और इतना संकेत कर आगे बढ़ा कि—

यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥१॥

और कहते कहते कह ही तो दिया—

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा ॥४२॥२॥

शाप—कालिदास की विष्णु-भक्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण यह है कि यक्ष का शाप मोचन भी 'हरि-बोधिनी' को ही होता है। क्यों होता है, इसका सीधा समाधान यही है कि इसी दिन उसको शाप मिला था? क्यों मिला था, इसका पता नहीं। कवि इसे स्वाधिकार में प्रमाद बताता है और स्पष्ट कहता है—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः।
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ॥१॥१॥

'अधिकार' के विषय में ऊहापोह के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं जिससे उसका भेद खुले, पर मर्म की बात यह है कि यह प्रमाद 'राजराज' के प्रिय 'अनुचर' का है और इसका भोग है कान्ता का विरह। इस शाप की इति है—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ ॥५३॥२॥

और यक्ष का आश्वासन है—

मासानन्यान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमेवाभिलाषं।
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥५३॥२॥

'तं तमेवाभिलाषं' से क्या कुछ ऐसा ध्वनित नहीं होता कि इसी अभिलाष के कारण उसे प्रवास का दंड मिला था और वह विरह के दिन रामगिरि के आश्रमों में काट रहा था। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि यक्ष को जो 'शाप' मिला है उसके मूल में इसी अभिलाष की अति और भगवान् शेषशायी की उपेक्षा है। 'शापेनास्तंगमितमहिमा' से प्रगट होता है कि उसने, हो न हो, कुछ इसी महिमा का अतिक्रमण किया था और 'हरिबोधिनी' के दिन भी काम का ही स्मरण किया था। सोचने की बात है कि कुबेर के अनुचर को 'दंड'

नहीं शाप मिलता है और ऐसा शाप मिलता है कि वर्ष भर तक वियोग में उसे 'रामगिरि' पर ही निवास करना पड़ता है। निदान मानना पड़ता है कि कालिदास की दृष्टि इस काव्य-रचना में विष्णु पर ही अधिक रही है। शिव तो उनके इष्टदेव ही ठहरे पर विष्णु भी किसी उपेक्षा के पात्र नहीं।

रामगिरि—कालिदास के जीवन से 'रामगिरि' का कुछ ऐसा लगाव है जो स्फुट नहीं हो पाता। मेघदूत की रचना के मूल में स्वयं कालिदास का प्रवास काम कर रहा है, ऐसा भी कहा जाता है। कुछ भी हो, पर इतना तो मानना ही होगा कि कालिदास का निवास कभी रामगिरि पर अवश्य था, अन्यथा ऐसा सजीव चित्रण संभव नहीं। यह निवास कब और कैसे रहा, इसी में विवाद है। अमरावती के ऋद्धपुर स्थान पर प्रभावती गुप्ता का जो ताम्रपत्र मिला है वह 'रामगिरिस्वामिनपादमूलात्' लिखा गया है और लिखा गया है 'कार्तिकमासशुक्लपक्षद्वादशी' को। अर्थात् 'हरिबोधिनी' की पारणा के दिन। प्रभावती गुप्ता स्वयं भी परम भागवत थी और उसके प्रभाव से उसका पति भी परम भागवत हो गया था। कालिदास की मेघदूत में जो विष्णु-निष्ठा दिखाई देती है वह सर्वथा इसके मेल में है और रह-रह कर इस ओर संकेत भी करती है।

२—रघुवंश

भूमिका—रामगिरि की राम-चर्चा का प्रभाव कवि पर ऐसा कुछ पड़ा कि वह कवि-कीर्ति के लिये लालायित हो उठा। कुमारसंभव में उसकी दृष्टि संयोग पर थी तो मेघदूत में वियोग पर। दोनों मिलकर भी ललित शृंगार से आगे नहीं बढ़ पाते थे। निदान 'वाग्विशेष' के लिए कवि को वंश की सूझी और फलतः रघुवंश की रचना हो गई। उसकी भूमिका में कवि ने जम कर लिख ही तो दिया।

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥१॥
क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्वचाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥२॥१॥

दुस्तर कार्य का मोह ही कुछ ऐसा होता है कि ऐसा संकल्प यह जानकर करना ही पड़ा कि—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥३॥
अथवाकृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥४॥१॥

कार्य कठिन तो यह अवश्य था पर मार्ग इसका अपरिचित न था । छेदना नहीं पिरोना था । गुण और कला का परिचय देना था । अस्तु, कवि की वाणी में—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥५॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥६॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥७॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥९॥१॥

संकल्प—रघुवंश की प्रेरणा कहाँ से मिली और क्यों कवि की लेखनी उसके निर्माण में लीन हुई, इसका इससे अच्छा निर्देश और क्या हो सकता है ? हाँ, प्रौढ कवि आप से जो चाहता है यह है—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥१०॥१॥

कारण यह कि रघुवंश कोरा काव्य नहीं जीवन भी है । 'समाज' ही इसका सर्वस्व है और सन्त ही इसके पारखी । परख का काम सरल नहीं । कालिदास की भारती गम्भीर है । 'सूर्यप्रभववंश' का उल्लेख कवि ने कर तो दिया पर वास्तव में महत्त्व दिया 'रघु' को ही । नाम भी तो इसका 'रघुवंश' ही है न ? 'रघुवंश' में भी प्रधानता किसकी है ? 'रघु' की अथवा 'वंश' की ? 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' में

मुख्य तो 'अन्वय' ही है न ? और 'तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः' में वस्तुतः 'तत्' की व्यंजना क्या है ? कहा जा सकता है कि उल्लिखित गुण । किन्तु ये गुण तो यथार्थतः रघु के ही हैं न ? कुछ सबके नहीं । 'अग्निवर्ण' में इनका विधान कहाँ ? निदान हमारा कहना है कि वस्तुतः रघुवंश में 'रघु' और उससे भी अधिक उसके अन्वय 'राम' की गुण-गाथा है जिससे कवि को उसके निर्माण की सच्ची प्रेरणा मिली है । अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि रघुवंश में एक तो उक्त गुणों से सम्पन्न रघुवंशी शासकों का चरित्र है और दूसरा उनके वंशज 'अग्निवर्ण' का । सभी दशाओं में रघुकुल की कीर्तिगाथा तो वह है ही । जो हो, हमारी समझ में तो यह आता है कि यहाँ 'रघु' का बहुवचनान्त प्रयोग आदर के लिए ही है कुछ संख्या के लिए नहीं । कवि ने रघु का वर्णन तो उक्त गुणों के हेतु किया है और उनके वंशज राम का गुणगान कुछ अन्य कारण से भी । कालिदास की दृष्टि में राम नर ही नहीं नारायण भी हैं और यही उनका गुण रघुवंश की रचना की मूल प्रेरणा में है । राम को कालिदास ने अवतार के रूप में लिया है और इस प्रकार रघु से भी उनको आगे बढ़ा दिया है ।

विश्लेषण—सच पूछिए तो रघुवंश के तीन खंड हैं जिन्हें हम क्रमशः (१) रघु-खंड, (२) राम-खंड और (३) खिल खंड के रूप में देख सकते हैं । यदि 'खिल' शब्द खटकता हो तो उसे 'अन्वय खंड' का नाम दे लीजिए और देखिए यह कि राम के उपरान्त किस प्रकार उसका अन्त फुर्ती से किया जाता है । कुश, अतिथि, सुदर्शन और अग्निवर्ण का वर्णन कुछ विशेष अवश्य है पर है वस्तुतः वह भी चलता-खाता का ही । शेष शासकों के नाम से श्लेष का काम लिया गया है और उन्हें चमत्कार का अंश बनाया गया है । ऐसा क्यों किया गया है, इससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं । ऐसा है, यही हमारा प्रतिपाद्य विषय है । सो इसे आप 'अन्वय खंड' के रूप में समझ लीजिए और लीजिए अब प्रथम दो खंडों को । 'रघुखंड' की इति है अष्टम सर्ग के इस श्लोक में—

स पराध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥२७॥

और 'राम खंड' का अथ है इसी के आगे इस श्लोक में—

दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥२६॥८॥

दशरथ के जन्म के प्रसंग में रावणरिपु का उल्लेख इसी रामप्रमुखता का द्योतक है और इसी से जाना जाता है कि कालिदास का भीतरी लक्ष्य क्या है। राम-खंड में दशरथ की स्थिति वही है जो रघु-खंड में दिलीप की। अज दोनों खंडों की सन्धि हैं।

अपकर्ष—रघुवंश के गठन में देखा यह जाता है कि पंचदश सर्ग तक इसकी उठान है। इसके उपरान्त इसका गिराव आता है। कवि यदि आगे नहीं बढ़ता और रघुवंश की इति रामखंड ही में कर देता तो स्यात् रघुवंश की ख्याति कुछ कम नहीं होती और एक प्रकार से उसकी सफलता भी कुछ अधिक ही समझी जाती। कवि के इस कथन पर ध्यान दें—

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणाम्
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ॥
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥१०३॥१५॥

इसके अनन्तर कोई ऐसी बात नहीं रह जाती जिससे आप इस रचना को अपूर्ण कहते। राम का निधन भी परधाम गमन होने से मंगलप्रद ही गिना जाता। किन्तु नहीं, कवि को यह इष्ट नहीं। वह आगे बढ़ता और कुश से लेकर अग्निवर्ण तक के शासकों का परिचय दे जाता है और रघुवंश का अन्त करता है इस रूप में—

तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना-
मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना।
मौलैः सार्द्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥५७॥१६॥

राज्ञी के इस शासन के मूल में कवि का जो भाव निहित है वह रघुवंश की इति का नहीं। रघुवंशियों के रहते हुए भला 'रघुवंश' की इति कैसे होती और किस प्रकार यह दिखाया जाता कि वास्तव में किसी वंश या राष्ट्र का भविष्य

किस स्त्री वा पृथिवी माता की कोख में ही है जिसका सभी प्रकारसे समादर और सत्कार होना ही चाहिए।

इति—रघुवंश के तृतीय खंड अथवा अन्तिम ४ सर्गों का महत्त्व क्या है, इसकी जिज्ञासा भी बनी रहती है। कवि ने स्वयं इनका नामकरण इस प्रकार किया है

कुमद्वतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः, अतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः, वंशानुक्रमो नामाष्टादशः सर्गः, एवं अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः।

इनमें से प्रथम में तो 'कुश' का परिचय है और तृतीय में 'सुदर्शन' की प्रधानता। सुदर्शन के विषय में ध्यान रखना होगा कि राज्याभिषेक के समय उसकी अवस्था यह थी—

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥३५॥
स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम्।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥३६॥
तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेषम्।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥३६॥१८॥

६ वर्ष के इस शिशु-सम्राट् का स्वागत भी अमात्यों की कृपा से ऐसा रहा कि जैसा चाहिए। अमात्यों के बिना इसका कोई काम चलना कठिन था। यौवन की प्राप्ति हुई तो—

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥५३॥१८॥

इस प्रणय का प्रसव 'अग्निवर्ण' जैसा कुछ बना किसी से छिपा नहीं है। उसने शृंगार की ऐसी लीला की कि क्षयरोग का शिकार बना और गर्भवती रानी का अभिषेक हुआ। 'कुश' की स्थिति यह थी कि शेष सात भाइयों ने गुण और आयु में श्रेष्ठ समझ कर उसे शासक चुन लिया पर आगे चल कर यह कार्य भी

अमात्यों के हाथ में आ गया। अर्थात् वंश की महिमा अमात्यों के हाथ में रह गई। कुल की मर्यादा के विचार से राघव सुदर्शन ने नैमिषारण्य का वास लिया और वृद्धावस्था में शासन का भार तेजस्वी अग्निवर्ण को सौंप दिया--

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम्।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥१॥१९॥

किन्तु यह ऐसा सपूत निकला कि

इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम्।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥६॥
गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥७॥१९॥

इष्ट--परिणाम वही हुआ जो होना था। वंश का अभिमान तो रह गया पर वंश की मर्यादा जाती रही। कालिदास का यह महाकाव्य किस सत्य का सन्देश देता है उसे तो आप स्वयं भी जान सकते हैं पर साथ ही यह भी देख सकते हैं कि कुमारसंभव के शंकर भगवान् भी अन्तःपुर में ही निवास करते हैं किन्तु कभी प्रकृति वा प्रजा की ऐसी अवहेलना नहीं करते। उनके राग से अग्निवर्ण के इस रोग की तुलना नहीं। अस्तु, हमारा कहना है कि रघुवंश का यह 'अन्वय खंड' गिरावट का खंड है। इसका सूत्र-पात वहीं हो जाता है जहाँ जल-विहार में 'जैत्राभरण' कुश के हाथ से अनजाने में गिर जाता है। रघुवंश के प्रथम ४ सर्गों के साथ इन अन्तिम ४ सर्गों की तुलना करें तो कवि की भारती का रस मिले। कहाँ रघु की दिग्विजय और कहाँ अग्निवर्ण की यह कामक्रीडा! किन्तु यहाँ भी वही सन्तान-साधना काम करती है और उसके अमात्य प्रजा से यही कह कर राज्य चलाते हैं कि राजा पुत्रेष्टियज्ञ में लगे हैं--

बाढमेषु दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने।
इत्यदर्शितरुजाऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥५२॥१९॥

अघशंकिनी प्रजा का समाधान तो इस प्रकार हो गया पर रामराज्य की रक्षा इस प्रकार न हो सकी। भविष्य गर्भ में है और इसी से उसका अभिषेक भी।

नामधेय--रघुवंश की मीमांसा में याद रखना होगा कि कवि ने नाम-

धेय को जो महत्त्व दिया है उसका कारण है। सो पहले 'रघु' की निरुक्ति को लीजिए और फिर रघु के जीवन को समझने की चेष्टा कीजिए। कवि कहता है—

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम् ॥२१॥३॥

अबाधगति रघु के पराक्रम के बारे में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रही। इसी गमनार्थ धातु 'रघु' में सब आ गया। दिग्विजय ही नहीं, कैलास-विजय भी। विजय और पराक्रम की प्रतिष्ठा प्रथम अथवा रघु-खंड में है और है इसी में अपना देशकाल भी।

रघु की भाँति ही 'राम' की व्याख्या भी समर्थ है। कहते हैं—

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥६७॥१०॥
रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥६८॥१०॥

'रघु' और 'राम' के नामकरण में जो विशेषता पायी जाती है वह यह है कि रघु का नाम पिता की कामना का फल है तो राम का नाम उनके आकर्षण का। राम में रमाने की जो शक्ति है वह किसी की देन नहीं। वह तो उन्हीं का अंग है। फलतः यह खंड भी 'प्रभुता' का खड है और सर्वत्र राम की आभा गोचर होती है। कालिदास की दिव्य भावना यहीं अपना प्रसार पाती है। इसमें दिव्यता का बोलबाला है और है 'लोकानुग्रह' की कांक्षा। इसमें उस समय के किसी इतिहास की वांछा नहीं।

अब रही तीसरे वा कुश खंड की कथा। सो निश्चय ही पतन की गाथा है। इसमें इतने रघुवंशी शासकों का उल्लेख है कि इसे विवश हो 'अन्वय' खंड का नाम देना पड़ा है। नहीं तो सरलता से इसे 'कुश खंड' कहा जा सकता है। कुश की निरुक्ति पर ध्यान दें तो इसका भी भेद खुले। कवि का कथन है—

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥३२॥१५॥

तात्पर्य यह कि नामधेय में पिता की कामना वा आत्मशक्ति नहीं प्रत्युत एक क्रिया और कवि की भावना है। कुछ होते देखा और उसी के अनुसार नाम भी

रख दिया। व्यक्ति हटा और घटना को महत्त्व मिला। प्रभुता गई और परिस्थिति को आश्रय मिला। फलतः कुश को राज्य भी चुनाव से मिला। संघर्ष नहीं सहमति से मिला, पर मिला तो भाइयों के मेल से ही न?

कुशावती—कुश कुशावती में राज्य कर रहे थे। स्वप्न में उन्होंने देखा कि अयोध्या उजड़ गई है। आए और अयोध्या फिर से बसी, पर वह आभा कहाँ रही? स्वयं कुश को देखिए। नगरदेवी किस रूप में उनका दर्शन करती है—

सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥५॥१६॥

कुश का यह साधारण परिचय उनकी स्थिति का द्योतक है और इस 'अधि-देवता' का यह विषाद उस काल का सूचक—

वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥१०॥१६॥

इसी प्रपन्न करुणावस्था का बोध इस खंड में बराबर होता है। इसमें उस काल का इतिहास भी काम कर रहा है। 'साकेत' की स्थिति राम के उपरान्त जैसी कुछ हो गयी थी उसका विवरण कालिदास ने दिया है पर यह बताने का कष्ट नहीं किया है कि कुश की कुशावती है कहाँ। कुशावती को कुशस्थली मान लेने में कोई बाधा नहीं दिखायी देती। कवि कहता है—

तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्या साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ॥२४॥
कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥२५॥
सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जंगमराजधानी ॥२६॥
मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥३१॥
स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥३२॥

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥३३॥
स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे ॥३४॥
इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥३५॥१६॥

कुश के इस प्रयाण में ध्यान देने की बात है कि उसकी सेना को रेवा पार करना नहीं पड़ा और विन्ध्याचल घाट पर ही उसकी सेना ने स्यात् गंगा को पार किया। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि कुशावती से अयोध्या आने में रेवा नहीं मिली। कहने की बात नहीं कि कुशस्थली किंवा उज्जयिनी को ही कुशावती मान लेने से प्रयाण की संगति आप ही बैठ जाती है। अतएव हमारा कहना है कि वास्तव में उज्जयिनी ही रघुवंश की कुशावती है। कुशस्थली उसका एक नाम है भी। इधर इतिहास के धुँधले प्रकाश में देखा गया है—

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के पुत्रों के बीच गृह युद्ध के प्रसंग का उल्लेख परमार्थकृत वसुबन्धु के जीवन-चरित्र और वामनकृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में पाया जाता है। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में एक श्लोक निम्न प्रकार है—

सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातोभूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः ॥
आश्रयः कृतधियामित्यस्य वसुबन्धुसाचिव्योपक्षेपपरत्वात्साभिप्रायत्वम्।

[विक्रमस्मृतिग्रंथ, पृ० २२६]

व्यंग्य—हमारी समझ में तो यह इसी घटना का प्रभाव है कि कवि कालिदास को कुश के प्रसंग में लिखना पड़ा—

अथेतरे सप्तरघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥१॥
ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥२॥
चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम्।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससारवंशः ॥३॥१६॥

गुप्तवंश के सम्राट् 'आदित्य' तो बन जाते थे पर आदित्य-कुल की मर्यादा का अनुसरण नहीं कर पाते थे। कालिदास इसी को किस कुशलता से अंकित कर जाते हैं। कहते हैं 'साकेत' को समुद्रगुप्त की राजधानी होने का गौरव प्राप्त हो गया था और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी वहीं से उज्जयिनी में जा जमे थे। यदि यह सत्य है तो कुश के इस प्रयाण का संकेत कुछ इधर भी है। इसे भी 'कृतार्थ-श्रमः' का साथी समझिए और कवि की कला का आनंद लीजिए।

इतिहास की झलक—कालिदास ने जिन गुणों की प्रेरणा से रघुवंश की रचना की उनका निदर्शन भी उसमें हो गया और यह भी प्रगट कर दिया गया कि कवि चाहता क्या है। प्रायः यह कहा और माना भी जाता है कि रघु की दिग्विजय के मूल में कोई तत्काल की विजय है, पर कहीं यह नहीं दिखाया जाता कि रघुवंश की अधोगति का रहस्य क्या है। कुछ लोगों की धारणा है कि गुप्तवंश की अधोगति ही रघुवंश में अंकित है और इसी से वह और बाद की रचना भी है। परन्तु उनका मत मान्य नहीं। कारण यह कि गुप्तवंश में कभी किसी 'राज्ञी' को शासन करने का अवसर नहीं मिला और न किसी ६ वर्ष के राजा का अभिषेक ही हुआ। दूसरी ओर हम देखते हैं तो उसी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में उसके सम्बन्धी वाकाटक वंश में दोनों ही घटनाएँ घटती हैं। उसके दौहित्र श्री दिवाकर सेन का राज्याभिषेक प्रायः इसी अवस्था में हुआ था और उसकी दुहिता प्रभावती गुप्ता अपने पुत्र की ओर से शासन भी कर रही थी। पति रुद्रसेन द्वितीय के निधन के समय उसकी स्थिति क्या थी, इसका ठीक-ठीक पता नहीं, परन्तु इसकी तो इतिहास भी साखी भरता है कि वह दिवाकरसेन के उपरान्त दामोदरसेन की ओर से भी कुछ दिनों तक शासन करती रही। 'महाराजदामोदरसेनप्रवरसेनजननी' प्रभावती गुप्ता से कालिदास का कितना घनिष्ट संबंध था, इसे कौन कहे, पर यह इतिहास सिद्ध बात है कि वह अपनी सन्तान की ओर से शासन करती और कहीं 'रामगिरि' के पास ही रहती भी थी। दूसरी ओर कालिदास उसके पुत्र प्रवरसेन के काव्य-गुरु भी कहे जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कुशखंड' की संगति उसी समय के वाकाटकवंश के साथ बैठ जाती है और कालिदास के जीवन की एक झाँकी भी दिखा जाती है। 'दामोदर' नाम भी विचारणीय है। न हो, तो भी इतना तो निश्चित ही है कि इसके

पहले ही सन् ३०६ ई० में पारसीक-सम्राट् शाहपुर द्वितीय का राज्याभिषेक गर्भ में ही हुआ था। निदान वह और वही काल इसकी कल्पना के लिए भी समीचीन था। अग्निवर्ण की राज्ञी को चाहे जिस राज्ञी की छाया कहें पर है वह वस्तुतः इसी काल की देन।

रघुवंश में कहाँ तक गुप्तवंश की छाया पाई जाती है इसका विचार हमने 'रघुवंश में गुप्तवंश' शीर्षक निबंध में किया है। इसलिए यहाँ संक्षेप में बताया यह जाता है कि वस्तुतः रघुवंश गुप्तवंश की अलंकृति है कुछ अनुकृति नहीं। उसे हम साक्षी नहीं सखा के रूप में पाते हैं। रघु को समुद्रगुप्त एवं अज को चन्द्रगुप्त का आदर्श समझें और फिर रघुवंश अथवा गुप्तवंश का अध्ययन एक दूसरे की छाया में करें तो हमारे कहने का मर्म मिले। कवि कहता है—

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत्।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥२॥
अनुभूय वसिष्ठसंभृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम्।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥३॥
स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥४॥
रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥५॥
अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव संगतम्।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥६॥८॥

यह और कुछ नहीं मथुरा के स्तम्भ लेख—'भट्टारकमहाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तसत्पुत्रस्य भट्टारकमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य' का ही प्रसाद है और इसमें पूरा प्रसार है श्री प्रभावती गुप्ता के पूणा-ताम्रपत्र के 'तत्सत्पुत्रस्तत्पादपरिगृहीतः' चन्द्रगुप्त के युवराजाभिषेक का। इस प्रसंग में केवल एक ही बाधा है और वह यह कि स्वयं कवि का इसी 'अज' के विषय में कहना है—

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥३६॥५॥

कुमार—अज के प्रसंग में बार-बार 'कुमार' का उल्लेख करना 'कुमार-गुप्त' के पक्ष में ही अधिक जाता है और यहाँ 'कुमार' का व्यवहार है भी ऐसा ही इसमें सन्देह नहीं कि इस तर्क में सार है। 'कुमार' का व्यवहार अवश्य ही कुमारगुप्त की सुधि दिलाता है और कवि को कुमारगुप्त का राजकवि मानने को विवश करता है। परन्तु सच पूछिए तो यह ऊपरी बात है और इसका कारण यही प्रतीत होता है कि अज कुमारगुप्त का लालन है। कवि का भीतरी भाव तो यह है—

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥६॥
अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥१०॥८॥

पिता-पुत्र का यह शील और संयम जैसा 'समुद्र' और 'चन्द्र' में प्रगट होता है वैसा 'चन्द्र' और 'कुमार' में नहीं। रघु और अज की तुलना में कवि लिखता है—

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम्।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥१५॥८॥

समुद्रगुप्त का प्रताप चन्द्रगुप्त के सामने फीका पड़ गया पर चन्द्रगुप्त का कुमारगुप्त के सामने नहीं। निदान 'अज' को 'चन्द्र' ही समझना चाहिए, कुमार वा स्कन्द नहीं। कुमार का प्रयोग तो शासन—सन्तोष के लिए है, कुछ उल्लास-बोध के हेतु नहीं।

कालिदास ने रघुवंश का अन्त जिस अग्निवर्ण के साथ किया है वह पूरा कन्हैया क्या पक्का वाजिदअली शाह ही है। जो मजा उसको तबला ठुनकाने में आता है वह किसी दूसरे राग-रंग में नहीं। देखिए उसका आमोद है—

स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥१४॥१६॥

अभीष्ट—उधर 'मालविकाग्निमित्र' का अग्निमित्र भी बहुत कुछ इस लीला में मग्न दिखाई देता है। कारण कुछ तो होगा ही। 'अग्नि' के प्रति कालि-दास की यह भावना क्यों? इसके लिए 'मालविकाग्निमित्र' की मूल प्रेरणा को पक-

हना चाहिए। हमारी धारणा तो यह है कि 'मुद्राराक्षस' और 'मालविकाग्निमित्र' की मूल प्रेरणा एक ही है और दोनों के कार्य में 'मुद्रा' का महत्त्व समान ही है। आप धारणी को राक्षस और विदूषक को चाणक्य मान लें फिर देखें कि मालविकाग्निमित्र की 'नागमुद्रा' नाटक में वही करतब दिखाती है वा नहीं जो राक्षस की 'मुद्रा' मुद्राराक्षस में। आप इनमें से किसी भी एक नाटक को तब तक भली भाँति नहीं समझ सकते जब तक दूसरे का भी गहरा अध्ययन न कर लें। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त की राजनीति के कारण जो स्थिति है वही मालविकाग्निमित्र में गृहनीति के कारण अग्निमित्र की। फलतः एक को राजलक्ष्मी सिद्ध होती है तो दूसरे को गृहलक्ष्मी। एक का श्रेय चाणक्य को है तो दूसरे का विदूषक को। किन्तु दोनों में फलागम होता है अन्य के द्वारा ही। कुछ नायक के पुरुषार्थ से नहीं। चन्द्रगुप्त को हम पुरुषों के बीच पाते हैं तो अग्निमित्र को स्त्रियों के बीच। बस यही दोनों में विशेष अन्तर है अन्यथा दोनों का साध्य है वस्तुतः एक ही। और वह यह कि इस प्रकार उक्त महानुभावों का महत्त्व घटाया जाय। क्यों घटाया जाय, इसका कारण है 'मौर्य' और 'शुंग' से 'गुप्त' को आगे बढ़ाना। अग्निमित्र की यह अधोगति इसी प्रेरणा से की गई है।

४—मालविकाग्निमित्र

द्वैराज्य—कालिदास की रचनाओं में 'मालविकाग्निमित्र' ही एक ऐसी रचना है जिसमें इतिहास खुलकर बोलता है और लोग उसकी साखी मानते हैं। सेनापति पुष्यमित्र के राजसूययज्ञ का विचार तो होता ही रहता है पर जिसकी चर्चा भूलकर भी नहीं की जाती वह है विदर्भ जनपद की राज्यनीति। राजा विदूषक से कहता है—

मौद्गल्य तत्रभवतोर्भ्रात्रोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमवस्थापयितुकामोऽस्मि

तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तरदक्षिणे
नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव ॥१३॥५॥

इस पर अमात्यपरिषद् की छाप है—

अहो ! कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्येवमेव दर्शनम्। कुतः—

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ
धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः ।
तौ स्थास्यतस्ते नृपती निदेशे
परस्परावग्रहनिर्विकारौ ॥१४॥५॥

अग्निमित्र के 'द्वैराज्य' अथवा 'द्विधा विभक्त' नीति का पता इसके अतिरिक्त और कहाँ है जो उसकी मीमांसा में लीन हों। पर यह इतिहाससिद्ध बात है कि वाकाटकवंश के सेनान्त शासक द्विधा विभक्त थे। सम्राट् प्रवरसेन के उपरान्त उसका साम्राज्य दो प्रमुख भागों में विभक्त हो गया—उत्तर और दक्षिण। उत्तर की राजधानी नन्दिवर्धन और दक्षिण की वत्सगुल्म थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की दुहिता उत्तर के रुद्रसेन द्वितीय से ब्याही गई थी। मालविकाग्निमित्र में यज्ञसेन तथा माधवसेन के संघर्ष का उल्लेख है जिनमें से 'यज्ञसेन' को 'वैदर्भ' कहा गया है। द्वन्द्वकथा यह है कि राजा के 'किं प्रतिपद्यते वैदर्भः' का उत्तर उसका अमात्य यह लिखित निर्देश देता है—

पूज्येनाहमादिष्टः—

'भवतः पितृव्यपुत्रः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसम्बन्धो ममोपान्तिकमागच्छन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कद्य गृहीतः। स त्वया मदपेक्षया सकलत्रसोदर्यो मोचयितव्यः' इति। तन्न वो न विदितं यत्तुल्याभिजनेषु भूमिहरेषु राज्ञां प्रवृत्तिरीदृक्। अतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति। सोदर्या पुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा। तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये। अथावश्यमेव माधवसेनः मया पूज्येन मोचयितव्यः श्रूयतामभिसन्धिः।

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम्।
मोक्ता माधवसेनं ततोऽहमपि बन्धनात्सद्यः ॥७॥१॥

माधवसेन के छोड़ने की जो अभिसन्धि है उसमें अपने श्याल के छोड़ने की बात कही गई है और उसे 'मौर्य सचिव' बताया गया है। उधर माधवसेन की बहिन मालविका अग्निमित्र से ब्याही जाने को है। नतीजा यह निकलता है कि अग्निमित्र चढ़ाई कर देता है और यज्ञसेन वरदा के उत्तर का ही राज्य पाता है। दक्षिण का भाग माधवसेन को मिल जाता है।

इतिवृत्त—'दायाद' का यह द्वन्द्व गुप्तवंश के काल का है और है वाकाटक वंश का। ऐसा कहने में केवल एक ही बाधा है जो है विवाह सम्बन्ध की। वत्सगुल्म शाखा की कोई कन्या गुप्तकुल में आई, इसका पता नहीं; पर गुप्तकुल की दुहिता, प्रभावती गुप्ता, उसकी उत्तर की शाखा में रही, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि अग्निमित्र के यहाँ यह सम्बन्ध उलट न जाता तो और भी वह स्वयं पुकार कर कहता कि वस्तुतः स्थिति क्या है और यह सब क्यों हो रहा है। किन्तु नाटक का पक्ष इतिहास के अनुकूल नहीं। नाटक 'माधव' को श्याल बनाता है तो इतिहास किसी गुप्त को। यही असमंजस है। तो क्या इतना भी मान लेना उचित न होगा कि यह द्वन्द्व है इसी काल के इतिवृत्त पर आश्रित! अजब नहीं कि इसमें उत्तरी पृथ्वीषेण और दक्षिणी विन्ध्यसेन का कुछ विवाद हो और वही अपनी झलक दिखा रहा हो। कुन्तलेश अथवा कदम्बकुल की कन्या गुप्तवंश में आई भी थी। कुन्तल पर पृथ्वीषेण का शासन था ही। अस्तु, इसका भी कुछ समाधान हो ही जाता है। सामान्यतः कहा जा सकता है कि मालविकाग्निमित्र में धारिणी की जो प्रतिष्ठा और 'वैदर्भ-विवाहनेपथ्य' का जो उल्लेख है वह कालिदास की वैदर्भी रीति के साथ है, और इस रचना के द्वारा कवि यह दिखाना चाहता है कि अग्निमित्र की विदर्भ के प्रति कैसी कूटनीति थी कि थोड़े से स्वार्थ में पड़कर उसे टुकड़ों में कर दिया और दोनों को अपने स्वार्थ का साधन बना लिया। 'वरद वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः' में 'विदर्भपति की श्री' का हरण ही तो है? अतएव मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र को गिराना ही कवि को इष्ट है, इसके और भी अनेक प्रमाण हैं। यहाँ तक कि इसके 'भरतवाक्य' में भी यही बात पायी जाती है। राजा स्वयं कहता है—

> त्वं मे प्रसादसुमुखी भव चण्डि नित्य-
> मेतावदेव मृगये प्रतिपक्षहेतोः।
> आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां
> संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे॥

अग्निमित्र को प्रधान चिन्ता है अन्तःपुर की, न कि प्रजा की। प्रजा का कल्याण अग्निमित्र के शासन में नहीं होगा ऐसा नहीं है। वह तो होगा ही, फिर

उसकी चिन्ता क्यों ? चिन्ता तो बस इस बात की है कि देवी प्रसन्न रहें और आपस में मेल रहे। सौतियाडाह न हो।

लक्ष्य—महादेवी, नहीं नहीं देवी धारिणी को पुत्र की चिन्ता इतनी है कि उसके कल्याण के लिए नित्य दान करती हैं और देव अग्निमित्र की स्थिति यह है कि 'मालविका' के फेर में पड़े रहते हैं। इससे बढ़कर अधिकार की बिडम्बना और क्या होगी ? पुत्र की चिन्ता नहीं, पिता का ध्यान नहीं, बस 'कामतन्त्र' का ध्यान है। यहाँ तक कि इरावती को कुढ़ कर पूछना पड़ता है—

अपि निर्विघ्नमनोरथो दिवासंकेतो मिथुनस्य ?

कोई कुछ भी कहे, पर प्रत्येक दशा में उसे मानना ही होगा कि वसुमित्र जैसे वीर और पराक्रमी पुत्र के होते हुए भी इस प्रकार की काम-क्रीडा में मग्न होना, सो भी किसी अल्पवयस्का किशोरी के साथ, किसी नायक वा नेता को शोभा नहीं देता। इसलिये यह कहा जाता है कि इस नाटक की रचना में कवि का ध्यान जितना संविधान और राजनीति में रहा है उतना प्रणय वा रस में नहीं। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' को सिद्ध कर दिखाना ही इसको इष्ट रहा है। 'न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्' में 'काव्य' ही नहीं 'नवम्' का भी ध्यान अधिक रहा है। सूत्रधार का स्पष्ट निवेदन है—

अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। तदारभ्यतां संगीतकम्।

इससे सिद्ध ही है कि इसके ग्रंथन में विद्वत्परिषद् की प्रेरणा नहीं तो अभिनय में अवश्य है। उसी का यह भी कहना है—

शिरसा प्रथमगृहीतामाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्तुम्।
देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम् ॥३॥१॥

इस 'सेवादक्षता' का निर्देश कुछ कवि की ओर भी है क्या ? स्मरण रहे, पारिपार्श्विक विरोध करता है—

मा तावत्। प्रथितयशसां भासकविपुत्रसौमिल्लकादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियामिमां द्रष्टुं कथं परिषदो बहुमानः।

सुनते ही सूत्रधार फटकारता है—

अये विवेकविश्रान्तमभिहितम्। पश्य।

'पुराणमित्येव' से भी उसको सन्तोष नहीं होता और चट बोल पड़ता है—
आर्यमिश्राः प्रमाणम् ।

५—विक्रमोर्वशीय

प्रणय—आर्यमिश्रों का निर्णय क्या रहा, इसे हम नहीं जानते पर इतना तो देखते हैं कि इस विवाद और संघर्ष का नाटक में पूरा विधान है, और 'विक्रमोर्वशीय' में आर्यमिश्रों से निवेदन है—

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथ वा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात् ।
शृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य ॥२॥१॥

पहली 'क्रिया' का विरोध 'इस क्रिया' से नहीं है और इसमें नाम लिया गया है १—प्रणय, २—सद्वस्तु और ३—पुरुषबहुमान का, जिससे प्रकट होता है कि पहली 'क्रिया' में इनका कुछ अभाव था जिनकी पूर्ति का प्रबन्ध इसमें किया गया है। अच्छा होगा, सबसे पहले 'प्रणय' को ही लीजिए। प्रणयी की परिस्थिति क्या है? कितने लोग प्रणयी की प्रार्थना पर कान देते और भरमुँह उससे बात करते हैं! सूत्रधार पहले 'प्रणयिषु वा दाक्षिण्यात्' का ही उद्घोष क्यों करता है? क्या इसी लिये कि हम लोगों पर कृपा करके इसे सुनें? इससे तो यह ध्वनित होता है कि पहली रचना नहीं तो पहले किसी अभिनय में आर्यमिश्रों के द्वारा कुछ उपद्रव हुआ था अथवा कुछ अशान्ति ही मची थी जिसके कारण उसे ऐसा कहना पड़ा। इसलिये हमारी मति में तो यह भासता है कि इसमें प्रणयी जनों का प्रणय है अतएव उन पर कृपा करके 'इस क्रिया' को सावधान होकर सुनें, यों ही उसकी अवहेलना न कर दें। बात है भी यही। अप्सरा का प्रेम किसे भाता है? उर्वशी है तो अप्सरा ही! किन्तु नहीं, कालिदास ने अपनी कलम से उसे भी 'सहधर्मचारिणी' बना दिया है और नारद के द्वारा इसकी विज्ञप्ति भी हुई ही है। अब यदि मनोयोग के साथ प्रेमियों पर कृपा कर इसे आप न सुनें तो आप इसके रहस्य को कैसे समझ सकेंगे और कालिदास की इस कला का रस कैसे प्राप्त कर सकेंगे?

कहा जा सकता है कि 'प्रणय' की चर्चा 'मालविकाग्निमित्र' में कुछ कम नहीं। ठीक है। उसमें एक क्या, तीन का बखेड़ा साथ चल रहा है। पर जान

बिछाया जा रहा है मालविका के लिए ही। विवाह हो अग्निमित्र का और काम करे विदूषक ? है न यही बात ? 'प्रणय' की तत्परता उनमें कहाँ ? अग्निमित्र टट्टी की आड़ में शिकार करता है और विदूषक से कहता है--

न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्ष्यते मतंगजः।

और मालविका भी अपने हृदय से यही कहती है—

हृदय ! निरवलम्बान्मनोरथाद्विरम । किं मामायासयसि ।

बात थी भी यही। मालविका की अवस्था ऐसी न थी कि अग्निमित्र से उसका विवाह होता। सच पूछिए तो उसका पात्र अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र ही था जो यवनों के संमर्दन में लगा था। परन्तु 'उपायन' की यह भेंट राजा अग्निमित्र को भा गई और सखा विदूषक के प्रपंच से हाथ में आ गई। भोग के अतिरिक्त इसका महत्त्व क्या ? कुशल यही कि मन पा कर काम किया गया कुछ दाम दे कर नहीं। और पंडिता परिव्राजिका का समाधान तो सुनिए। किस उल्लास से कहती है—

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितां शतानि हि समुद्रगाः प्रापयन्त्यब्धिम् ॥१६॥५॥

किन्तु यह 'प्रणय' नहीं पतिव्रत है। प्रणय की परख तो यह है कि सपत्नी का भाव उठा नहीं कि पत्नी भुन उठी। कारण यह कि—

दूरारूढः खलु प्रणयोऽसहनः।

चाहे इसका परिणाम कितना भी भयंकर हो। इसी से तो 'विक्रमोर्वशीय' में सूत्रधार को आरम्भ में ही सब समझा देना पड़ा और प्रणयी पर दया की भीख माँगनी पड़ी ? इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास का यह नाटक 'प्रणय' का ही रूप है कुछ प्रपंच का नहीं। 'प्रणय' की प्रतिष्ठा जिसके जी में नहीं उसको यह रामरस फीका है। पुरूरवा चित्रलेखा से कहता है—

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां ता-
मार्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥१६॥२॥

और राजहंस को समझाता है—

स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव।

अतएव प्रणयिजनों पर दया कर 'विक्रमोर्वशीय' का रस लेना चाहिए और उर्वशी के इस कथन को मूलमंत्र मान कर आगे बढ़ना—

समदुःखः पिबतीव मां नयनाभ्याम् ।

यहाँ तक यहाँ इस 'प्रणय' की मर्यादा है कि देवी द्वारा दिए जाने पर ही वह 'शरीर-संपर्क' प्राप्त करती और कहती है—

हला ! देव्या दत्तो महाराजः ततोऽस्य प्रणयवतीव शरीरसंपर्कं गतास्मि । मा खलु मां पुरोभागिनीं समर्थयस्व ।

सद्वस्तु—'सद्वस्तु' की दृष्टि से देखा जाय तो 'समदुःख' और 'सहयोग' ही इसका ध्येय है । यहाँ तक कि इसका 'भरतवाक्य' है—

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ।।२४।।५।।

'श्री' और 'सरस्वती' का विरोध 'दाक्षशालव' की कृपा से दूर हो और विश्व की विभूति बढ़े बस यही कवि की कामना है । लक्ष्मी और सरस्वती की एकता उर्वशी तथा काशिराजपुत्री की एकता की भाँति सध सकती है पर नित्य रूप मिल सकता है दैव की कृपा से ही । देवी ने देखा कि राजा का मन उर्वशी में लगा है और वह मार्ग में रोड़ा का काम कर रही है । पहले तो स्त्री-सुलभ स्वभाववश कह गई राजा को 'कामुक', फिर स्थिति को समझ कर लग गई 'प्रियानुप्रसादन' में । उसके प्रसाद से उर्वशी प्रणयवती बनी और उसकी कोख भरी तो उसे भी देवी की सूझी और उसने अपने पुत्र आयुस से कहा—

एहि वत्स ! ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व ।

किन्तु नारद ने रोक कर कहा—

तिष्ठ । समये तत्रभवत्याः समीपं गच्छसि ।

सन्तान—युवराज ने समय पर ज्येष्ठमाता के साथ कैसा व्यवहार किया और राजमाता का पद किसे मिला, यह कवि का विषय नहीं । कवि का ध्येय है बस एकता सम्पादित कर दिखाना । इस एकता के साथ 'सन्तान' का जो लगाव है वही पंचम अंक का प्राण है । विदूषक कहता है—

दिष्ट्या चिरस्य कालस्य उर्वशीसहायो नन्दनवनप्रमुखेषु देवतारण्येषु विहृत्य प्रतिनिवृत्तः प्रियवयस्यः । इदानीं ससत्कारोपचारैः प्रकृतिभिरनुरज्य-

मानो राज्यं करोति । असन्तानत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम् ।

इस 'सन्तान' का रहस्य और भी गूढ़ है । कारण यह कहा गया है—

यदैष मम प्रियसखो राजर्षिस्त्वयि समुत्पन्नस्य वंशकरस्य मुखं प्रेक्षिष्यते तदा त्वया भूयोपि मम समीपमागन्तव्यमिति । ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागमनिमित्तं भगवतश्च्यवनस्याश्रमपद आर्याया सत्यवत्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्तः । अद्य पितुराराधनसमर्थः संवृत्त इति कलयन्त्या निर्यातितो मे दीर्घायुः । तदेतावान्मे महाराजेन संवासः ॥

समदुःख—होनहार के आगे झुकना ही पड़ता है पर दैवयोग से होनहार भी बदल जाता है । राजा वनगमन को उद्यत होता है तो महेन्द्र को फिर अपनी सूझती है और राजा को रोकने के विचार से उर्वशी भी 'सहधर्मचारिणी' कर दी जाती है । असुर-विनाश के लिए यह अनिवार्य है । 'तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम्' में यही पुकार है । सन्तान का गोपन जिस 'संयोग' के लिए किया गया वह भावी 'संयुग' के कारण सफल हुआ और सबकी एकता स्थापित हो गई । अप्सरा से यती का काम बिगड़ता है पर यहाँ उसी से पुरूरवा का वंश चलता है और मुनि उसी का अभिषेक करते हैं । पाप को पुण्य कर दिखाना कवि का काम है । पराक्रम से क्या नहीं होता, पर उसी पराक्रम से जिसकी प्रेरणा होती है 'समदुःख' से, 'परित्रायतां, परित्रायतां' की पुकार से । इसी से 'सहजन्या' भी तो चित्रलेखा से कहती है—

तत्कथय निर्वेदकारणम् । समदुःखा भवितुमिच्छामि ।

चित्रलेखा को आशंका है—

मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति ।

'सहजन्या' का सुझाव है—

सखि तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभागिनो न भवन्ति ।

आशा और आश्वासन से जीवन सजीव रहता है और समवेदना से सरस बनता है । यही 'विक्रमोर्वशीय' में वस्तु है । 'सत्' को 'असत्' नहीं, 'असत्' को 'सत्' में परिणत कर देना सत्पुरुष किंवा सत्कवि का काम है । इस नाटक में इसी प्रत्यक्ष दर्शन की समाज से प्रार्थना है ।

बहुमान—'पुरुषबहुमानात्' में नेता की बात कही गयी है। 'विक्रम' का नाम ही पराक्रम का प्रतीक है। पुरूरवा उन्माद की दशा में भी यही कहता है—

आः दुरात्मन् रक्षस्तिष्ठ तिष्ठ। क मे प्रियतमामादाय गच्छसि? हन्त! शैलशिखराद् गगनमुत्पत्य बाणैर्मामभिवर्षति।

क्यों? इसी से न कि कभी उसने राक्षस से उसकी रक्षा की थी? मेघ को राक्षस और विद्युत् को प्रिया समझना ठीक ही है। विक्रम के इस रूप को समझने में भारी भूल हुई है। उसका प्रलाप मन और चित्त का करतब दिखाता और वासना को खड़ी कर देता है। उर्वशी का सहसा अलक्ष्य हो जाना फिर उस घटना की सुधि दिलाता है जिससे उसे उर्वशी का साक्षात्कार हुआ था। यह घटना ऐसी विकट घटी है कि इसकी प्रतिध्वनि चारों ओर गूँज उठी है। राजा के चित्त में हंस-हंसिनी का संयोग सामने आता तो फिर उन्मत्त हाथी का वियोग भी। इधर मन जाग्रत् जगत में उसे ढूँढ़ता और प्रकृति से उसका पता चाहता है। यही प्रेम की उन्मत्त दशा इसकी जान है और है राजा विक्रम के शील की कसौटी भी। 'साधर्म्य' के कारण ही उसके चित्त में विरहाकुल हाथी का रूप सामने आता और वह उसकी आतुर दशा का बोध करता है। हाथी के प्रत्यक्ष दर्शन से वह बोल उठता है—

> साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसी प्रीतिः।
> मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं नागाधिराजो भवान्
> अव्युच्छिन्नपृथुप्रवृत्ति भवतो दानं ममाप्यर्थिषु।
> स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा
> सर्वं मामनु ते प्रियाविरहजां त्वं तु व्यथां मानुभूः ॥२५॥४॥

मनोदशा—परन्तु चित्त अथवा मन की दशा में इसी की अनुभूति होती है और प्राकृत रचना में वियोगी नागाधिराज ही गोचर होता है—

> गहणं गइन्दणाहो पिअविरहुम्माअपअलिअविआरो।
> विसइ तरुकुसुमकिसलअभूसिअणिअदेहपब्भारो ॥५॥४॥

यह और कुछ नहीं राजा के स्वयं जीवन की छाया है जो वासना के मुखर हो उठने से 'प्राकृत' में फूट निकली है। कालिदास की इस कला को पकड़ पाना तो दूर रहा लोगों ने इसे क्षेपक बना दिया। सोचा इतना भी नहीं कि कविगुरु

के अतिरिक्त यह सूझता भी किसे जो यहाँ जोड़ दिखाता ! निश्चय ही यह अपूर्व नाटक दत्तचित्त हो सुनने का है कुछ किसी अंश को ले उड़ने का नहीं। धीरज धर ध्यान से सुनें तो सारी गुत्थी आप ही सुलझ जाय और 'प्राकृत' का कारण भी आप ही व्यक्त हो जाय। तनिक सहजन्या के इस कथन का अर्थ तो जानिए—

अवश्यं किमप्यनुग्रहनिमित्तं भूयोपि समागमकारणं भविष्यति। तदेहि उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः।

इससे सिद्ध हो है कि यह घटना सूर्योदय के पहले की है और इस समय विक्रम स्वप्न में है। स्वप्न में प्रिया का हरण दिखाई देता है और आँख खुलते ही मेघ का दर्शन होता है। बिजली को प्रिया समझ वह उसी का पीछा करता है। पर ठीक से उद्बुद्ध नहीं हो पाता और उसी दोहरी दशा में प्रलाप करता है। उसे ठीक-ठीक चेत तब होता है जब वह फिर आँख मूँद कर प्रियानुकारिणी लता का आलिंगन करता और उसके स्पर्श से सचेत हो जाता है। उसका सोचना है—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा।
अतो विनिद्रे सहसा विलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥३६॥४॥

किन्तु धीरे से आँख खोलता तो प्रियतमा को ही पाता है। 'इति मूर्च्छितः पतति' का होना इस दृष्टि से और भी आवश्यक है। उर्वशी से समाश्वासन पा जब उसकी संज्ञा सचेत होती है तब वह बोल उठता है—

> प्रिये ! अद्य जीवितम्
> त्वद्वियोगोद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता।
> दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥४०॥४॥

उर्वशी भी धीरे से कह देती है—

> अभ्यन्तरकरणया मया प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः खलु महाराजः।

अस्तु, हमारा कहना है कि यह 'अभ्यन्तर' का खेल है और अभ्यन्तर की आँख से ही देखा जाना चाहिए। चित्तवृत्ति की पूरी जानकारी के बिना इसका मर्म नहीं खुलता। राजा के इस उक्ति पर ध्यान तो दें—

कल्याणि ! न तावदहं प्रसादयितव्यः। त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नः सबाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा।

फलतः इस अंक में जो घटता है वह इसी 'अन्तरात्मा' का अवसन्न रूप

है, बाहरी और भीतरी भी। बाहरी संस्कृत और भीतरी प्राकृत में। बाहरी स्फुट और भीतरी अस्फुट। ऐसी होती है प्रणयी की उन्मत्त अवस्था। विश्वास न हो तो किसी 'फ्रायड' से पूछ देखिए। अथवा इस जन के 'स्वप्न-सिद्धान्त' की प्रतीक्षा कीजिए। यहाँ इतना ही पर्याप्त है। कालिदास की यह अभ्यन्तरकरणलीला!

६—*अभिज्ञानशाकुन्तल*

अभिलाष—रस, वस्तु और नेता की दृष्टि से विक्रमोर्वशीय की रचना हुई पर किसी उद्देश्य के कारण वह भी पूरी न पड़ी। स्यात् विशाखदेव का 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक सामने था और 'मुद्राराक्षस' की भाँति उसे भी लक्ष्य बनाया गया था। आकाश और पृथिवी को एक कर दिखाने का श्रेय कालिदास को तो मिला पर उनका मन इससे न भरा। जी की बात लेखनी में न आ सकी। निदान शकुन्तला पर दृष्टि पड़ी और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की सृष्टि हो गई। शकुन्तला अप्सरा नहीं अप्सरा की कन्या है और है मुनि की दुहिता भी। पालन-पोषण वन में हुआ और आ गई नगर में। वन और नगर ही नहीं, लोक और परलोक भी उससे चमक उठे और कवि को कामना हुई मुक्ति की। सबकी नहीं, अपनी। स्वार्थ नहीं वर्णाश्रम की पुकार से। तभी तो उसका भरतवाक्य है—

> प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
> सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम्।
> ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
> पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥३५॥७॥

किन्तु इस कामना में अवसाद है। ऐसा लगता है कि शासन और शास्त्र में शिथिलता आगई है और शासक तथा कवि को अब 'भूतार्थ' को छोड़कर 'परमार्थ' की चिन्ता हो उठी है। इसी से 'पार्थिवः' और 'श्रुतमहत्' के प्रति यह प्रार्थना की गई है। शकुन्तला पर कवि की दृष्टि क्यों पड़ी और उसने उसके 'अभिज्ञान' में क्या कर दिखाया इसकी सच्ची जानकारी के निमित्त यह जान रखना होगा कि यहाँ 'शासन' में सुख नहीं मिलता और शासक को स्वयं कहना पड़ता है—

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा,
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय,
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ।।६।।५।।

राजा की यही भावना उन्हें 'नीललोहित' की उपासना की ओर ले जा रही है। मारीच के 'नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः' में 'भरतवाक्य' का विधान है ही फिर इसकी उपयोगिता क्या ! विक्रमोर्वशीय में 'श्री' और 'सरस्वती' के सहयोग की कामना की गई थी तो 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में 'विडौजा' और राजा के संयोग की। फिर भी कालिदास को इस अपूर्व रचना में इतने से ही संतोष न हुआ और राजा को खुल कर कहना पड़ा—

अतः परमपि प्रियमस्ति। यदीह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु—

अभीष्ट—अस्तु, 'राजा' अथवा कालिदास को जो परम प्रिय है वह है पुनर्भव से मुक्त होना। कवि ने 'नीललोहित' का नाम लिया है तो उसका अर्थ भी समझ लें। शैव तो वह है ही पर उसके इस कथन में वैष्णव का विरोध नहीं। 'क्षपयतु' की संगति 'शिव' से ही ठीक बैठती है। 'विष्णु' से नहीं। प्रश्न 'संहार' का है 'पालन' का नहीं। विदूषक ने विनोद में अपने को 'युवराज' जो कहा था उसका भी रहस्य है। कण्व के आश्रम से न सही मारीच के आश्रम से तो 'सर्वदमन' युवराज बन कर चला। राजा उसी को 'पार्थिव' समझ कर विनय करता है—'प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः।' कुछ अपने को दृष्टि में रख कर नहीं। स्मरण रहे कण्व का आदेश है—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ।।२०।।४।।

और पौरव दुष्यन्त का कुलव्रत—

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम् ।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ।।२०।।७।।

निदान 'प्रकृतिहित' तथा विद्या-विलास की कामना और अपने पुनर्भव का विनाश। नाश ईश के हाथ में है अतएव उन्हीं से प्रार्थना।

त्रयी—सच पूछिए तो अभिज्ञानशाकुन्तल में कवि की दृष्टि न तो राज्य पर है और न राजा पर ही। वह तो जमी है 'हृदय' और 'विनय' पर अथवा कवि की वाणी में रमी है 'श्रद्धा' और 'विधि' में 'वित्त' के विचार से। तभी तो महर्षि मारीच का निर्देश है—

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥२९॥७॥

महर्षि ने साध्वी शकुन्तला को 'श्रद्धा', राजा दुष्यन्त को 'विधि' और पुत्र 'सर्वदमन' को 'वित्त' के रूप में क्यों देखा, इसका कुछ तो कारण होगा। बताते हैं। ध्यान से सुनें—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे,
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्छति मलोपहतप्रसादे,
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥३२॥७॥

मलिन दर्पण में जैसे छाया का प्रवेश नहीं होता वैसे ही मलिन 'विधि' में 'श्रद्धा' का निवास नहीं होता। इसे आप किसी ऋषि का शाप ही समझ लें पर इस शाप को अमिट न समझें। इसका लोप हो जाता है स्मृति-लाभ अथवा अभिज्ञान से। इसलिए अभिज्ञानशाकुन्तल में 'अभिज्ञान' का इतना महत्त्व है। रही 'वित्त' की बात? सो भी विदित ही है उसी ऋषि की वाणी में—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥३३॥७॥

'वित्त' के द्वारा 'सर्वदमन' और 'सर्वभरण' कैसे होता है इसकी कुंजी भी इसी में दे दी गई है। 'विधि' के विना भरण नहीं होता निदान लोकभरण के लिए आवश्यक है कि 'श्रद्धा', 'विधि' और 'वित्त' का 'त्रितय' संयोग हो। यही महर्षि मारीच का भाव है।

अन्तःपुर—अन्यथा सामान्यतः देखा जाय तो भी राजा दुष्यन्त का प्रथम उल्लास है—

अहो ! मधुरमासां दर्शनम् ।
शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥१६॥१॥

फलतः परिणाम भी होता है यह—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥५॥६॥

अभिज्ञान शाकुन्तल में 'अन्तःपुर' की यही बस एक झाँकी है । इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं हम दुष्यन्त को अपनी देवियों के बीच नहीं पाते हैं । सबसे पहले हमें राजमाता की आज्ञप्ति का दर्शन होता है । करभक कहता है—

जयतु जयतु भर्ता । देव्याज्ञापयति । आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्त-पारणो म उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषावश्यं संभावनीयेति ॥

[द्वितीय अंक, १७ के पूर्व]

फिर राजमाता का महत्त्व कदाचित् यही रह जाता है कि उनके द्वारा अन्तः-पुर का शासन होता रहता है और राजा गृहचिन्ता से मुक्त रहता है । माता के अतिरिक्त दो देवियों का काम और आता है । पंचम अंक का आरम्भ होता है विदूषक के इस कथन से—

जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति ।

राजा पहले तो—

अहो रागपरिवाहिणी गीतिः ।

कह कर प्रशंसा करता है और फिर स्मिति के साथ कहता है—

सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः । तदस्या देवीं वसुमतीमन्तरेण महदुपालम्भनं गतोऽस्मि । सखे माधव्य मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका । निपुणमुपालब्धाः स्म इति ।

विदूषक के भीति दिखाने पर फिर कहता है—

गच्छ । नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम् ।

अगले अंक में देवी वसुमती का प्रकरण आता है पर उनका भी दर्शन नहीं मिलता । चतुरिका का रोना है—

स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः ।

राजा यह सुनकर सला विदूषक से अनुरोध करता है—

वयस्य ! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च । भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु ।

सौभाग्य कहिए कि इसी समय प्रतीहारी के हाथ में पत्र देखकर देवी लौट गईं और राजा को सुख से कहना पड़ा—

कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति ।

उद्यानलता—राजा दुष्यन्त के गृहस्थ-जीवन की यह झाँकी केवल इसीलिए है कि आप इसे भी कुछ देख लें और 'अग्निमित्र' तथा 'विक्रम' के जीवन के साथ इसकी तुलना करें । कीजिएगा क्या यहाँ 'वनलता' का राज्य है कुछ 'उद्यानलता' का नहीं । किन्तु विदूषक की भाषा में लो—कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि । यहाँ तक कि अन्त में तपस्वी कण्व को भी शकुन्तला से समझा कर कहना पड़ा—

वत्से ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

एवं शकुन्तला को कण्व से—

तपश्चरणपीडितं तातशरीरम् । तन्मातिमात्रं मम कृत उत्कण्ठस्व ।

'तपोवन' हो वा 'उपवन' स्नेहवृत्ति अपना रंग जमा लेती और वनदेवता को भी रुला देती है ! पर 'आश्रम' की स्नेहलता 'अन्तःपुर' में नहीं पनपती, फिर किसी 'आश्रम' में ही वह सफल होती है । सच है, नेत्र का निर्वाण वल्कल में है बनात में नहीं ।

चेत—अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रसंग में भूलना न होगा कि वस्तुतः यह कालिदास का सर्वस्व है । इसके प्रणयन से उनको कुछ ऐसी शान्ति मिली कि फिर किसी रचना की लालसा न रही और केवल नीललोहित की उपासना ही

शेष रही। कवि को इसके निर्माण में कितना काम करना पड़ा और इसे कैसा बनाने का उद्योग हुआ, इसका सूत्र सूत्रधार के इस कथन में है—

आर्ये ! कथयामि ते साधु भूतार्थम्।
आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥२॥१॥

बस, इसी अप्रत्ययी चेत की क्रिया अभिज्ञानशाकुन्तल में भी है। यहाँ तक कि राग में मग्न हो जाने के कारण स्वयं सूत्रधार को चेत नहीं रह जाता और नटी से पूछता है—

आर्ये ! साधु गीतम्। अहो रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।

यह तो सफलता की सूचना रही। प्रश्न है—

तदिदानीं कतमत्प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयामः।

नटी उत्तर देती है—

नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगे अधिक्रियतामिति।

सूत्रधार के 'तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः' को लेकर कवि जो इतना बढ़ गया उसका कारण है बिन्दु में समुद्र भरना। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' सचमुच अपूर्व नाटक है। विक्रमोर्वशीय की अपूर्वता से यह अपूर्वता कुछ और ही है—निराली नहीं अद्वितीय। चित्तवृत्ति का ऐसा विलास अन्यत्र कहाँ ? 'चेत' और 'राग' का यह लगाव निश्चय ही अपूर्व है। चेत कहता है—

भवतु। तामेव पश्यामि। सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः करिष्यति।

किन्तु 'राग' कुछ और ही दृश्य दिखाता है—

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि।

दोनों के सम्मिलन पर सम्मिलन के अभिज्ञान की दशा यह होती है—

चेत—तेन हि ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम्।
राग—नास्य विश्वसिमि। आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु॥

[सप्तम अंक]

सानुमती ने ठीक ही तो कहा था—

अतएव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत् । अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते । कथमिवैतत् ।

अभिज्ञान की अपेक्षा किसी सच्चे 'अनुराग' को नहीं होती। वह अन्तःकरण का पुजारी है। तभी तो स्वयं दुष्यन्त कहता है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तय. ॥२०॥१॥

विनय—किन्तु 'आर्य' मन की यह पकड़ है, सामान्य मन की नहीं। अन्तःकरण जब राग से आच्छादित हो जाता है तब अपनी मर्यादा को खो देता है और भूल जाता है 'विनय' को। शकुन्तला इसी अवसर पर दुष्यन्त को सचेत करती है—

पौरव ! रक्ष विनयम् । मदनसन्तप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि ।

दुष्यन्त समझकर भी नहीं समझता और शास्त्र से समझा लेता है—

भीरु ! अलं गुरुजनभयेन । दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः । पश्य—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो राजर्षिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥२१॥३॥

इस समाधान से काम तो बन गया पर बात न बनी। अधर्म तो न हुआ पर विनय की रक्षा न हो सकी। फलतः अनुसूया को कहना पड़ा—

यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्य जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम् ॥

एवं सरोष हो स्वयं शकुन्तला का फटकारना—

अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे । क इदानीमन्यो धर्मकंचुक-प्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ।

सच है धर्म के पेट में बहुत कुछ समा जाता है और उसकी छाल से काम भी बहुत निकलता है, पर 'विनय' तो विनय ही है न। अतः उसकी उपेक्षा का दुष्परिणाम सभी को भोगना होगा। पंचम अंक में इसी भोग का आरम्भ है। शकुन्तला का 'रोष' 'विषाद' बन गया और आत्मग्लानि में पश्चात्ताप हुआ—

सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि । याहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोहृदयविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता ।

रहस्य—रोती और रोकर वह अपने अविनय को धोती है । उधर दुष्यन्त की आँख खुलती है तो फिर उन्हें उसी शूल का सामना करना पड़ता है । विदूषक से कलप कर कहते हैं—

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः ।
मनसिजेन सखे ! प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥ ८ ॥ ६ ॥

और वियोग में यहाँ तक कलपते हैं कि सानुमती को उनको देख कर कहना ही पड़ता है—

पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः ।

समझने की बात है कि दुष्यन्त का यह विरहमार्ग अपूर्व और परस्पर विरुद्ध क्यों है । पहले कुछ, अब कुछ ! सो स्वतः दुष्यन्त भगवान् मारीच से पूछता है—

भगवन् ! इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य । पश्चादंगुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम् । तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति ।

मारीच का निराकरण है—

दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति ।

परन्तु यह शाप है क्या ? 'अभिज्ञान' से इसका सम्बन्ध क्या ?

शाप—शाप के सम्बन्ध में जान रखने की बात यह है कि यह 'सुलभकोप' महर्षि दुर्वासा का शाप है और दिया गया है 'अविनय' के कारण । उचित तो यह था कि शकुन्तला उस दिन अधिक सतर्क रहती, क्योंकि उसी दिन 'इष्टि' की समाप्ति थी । किन्तु वह अपने कर्तव्य को भूल गई और उसी दिन विसर्जित राजा दुष्यन्त की चिन्ता में मग्न हुई, और यहाँ तक प्रिय के ध्यान में डूब गई कि 'अतिथि' का ध्यान ही नहीं रहा । दुर्वासा को 'अयमहं भोः' कहना पड़ा । जब शून्य हृदय पर कोई प्रभाव न पड़ा तब भुन कर कहना पड़ा—

आः अतिथिपरिभाविनि !

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स-
न्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥१॥४॥

'तपोधन' और 'प्रमत्त' पर ध्यान दें और देखें कि वास्तव में इस शाप का रहस्य क्या है । शकुन्तला ने दुष्यन्त को देख कर कहा था—

किंनु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता ।

किन्तु मन की यह बात मुँह से बाहर न निकली और अपने आप को इससे सचेत न कर सकी । इसका कुछ कारण भी था । इसका जन्म ही 'विकार' से हुआ था 'संस्कार' से नहीं । भला जिसकी जननी ही 'नियमविघ्नकारिणी' मेनका हो वह संस्कार के द्वारा अपने को कहाँ तक बचा सकेगी ? राजा के 'सर्वथाप्सरःसंभवैषा' के उद्गार को दृष्टि में रख कर उनके आचरण पर ध्यान दीजिए और यह समझ रखिए कि 'प्रमत्तः' का अप्रस्तुत उन्हीं के लिए है ।

परिस्थिति—तपोवन में घुसा नहीं कि 'सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि' का तेहरा आशीर्वाद मिला और साथ ही यह भी कहा गया कि शकुन्तला अतिथि-सत्कार करेगी । वैखानस का वचन है—

इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः ।

राजा ने भी 'भवतु' कह तपोवन में प्रवेश किया और 'अग्नि' को 'रत्न' पा हृदय से लगा लिया । शकुन्तला भी करती तो क्या करती ?

नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः

का वहाँ भी योग था और फलतः था—

अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः ।

जिसमें भी आग की आहुति हुई ऋषिकुमारों की यह प्रार्थना—

तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति । तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति ।

सबका घुला-मिला परिणाम यह हुआ कि शकुन्तला 'आपन्नसत्त्वा' हुई और

तपोधन अतिथि के कोप का कारण बनी। राजा को मनमाना फल सहसा मिल गया, अतएव चित्त पर उसकी गहरी छाप भी न पड़ी। दृष्टिपथ में आई भी तो 'वल्कल' में वनबाला के रूपमें नहीं, अपितु 'क्षौम' में अवगुंठनवती नागरी के रूप में। प्रतीहारी की दृष्टि पड़ी तो बोल उठी—

देव कुतूहलहृगर्भः प्रहितो न मे तर्कः प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते।

राजा ने दर्शन तो पहले ही कर लिया था और पूछा भी था—

कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥१३॥५॥

जिज्ञासा को अधिक स्थान न था। निदान निश्चय कर लिया—

अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।

बस, चित्त फिरा तो बस फिरा ही रह गया। उसको फेरने का जो यत्न हुआ तपोधनी था, नागरिक नहीं। निदान वह फिर न सका। चित्त की दशा तो यह थी और शार्ङ्गरव का यह प्रवचन—

यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायंस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम्।

कुतः—

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः
शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥१५॥५॥

नाम के अनुसार काम तो कर लिया पर कर दिया सारा गुड गोबर। महर्षि कण्व ने कहा क्या, चेता दिया था—

शार्ङ्गरव! इति त्वया मद्वचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः:-

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥१७॥३॥

जो हो, कण्व का यह शिष्य दुर्वासा का गण दिखाई देता है और अन्त में अपना रूप प्रगट भी कर देता है। किस कठोरता से कहता है—

किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ?

शकुन्तला का यह दुर्दैव साथ न होता तो कदाचित् राजा का मन न मिलता। फिर भी शकुन्तला की सचाई का प्रभाव उसके चित्त पर पड़ा और वह इस चिन्ता में डूब गया—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मां हृदयम् ॥३१॥५॥

हृदय का हृदय से सामना हुआ तो हृदय हृदय का हो गया पर चेत किसी अभिज्ञान के बिना ठिकाने न आ सका। 'अभिज्ञान' मिला तो झट सारी घटना सामने आ गई। इसे शाप कहें वा चित्त का चमत्कार, पर कृपया भूल न जायँ कि कालिदास चित्त का पक्का पारखी है और भली भाँति जानता है कि वह एक अवस्था में जो कुछ करता है दूसरी अवस्था में उसे भूल भी जाता है और फिर उसे तभी जान पाता है जब संसर्ग से उसी अवस्था में आ जाता है। इसे ऋषि का शाप कहें वा चित्त का गुण पर ऐसा होता अवश्य है। 'प्रमत्त' का उल्लेख इसीलिए तो किया गया है ? यदि जीवन में हम इस शाप का अनुभव कर पाते तो हमारी कठोरता बहुत कुछ कम हो जाती और हम पहले से कहीं अधिक उदार बन जाते। अभिज्ञानशाकुन्तल इसी 'चेत' का अभिनय है जो कण्व का भक्त है दुर्वासा का नहीं।

विश्लेषण—अभिज्ञानशाकुन्तल में वास्तव में तीन खंड हैं जिन्हें हम कई दृष्टियों से देख सकते हैं। पहले ऋषि-दृष्टि को लीजिए और 'शाप' को दुर्वासा का प्रतीक मान लीजिए तो निश्चय ही प्रथम चार अंक कण्व के हुए और मध्य के दो अंक शाप अथवा दुर्वासा के। अन्तिम अंक मारीच का है ही। निदान उसकी स्वीकृति में कोई बाधा नहीं। प्रथम को हम शकुन्तला, द्वितीय को दुष्यन्त और तृतीय को भरत के रूप में पाते हैं और फलतः 'श्रद्धा', 'विधि' और 'वित्त' का प्रतीक समझते हैं। कालिदास ने इस नाटक का निर्माण बहुत कुछ सोच-समझ कर किया है और यह प्रत्यक्ष दिखा दिया है कि हमारे जीवन में प्रेय, हेय और श्रेय क्या है। प्रथम भोग-भूमि है तो द्वितीय दंड-भूमि। तृतीय 'सिद्धि-

भूमि' तो है ही। कवि ने कण्व के आश्रम में 'भूतार्थ' का रंग दिखाया है तो हस्तिनापुर में 'स्वार्थ' का। 'परमार्थ' का निवास है मारीच के आश्रम हेमकूट में। बात ही कुछ ऐसी है कि कवि की बात-बात में कुछ कला है। उसको खोल दिखाना कवि का काम नहीं। उसका दर्शन करना आप का धर्म है। कवि और कुछ नहीं अपने 'अभिज्ञान' में दैव को अधीन कर मानव को दिव्य बनाता है और उसी के द्वारा लोक तथा परलोक में मंगल का विधान करता है। दुष्यन्त के इस उल्लास पर ध्यान तो दीजिए—

मातले! वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथा हि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥८॥७॥

इतना ही नहीं, मातलि भी भलीभाँति देखकर 'हाँ' भरता और कहता है—

साधु दृष्टम्। अहो उदाररमणीया पृथिवी।

'उदाररमणीया पृथिवी' पर आकर शकुन्तला और दुष्यन्त ने क्या किया? रमण? कहाँ की बात? यह तो इन्द्रलोक के प्राणी की दृष्टि है। दुष्यन्त और शकुन्तला की नहीं। मारीच कण्व के पास यों ही सन्देश नहीं भेजते हैं। नहीं उसका कुछ अर्थ है। क्षमा और उपकार की ऐसी मूर्ति कहाँ? जहाँ लता भी वनिता के रूप में पूजी जाती और दुष्यन्त भी प्रेम का पात्र ठहरता है। निश्चय ही अन्तः-पुर में इस 'वन-ज्योत्स्ना' को स्थान नहीं। इसे तो आज भी उस 'गर्भमन्थरा मृगवधू' का ध्यान है जिसके 'अनघप्रसव' का इसे पता नहीं। और—

वत्स! किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि। अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति। निवर्तस्व तावत्।

फिर ऐसे 'तात' और ऐसे 'सहवासी' से अलग वह कैसे रह सकती है! उसे 'तात' के उस आदेश का भी तो पालन करना है जिसे विदा के समय अपने से प्राप्त किया था। तात ने सान्त्वना के लिए दुहिता से कह तो दिया था—

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥११॥४॥

स्यात् शकुन्तला के सामने ऐसा कुछ आभोग था भी, नहीं तो आश्रम से उसे अलग ही क्यों होना पड़ता ? किन्तु ऐश्वर्य के इस आलोक में पहुँच कर देखा—

आर्यस्य परिणय एव सन्देहः । कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा ?

यह सपना भी गया और आँख खुली तो देखा कि पतिदेव 'प्रवर्तताम् प्रकृति-हिताय पार्थिवः' की प्रार्थना कर रहे हैं और चाहते हैं 'पुनर्भव' से मुक्ति । निश्चय ही यह 'राजधानी' की बात नहीं 'आश्रम' की भूमिका है । हम इस 'भूमिका' में दुष्यन्त को देख नहीं पाते पर कह तो सकते हैं कि दुष्यन्त उस आश्रम को कभी नहीं भूल सकता जिसका कुलपति कण्व है । शकुन्तला से मिला ही वह इस विश्वास से था—

सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः करिष्यति ।

और अब वह अवश्य करेगी, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं । कण्व कृपा का नाम है, करुणा का धाम—हृदय ! जहाँ पहले 'नेत्रनिर्वाण' मिला था वहीं अब 'निर्वाण'—

शिवास्ते पन्थानः सन्तु ।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के पश्चात् फिर कभी कवि की लेखनी उठी और किसी काव्य का निर्माण हुआ ऐसा मानने को जी नहीं चाहता । यह तो कालिदास का सर्वस्व है न ? फिर इसमें क्या नहीं है जिसकी प्राप्ति की लालसा में कवि कुछ और भी लिखता ? रघुवंश में कवि 'कवियशःप्रार्थी' था और था इसी से अपनी ही दृष्टि में 'मन्द' भी । उसकी प्रार्थना सुनी गई और वह अद्वितीय काव्य बना किन्तु उससे जी न भरा । 'अग्निवर्ण' को पा कर किसको सुख होगा ? निदान हृदय को मथ कर फिर लेखनी उठी और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का जन्म हुआ । 'वंश' ही नहीं 'विश्व की झाँकी' इसमें मिली, और कवि ने सचेत कर सूत्रधार के द्वारा विश्व को यह 'सन्देश' दिया—

तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः।

कारण, इसमें 'भोग'–'भाग्य'–'भरोसा' का अभिनय है और है 'चेत' की माया या वासना का खेल। निदान सावधानी से खेलना चाहिए इसे।

अधिकारी—अस्तु अधिकारी का उल्लेख भी स्पष्ट है—

आर्ये! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्।

पर 'अभिरूप' का अर्थ क्या? 'अभिरूपे बुधे रम्ये' में से आप 'बुध' को भी लें और 'रम्य' को भी तो कदाचित् कवि का भाव खुले। कवि ने अन्यत्र भी इसका प्रयोग किया है। सानुमती कहती है—

यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालेखितुकामो भवेत्।

'अभिरूप' का अर्थ यहाँ 'रम्य' है। 'रम्य' और 'बुध' दोनों का बोध अभिरूप में कैसे होता है इसको जान लेने से इसका रहस्य खुल जायगा कि वस्तुतः अभिज्ञानशाकुन्तल का अधिकारी कौन है। 'रूप' अपने आप किसी को नहीं भाता, वह भाता है चित्त की प्रक्रिया अथवा अन्तःकरण के लगाव से। किसी पदार्थ का जो आदर्श आप के हृदय में स्थापित है उसके अनुरूप जो रूप होगा वही आप के लिए रम्य और सहज ही बोधगम्य होगा। अतएव उसके ग्रहण में संस्कार का भी योग होगा। इसी से विषय की दृष्टि से जो रम्य है वही विषयी की दृष्टि से 'बुध'। वास्तव में इसका भाव है मर्मी या तत्त्वदर्शी। यथार्थ बुद्धि जिसकी प्रखर है और जो दूसरे को ताड़ सकता है वही इसका अधिकारी है। बोध और राग के बिना इसमें पैठ नहीं। यही है इसका मर्म।

अन्तःकरण—यदि ध्यान से देखा जाय तो अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में 'संग', द्वितीय में 'काम', तृतीय में 'भोग', चतुर्थ में 'चिन्ता', पंचम में 'प्रमाद', षष्ठ में 'पश्चात्ताप' और सातवें में 'सिद्धि' का प्रतिपादन हुआ है। कवि ने सारी बातों को किस प्रकार लिया और मानव चित्तवृत्ति को कब कैसा रूप दिया आदि प्रश्नों के विश्लेषण का यह अवसर नहीं, पर प्रसंगवश इतना तो कहना ही होगा कि वास्तव में यह चित्तवृत्ति का ही खेल है। इसमें यदि आपने 'चेत' और 'हृदय' को नहीं परखा तो कवि का मानस आप से ओझल ही रह गया और आपने केवल उसके रूप का ही रस लिया उसके अवगाहन का आनंद नहीं। कण्व के आश्रम में काम की वासना सहसा प्रबल हो उठती है और राजा

को अन्तःकरण की शरण लेनी पड़ती है। बात है भी यही। कण्व का संकल्प ही इस वासना को मुखर बनाता है और प्रत्येक पात्र की प्रवृत्ति ही इसमें योग देती है। अतएव हम इसे 'प्रवृत्ति' अथवा आजकल की सरस्वती में प्रकृति-पुकार ही कह सकते हैं। किन्तु 'आश्रम' की प्रकृति-पुकार के कारण इसका रूप भी कुछ और ही है। इसी से इसमें 'अन्तःकरण' को प्रमाण भी माना गया है। सूत्रधार ने जो प्रस्तावना में 'प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः' का उल्लेख किया है उसका कुछ अर्थ है। और प्रयोजन है कुछ 'अहो रागवद्धचित्त-वृत्ति' का भी। साथ ही अन्त में जो 'मातलि' ने माधव्य की दारुण व्यवस्था के द्वारा दुष्यन्त को उद्बुद्ध किया है उसका भी कुछ रहस्य है। इस रहस्य को भली भाँति अवगत करने के निमित्त यह जान लेना आवश्यक है कि अभिज्ञान-शाकुन्तल के प्रत्यक्ष ही तीनखंड हैं और तीनों की मर्यादा भी अलग अलग है। कण्व का आश्रम 'गुरुकुल' है तो मारीच का आश्रम 'पितृकुल' और हस्तिनापुर तो निर्विवाद 'राजकुल' है ही। इन तीनों खंडों का अध्ययन ध्यान से करेंगे तो देखेंगे कि वास्तव में यह चित्तवृत्ति की तीन दशाएँ हैं। कवि ने किस प्रकार 'चेत' की चेतना को स्पष्ट किया है, इसे जान लेना कुछ बहुत कठिन नहीं। कण्व के आश्रम में 'सात्विक' वृत्ति का उदय होता है। परंतु हम यहाँ विशेष रूप से जो कुछ कहना चाहते हैं यह है—

जिस जाग्रद् अवस्था में प्रमा ज्ञान होता है, वह जाग्रज्जागर है, जिसमें भ्रम होता है, वह जाग्रत्स्वप्न है और कामादि विषयों में आसक्त होने पर जिस जागर में विवेक नहीं होता वह जाग्रत्सुप्ति है। अथवा मादक द्रव्य का पान करने पर जिसमें वक्तव्यावक्तव्य, भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय का विवेक लुप्त हो जाता है, वह जाग्रत्सुषुप्ति है। मुख्यसुषुप्ति और जाग्रत्सुषुप्ति में निर्विवेकस्वभावत्व समानधर्म है।

[बृहदारण्यकवार्तिकसार, अच्युतग्रंथमाला, काशी, पृ० २१२६]

'वार्तिक' है—

> प्रमितिर्जागरे जाग्रद्भ्रमः स्वप्नोऽथ मूढता।
> पानादिजन्या सुप्तिस्यादेवं जागरणं त्रिधा ॥१६५॥

[चतुर्थ अध्याय, तृतीय ब्राह्मण]

अर्थात् 'प्रमा,' 'भ्रम' और 'मूढ़ता' के द्वारा हम 'जागरण' को भी परख सकते हैं और सरलता से कह सकते हैं कि यह वास्तव में 'जागर' है, 'स्वप्न' है किंवा 'सुप्ति' है। इस कसौटी पर कसने से व्यक्त होता है कि दुष्यन्त की स्थिति इन तीनों अवस्थाओं का परिचय देती है। जाग्रज्जागर की दशा तो मारीच-खंड में है और जाग्रत्स्वप्न की कण्व-खंड में। राजकुल-खंड में उसके चित्त की तीसरी अवस्था जाग्रत्सुप्ति है। वह राजधर्म की भूमि में जागता है पर कामधर्म की भूमि में सोता है। इसी से उसमें 'प्रसाद' या 'विषाद' नहीं पर 'अवसाद' अवश्य है।

राजलोक—इधर इतना संकेत भर कर अब हम संक्षेप में यह दिखा देना चाहते हैं कि 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में राजलोक है कैसा। आरम्भ में ही देखने को यह मिलता है कि सूत राजा को 'पिनाकी' के रूप में देख रहा है। नाटक में इसका भी महत्त्व है पर राजदृष्टि से चाटुकारिता के अतिरिक्त इसे और क्या कहा जाय? इसके अनन्तर जब द्वितीय अंक में सेनापति सामने आता है तब विदूषक को आँख मारता और 'मृगयाविहारी' राजा की प्रशंसा में लग जाता है। विदूषक और सेनापति की यह लीला यह स्पष्ट बताती है कि 'ठकुरसुहाती' क्या है और किस प्रकार राजा की हाँ में हाँ मिलाना ही राजकर्मचारी का धर्म हो जाता है। अन्तःपुर का द्वन्द्व भी अपनी झलक दिखा जाता है। परंतु सबसे अधिक सुहानी बात होती है 'धीवर' के प्रसंग में। 'रक्षी' उस समय भी बहुत कुछ 'भक्षी' का काम कर जाते थे और पानपत्ते के लिए कुछ ले लेना पाप नहीं समझते थे। और उनका सरदार राजश्याल भी कुछ कम नहीं था। उसने देखा कि धीवर को पैसा हाथ लगा और राजा का अनुग्रह भी उस पर हो गया तो उससे दोस्ती गाँठ ली और कादम्बरी का मार्ग ग्रहण किया। हाँ, ससुराल की दासियाँ भी कुछ अपनी सी ही कर रही हैं। उत्सव रोक दिया गया है पर उन्हें वसन्त की ही सूझ रही है। तात्पर्य यह कि कवि की दृष्टि इधर भी पूरी रही है और उसने बाहरी तथा भीतरी सभी ओर से 'अभिज्ञान' को पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। राजनीतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अभिज्ञानशाकुन्तल का अध्ययन कितना हो चुका है इसके कहने से कोई लाभ नहीं। रोना तो इस बात का है कि अभी तक इस ग्रंथ का संपादन भी बढ़िया न हो सका। जो हो, इतना तो प्रत्यक्ष ही

है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रवेशक और उसी प्रकार विष्कम्भक भी इस दृष्टि से बड़े काम के हैं, और फलतः कवि ने उनकी रचना भी विशेष दृष्टि से ही की है। अस्तु हम देखते हैं कि इन बाहरी बातों का विधान भी उसमें खूब किया गया है और निर्वाह भी इनका वैसा ही उदार और गम्भीर हुआ है।

गूढ लीला—सारांश यह कि अभिज्ञानशाकुन्तल की सफलता कला की दृष्टि से ही नहीं है। सच कहें तो उसमें क्या नहीं है। उसमें मानव-जीवन का जैसा सरल, सरस और सहज स्रोत बहा है वह अन्यत्र दुर्लभ है। रस तो उसका बहुतों ने लिया है और उसको सराहा भी खूब है, किन्तु जहाँ तक इस जन को पता है उसके स्वर की पहिचान बहुतों को नहीं हुई है। विरलों ने ही उसे ताड़ा है पर दिखाया किसी ने भी नहीं है कि उसका रहस्य है क्या? दुष्यन्त कण्व के आश्रम में तो बड़े अभिमान से कहता है—

> असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
> सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥२०॥१॥

पर जब स्वयं अपने घर में आ जाता और उसी बाला को पा असमंजस में पड़ जाता है तब उसको इस अन्तःकरण की नहीं सूझती, पर वह अन्तःकरण अपना काम किया ही करता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका हृदय उसको कचोटता और सुख की साँस नहीं लेने देता है। विवश हो वह अपने गुरु से पूछता है—

> मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
> दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ॥२६॥५॥

राजगुरु का समाधान भी वैसा ही होगा जैसा राजपुरुष का होता है, पर सामाजिक जानता और पंडित पहिचानता है कि राजा ही 'मूढ' दशा में है।

७—*कुन्तलेश्वरदौत्य*

कालिदास के प्रमुख ग्रंथों की मीमांसा हो गई। अब उनके केवल दो ही ग्रंथ ऐसे रहे जिनके विषय में कुछ निवेदन कर देना आवश्यक है। काव्य की दृष्टि से इनका महत्त्व भले ही न हो पर इतिहास और जीवन की दृष्टि से तो कभी

इनकी उपेक्षा हो ही नहीं सकती। यहाँ तक कि कालिदास की अनूठी रचना 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' का दर्शन किसी को अभी तक नहीं मिला पर कोई ऐसा इतिहास नहीं जो आज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के प्रसंग में उसका उल्लेख न करे अथवा कालिदास के प्रकरण में उसका संकेत न करे। इस जन ने 'कालिदास का दूत कर्म' शीर्षक एक निबंध लिख कर यह दिखाने की चेष्टा की है कि वास्तव में 'कुन्तलेश्वर' है कौन। तो भी संक्षेप में यहाँ कह देना यह है कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह किसी प्रकार भी मान्य नहीं ठहरता कि यह कुन्तलेश्वर प्रभावती गुप्ता का पुत्र या चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का दौहित्र है। दौहित्र प्रवरसेन का ऐसा व्यवहार कालिदास के प्रति संभव नहीं और न नाना चन्द्रगुप्त की वैसी कामना। हो न हो, इसका सम्बन्ध कुन्तल के कदम्बकुल से ही है। वाकाटक और कदम्ब का संघर्ष ही इसका कारण हो सकता है। और न भी हो तो भी इतना तो मानना ही होगा कि प्रवरसेन उत्तर की शाखा में था जिसकी राजधानी वत्सगुल्म थी। उसको 'कुन्तलेश' बनाना ठीक नहीं। निश्चय ही इसकी छानबीन में ढिलाई हुई है और विवेक की अपेक्षा भावना से अधिक काम लिया गया है। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि काव्य के क्षेत्र में उसका कोई महत्त्व नहीं। और हो भी तो उसे कहे कौन? किसी के सामने उसका रूप भी तो हो। निदान कालिदास और विक्रमादित्य के संबंध का ज्ञापक समझ हम उसे यहीं छोड़ देते हैं और आशा करते हैं कि कभी पूरा उपलब्ध होने पर उसकी पूरी मीमांसा कर सकेंगे।

८—ऋतुसंहार

रह गया दूसरा ग्रंथ 'ऋतुसंहार'। सो अवश्य ही यह कालिदास की रचना है और है उनके जीवन का दीपक। ऋतुसंहार की जाने क्यों इतनी उपेक्षा की गई है! 'शृंगार' के अतिरिक्त उसमें कुछ और भी तो है? उसका मर्म समझा क्यों नहीं जाता? और क्यों उसे बालप्रयत्न कह कर टाल दिया जाता है? स्मरण रहे, वह कवि-जीवन की ऐसी झाँकी है जो उसकी रचनाओं में कहीं अन्यत्र मिलने की नहीं। वह कहता है—

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतवारिसंचयः।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये ॥१॥१॥

'प्रिये' से कवि को किस 'प्रिया' का काम लेना है कि श्री गणेश में ही 'अभ्युपशान्तमन्मथ' का उल्लेख हुआ और यह ग्रीष्म आ गया का उद्घोष ? यह 'प्रिया' अपनी पत्नी के अतिरिक्त क्या कोई अन्य स्त्री है ? ऐसा तो नहीं लगता। उसका यह भी तो कहना है—

नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिसन्निभैः।
क्वचित्सगर्भप्रमदास्तनप्रभैः समाचितं व्योमघनैः समन्ततः ॥२॥२॥

कह तो नहीं सकता पर अनुमान इसी पक्ष में है कि यह प्रमदा भी व्यक्तिगत ही प्रमदा है कुछ जातिमात्र नहीं। जातिमात्र मानने से प्रभा का रंग कैसे दृष्टिगत होगा ? और यदि विविधता ही इष्ट है तो 'गर्भ' का निर्देश क्यों ? अस्तु, हमारी दृष्टि में तो यही आता है कि यह अवश्य ही कवि की पत्नी है, कोई दूसरी नायिका नहीं। साथ ही एक बात और भी चिन्त्य है। तृतीय सर्ग अथवा 'शरद्वर्णन' में इस 'प्रिया' का कहीं उल्लेख नहीं। आदि, मध्य, अवसान कहीं भी नहीं। आरम्भ में कवि परिचय देता है—

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा,
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरा तनुगात्रयष्टिः,
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥१॥३॥

और अन्त में शुभ कामना करता है—

विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी
विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना।
कुमुदरुचिरकान्तिः कामिनीवोन्मदेयं
प्रतिदिशतु शरद्वश्चेतसः प्रीतिमग्र्याम् ॥२६॥३॥

'नववधू' 'कामिनी' बनी तो 'नूपुरनाद' और 'तनुगात्र' आँख से ओझल हो गए और बस 'चेत' की बात सामने रह गई। किन्तु 'हेमन्त' में यह बात नहीं रही। पहले तो नहीं, पर आगे चल कर मध्य में प्रिया से कहा गया—

पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः ।
प्रिये प्रियंगु प्रियविप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव ॥१०॥४॥

कालिदास की प्रिया का नाम 'प्रियंगुमंजरी' था या नहीं, इसे कौन कहे, पर सूझ अवसर की है, इसमें सन्देह नहीं। 'विप्रयुक्ता' में भी तो कुछ कहा गया है? इसके अनन्तर जिस 'कामरस' का वर्णन है उसे कालिदास की कविता में अन्यत्र भी देखा जा सकता है और यहाँ भी। अतएव उसका विशेष महत्त्व नहीं। विशिष्ट बात यह है कि कवि 'शिशिर' के प्रकरण में कहता है—

प्ररूढशाल्यंशुचयैर्मनोहरं क्वचित्स्थितक्रौञ्चनिनादराजितम् ।
प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं वरोरु कालं शिशिराह्वयं शृणु ॥१॥५॥

फलतः इसी में कवि की कामना फूलती है और वह उल्लास में लिख बैठता है—

प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालीक्षुरम्यः
प्रबलसुरतकेलिर्जातकंदर्पदर्पः ।
प्रियजनरहितानां चित्तसंतापहेतुः
शिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम् ॥१६॥५॥

कवि को सबसे बढ़िया यही ऋतु क्यों लगा इसका कारण 'प्रबलसुरतकेलि' अथवा भोग ही कहा जा सकता है। वसन्त को तो कवि ने 'योद्धा' के रूप में देखा है और किस रंग में आ कर कह दिया है—

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥२॥६॥

निदान यह परिरमण का काल है परिभोग का नहीं। 'प्रिये' का सबसे अधिक प्रयोग इसी सर्ग में है। आह्लाद उमड़ा पड़ता है और इस ऋतु में पृथिवी ही 'नववधू' बन गई है। देखिए और 'शरत्' के साथ तौल कर देखिए। कवि कहता है—

आदीप्तवह्निसदृशैः मरुतावधूतैः सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः ।
सद्यो वसन्तसमये हि समाचितेयं रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः॥१६॥६॥

कहिए 'काशांशुका' और 'रक्तांशुका' में 'नववधू' को प्रिय कौन अधिक है और कौन आप को, 'ऋतु' या 'भूमि'? पहली आती तो दूसरी भाती है।

उद्दीपन—ऋतुसंहार में कवि के सामने प्रकृति है और है कामिनी। कामिनी किंवा अपनी 'प्रिया' के साथ कवि प्रकृति का आनन्द ले रहा है और उसे भाँति भाँति से देखता है। देखता ही नहीं देखने के लिए लालायित भी करता है। नववधू का रूप तो सामने आ ही चुका है। अब राजा का भी रूप देखिए। कवि किस उल्लास से कहता है—

> ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः।
> समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥१॥२॥

'उद्धतद्युति' 'जलदसमय' के साथ 'वसन्तयोद्धा' को भी तो देखिए और कृपया भूल न जाइए कि कवि अपनी प्रिया से कह रहा है—

> प्रफुल्लचूतांकुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः।
> मनांसि वेद्धुं सुरतप्रसंगिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ॥१॥६॥

'वसन्तयोद्धा' की कृपा से अनंग विजयी हुआ तो कवि की भी यह शुभ कामना हुई—

> आम्रीमञ्जुलमञ्जरीवरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
> र्ज्या यस्यालिकुलं कलंकरहितं छत्रं सितांशुः सितम्।
> मत्तेभो मलयानिलः परभृतो यद्बन्दिनो लोकजि—
> त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः॥२८॥६॥

'कलंकरहित छत्र' का कहीं यह अर्थ न समझ लें कि किसी को अनुताप नहीं। नहीं, तपस्वी पथिक की दशा तो देखिए। कैसी दयनीय है यह दशा!

> नेत्रे निमीलयति रोदिति याति शोकं
> घ्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः।
> कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्ति—
> र्दृष्ट्वाध्वगः कुसुमितान्सहकारवृक्षान् ॥२६॥६॥

'प्रवासी' की दशा का उल्लेख भी हृदयद्रावी है। कवि की दृष्टि कभी उसकी उपेक्षा नहीं करती। सच तो यह है कि इस संयोग में जो वियोग की बिजुली कौंध जाती है वही मेघदूत के मेघ को सामने लाती और कवि की लेखनी से रस-धारा बरसाती है। वर्षाऋतु की दशा तो यह है—

तडिल्लताशक्रधनुर्विभूषिताः पयोधरास्तोयभरावलम्बिनः ।
स्त्रियश्च काञ्चीमणिकुण्डलोज्ज्वला हरन्ति चेतो युगपत्प्रवासिनाम् ॥१६॥२॥

उधर प्रोषितपतिका की सुधि भी कवि को कँपा रही है। किस आकुलता का परिचय देता है—

कुवलयदलनीलैरुन्नतैस्तोयनम्रै-
मृदुपवनविधूतैर्मन्दमन्दं चलद्भिः ।
अपहृतमिव चेतस्तोयदैः सेन्द्रचापैः
पथिकजनवधूनां तद्वियोगाकुलानाम् ॥२२॥२॥

किन्तु यह आकुलता बहुतों की नहीं है। फलतः हम देखते हैं कि सर्वत्र संभोग की ही प्रधानता है—कहीं कुछ, कहीं कुछ। पर सामान्यतः स्थिति है यह—

गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः सुखासवामोदितवक्त्रपंकजाः ।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ॥५॥५॥

एवं—

नखपदचितभागान्वीक्षमाणाः स्तनाग्रा-
नधरकिसलयाग्रं दन्तभिन्नं स्पृशन्त्यः ।
अभिमतरसमेतं नन्दयन्त्यस्तरुण्यः
सवितुरुदयकाले भूषयन्त्याननानि ॥१५॥५॥

जनपद—हेमन्त और शिशिर में कवि 'हर्म्य' में ही मग्न दिखाई देता है और 'शीत' के कारण जैसे बाहर झाँकना ही नहीं चाहता। प्रकृति की बात थोड़े में कह कर 'घर' में लीन हो जाता है और विलासिनी-विलास में मग्न रहता है। किन्तु इस काल में भी जब बाहर दृष्टि पड़ती है तब प्रकृति मन को अपनी ओर खींच ही लेती है। देखिए—

प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितानि सोन्मादकादम्बविभूषितानि ।
प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम् ॥६॥४॥

'ग्राम' का जो रूप 'प्रिया' के साथ 'प्रिय' को भाया है उसकी झलक भर दिखा दी गई है। उसमें 'गृहस्थी' का वर्णन नहीं। चाहे गृहस्थ का भले ही हो। 'प्रमदा', 'कामिनी' और 'विलासिनी' ही कवि को इष्ट है कुछ आर्या, गृहिणी और भार्या नहीं। तो भी ध्यान सदा घर में ही रहा है, निकुंज में

नहीं। 'अभिसारिका' और 'खंडिता' का वर्णन भर कर दिया गया है। उनमें कवि का उल्लास नहीं, उद्दीपन भले ही हो। लीजिए—

अभीक्ष्णमुच्चैर्ध्वनता पयोमुचा घनान्धकारीकृतशर्वरीष्वपि।
तडित्प्रभादर्शितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः ॥१०॥२॥
पयोधरैर्भीमगभीरनिःस्वनैस्तडिद्भिरुद्वेजितचेतसो भृशम्।
कृतापराधानपि योषितः प्रियान्परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम् ॥११॥२॥

ग्राम के विलास से दृष्टि फिरी और 'उपवन' पर पड़ी तो कवि-हृदय और ही रंग में रंग गया और बरबस बोल पड़ा—

कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातै—
रुद्द्योतितान्युपवनानि मनोहराणि।
चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं
प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् ॥२३॥६॥

संक्षेप में कालिदास के ग्रामप्रान्त की शारदीय शोभा यह है—

काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो,
हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः,
शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥२॥३॥

संस्थान—ऋतुसंहार की मीमांसा तब तक अधूरी ही समझी जायगी जब तक उसके 'ग्राम' 'उपवन' और 'वनान्त' का ठीक ठीक पता नहीं हो जाता। यदि ध्यान से देखा जाय तो ऋतुसंहार में 'सीमान्त', 'वनान्त' और 'उपवन' का उल्लेख भी प्रायः हुआ है और अद्रि का वर्णन भी नदी के साथ ही जहाँ-तहाँ पाया गया है। कवि कहता है—

संपन्नशालिनिचयावृतभूतलानि
स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि।
हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि
सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥१६॥३॥

कालिदास की प्रतिभा किस ग्राम में मुखर हुई है उसकी एक झाँकी लीजिए और 'सीमान्त' की स्थिति को समझिए। 'शालि', 'गोकुल' और 'हंस' को

उपलक्षण मात्र समझिए। यह तो ऋतु विशेष का दृश्य है न ? धन-धान्य से परिपूर्ण, स्वस्थ, सुन्दर और पुष्ट पशुओं से पूर्ण, हंस और सारस जैसे मनोहर पक्षियों से निनादित किसी गाँव का दृश्य फिर कब इन आँखों को मिलेगा ! ध्यान दीजिए, 'प्रचुरगोकुल' भी गाँव में नहीं प्रत्युत गाँव के बाहर सीमान्त में विराज रहा है, और अपनी स्वस्थता के साथ आप का स्वास्थ्य बना रहा है। 'शरत्' में 'सीमान्त' की जहाँ यह शोभा थी, 'हेमन्त' में वहीं यह हो गई—

प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगांगनायूथविभूषितानि ।
मनोहरक्रौञ्चनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः ॥८॥४॥

ऋतुपरिवर्तन के साथ परिस्थिति में भी परिवर्तन हो गया। 'गोकुल' को कहीं अन्यत्र शरण मिली और वह स्थान मृगवधू को मिल गया। शीत से बचाव का उपाय हो गया। कैसी सुन्दर है गाँव की यह व्यवस्था जो मृगी भी सीमान्त में सुख से रहती है ! इसके पहले उसका निवास था 'उपवन'। देखिए 'शरत्' के वर्णन में कवि लिखता है—

शेफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि
स्वस्थस्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि ।
पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि
प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम् ॥१४॥३॥

जो जहाँ है 'स्वस्थ' है, यही इस देश की विशेषता है। पशु-पक्षी सभी सानन्द हैं। 'उपवन' से आगे बढ़ जब हम वन पर दृष्टि डालते हैं तब और ही दृश्य दिखाई देता है। ग्रीष्म में वहाँ 'मृग' की दशा यह है—

मृगाः प्रचण्डातपतापिता भृशं तृषा महत्या परिशुष्कतालवः ।
वनान्तरे तोयमिति प्रधाविता निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसन्निभं नभः॥११॥१॥

किन्तु वर्षाकाल में 'वन' की शोभा कुछ और ही हो जाती है—

मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्ता—
त्पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव ।
हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां
नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः ॥२३॥२॥

पूर्वापर—कालिदास के उपलब्ध ग्रंथों में कालक्रम के विचार से ऋतु-संहार का नाम सबसे पहले आता है और यह ठीक जान पड़ता है। विषय, ढंग, वर्णन सभी कुछ इसी पक्ष में है। विद्वानों का ध्यान भी अपेक्षाकृत इधर अल्प ही रहा है। इसके उपरान्त किस ग्रंथ की रचना कब और किस क्रम से हुई, इसकी ऊहा किसी में कुछ और किसी में कुछ दिखाई देती है तो भी प्रायः कहा जा सकता है कि काव्यों का क्रम कुमारसंभव, मेघदूत और रघुवंश का है तो नाटकों का क्रम मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल का। कालिदास का अन्तिम काव्य रघुवंश है और नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल ऐसा कुछ निश्चित सा हो गया है। परन्तु इन दोनों में भी अन्तिम कौन है, यह विवाद का विषय बना है। बहुमत रघुवंश के पक्ष में अवश्य है, पर उसका मुख्य कारण है उनकी दृष्टि में उसका अपूर्ण होना। किन्तु जैसा कि दिखाया गया है वह वास्तव में है पूर्ण काव्य। अतएव हमारा कहना है कि कालिदास के ग्रंथों में उसे अन्तिम मानना ठीक नहीं। नहीं, कालिदास की अन्तिम रचना अभिज्ञानशाकुन्तल ही है। उसके भरतवाक्य से भी यही प्रगट होता है। उसके संविधान में कवि को विशेष श्रम करना पड़ा होगा, इसमें सन्देह नहीं। ऐसी नापतौल और ऐसी तल्लीनता किसी दूसरे काव्य में नहीं। फिर भी इतने से ही प्रश्न का समाधान तो नहीं हो जाता? अतएव यहाँ थोड़ा इस विषय पर भी विचार कर लिया जाता है कि कालिदास के ग्रंथों का रचनाक्रम क्या है।

हेतु—कालिदास के ग्रंथों की मीमांसा से पता चलता है कि उनके ग्रंथों में 'ऋतुसंहार' और 'मालविकाग्निमित्र' ऐसे ग्रंथ हैं जिनका सम्बन्ध 'विन्ध्य' से है। अतः हम उन्हें विन्ध्यपरक कहते हैं और उनकी रचना का काल भी पहले समझते हैं। 'कुमारसंभव' और 'विक्रमोर्वशीय' की लीलाभूमि 'हिमाचल' है, अतः इन्हें हम हिमपरक कहते और इनकी रचना भी विन्ध्य के बाद मानते हैं। 'मेघदूत' प्रत्यक्ष ही उभयनिष्ठ है, अतः इन दोनों वर्गों के उपरान्त हम उसका

प्रणयन मानते हैं। रह गए शेष दो ग्रन्थरत्न रघुवंश और अभिज्ञानशाकुन्तल। सो इनमें कवि की दृष्टि बहुत व्यापक रही है और इनका निर्माण भी देश की दृष्टि से नहीं 'काव्य' और 'मानव' की दृष्टि से हुआ है। निश्चय ही 'रघुवंश' सा काव्य कोई दूसरा नहीं, किन्तु 'मानव' और 'हृदय' के विचार से जो बात 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में है वह उसमें कहाँ? निदान हमारा मत है कि कालिदास के ग्रंथों का रचनाक्रम है—ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, कुमारसंभव, विक्रमोर्वशीय, मेघदूत, रघुवंश एवं अभिज्ञानशाकुन्तल। कारण का थोड़े में विचार करना कठिन है। तो भी इतना तो प्रकट ही है कि कुमारसंभव का जो पक्ष रह गया था वह शेष दो रचनाओं में लाया गया है। कुमारसंभव में संभोग है वियोग नहीं। विप्रलम्भ का परिचय मिला है 'विक्रम' के उन्माद में। किन्तु वह विशिष्ट और अतिरंजित हो गया है। कारण कदाचित् 'मालविकाग्निमित्र' का प्रपंच था। विक्रमोर्वशीय में वियोग ही नहीं, कुमार का जन्म भी है। और नारद के इस कथन में तो उसकी पूर्ति भी है—

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥२३॥५॥

साथ ही चित्रलेखा के इस कथन में 'मेघदूत' का बीज भी—

एतेन पुनर्निर्वृतानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति।

तथा राजा की प्रार्थना में इसका रहस्य भी—

अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना।
गमितेन खेलगमने विमानतां नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा ॥४३॥४॥

शेष रही 'रघुवंश' तथा 'अभिज्ञान' की चिन्ता सो इतना ध्यान रहे कि अभिज्ञानशाकुन्तल में कहा गया है—

अस्त्येतत्पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम्—
भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥२०॥७॥

निष्कर्ष—'क्षितिरक्षा' की जो बात यहाँ कही गई है वह महत्त्व की है और उसी की प्रेरणा से 'विक्रमोर्वशीय' में 'विक्रम' को फिर राज करना पड़ा है, किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तल में यह बात नहीं है। यहाँ राजा मोक्ष की कामना

करता और कोई उसको इससे विरत नहीं करता है। पुरुवंश का यह कुलव्रत रघुवंश में भी रघुवंश के कुलव्रत के रूप में आया है परन्तु दोनों में कुछ अन्तर है। उसमें 'क्षितिरक्षा' पर इतना ध्यान नहीं दिया गया है। उसमें तो 'यशसे विजिगीषूणां' की बात कही गई और कही गई है 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' की वार्ता भी। परन्तु अभिज्ञानशाकुन्तल में 'क्षितिरक्षा' को महत्त्व मिला है और खुलकर कहा भी गया है—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम्।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥३॥७॥

साथ ही यह भी स्मरण रहे कि यह 'उद्धृतदानवकण्टक' पद बड़े ही महत्त्व का है। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष का वध कवि की दृष्टि में सामान्य नहीं। विक्रमोर्वशीय में 'हिरण्यपुरवासी केशी' का वध हुआ था और अभिज्ञानशाकुन्तल में किसी और 'दुर्जय' का। किन्तु सीधी सी बात यह है कि प्रथम में पंचनद के दानव का अन्त हुआ है तो द्वितीय में सौराष्ट्र के दानव का विनाश। एक का वध 'महावराह' ने किया तो द्वितीय का 'पुरुषकेसरी' ने। अर्थात् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पहले 'शक' का वध कर 'ध्रुवस्वामिनी' का उद्धार किया और फिर शकक्षत्रप का उन्मूलन कर वैष्णव जन की रक्षा की। पृथिवी से दानवों के काँटों को दूर कर दिया। प्रसंगवश यहीं इतना और भी जान लें कि 'शकुन्तला' के दुर्दैव की शान्ति के निमित्त भगवान् कण्व 'सोमतीर्थ' की यात्रा यों ही नहीं करते हैं वरन 'श्रद्धा' के दुर्दैव को दूर करते हैं। यह उनकी 'कृत्स्नपृथिवीजयार्थ' की यात्रा है। और राजमाता का व्रत भी कोई सामान्य व्रत नहीं है। विचारने की बात है कि 'उपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य' जो उपवास होगा, जिसमें माता को पुत्र की आवश्यकता पड़ेगी और जिसमें वह आश्रम की रक्षा के विचार से जा न सकेगा वह 'नृसिंह' का व्रत होगा अथवा कोई अन्य? हम तो इसको स्पष्ट ही 'पुरुषकेसरी' का व्रत मानते हैं। 'वराह' के द्वारा पृथिवी के उद्धार का निर्देश रघुवंश में इस प्रकार पहले ही कर दिया गया है—

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं
वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः।

रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्
प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥७७॥१३॥

अस्तु, जब पृथिवी का सारा कंटक दूर हो गया और भगवान् 'वराह' तथा 'नृसिंह' को भी वाणी हो नहीं पत्थर में भी मूर्त रूप मिल गया तब राजा तथा कवि को साथ ही मोक्ष की चिन्ता हुई और अभिज्ञानशाकुन्तल का भरतवाक्य बना—

पुनर्भवं क्षपयतु नीललोहितः ।

कवियशःप्रार्थी

प्रेरणा—कविकुलगुरु कालिदास को कभी न जाने क्या सोच कर कहना पड़ा कि—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥३॥१॥

किन्तु यह कवि जीवन की कोई अनुपम बात न थी। इसके पहले भी उसने 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में कहा था—

प्रथितयशसां भासकविपुत्रसौमिल्लकादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमान-कवेः कालिदासस्य क्रियामिमां द्रष्टुं कथं परिषदो बहुमानः ?

और समाधान किया था—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥२॥१॥

उस समय भी उसमें आत्मविश्वास तो था ही। नहीं तो उसका सूत्रधार दृढ़ता से यह क्यों कहता—

अये ! विवेकविश्रान्तमभिहितम् ।

यहाँ कोई सूत्रधार तो मिला नहीं। श्रव्य काव्य ठहरा। निदान कवि ने स्वयं कहा—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥१०॥१॥

सोने की परीक्षा ठहरी। पारखी भी सन्त ही होना चाहिए। ठीक है। परन्तु सन्त परीक्षा किस बात की करे ? कवि कहता है—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्वचाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥२॥१॥

निश्चय ही विषय की गंभीरता के कारण कवि के हृदय में 'उपहास' का यह भाव उठा है। किन्तु साथ ही उसे विश्वास भी तो है—

अथ वा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ।।४।।१।।

जी, मणि का बेधना अवश्य दुष्कर है, किन्तु उसका पिरोना नहीं । तो क्या पिरोने में कोई कला नहीं ? न हो, किन्तु कालिदास का अभिमान यही तो है ? कालिदास ने 'रघुवंश' में 'मालविकाग्निमित्र' की भाँति पहले के कवियों का नाम नहीं लिया । नहीं । संक्षेप में कह दिया 'पूर्वसूरिभिः' । अब इन पूर्व-सूरियों का पता लगाना आप का काम है । कवि ने तो इतना निर्देश कर अपना सूत्रपात किया और खुलकर स्पष्ट कह दिया —

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।

लोकाभ्युदय—पूछा जा सकता है क्यों ? निवेदन होता है-

सद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ।।९।।१।।

देखा तो नहीं, पर जब इस वंश के गुण कान में पड़ गए तब उनका हृदय में रोक रखना असंभव हो गया और विवश हो उसका गुणगान करना पड़ा । उन गुणों की गणना पहले ही हो चुकी है अतः यहाँ उन गुणियों के विषय में कुछ निवेदन करना है । हैं तो सभी राजा । सो भी सम्राट् । परन्तु उनकी विशेषता है उनकी मानवता । इसी से कवि रघु के जन्म पर कहता है—

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसंपदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ।।१३।।
दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ।।१४।।३।।

'शुभसूचक' रघु का जन्म 'लोकाभ्युदय' के हेतु हुआ । इस 'लोकाभ्युदय' का मर्म पाना है तो यहीं यह भी देख लें कि—

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती ।
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ।।६६।।
राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ।।६७।।

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥६८॥१०॥

'रामाभिधान हरि' का स्वागत कवि 'जगत्प्रथममंगल' के कारण भले ही कर ले और भले ही गा ले उनके 'अप्रतिमतेज' को; पर उसका उल्लास तो उमड़ रहा है रघु के जन्म में ही न ? कितनी प्रसन्नता है समस्त विश्व में ? स्मरण रहे, दिलीप ने इसी पुत्र के हेतु गुरु वशिष्ठ से कहा था—

तस्मान्मुच्ये यथा तात ! संविधातुं तथार्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥७२॥१॥

स्पर्धा—अच्छा होगा, यहीं इक्ष्वाकुवंश के एक दूसरे अवतार के विषय में भी कुछ जान लें और हो सके तो प्रत्यक्ष देख लें कि कवि के 'कृतवाग्द्वारे' का रहस्य क्या है । सो महाकवि अश्वघोष लिखते हैं—

स हि स्वगात्रप्रभयोज्ज्वलन्त्या दीपप्रभां भास्करवन्मुमोष।
महार्हजाम्बूनदचारुवर्णो विद्योतयामास दिशश्च सर्वाः ॥१३॥१॥

'बुद्धचरित' में बुद्ध की जिस अलौकिक आभा का परिचय इस प्रकार दिया गया है उसकी तुलना में रघुवंश का यह अंश सरलता से रखा जा सकता है और इसे राम के 'अप्रतिमतेज' के साथ भी देखा जा सकता है । 'रघुवंशप्रदीप' राम के तेज का उल्लेख पहले हो चुका है । अत एव यहाँ स्वयं 'रघु' के तेज को लीजिए । कवि कालिदास लिखते हैं—

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥१५॥३॥

तुलना से कोई लाभ नहीं । कहना तो यहाँ यह है कि वास्तव में कालिदासने जो

अथ वा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।

का उद्घोष किया है उसका लगाव कुछ अश्वघोष से भी है और उसकी भी गणना पूर्वसूरिभिः में होनी ही चाहिए ।

कहा जा सकता है कि अश्वघोष तो कालिदास के ऋणी हैं फिर ऐसी स्थापना का मूल्य क्या हो सकता है । निवेदन है—स्थिति इसके सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है । टुक ध्यान से सुनें । महाकवि अश्वघोष लिखते हैं—

नरपतिरपि पुत्रजन्मतुष्टो विषयगतानि विमुच्य बन्धनानि ।
कुलसदृशमचीकरद्यथावत्प्रियतनयस्तनयस्य जातकर्म ॥८२॥१॥

बात अच्छी है, परन्तु कालिदास को इसमें कुछ दोष दिखाई देता है। बन्धन से मुक्त कर देना तो ठीक हुआ, किन्तु कोई 'बन्धन' में पड़ा ही क्यों? इसी से कविकुलगुरु का निवेदन है—

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥२०॥३॥

निश्चय ही महावादी अश्वघोष पर महाकवि कालिदास की यह गहरी फबती है। यदि अश्वघोष पहले न होते और 'रघुवंश' से भावग्रहण करते तो उनके 'बुद्धचरित' की स्थिति यह न होती और इस प्रकार शाक्य-शासन में दोष न निकलता। अश्वघोष अवश्य ही इसका कुछ उपाय करते और समझ-बूझ कर रघुवंश से भाव उड़ाते। इसी प्रकार एक दूसरा भी प्रसंग है। अश्वघोष कहते हैं—

कृताभ्यनुज्ञावभितस्ततस्तौ निषेदतुः शाक्यकुलध्वजस्य ।
विरेजतुस्तस्य च संनिकर्षे पुनर्वसू योगगताविवेन्दोः ॥११॥६॥

'शाक्यकुलध्वज' को चन्द्रमा और 'मन्त्रिपुरोहित' को दो 'पुनर्वसु' बना देने से तीनों की शोभा तो गोचर हो गई, किन्तु इससे प्रकरण को प्राप्त क्या हुआ? 'मन्त्री' और 'पुरोहित' कुमार गौतम को समझाने ही तो गए थे? इधर कालिदास की स्थिति यह है—

तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥३६॥११॥

यहाँ 'मन्त्रिपुरोहित' का स्थान 'रामलक्ष्मण' को प्राप्त है। कवि कालिदास ने इसके पहले कहा भी है—

राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥३५॥११॥

मुनि को 'धर्म' बनाना ही ठीक है न? शाक्यमुनि को 'इन्दु' बना कर अश्वघोष ने क्या कर लिया? जंगल में छवि की आरती उतारने से लाभ क्या? निदान कालिदास ने 'मुनि' को छोड़ दिया और दोनों राजकुमारों का रूप पान करा मिथिला को धन्य कर दिया। दो पुनर्वसु आकाश से धरती पर उतर आए और

रूपपान की लोक-पिपासा जग गई । कालिदास ने यहाँ भी कला का अपना वही हाथ दिखाया । यदि कालिदास अश्वघोष के सामने होते तो उनकी दृष्टि 'धर्म' पर अवश्य जाती और मन्त्री तथा पुरोहित भी 'अर्थ' और 'काम' के रूप में ही गोचर होते । अस्तु, हमारा कहना है कि रघुवंश के प्रणयन में कालिदास को अश्वघोष से प्रेरणा मिली है और फलतः उसका निर्देश भी 'कृतवाग्द्वारे' में है ही ।

कुलव्रत—उचित होगा यहीं यह कह देना भी कि महाकवि अश्वघोष ने भी बड़े अभिमान से 'सुन्दरनन्द' की वधू 'सुन्दरी' को समझाया—

राजर्षिवध्वास्तव नानुरूपो धर्माश्रिते भर्तरि जातु शोकः ।
इक्ष्वाकुवंशे ह्यभिकांक्षितानि दायाद्यभूतानि तपोवनानि ।।५६।।६।।

किन्तु क्या कालिदास को भी यही इष्ट है ? नहीं जी । उनका तो कहना ही कुछ और है । उनके तो 'इक्ष्वाकुवंश' की परम्परा ही कुछ और है । देखिए न उनका उद्घोष है—

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ।।७०।।३।।

कवि कालिदास ने 'इक्ष्वाकुवंश' के जिस 'कुलव्रत' का उल्लेख किया है उसका उन्हें अत्यन्त दृढ़ आग्रह है । सभी प्रकार से चित्त में जमाए विना उसको वह छोड़ना ही नहीं चाहते । लीजिए । फिर समय आया नहीं कि उनकी लेखनी से निकल पड़ा—

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभू-
न्नहि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ।।७१।।७।।

सूर्यवंशी का गृहत्याग कब होता है और इक्ष्वाकुवंशी का कुलव्रत क्या है, इसे कह कर ही कवि को सन्तोष नहीं हुआ । नहीं, आगे चल कर उसने और भी खुल कर कहा—

गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि ककुत्स्थवंशजाः ।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ।।११।।८।।

'ककुत्स्थवंशजाः' पाठ साधु हो अथवा 'दिलीपवंशजाः' स्थिति दोनों दशाओं में एक ही है। कवि कहना सदा यही चाहता है कि इक्ष्वाकुवंश का कुलव्रत है वर्णाश्रम का पालन करना, कुछ 'गृह' का उपहास करना नहीं। गौतम बुद्ध ने किस प्रकार छिप कर रात्रि में गृह का परित्याग किया इसे सभी लोग कुछ न कुछ जानते हैं, पर बहुत थोड़े हैं ऐसे लोग जो यह भी जानते हैं कि किस प्रकार उनका अनुगमन किया उनके अनुज 'सुन्दरनन्द' ने। अश्वघोष ने अपने 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य में यही दिखाया है। उसको देखने से पता होगा कि वास्तव में कालिदास ने क्यों और क्या किया। 'इक्ष्वाकुवंश' के विषय में उसमें जो कुछ कहा गया है उसका कुछ आभास पहले मिल गया है। यहाँ उसी के साथ इतना और भी टाँक लें—

प्रायेण मोक्षाय विनिःसृतानां शाक्यर्षभाणां विदिताः स्त्रियस्ते ।
तपोवनानीव गृहाणि यासां साध्वीव्रतं कामवदाश्रितानाम् ।।४०।।६।।

शाक्यवंश—अस्तु, 'रघुवंश' की स्थिति को भली भाँति समझने के लिए आवश्यक है कुछ जान लेना इस 'शाक्यवंश' को भी। सो लीजिए। स्वयं अश्वघोष बताते हैं—

अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमं
केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ।।१८।।
सुवर्णस्तम्भवक्ष्माणः सिंहोरस्का महाभुजाः ।
पात्रं शब्दस्य महतः श्रियां च विनयस्य च ।।१९।।
अर्हरूपा ह्यनर्हस्य महात्मानश्चलात्मनः ।
प्राज्ञाः प्रज्ञाविमुक्तस्य भ्रातृव्यस्य यवीयसः ।।२०।।
मातृशुल्कादुपगतां ते श्रियं न विषेहिरे ।
ररक्षुश्च पितुः सत्यं यस्माच्छिश्रियिरे वनम् ।।२१।।
तेषां मुनिरुपाध्यायो गौतमः कपिलोऽभवत् ।
गुरुगोत्रादतः कौत्सास्ते भवन्ति स्म गौतमाः ।।२२।।
एकपित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात् ।

राम एवाभवद्गार्ग्यो वासुभद्रोऽपि गौतमः ॥२३॥
शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्माच्च चक्रिरे ।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः ॥२४॥
स तेषां गौतमश्चक्रे स्ववंशसदृशीः क्रियाः ।
मुनिरूर्ध्वं कुमारस्य सगरस्येव भार्गवः ॥२५॥
कण्वः शाकुन्तलस्येव भरतस्य तपस्विनः ।
वाल्मीकिरिव धीमांश्च धीमतोर्मैथिलेययोः ॥२६॥१॥

अश्वघोष के इस कथन से सिद्ध ही है कि 'सगर' के पहले ही 'शाक्य' मूल-शाखा से अलग हो गए थे और थे वास्तव में राज्य के उत्तराधिकारी और ज्येष्ठ। 'मातृशुल्क' की विवशता के कारण उनको वन में निवास करना पड़ा तो कोई बात नहीं। किन्तु अश्वघोष ने अपने महाकाव्य 'सौन्दरनन्द' में उनको जो रूप दे दिया वह तो 'इक्ष्वाकु' की परम्परा के अनुकूल नहीं रहा न? तो क्या इसी की प्रेरणा से कालिदास को सगरसुतों वा मूल शाखा का पक्ष लेना पड़ा? यहाँ यह भी स्मरण रहे कि अश्वघोष ने यहाँ जिस 'कण्व', जिस 'शकुन्तला' और जिस 'भरत' का उल्लेख किया है वह कालिदास का कण्व और वह कालिदास का भरत नहीं। तो क्या इससे भी प्रगट नहीं होता कि वस्तुतः अश्वघोष कालिदास से पहले के कवि हैं और महाभारत के कथन को ही अपना आधार बनाते हैं? समाधान कुछ भी हो पर है सर्वथा अश्वघोष की ही प्राचीनता के पक्ष में। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में 'भरत' 'कण्व' के आश्रम में कहाँ? वह तो गर्भ में था न?

संस्करण—हाँ, चलते चलते 'सौन्दरनन्द' का एक और प्रसंग सामने आ गया और देखा तो उसका 'कुमारसंभव' में साक्षात्कार होने लगा। अश्वघोष बहुत विचार कर कहते हैं—

विवृत्तयाक्षिप्तमना मुनेस्तु नन्दः प्रयाणं प्रतितत्वरे च ।
विवृत्तदृष्टिश्च शनैर्ययौ तां करीव पश्यन् स लडत्करेणुं ॥४०॥
छातोदरीं पीनपयोधरोरुं स सुन्दरीं रुक्मदरीमिवाद्रेः ।
काक्षेण पश्यन्न ततर्प नन्दः पिबन्निवैकेन जलं करेण ॥४१॥
तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः ॥४२॥४॥

अश्वघोष ने प्रयाण के समय नन्द को कैसे संकट में डाल दिया ! काम और धर्म का संघर्ष ठहरा । 'सुन्दरी' और 'बुद्ध' की होड़ ठहरी । कालिदास ने स्थिति को बदल दिया । 'नायक' के स्थान पर 'नायिका' को 'न ययौ न तस्थौ' का पात्र चुना और बड़े ढंग से लिख दिया—

निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥८३॥
इतोगमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला ।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः ॥८४॥

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि-
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः ।
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥८५॥५॥

अस्तु । कालिदास ने अश्वघोष की निवृत्ति को प्रवृत्ति का मार्ग दिखा विश्व में रहने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है । नहीं तो बचपन के विराग से इस देश का विनाश तो हो ही रहा था बहुत कुछ हो भी गया है । इसी से कालिदास की घोषणा है कि—

वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।

काव्योपचार—कह तो नहीं सकता, किन्तु परिस्थिति के परितः परिशीलन से कहे बिना रह भी नहीं सकता कि हो न हो रघुवंश की रचना में यही अश्वघोषी 'कवियश' सामने रहा हो । 'वाल्मीकि' को इसका लक्ष्य मानना ठीक न होगा । अश्वघोष ने अपने महाकाव्यों में 'शाक्य' को जो सराहा है वह कविकुलगुरु कालिदास को कुछ जँचा नहीं और उन्हें लगा ऐसा कि इससे 'इक्ष्वाकुवंश' की आन नहीं रहती और उसके आदर्श से राष्ट्र का सच्चा हित तथा लोक का यथार्थ मंगल भी नहीं होता । निदान इस बढ़ती हुई निवृत्ति-धारा को उन्होंने मर्यादा का रूप दिया और प्रवृत्ति के साथ उसका मेल क्या किया उसको भी समय पर अपनाने का विधान किया । सच पूछिए तो अश्वघोष ने काव्य नहीं किया । नहीं । उन्होंने तो काव्य से कुछ और ही काम लिया । कहते भी स्वयं आप ही हैं—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता ।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥६३॥
प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतं
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षः परमिति ।
तद्बुद्ध्वा शामिकं यत्तदवहितमितो ग्राह्यं न ललितं
पांसुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति ॥६४॥१८॥

'सौन्दरनन्द' काव्य की रचना में जिस 'काव्योपचार' से काम लिया गया है और उसमें जिस 'काव्यव्याज' की आवश्यकता समझी गई है वही 'बुद्धचरित' में भी है, इसको कह देने को कोई पुष्ट आधार नहीं। तो भी बहुत कुछ ऐसा ही होगा, ऐसा सरलता से कहा जा सकता है। यदि 'बुद्धचरित' अधूरा न होता तो हमारा निष्कर्ष भी पूरा होता। तो भी उसके अभाव में भी उसकी गति-विधि को देख कर कहा ही जा सकता है कि यही 'मोक्ष' इसी 'उपचार' और इसी 'व्याज' से वहाँ भी 'काव्य' रूप में है। कालिदास को यही 'व्याज' और यही 'उपचार' खला भी है। इसी से रघुवंश की रचना में उन्होंने 'काव्य' को काव्य कर के लिया है और यह स्पष्ट घोषणा की है—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥१०॥१॥

और उनका सत्पक्ष है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥१॥

भाव यह कि 'अर्थ' 'काम' और 'धर्म' के संग्रह के विना 'मोक्ष' के मार्ग पर आरूढ़ होना सत् नहीं असत् है। 'शैशव' में नहीं, 'यौवन' में नहीं, 'वार्धक' में नहीं, अरे 'अन्त' में उसका उपदेश करो फिर आप ही लोग उधर टूट पड़ेंगे। किसी 'उपचार' और 'व्याज' की आवश्यकता न होगी। पुरुष को सच्चा पुरुषार्थी बनाना कवि का काम है। 'ललित' को छोड़ कर मानव जी नहीं सकता। हाँ,

उसके अभाव में दम तोड़ सकता है 'अज' को ही लीजिए ! वही तो कालिदास का प्रणय-प्रतीक है ? कवि किस सूक्ष्म और समझ के साथ कहता है—

स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥६१॥८॥

यह तो रही गुरु वशिष्ठ के उपदेश की दशा कि अज के ज्ञान ने तो उसे सर्वथा स्वीकार कर लिया, पर मन ने बड़ी विनम्रता से कहा—रखने को कहीं स्थान भी है ? सच है । रहीम ने भी कितना सटीक कहा है—

प्रीतम छबि नयनन बसी, पर छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिर जाय ॥

हुआ भी ऐसा ही । वशिष्ठ का शिष्य उधर गुरु का ज्ञान दे विदा हुआ और इधर—

तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथंचिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥६२॥८॥

अज ने बालक दशरथ के हित के विचार से प्रिया का चित्र देख कर, उसे स्वप्न में अपने पास पा कर जैसे तैसे शेष समय बिता दिया और फिर—

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमार-
मादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः
प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥६४॥८॥

कारण यह कि—

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशंकुः
प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं
लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥६३॥८॥

फ्रायड के प्रेमियों को कुछ 'असाध्यशोकशंकु' का पता हो गया है अतएव कालिदास के इस 'प्रियानुगमन' का मर्म पाना अब कठिन नहीं । अज के प्रेम

मत का महत्त्व आज की दुनिया में खूब समझा जाता, काश इसका इसे पता होता ! कालिदास संस्कृत के कवि ठहरे और दुनिया आज अंगरेजी की भूखी फिर उनका पाठ कौन पढ़े ? परन्तु उन्होंने तो मानव को परख कर रख दिया है। आज का पारखी भले ही उनको न परखे। इसी से तो उनका यह भी कथन है—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥९५॥८॥

विकासवादी युग में जड़ के विकास पर तो बहुत कुछ प्रकाश पड़ गया अब कुछ चेतन के विकास का भी तो प्रकाश होना चाहिए। हो रहा है, और है वह इस 'लीलागार' और इस 'नन्दनाभ्यन्तर' के सर्वथा पक्ष में। हमारा संस्कार तो सदा इसके साथ है ही। वसिष्ठ ने कुछ समझ कर ही 'अज' से कहला भेजा था—

उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया ।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीवतया प्रकाश्यताम् ॥८४॥८॥

यह और कुछ नहीं वास्तव में ज्ञान वा अध्यात्म को काम की भीतरी चुनौती है। 'अज' ने 'काम' का सत्कार किया। 'सौन्दरनन्द' काव्य का सुन्दर-नन्द एकान्त कक्ष में सुन्दरी को पाकर क्या कहता, कौन कहे ? पर कौन नहीं जानता कि भर्तृहरि को इसने कितना खेल खेलाया था। निदान कालिदास का पक्ष ही साधु है।

आदर्श—कालिदास ने अश्वघोष के 'नन्द' और 'सुन्दरी' को रघुवंश के 'अज' और 'इन्दुमती' में देखा है तो 'बुद्धचरित' के बुद्ध को देखा है अपने 'रामाभिधानो हरिः' में। अधिक कहने से लाभ नहीं, पक्की पकड़ के लिए इतना ही पर्याप्त है कि बुद्ध की माता 'माया' की भाँति ही यहाँ भी सभी माताओं को स्वप्नदर्शन होता है। देखिए—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥६०॥
हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥६१॥

बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥६२॥
कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥६३॥१०॥

अस्तु, कालिदास के 'यशःप्रार्थी' का अर्थ स्पष्ट है, स्फुट है, और है आप के सामने । अश्वघोष का कवियश !

अश्वघोष के काव्यकौशल को लेकर कवि कालिदास ने जो रघुवंश का निर्माण किया तो उसमें उस कला, उस विद्या और उस शिल्प का साक्षात्कार हुआ जिसके लिए कविता न जाने कब से तरस रही थी । मानो जीवन को आँख मिली और आँख को पानी । कवि ने छूटते ही लिख दिया—

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥११॥
तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥१२॥१॥

किन्तु कहीं 'शुद्धिमत्तरः' का रहस्य न खुला । सूर्य से मनु और मनु से दिलीप हमारी आँख में उतरे पर छूट गए बीच में कहीं वह 'इक्ष्वाकु' ही जिनसे बुद्धचरित का आरम्भ होता ! कारण कुछ भी तो होगा ही । स्मरण रहे, अज के परिचय में सुनन्दा कहती है—

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥७१॥
महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरमरांगनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥७२॥
ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥७३॥
जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥७४॥
यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥७५॥६॥

किन्तु वहाँ भी 'इक्ष्वाकु' का नाम भर आता है। वंश के मूल पुरुष जो ठहरे। कुलव्रत के रूप में ही उनकी प्रतिष्ठा है फिर उनका नाम चाहे अश्वघोष लें और चाहे कालिदास। निदान कहना पड़ता है कि कालिदास के 'दिलीप' का सामना है अश्वघोष के 'शाक्य' से। कह लें सीधे से काव्य में 'शुद्धोदन' से। इसी से कहा गया है उनको 'शुचिमत्तरः'। 'तर' की पुकार ही यही तो है।

राजकुल—अश्वघोष करने को 'शुद्धोधन' की चाहे जितनी प्रशंसा करें पर है उनके राज्य में वस्तुतः शोषण ही। अन्यथा पुत्र के गहरे विषाद का कारण क्या था? बुद्धचरित की इन पंक्तियों पर ध्यान तो दें—

ततो नृपस्तस्य निशम्य भावं पुत्राभिधानस्य मनोरथस्य ।
स्नेहस्य लक्ष्म्या वयसश्च योग्यामाज्ञापयामास विहारयात्राम् ॥३॥
निवर्तयामास च राजमार्गे संपातमार्तस्य पृथग्जनस्य ।
मा भूत्कुमारः सुकुमारचित्तः संविग्नचेता इति मन्यमानः ॥४॥
प्रत्यङ्गहीनान्विकलेन्द्रियांश्च जीर्णातुरादीन्कृपणांश्च दिक्षु ।
ततः समुत्सार्य परेण साम्ना शोभां परां राजपथस्य चक्रुः ॥५॥३॥

इसी से स्पष्ट और प्रकट है कि राजधानी के राजपथ में कैसे लोग विचर रहे थे। 'कृपणों' के सुख की व्यवस्था वहाँ क्या थी? भला यदि उनका भी पेट भरता और रहने को कहीं आतुरालय वा घर वा उनको भी ठाँव मिलता तो इस प्रकार राजपथ पर उनका दर्शन ही क्यों होता? सो भी तड़के प्रातःकाल। कारण कि आगे चल कर वहीं यह भी कहा गया है कि दर्शनाभिलाषिणियाँ सचमुच 'सुप्तप्रबुद्धाकुललोचना' थीं। देखिए—

ताः स्रस्तकाञ्चीगुणविघ्निताश्च सुप्तप्रबुद्धाकुललोचनाश्च ।
वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणाश्च कौतूहलेनानिभृताः परीयुः ॥१४॥३॥

अतएव हमें यह कहने में संकोच नहीं होता कि अश्वघोष ने काव्य का विषय ठीक नहीं चुना और चुना भी तो उसका निर्वाह ठीक से न कर सके। निर्वाण निर्माण में बाधक बन गया। करते भी क्या? शुद्धोधन को बढ़ाना 'सर्वसिद्ध' को घटाना था और 'सर्वसिद्ध' को घटाना भला संभव कब था? नायक का उत्कर्ष तो सभी प्रकार से इष्ट होता है न? फलतः पिता-पुत्र के

विरोधी लक्ष्य के कारण काव्य का व्यापक प्रभाव जाता रहा और अश्वघोष की कला बहुत कुछ ठिठक कर रह गई। 'सौन्दरनन्द' की अपेक्षा बुद्धचरित में कवि ने अपना अधिक कौशल दिखाया, किन्तु वहाँ भी उसकी प्रतिभा खुल कर अपना जौहर न दिखा सकी और 'काव्य' की सच्ची प्रतिष्ठा के लिए किसी कालिदास की आशा बँधा गई। निदान कवि कालिदास का ध्यान इधर गया और पिता-पुत्र का ऐसा रूप सामने आ गया कि बस देखते ही बनता है। दिलीप से लेकर अग्नि-वर्ण तक कहीं भी वह दृश्य देखने को नहीं मिलता जो शुद्धोधन के घर में विराजमान है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस ढंग से कुमार 'सर्वसिद्ध' पाला जा रहा था उससे वह या तो 'बुद्ध' ही बनता या 'अग्निवर्ण' ही। कह सकते हैं 'शृंगार' में उससे भी बीस निकलता। कालिदास का 'अग्निवर्ण' तो बाद में निकम्मा निकला और वह तो पहले से ही वही 'रंगीला' बनता। अस्तु कहा जा सकता है कि कालिदास के रघुवंश में वंश-परम्परा का पूरा निर्वाह है और है उसकी यह सच्ची सीख कि पिता पुत्र के भोग की पक्की व्यवस्था न करे और उसे सच्चा कर्मवीर बनने का अवसर दे। अन्यथा उसकी दशा 'अग्निवर्ण' की होगी। कारण—

लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥३॥१६॥

निश्चय ही अति लाडप्यार के कारण अग्निवर्ण की स्थिति यह हुई कि—

इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम्।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥६॥
गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकांक्षितं ददौ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥७॥१६॥

फिर भी सधी प्रजा ने विद्रोह नहीं किया और मन्त्रियों के सुखशासन के प्रताप से 'प्रकृति' साधु बनी रही, पर चाटुकारों के लिए तो उतना भी बहुत था। फलतः—

तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥८॥१६॥

'अनुजीवियों' की यह दशा ! पूजा का यह उपहास ! । फिर भी कुल का प्रताप तो देखिए कि किसी को आक्रमण का साहस न हुआ और हुआ भी तो राजयक्ष्मा का आक्रमण स्वयं राजा पर । परिणामतः अन्त में—

तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः ॥५४॥१९॥

प्रमदा—अच्छा हुआ यह राजरोग जहाँ का तहाँ रह गया और मंत्रियों की कृपा से उसी के साथ भस्म हुआ । रहा राजा का प्रश्न सो—

तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥५५॥१९॥

प्रकृतिप्रधानों की सम्मति से सिद्ध हो गया और गर्भिणी रानी का अभिषेक हुआ । अश्वघोष ने कभी कहा था—

प्रमदाः समदा मदप्रदाः प्रमदा वीतमदा भयप्रदाः ।
इति दोषभयावहाश्च ताः कथमर्हन्ति निषेवनं तु ताः ॥३२॥८॥

'सुन्दरनन्द' से तो इसका कोई उत्तर न बन पड़ा, किन्तु कालिदास ने 'सौन्दरनन्द' काव्य के इस प्रहार को पकड़ा और सहज में ही दिखा दिया कि सर्वसम्मति से यों । 'रघुवंश' की इसी से इति होती है एक राज्ञी के राज्य में । देखिए न, कालिदास की भारती किस गूढ़ व्यंजना में क्या कह जाती है—

तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना-
मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥५७॥१९॥

साध्य—'रघुवंश' की इस अन्तिम पंक्ति को बार बार पढ़ें और हृदय में टाँक लें कि—

राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ।

हाँ, 'अव्याहताज्ञा', किन्तु 'विधिवत्' । इसी 'विधि' में तो कालिदास का सर्वस्व है और है मानव का सब कुछ । स्मरण है न ? 'दिलीप' की प्रशंसा में कवि ने कहा था—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥१७॥१॥

अस्तु, अब सरलता से कहा जा सकता है कि वास्तव में कालिदास के 'कवि-यशःप्रार्थी' का मर्म क्या है और क्या है वस्तुतः उनके 'वागर्थाविव' का रहस्य भी। सो आशा है भूला नहीं होगा अभी आप को महाकवि अश्वघोष का 'काव्योपचार' और 'काव्यव्याज' भी। साथ ही स्मरण होगा उनका यह वाक्य भी—

यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं ।

किन्तु अभी आपने देखा नहीं होगा इस दृष्टि से कवि कालिदास को। सो उनका मंगलाचरण ही है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥१॥१॥

'कुमारसंभव' में नहीं और नहीं 'मेघदूत' में भी, फिर यह 'रघुवंश' में मंगलाचरण कैसा? है, इसका भी कुछ गूढ़ रहस्य है। और सो यही कि यहाँ 'वाक्' और 'अर्थ' में कोई भेद नहीं। जो यहाँ कहा गया है वही सर्वत्र समझा भी जाय। यहाँ 'उपचार' की आवश्यकता नहीं 'व्याज' को स्थान नहीं। स्वागत सब का है तिरस्कार किसी का नहीं। मोक्ष भी यहाँ 'काव्यधर्म' के भीतर ही है। देखिए न रघु तथा अज साथ ही क्या साध रहे हैं—

यतिपार्थिवलिंगधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥१६॥८॥

अस्तु, अब सरलता से बेखटके कहा जा सकता है कि 'कविकुलगुरु' के 'कवियश' की दौड़ बहुत दूर तक है और उसकी प्राप्ति की योजना भी कम नहीं। सोचिए तो सही, कवि ने 'व्यक्ति' की अपेक्षा वंश को महत्त्व क्यों दिया और क्यों उसे लाकर 'गर्भ' में ही छोड़ दिया। स्मरण है न? गुरु वसिष्ठ ने कहा था—

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥७५॥
धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।

प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥७६॥
अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥७७॥१॥

बात क्या थी ? यही न कि व्यक्तिगत धर्म के पालन में समस्तगत धर्म की उपेक्षा हुई ? राजा सोच रहे थे कि 'ऋतुकालाभिगमन' का पालन अवश्य हो । झटके में भूल गए कि मार्ग में पड़ी कामधेनु की प्रदक्षिणा भी अनिवार्य है । फल मिला इष्ट के न पाने का शाप । फिर नन्दिनी के वरदान से वंश कैसे चला और क्यों आकर अग्निवर्ण की महिषी में रुक गया, यह रघुवंश में भली भाँति देखा जा सकता है और रह रह कर बीच बीच में कवि की इस वेदना का अनुभव किया जा सकता है--

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥२॥१०॥

संविधानक—अतएव 'ज्योति' के प्रकाश में कवि की कला का विकाश हुआ है और 'रघुवंश' 'रघुकाव्य' न होकर 'रघुवंश' काव्य बन गया है । इस काव्य में 'वंश' को लेने से जो विशेषता आ गई है उसके विषय में कुछ कहने के पहले देखिए यह कि इसका संविधानक क्या है । लीजिए । इसका सर्ग विधान है १--वसिष्ठाश्रमाभिगमन २—नन्दिनीवरप्रदान, ३--रघुराज्याभिषेक, ४—रघुदिग्विजय, ५—अजस्वयंवराभिगमन, ६—स्वयंवरवर्णन, ७—इन्दुमतीपाणिग्रहण, ८—अजविलाप, ९—मृगयावर्णन, १०--रामावतार, ११--सीताविवाहवर्णन, १२—रावणवध, १३—दण्डकाप्रत्यागमन, १४—सीतापरित्याग, १५--श्रीरामस्वर्गारोहण, १६--कुमुद्वतीपरिणय, १७--अतिथिवर्णन, १८—वंशानुक्रम, १९—अग्निवर्णशृंगार ।

इस प्रकार प्रकट ही है कि इसमें 'आश्रम' से लेकर 'शृंगार' अथवा अन्तःपुर तक का वर्णन है । किस सर्ग में किसके प्रसंग में क्या कहा गया है, इसका विवरण यहाँ नहीं । यह दिया भी नहीं जा सकता था । तो भी जितना कुछ निर्देश कर दिया गया है उससे सिद्ध ही है कि इसका मुख्य विषय है विवाह और विजय । सो भी विवाह ही मुख्य है । कारण कि इसी से वंश आगे बढ़ता है न ? इसी से इसके कई रूप आप को इस महाकाव्य में दिखाई देंगे और

प्रत्यक्ष कर दिखाएँगे कि वास्तव में उनका अलग अलग महत्त्व क्या है, और क्या है उनका अलग अलग परिणाम भी। थोड़े में हम यहाँ रघु, अज और अग्निवर्ण के गृहजीवन पर विचार कर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि इससे कवि को लाभ क्या हुआ है और क्यों इस प्रकार के विधान से उसके काव्य का सौंदर्य बढ़ गया है।

विवाहदीक्षा—सो रघु के विषय में भूलना न होगा कि उसका अभिधान ही कुछ अपना अलग अलग महत्त्व रखता है। कारण—

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम् ॥२१॥३॥

सच तो यह है कि गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सभी संस्कार रघु के विधि के साथ हुए हैं और दिलीप की सारी साधना उन्हीं में फली है। उनके विवाह के विषय में भूलिए नहीं कि—

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥३३॥३॥

बस, इसी 'विवाहदीक्षा' से जान लीजिए कि यहाँ धर्म का शासन है, वासना का नाम नहीं। हाँ, 'सत्पति' में उसका दिव्य विधान है अवश्य। इसी से कहते भी हैं—

सम्भ्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभि-
गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान्।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्
राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥८७॥४॥

विश्वजित् यज्ञ में आए हुए राजा लोगों को जिस 'अवरोध' के ध्यान से रघु ने विदा किया उसका धर्म के भीतर कितना स्थान है, इसे आप यहाँ देख सकते हैं। परन्तु रघु के यहाँ आप को यह पता न चलेगा कि उसका हृदय से भी कितना गहरा लगाव है। अतएव इसके लिए आप को अज का अध्ययन करना होगा।

स्वयंवर—अज का विवाह स्वयंवर की रीति से हुआ। स्वयंवर के हेतु पहुँचे नहीं कि उनके चित्त की स्थिति यह हो गई—

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं
कन्याललामकमनीयमजस्य लिप्सोः ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ
निद्राचिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥६४॥५॥

किन्तु वीर की उचित लिप्सा ठहरी। कामना सफल हुई। कवि को भी लिखना पड़ा—

रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ॥१५॥७॥

अज और इन्दुमती का समागम फिर 'नन्दन' के लीलागार में किस प्रकार हुआ इसकी चर्चा पहले हो चुकी है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अज में लिप्सा ही नहीं वीरता भी भरपूर थी। इसी से तो—

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञा-
मुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा
समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव ॥७०॥७॥

अज ने इन्दुमती को 'विजयलक्ष्मी' के रूप में प्राप्त किया और जीवन में देखा न जाने कितने रूपों में। एक से एक बढ़कर। कितने सुखदाता ! सुनिए तो अज किस परिताप में कहते हैं—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥६७॥८॥

किन्तु क्या कभी धर्मवीर रघु भी अपनी पत्नी से ऐसा कह सकते थे ? विशेषतः

मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ?

स्त्रैण—निकला, रघु के वंश ही में एक ऐसा रघुवंशी भी निकला जिसने 'कला' को न जाने कहाँ पहुँचा दिया। यहाँ तक कि—

अंगसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ ॥३६॥१६॥

अच्छी मंडली जुटी कि राजा राजा न रहकर पक्का नाट्याचार्य बन गया ! सो भी किस पापरूप में ? उसकी निष्ठा तो देखिए—

लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नंगुलीक्षरणसन्नवर्तकः ॥१६॥१६॥

देखा आपने ? यहाँ गृह का ध्यान नहीं । जीवन में सब कुछ 'ललित' ही है । 'गृहिणी' तो बाधा बनी और प्रजा को तो दर्शन भी दुर्लभ हो गया । मंत्रियों का अति आग्रह हुआ तो झरोखे से पैर लटका दिया बस तर गया सारा विश्व । रही वीरता, सो उसका कहना ही क्या ? अब तो करधनी में बँधना ही दिग्विजय करना है—

अंगुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभंगकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥१७॥१६॥

प्रतिकृति—इस कामुक अग्निवर्ण का विवाह किस विधि से हुआ, इसका पता नहीं । हाँ, इसके पिता 'सुदर्शन' के विवाह के विषय में कवि का कथन है—

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥५३॥१८॥

ध्यान देने और समझने की बात है कि 'शुद्धसन्तान' के विचार से जो 'प्रतिकृतिरचना' का इतना प्रबन्ध किया जा रहा है उसका कवि की दृष्टि में कितना महत्त्व है । फोटो का सहारा आज भी खूब लिया जा रहा है अतएव इस 'प्रतिकृति' की उपेक्षा नहीं हो सकती । 'शुद्धसन्तान' की दृष्टि से भी यह विचारणीय है कि अग्निवर्ण पहले ऐसा न था । कवि कहता है—

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥१॥१६॥

कामयान—तो फिर इस 'अग्नितेजसी' बालक में इतनी कामुकता आ कहाँ से गई ? प्रतीत होता है कि इसने गन्धर्वरीति से ही अपना विवाह किया और 'प्रतिकृति' की अपेक्षा प्रत्यक्ष को ही ठीक समझा । 'विवाहदीक्षा' 'स्वयंवर' और 'प्रतिकृतिरचना' के साथ इस कवि का कौन सा भाव काम कर

रहा है, इसका भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है और यह भी कहा जा सकता है कि जीवन के विकास में विवाह-विधि का भी प्रभाव है। विवाह की सभी विधियों के उल्लेख से यहाँ कोई लाभ नहीं। संक्षेप में अग्निवर्ण को गन्धर्वराज कह लीजिए और इस ललित नायक को बस काम का पुतला ही समझिए। कवि ने न जाने क्या समझ कर इसके विषय में इतना और लिख दिया है—

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥५०॥१६॥

भला यह 'कामयान' क्या है? 'महायान', 'वज्रयान' एवं 'सहजयान' की भाँति कोई यह भी ऐसा 'यान' है अथवा केवल 'काम-यान' किंवा कामुक का द्योतक? कुछ भी हो इतना तो निर्विवाद है कि कालिदास ने अग्निवर्ण के परलोक के बारे में कुछ नहीं कहा। विरही अज को 'नन्दन' का लीलागार मिला और योगी रघु को परमपुरुष परमात्मा। एक को सच्ची भोगभूमि मिली तो दूसरे को पक्की मुक्ति। पर पता नहीं मिला क्या कर्म फल अग्निवर्ण को। जो हो, इस विवेचना से इतना तो व्यक्त ही हो गया कि कवि ने व्यक्ति को न लेकर जो 'वंश' को काव्य का विषय बनाया है उससे मानव का स्वरूप भिन्न भिन्न रूपों में झलक उठा है और एक ही क्षेत्र में अनेक चरितों का विकाश हुआ है।

दाम्पत्य—दाम्पत्य की दृष्टि से देखिए तो यहाँ भी आपको रघुवंश में कुछ और ही रूप दिखाई देगा और आप प्रत्यक्ष देख लेंगे कि दिलीप, दशरथ और राम का दाम्पत्य जीवन सर्वथा एक सा नहीं है। दिलीप और सुदक्षिणा की जोड़ी का कहना ही क्या? कवि स्वयं कहता है—

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥३१॥
कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥३२॥
तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥३३॥१॥

'आत्मानुरूपा' सुदक्षिणा को भार्या पाकर दिलीप धन्य हो गए थे और इसी से अपनी वंशवृद्धि भी चाहते थे। किन्तु दशरथ की स्थिति यह नहीं थी। उनकी तीन पत्नियाँ थीं और कवि ने तीनों को महत्त्व दिया है। विवाह के विषय में कहा है—

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः।
मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥१७॥९॥

किन्तु उनके प्रति भाव में एकता न थी। कवि ने इसको भी स्पष्ट कर दिया है—

अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा।
अतः संभावितां ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥५५॥१०॥

राजा दशरथ की योजना सफल रही और सुमित्रा को दोनों से 'चरु' का अंश मिला। राजा दशरथ के चार पुत्र हुए। तरसते एक को थे मिल गए साथ ही चार। परंतु परिणाम भी भयंकर हुआ। राम को वन और भरत को राज्य मिला। राम और भरत ने क्या किया, इसे सभी जानते हैं। किंतु अनुचित होगा इसे कालिदास की कलम में न देखना। देखिए न 'प्रिया' कैकेयी के विषय में उनका कहना है कितना कटु परन्तु सटीक—

तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः।
द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥६॥१२॥

कलह—दशरथ का दाम्पत्य जीवन इस प्रिया जाया के कारण कलहमय हो गया और अंत में उसी की क्रूरता से हो गया उनका अंत भी। किन्तु दिलीप के यहाँ कोई दुर्घटना नहीं घटी। 'अर्चिता' और 'प्रिया' का द्वन्द्व कदाचित् न था। उनका दाम्पत्य जीवन तो ऐसा निभा कि अंत में वानप्रस्थ में भी रंग वही रहा। देखिए—

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ॥
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥३॥

जी, दिलीप और सुदक्षिणा के दाम्पत्य में विषमता का नाम नहीं। परस्पर स्नेह भी इतना कि—

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥३॥३॥

मिट्टी खाए हुए मुख में इतनी सुवास कि उससे प्रिय की तृप्ति ही नहीं होती। और सुदक्षिणा तो पतिप्राणा ठहरी ही।

हाँ, दशरथ के यहाँ विषमता का वास है। 'प्रिया' का ध्यान इतना कि 'मृगया' के समय भी वह काम कर जाता है। देखिए न, मयूर इसलिए बाण के लक्ष्य से बच जाता है कि उसकी पूँछ प्रिया के केशकलाप की सुधि दिला देती है—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥६७॥९॥

किन्तु परिवार की स्थिति यह कि राम को 'युवराज' बनाना भी सुगम नहीं। कवि का कथन है—

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति।
कैकेयीशंकयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥२॥१२॥

'कैकेयी की शंका' निष्फल न गई और कुटुम्ब को भारी विपदा का सामना करना पड़ा। परन्तु यह भी तो देखिए कि कैकेयी का प्रेम भी राजा के लिए इतना कि अब उसका निवास ही हो गया है उनका प्रतिमागृह। कारण, राम को वहीं तो उसका साक्षात्कार होता है—

वेश्मानि रामः परिबर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥१५॥
कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब ! सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद् गुरुर्नः।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥१६॥१४॥

तो क्या सचमुच भरत की माता ने इस प्रकार राजा दशरथ को सत्य पर अडिग रक्खा ? यदि हाँ, तो अवश्य ही उसके विवाह में ही दोष था। उसका

'शुल्क' ही इस विषमता का कारण था। जो हो, दशरथ का दाम्पत्य जीवन दिलीप सा सुखी नहीं।

वीर्य-शुल्क—रहे राम, सो उनकी स्थिति और भी निराली है। उनके दाम्पत्य जीवन का सूत्रपात होता है 'वीर्यशुल्क' से, 'धनुर्भंग' से। कवि किस भाव से कहता है—

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥४७॥
मैथिलः सपदि सत्यसंगरो राघवाय तनयामयोनिजाम्।
संनिधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥४८॥११॥

अयोनिजा सीता का साक्षात्कार राम को हो गया, किंतु दोनों का पक्का विवाह हुआ दशरथ के आ जाने पर। कहा भी है—

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ।
कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥५३॥११॥

राम और सीता का विवाह राजसी धूमधाम से हो गया. किन्तु कभी राजभवन में उनका दर्शन हमें न मिला। हाँ, कवि ने भी कुछ समझ कर इतना लिख दिया—

रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन्।
चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥२०॥
प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम्।
कदाचिदंके सीतायाः शिश्ये किंचिदिव श्रमात् ॥२१॥
ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः।
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥२२॥१२॥

संभोग—इसी 'प्रियोपभोगचिह्न' से समझा जा सकता है कि वनवास में भी इनका गृहजीवन बना था और अपने प्रताप से जंगल में भी मंगल ही रहता था। परंतु विलासी कवि की वाणी का चमत्कार खुला है तब जब राम ने पुष्पकविमान पर सीता से कुछ कहा है। देखिए न कैसी मर्मभरी वाणी है—

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरंगाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥९॥१३॥

तो क्या यही समरस भाव राम में भी नहीं है ? है क्यों नहीं ? यदि नहीं होता तो मन में भाव ही क्यों ऐसा उठता ? आगे चलकर फिर कहते भी हैं—

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि ।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥१६॥१३॥

और अपनी स्थिति को स्पष्ट भी करते हैं। देखिए न, कभी 'मण्डनकाल' में राम स्वयं कैसा मंडन किया करते थे—

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥४९॥१३॥

वियोग—संभोग की स्थिति यह, तो वियोग की दशा भी देख लें। स्वयं राम ही कहते हैं—

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥३२॥१३॥

जी। 'अशोकलता' को सीता समझकर राम लिपटना ही चाहते थे कि लक्ष्मण ने आँसू भरे उन्हें रोक दिया। उधर सीता की भी स्थिति यह कि उन्हें इस बात की लज्जा है कि राम का झूठा निधन सुनकर भी जीवित क्यों रह गईं—

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ॥७५॥१२॥

परित्याग—राम और सीता का जीवन वन में कितना सुखी था, किन्तु घर आने पर परिस्थिति ऐसी विकट हो उठी कि राम को विवश हो लक्ष्मण से कहना पड़ा—

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥४५॥१४॥

परित्यक्ता सीता को जब इस कृपा का रहस्य खुला तब उन्होंने भी राजा राम से कहला दिया—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि मत्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥६१॥१४॥

फलतः राम ने भी किया यह कि सीता के स्थान पर उनकी 'प्रतिकृति' को

ही अपनी पत्नी का स्थान दिया। परिणाम यह हुआ कि इनका वियोगी जीवन और भी गहरा जुट गया। कवि की भाषा में—

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥८७॥१४॥

समय पाकर सीता के 'परित्यागदुःख' का अन्त हुआ, पर विधि की विडम्बना तो देखिए कि उसी के साथ अंत हो गया इनके दाम्पत्य जीवन का। सीता ने पंच के बीच दृढ़ता से कहा था—

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वंभरे देवि! मामन्तर्धातुमर्हसि ॥८१॥१५॥

'विश्वंभरा देवी' ने वैसा ही किया—

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम्।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥८४॥१५॥

भार्या की निष्ठा और भर्ता की आकुलता की कुछ भी न चली और राम के साहस को भी विधि ने रोक दिया। यह सीताहरण नहीं यह सीता का स्वागत था। होनहार भी यही था। तभी तो—

धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥८५॥१५॥

गृहस्थी—राम के दाम्पत्य जीवन की जो झाँकी मिली है वह दिलीप और दशरथ के दाम्पत्य जीवन से कितनी निराली है! उसमें जीवन की समरसता विषमता के पाट पर बही है। दिलीप के दम्पतिजीवन के मूल में पुत्र की वासना भर है। उसकी प्राप्ति से उनका संकट दूर हो जाता है और उन्हें परलोक की सूझती है। दशरथ के यहाँ भी पुत्र का अभाव था, पर भाव हुआ तो ऐसा कि उससे शरीर ही छूट गया। किन्तु राम की स्थिति कुछ और ही है। सीता की मर्मभरी वाणी में—

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥६३॥१४॥

बात है भी यही। 'लोकवाद' के सामने राजा का व्यक्तिवाद हेय है। राजा का आत्मसुख लोकसुख पर निछावर है। इसी से वन के दूसरे साथी प्रिय लक्ष्मण को भी तो इसी घाट उतरना पड़ा? दुर्वासा का शाप तो निमित्त मात्र था। उसे भी प्रजा की पुकार समझ लें तो स्थिति आप ही मुखर हो उठे। हाँ, तो लक्ष्मण ने भी योगबल से शरीर छोड़ भ्राता को संकट से उबार लिया। कवि कहता है—

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित्।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥६५॥१५॥

राम की गृहस्थी की महिमा क्या कहिए? उसका कहीं विवरण भी तो हो? जी। परन्तु राम ने अपने आप ही विमान की यात्रा में बहुत कुछ उसको कह दिया है। उनका यह कथन भी सीता के गृहिणीरूप को व्यक्त करने में परम समर्थ है। कहते, स्वयं रामजी ही श्रीसीता जी से कहते हैं—

एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥३४॥१३॥

'घटाम्बुसंवर्धितबालचूता' से प्रकट ही है कि इन आम्रवृक्षों को लगाया गया था फल खाने की इच्छा से नहीं। नहीं, इसका तो रहस्य है कुछ और ही। सुनिए न परम कारुणिक वाल्मीकि मुनि सीता से कहते हैं—

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥७८॥१४॥

'प्रजा' में प्रीति उत्पन्न करने का कैसा सुगम मार्ग है! आज परोपकार की वेदना ही तो सीता को इतना सता रही है? सुनिए न कितना गहरा विषाद है—

निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात्।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥६४॥१४॥

पुरुषोत्तम—'अयोनिजा' सीता के अन्तर्धान होने पर राम ने किस प्रकार शासन किया और उसका उचित विभाजन कर साकेतवासियों के लिए सरयू को स्वर्गसोपान बना दिया इसके कहने की आवश्यकता नहीं। वह भी 'पुरुषोत्तम' राम की लीला ठहरी। सीता और राम के दाम्पत्य जीवन में

मानव को जो आदर्श मिला वह यह है कि वास्तव में पति-पत्नी का संबंध तन का नहीं मन का है। वह बार बार होना भी नहीं है। सुख और दुःख की सीमा के परे उसकी स्थिति है। इसी से तो 'लालिता और परित्यक्ता सीता भी दृढ़ता से कह सकती है कि अगले जन्म में भी राम ही भर्ता हों, पर हाँ, वियोग न हो—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥६६॥१४॥

और फलतः राम भी यज्ञ में उसकी प्रतिकृति को उसका स्थान दे यह प्रत्यक्ष दिखा देते हैं कि वस्तुतः वही उनकी देवी है। उसका शरीर सर्वथा शुद्ध है। राम ने लक्ष्मण के मुँह से सीता का सन्देश सुना तो उनका धीरज जाता रहा और आँसू की फुहार से उनका मुख-मंडल धूमिल पड़ गया। कवि की भाषा में—

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥८४॥१४॥

क्रीडा—राम और सीता के जीवन में दाम्पत्य की पराकाष्ठा हो गई। प्रेम के 'ललित' रूप का भी यहाँ दर्शन हो गया। किन्तु इतने सूक्ष्म रूप से लोक का पेट कहाँ भरता है? फलतः कुश की जल क्रीडा भी सामने आई और वहाँ शृंगार ने भी बहुत कुछ खुल खेला। देखिए न—

वर्णोदकैः काञ्चनशृंगमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥७०॥
तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम् ।
आकाशगंगारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥७१॥१६॥

हाँ, 'अवरोधप्रमदासख' पर ध्यान रहे नहीं तो कुश और अग्निवर्ण का भेद परिलक्षित न हो सकेगा।

वीरादर्श—'अवरोध' की रुद्धभूमि को छोड़ कर जो हम वीर के मुक्त क्षेत्र में उतरते हैं तो यहाँ भी कवि की कला कुछ और ही करतब दिखाती है। रघुवंश में एक दो नहीं, अनेक वीरों का चरित है और है अनेकों का

कीर्तन । अत एव कवि ने सभी प्रकार के वीरों का आदर्श उपस्थित कर काव्य को चमका दिया है। निश्चय ही एक व्यक्ति को लेकर काव्य रचने में उसको यह सफलता नहीं मिलती । नायक और प्रतिनायक को लेकर जो काव्य खड़े होते हैं उनमें पात्रों का बाहुल्य हो सकता है, किन्तु कहाँ मिल सकता है उनमें यह अद्भुत सौंदर्य जो इस प्रकार रघुवंश में सहज ही प्राप्त हो जाता है? एक ही कोटि के प्राणियों का ऐसा अनुपम काव्य अन्यत्र कहाँ? कविने आरम्भ में ही 'वंश' का गुण गान कुछ समझकर ही किया है।

दिलीप---दिलीप का कहना ही क्या? कवि की भारती में---

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥१३॥
सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥१४॥
आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥१५॥१॥

देखिए न कि दिलीप का शरीर कैसा शोभन है, समाज में उसका क्या स्थान है, और क्या है उसकी विश्व में व्यक्तिगत साधना भी। 'देह', 'तेज' और 'प्रज्ञा' की त्रिपुटी में दिलीप का सत्व बना है। कवि ने थोड़े में कितना कुछ कह दिया है! अब इसके आगे कुछ कहने का प्रयत्न तो करें जो कोरी कल्पना की उड़ान नहीं प्रत्युत यथार्थ हो। कष्ट न करें। देखिए, वही फिर कहता है---

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुःप्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥३४॥४॥

रघु---रघु शरीर में दिलीप से बढ़कर निकला, किन्तु 'विनय' के कारण वह उनके सामने कभी बीस न पड़ा। बढ़ा भी कैसे? सुनिए न, उसी कवि की वाणी है---

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥३२॥३॥

अज—किन्तु कवि की कला की इति अभी कहाँ ? अभी तो 'अज' और दशरथ के विषय में भी कुछ कहना है न ? सो लीजिए। अज के विषय में उसका निवेदन है—

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥३७॥५॥

दशरथ—कविने 'रघु' को 'दिलीप' से बढ़ा दिया और 'अज' को उसका प्रतिरूप ही बता दिया, किन्तु जब 'दशरथ' का प्रसंग आया तब उसने पैंतरा ही बदल दिया और किस बुद्धि से लिख दिया—

दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम्।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥५॥६॥

अब आप ही कहें कि 'दशरथ' का 'आकार' कैसा था। 'प्रकार' में तो वह 'रघु' तथा 'अज' से न्यून नहीं है न ?

राम—और राम ? सो उनकी बात ही निराली ठहरी। 'पुरुषोत्तम' की किसी से तुलना ही क्या ? इसी से उनके जन्म को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है—

निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत्।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥७२॥
तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥७३॥
कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः।
रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥७४॥
दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ॥७५॥
पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥७६॥
संतानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी।
सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाऽभवत् ॥७७॥१०॥

कौशल—इस प्रकार हम देखते हैं कि आलम्बन के वर्णन में कवि ने वीर का जो रूप खड़ा किया है वह सर्वथा उसके अनुकूल है। पात्रों की विविधता के कारण जहाँ उसे उसके अनेक रूपों के प्रदर्शन का अवसर मिला है वहीं उसका कर्म भी कठिन हो गया है। परन्तु उसका कौशल कुछ ऐसा अद्वितीय है कि उसके हाथ में पड़ कर यही जटिलता पानी हो जाती है और अपनी वह आभा दिखाती है कि मन सहज ही उस पर मोह जाता है। है, ऐसी ही कुछ कालिदास की मोहिनी कला है कि कविता उनके हाथ में पड़ कर खिल उठती है और सहृदय का हृदय उसके रस से आप्लावित हो उठता है।

राजनीति—'आलम्बन' के रूप में राजा के वर्णन में कवि ने जहाँ इतनी निपुणता दिखाई है वहीं उसकी नीति के निदर्शन में भी उसी पटुता का परिचय दिया है। राजदृष्टि से देखा जाय और 'राजाधिराज' की स्थिति को ठीक से समझने का उद्योग किया जाय तो निश्चय ही हमें सबसे अधिक महत्त्व देना होगा 'अतिथि' को। कारण यह कि उसी को कवि ने इस रूप में भरपूर अंकित किया है और फलतः उसे कहा भी है—

आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥२५॥१७॥

और कवि का स्पष्ट कथन है उसकी नीति के विषय में भी—

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥४७॥१७॥

किन्तु क्या इसके पूर्वजों की भी यही नीति न थी? देखिए न, दिलीप की नीति भी तो प्रायः यही है—

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥१६॥१॥

और रघु भी तो प्रायः इसी पद्धति पर चल रहे हैं—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥८॥४॥

एवं अज की स्थिति है—

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥६॥८॥

कह सकते हैं कि यह तो नृपगण के प्रति का व्यवहार रहा। सो कुछ सामान्य नीति का भी तो पता होना चाहिए, जिससे स्थिति के स्फुट होने में विलम्ब न हो। सो लीजिए। वह भी सामने है—

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥७॥८॥

शील—दिलीप, रघु और अज की प्रकृति में जो अन्तर तथा उनके शील में जो भेद है वही यहाँ भी परिलक्षित है। कवि ने दिलीप को जिस भाव से लिया है उसी भाव से लिया है उसने अतिथि को भी, किन्तु दोनों में भेद यह किया है कि जहाँ प्रथम के व्यक्तिगत रूप को विशेष महत्त्व दिया है वहीं द्वितीय के राजगत रूप को। प्रथम का 'भीम' ही द्वितीय का 'शौर्य' और द्वितीय की 'नीति' ही प्रथम का 'कान्त' है। रहे रघु और अज, तो उनकी भी देख लीजिए। रघु के 'नातिशीतोष्ण' को हाँ तो अज ने 'न खरो न च भूयसा मृदुः' के रूप में अपनाया है? परन्तु रघु की 'युक्तदण्डता' अज में कहाँ है? वहाँ तो इसी से कवि को 'सदय' अज को लेना पड़ा है। यहाँ भी कवि ने समझ कर ही लिखा है 'न च भूयसा मृदुः' न कि 'न च मृदुः'। कारण यह कि 'न खरो' में तो अज रघु के साथ हैं पर उनसे कुछ अलग हैं तो हैं इसी 'न मृदुः' में। अज निश्चय ही व्यवहार में रघु से कहीं अधिक मृदु हैं। कारण, प्रेमी जो ठहरे।

नीति—अच्छा, तो दशरथ और राम की नीति का दर्शन भी यहीं चाहते हैं? लीजिए दशरथ की नीति है—

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥६॥९॥

'समता' और 'नियमन' के आधार पर दशरथ का शासन खड़ा था। 'समता' में वही बात कही गई है जो पहले रघु तथा अज के विषय में कही गई थी। 'अति' से 'समता' का सम्बन्ध नहीं। इसमें तो सबका उचित ध्यान रखना ही पड़ता है। साधुजनों के साथ तो 'समता' का व्यवहार पूरा पड़ जाता है पर दुष्टों का दमन समता से नहीं हो पाता। निदान उसके लिए दशरथ को 'नियमन' का आश्रय लेना पड़ा। प्रतीत होता है कि समय के साथ-साथ 'असत्' भी बढ़ रहा

था जिसके निराकरण के निमित्त 'नियमन' का उपाय करना पड़ा और आगे चल कर जिसके हेतु भगवान् विष्णु को अवतार लेना पड़ा। उनके शासन में लोक की स्थिति यह रही कि उसकी सारी चिन्ता जाती रही। कवि ने भी कहा—

तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान्।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेव पुत्री ॥२३॥१४॥

रामराज्य—राम के राज्य में 'अर्थ' भरा था और प्रजा की सारी 'क्रिया' ठीक से चलती थी तो कोई बात नहीं। भला जिस राजा में 'लोभ' न होगा और जिसके राज्य में 'विघ्नभय' को स्थान न मिलेगा उसके शासन में फिर कष्ट काहे का होगा? राम प्रजा के लिए पितातुल्य थे तो कोई बात नहीं। दिलीप के सम्बन्ध में भी तो कवि ने यही लिखा था—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥२४॥१॥

किन्तु राम की बड़ी विशेषता तो यह है कि उनके शासन में किसी को पुत्र की कामना न रही। मानो उनको पाकर सभी पुत्रवान् हो गए। शोकहर्त्ता राम का प्रताप ही ऐसा था कि प्रजा भी 'पुत्री' बन गई। 'रामराज्य' के अनन्तर कुश राज्य की चर्चा ही व्यर्थ है। कवि ने कुश को राज्य नहीं 'राजधानी' के लिए चुना है और फलतः उसी का रोना उनके शासन में व्यक्त हुआ है। कुश राजधानी और राजलोक में ही अपनी कला दिखाते हैं। फिर भी कवि समय पा कर इतना निर्देश कर देता है—

जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥५३॥१६॥

तात्पर्य यह कि कुश का शासन भी 'मृदु' ही रहा और प्रजा उनके राज्य में सर्वथा सुखी रही। असुर-संहार के निमित्त इन्द्र के सहायक बने तो वीरगति को प्राप्त हो वहीं के हो रहे।

गुप्तचर—कालिदास की जिस राजनीति का विचार अभी तक किया गया है उसमें कहीं 'गुप्तचर' का नाम नहीं आया है। अतएव देखना चाहिए कि कवि के यहाँ वास्तव में उसका विधान क्या है। सो कौन नहीं जानता कि दिलीप से

दशरथ तक कहीं उसका उल्लेख भी नहीं पाया जाता? हाँ, राम के प्रसंग में अवश्य पाया जाता है कि उनके यहाँ 'भद्र' नाम का कोई गुप्तचर भी है। कहते हैं—

स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥३१॥
निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम्।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव! देव्याः ॥३२॥१४॥

'मानवदेव' राम से 'अपसर्प' भद्र ने जो कुछ कहा वह पौरों की बात ठहरी। जानपदों में उसकी स्थिति क्या थी, पता नहीं। परन्तु इतना प्रकट ही है कि भद्रपुरुषों की भद्रता राम के एक ही चरित की स्तुति नहीं करती। और वह चरित है 'रक्षोभवनोषिता' सीता का परिग्रहण। तो क्या कहा जा सकता है कि कवि की दृष्टि में 'अपसर्प' वा 'गुप्तचर' का लगाव है 'भद्र' से? 'भद्र' ही कारण हैं गुप्तचर के क्या? क्या 'विजितारिभद्र' के शासन की बढ़ी 'भद्रता' ही 'अपसर्प' के विधान का कारण बनी? स्थिति जो कुछ भी हो, पर इतना स्पष्ट है कि कालिदास ने गुप्तचर का यहीं उल्लेख किया है और अतिथि के बारे में खुल कर लिख दिया है—

न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः।
अदृष्टमभवत्किंचिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥४८॥१७॥

'प्रणिधि' के विधान में अतिथि कितना निपुण था और समस्त राज्य में उसका कैसा जाल बिछाया था, इसका ठीक-ठीक भेद जानना है तो कृपया ध्यान से पढ़ें—

परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः।
सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥५१॥१७॥

चरचक्षु—अतिथि से इन्हीं अपसर्पों के कारण कोई बात छिपी न थी और इन्हीं के द्वारा वह सबका मर्म पाता रहता था। निश्चय ही उसमें पौरुष और वह पुरुषार्थ नहीं था जो दशरथ अथवा दिलीप में था, किन्तु इन्हीं गुप्तचरों के कारण उसका शासन भी सुदृढ़ था। कारण कि चरचक्षु से 'बलाबल' का बोध यथार्थ होता रहता था और वह 'बलाबल' का विचार कर ही किसी पर आक्रमण करता था। कहा भी है—

परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ।।५६।।१७।।

तात्पर्य यह कि पौरुष का स्थान युक्ति को मिल गया था और अब गुप्तचर का महत्त्व अनिवार्य था। कहाँ दिलीप का प्रताप था कि 'पृथिवी' का शासन 'एकपुरी' की भाँति होता था—

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ।।३०।।१।।

कहाँ दशरथ का पराक्रम था कि 'एकरथ' से ही पृथिवी को जीत लिया और सागर ने स्वयं उसका जयघोष किया—

अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसंपदः ।।११।।९।।

और कहाँ अतिथि की यह स्थिति हो गई कि फूँक फूँक कर आगे पैर बढ़ाना पड़ा। कहने को तो कवि ने इसके संबंध में भी स्पष्ट कह दिया कि अभिषेक की वेदी सूखी नहीं कि दुःसह प्रताप सागर तक पहुँच गया—

यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ।।३७।।१७।।

किन्तु रहस्य तब खुला जब वहीं कवि ने कृपा कर इतना और भी कह दिया—

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न संगताः ।।३८।।१७।।

अमात्य—अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। यदि थोड़ा ध्यान से देखा जाय तो आप ही स्फुट हो जाय कि अतिथि के शासन में गुप्तचरों की भाँति मंत्रियों का महत्त्व भी विशेष बढ़ गया है और फलतः प्रतिदिन उनकी मंत्रणा होती है—

मन्त्रं प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः ।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ।।५०।।१७।।

अस्तु, यही कारण है कि कवि ने अतिथि को 'विश्वास' के रूप में देखा है और अंत में उसके राज्य के बारे में लिखा है—

इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभू—
यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर—
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥८१॥१७॥

सचमुच 'दण्डोपनतचरित' के बिना साम्राज्य की सच्ची प्रतिष्ठा नहीं होती और 'लोकपाल' भी लोक-पालन का काम ठीक से नहीं करते । कालिदास ने इस प्रकार शासन की व्यापक व्यवस्था का विधान अतिथि में प्रतिष्ठित कर उसके चरम रूप का प्रदर्शन कर दिया है और यह प्रत्यक्ष दिखा दिया है कि वस्तुतः शासन क्या है और क्या हैं उसके सच्चे उपकरण भी ।

देखिए । दैवदुर्विपाक से मृगयाविहारी ध्रुवसन्धि की मृगया में मृत्यु हो गई तो मंत्रियों ने मिल कर उसके शिशु सुदर्शन को राज्यसिंहासन दिया । कारण कि उसके बिना प्रजा अनाथ हो रही थी । कवि कहता भी है—

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥३५॥
स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम् ।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥३६॥१८॥

प्रताप—ध्यान देने की बात है कि अमात्यवर्ग की एकमति का कारण है एक तो 'प्रकृति' का 'अनाथ' और 'दीन' होना तथा दूसरे शिशु सुदर्शन का 'कुलतन्तु' होना । यदि वह भी न होता तो क्या होता, इसका विचार कवि के यहाँ नहीं । उसके यहाँ तो इसी की पुत्रवधू का गर्भाभिषेक है.। फिर भी रघुकुल का प्रताप कहिए कि इसका भी तेज जगा और जो कुछ कहा समुद्र तक मान्य हुआ । कालिदास की रचना ठहरी । टुक ध्यान दें—

पर्यन्तसंचारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् ।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥४३॥
निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
तेनैवशून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥४४॥१८॥

'स्मेरमुख' सुदर्शन की मुसकान से यदि अरिसुन्दरियों का मुख

तिलक-विहीन हो गया तो कोई बात नहीं पर उस स्मितमुख के पीछे जो बल था उसकी उपेक्षा क्यों ? देखिए न, उसी कवि का तो यह भी कहना है—

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ।।४६।।१८।।

भाव यह कि श्रुतवृद्धों के प्रसाद से सुदर्शन भी दण्डनीति में सफल रहा। स्मरण रहे, कहाँ तो इस वंश की स्थिति यह थी कि 'महाराज' आप ही सब कुछ कर लेते थे और 'सेना' तो शोभा भर को थी और कहाँ उसकी स्थिति यह हो गई कि शिशु शासक को सभी को सँभालना पड़ा। फिर भी रघुवंश का तेज न मिटा। कारण—

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम् ।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ।।५०।।१८।।

शिक्षा—'जन्मान्तर' में जिसका विश्वास नहीं उसका तो कहना ही क्या ? फिर भी 'पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः' को 'पूर्वजदृष्टपाराः' कर के बहुत कुछ समझा जा सकता है और कवि की भाषा का बोध कराया जा सकता है। जो हो, सुदर्शन के वीर जीवन की एक झाँकी है—

व्यूह्य स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रे स विनीयमानः ।।५१।।१८।।

रघुवंशी राजकुमार की शिक्षापद्धति जिस वीर को दृष्टि में रख कर बनी थी वह 'रघु' ही तो था ? रघु की वेषभूषा भी तो यही है—

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ।।३१।।३।।

किन्तु सुदर्शन का भाग्य कहाँ कि 'दिलीप' सा पिता शिक्षक मिले ! उसका पिता तो मृगया के व्यसन में सिंह के पंजे में आ गया था न ? फिर भी अमात्यवर्ग ने उसकी शिक्षा-दीक्षा पर पूरा ध्यान दिया और फलतः वह भी 'कुलव्रत' में वीर निकला और जीवन के अंत में 'नैमिष' का भागी बना। निदान—

तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ।।२।।१६।।

आशय—तात्पर्य यह कि 'दिलीप' से 'सुदर्शन' तक 'रघुवंश' में जितने शासक हैं सभी अपने अपने रूप में अपने अपने गुण के अनुसार अपना काम करते हैं। फिर भी दिलीप और सुदर्शन पर कवि का ध्यान इसलिए कुछ विशेष है कि दिलीप 'रघु' के पिता हैं और सुदर्शन 'अग्निवर्ण' के जनक। वास्तव में रघुवंश में तीन पात्र ऐसे हैं जिन्हें रघुवंश का त्रिकोण कहना चाहिए। आधार के रूप में एक कोण का नाम है 'रघु', तो दूसरे का नाम है 'अग्निवर्ण'। 'राम' शीर्षकोण का नाम है। रामपिता के कारण 'दशरथ' को भी विशेष महत्त्व मिला है। मृगया का व्यसन ही उनके विनाश का भी कारण बना। कुछ भी हो, विचारणीय यहाँ यह है कि वास्तव में वीर का निदर्शन कवि ने किया किस रूप में है। सो स्पष्ट ही है कि प्रतीक के रूप में ग्रहण कर सकते हैं हम मानव रघु को ही। रघु का ही आदर्श है हमारे सामने 'युद्धवीर' का, 'दानवीर' का, और रघु ही है आदर्श हमारे 'धर्मवीर' का। अतएव रघु ही है पर्याय हमारी दृष्टि में 'वीर' का। 'अज' को हम 'रघु' का प्रतिद्वन्द्वी नहीं पूरक कहते हैं और फलतः उन्हें देखते भी हैं दूसरी ही दृष्टि से। उन्हें 'एकवीर' कहने में कालिदास को अपार सुख मिलता है और युद्धभूमि में उनका रूप भी रघु से कहीं अधिक गहरा दिखाई देता है। परन्तु तो भी कहना ही पड़ता है कि वस्तुतः वह वीर का क्षेत्र नहीं शृंगार की भूमि है और है उसके साथ 'रघु' का तेज भी। साथ ही विजयश्री हाथ लगती है 'गान्धर्वास्त्र' के कारण। देखिए न—

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किंचित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥६०॥
प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥६१॥
ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम्।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥६२॥॥७॥

पराक्रम—स्थिति है तो यही, किन्तु इसी में कुमार का पराक्रम भी दर्शनीय है। कुमार अज की वीरता में दोष नहीं। वह सभी प्रकार से परिपूर्ण है। उसमें जो कुछ त्रुटि रही उसकी पूर्ति गुरु वसिष्ठ की कृपा से हो गई। फिर तो—

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥४॥८॥

उधर रघु की स्थिति यह है कि युवराज की दशा में ही उसने इन्द्र को ललकारा और कहा कि समर्थ हो कर कैसा मलिन काम कर रहे हैं। रघु का सत्त्व तो देखिये। किस भाव से कहता है—

तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥४६॥३॥

और जब यशोधन इन्द्र ने यश की दुहाई दी तब रघु ने भी स्पष्ट कहा कि अच्छा रघु को जीत तो लें—

ततः प्रहस्यापभयः पुरंदरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥५१॥३॥

इतना कहना था कि रघु में उत्साह छा गया और वीर का दर्प भी उभर आया—

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥५२॥३॥

परिणाम से प्रयोजन नहीं। दिखाना यह है कि कवि ने आरम्भ से ही रघु को वीर के रूप में देखा है और सभी प्रकार से उसे वीर का प्रतीक माना है। इन्द्र के हृदय पर उसकी वीरता की छाप यह है कि वह 'अश्व' को छोड़ कर कुछ भी देने को तैयार हैं—

असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥६३॥३॥

रघु को राज्य मिला तो दिग्विजय की आवश्यकता पड़ी और युद्धभूमि में 'युद्धवीर' का सच्चा रूप निखर आया। उसे 'धर्मविजयी' की उपाधि मिली। किन्तु रघु का रघुत्व टपका 'विश्वजित् यज्ञ' में, जिसमें कि उसने अपना 'सर्वस्व' दान कर दिया। युद्धवीर रघु से 'दानवीर' रघु कहीं बढ़ कर निकला। उसका पराक्रम तो देखिए कि उसके प्रताप से घर बैठे सोने की वर्षा हुई और फिर 'मृण्मय' पात्र को देख कर हताश होने वाले कौत्स को फिर और अधिक कुछ लेते भी न बना। रघु की दशा ठहरी, हाँ दिग्विजयी रघु की—

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥२॥५॥

कौत्स—ठीक ही तो है । कितना ठीक कहा है कौत्स ने इस 'आतिथेय' को—

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिंचनत्वं मखजं व्यनक्ति ।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥१६॥५॥

कारण ठहरा यह न्याय कि धन की गति दान में ही है । कवि ने कहा भी है—

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।

कौत्स सा याजक यजमान को सताता नहीं । नहीं, उसकी दीनता को देख कर आप ही खसक जाना चाहता है । किन्तु रघु सा यजमान सोचता है अपने आप—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः ॥२४॥५॥

'परीवाद' के 'नवावतार' से यह दानवीर कैसे मुक्त हुआ, इसे कवि ने भलीभाँति दिखा दिया है और अंत में स्वयं स्पष्ट कर दिया है—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥३१॥५॥

अपवर्ग—अधिकदाता रघु की दानवीरता की समता क्या ? उसे अनुपम 'दानवीर' समझिए । 'धर्मविजयी' तो वह पहले भी था, परन्तु अभी उसकी धर्मवीरता का स्वरूप क्या ? कवि ने यहाँ रघु को और भी आगे बढ़ा दिया है । अश्वघोष के 'सर्वसिद्धार्थ' ने कभी कहा था—

द्रष्टुं प्रियं कः स्वजनं हि नेच्छेन्नान्ते यदि स्यात्प्रियविप्रयोगः ।
यदा तु भूत्वापि चिरं वियोगस्ततो गुरुं स्निग्धमपि त्यजामि ॥३२॥६॥
[बुद्धचरित]

किन्तु कालिदास के रघु को यह न्याय न भाया और प्रिय पुत्र के प्रेम पर उन्होंने पूरा ध्यान दिया । 'निवृत्ति' का कितना उत्तम उदाहरण है—

रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥१३॥

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥१४॥८॥

सच है सर्प की भाँति त्वचा का मोह रघु के शरीर से जाता रहा और राज्यश्री भी पुत्रवधू की भाँति सेवा में लगी। जिससे घर घर भीख माँगने का रघु के सामने प्रश्न ही नहीं रहा। कालिदास ने रघु को क्या कुछ कर दिखाया है और उनके साथ ही अजको भी क्या कुछ करके देखा है, इसको ठीक से जाने बिना रघुवंश का मर्म नहीं मिल सकता और कवि की भारती भी अपना भेद नहीं खोल सकती। निदान इसकी भी कुछ चिन्ता होनी चाहिए।

रघु की भाँति ही अज को भी धर्मवीर समझ लेना कुछ कठिन है। हाँ, उसके कर्मवीर होने में कोई सन्देह नहीं। रघुवंश के पाठकों के मन में एक उलझन अवश्य बनी होगी कि कवि ने रघु और अज का वर्णन साथ साथ क्यों किया। देखिए न, कवि कहता है—

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥१६॥
अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥१७॥
नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥१८॥
अनयत्प्रभुशक्तिसंपदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥१९॥
अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।
इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥२०॥
पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥२१॥
न नवः प्रभुरा फलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥२२॥
इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥२३॥८॥

प्रेय और श्रेय—कालिदास के इस विस्तृत वर्णन में अथ से इति तक जो बात कही गई है वह है 'अपवर्गमहोदय' तथा 'उदयापवर्ग'। अर्थात् एक ओर जहां अज 'अभ्युदय' में लीन हैं वहीं रघु 'अपवर्ग' में तत्पर। 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' की यह होनी कुछ यों ही नहीं हो रही है। नहीं, कवि ने जान बूझ कर यहाँ 'प्रेय' और 'श्रेय' का मेल दिखाया है। प्रेय के लिए बाह्य और श्रेय के लिए आभ्यन्तर जगत् को किस प्रकार जीता जाता है, इसे आप यहाँ भली भाँति देख सकते हैं और सहसा सम्यग्रूप से समझ सकते हैं कि वस्तुतः 'अभ्युदय' और 'अपवर्ग' में कोई द्वेष नहीं। हाँ, गहरा मेल अवश्य है।

प्रश्न उठ सकता है कि कालिदास को 'प्रेय' और 'श्रेय' की ऐसी पड़ी क्या जो रघुवंश में इनका ऐसा विधान कर दिया। निवेदन है, फिर अश्वघोष का अध्ययन कीजिए और उनके आग्रह को समझिए। और तो और 'सिद्धार्थ' से 'आश्रम' में कहा जाता है—

कश्चिद्द्विजस्तत्र तु भस्मशायी प्रांशुः शिखी दारवचीरवासाः।
आपिङ्गलाक्षस्तनुदीर्घघोणः कुण्डैकहस्तो गिरमित्युवाच ॥५१॥
धीमन्नुदारः खलु निश्चयस्ते यस्त्वं युवा जन्मनि दृष्टदोषः।
स्वर्गापवर्गौ हि विचार्य सम्यग्यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति ॥५२॥
यज्ञैस्तपोभिर्नियमैश्च तैस्तैः स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः।
रागेण सार्धं रिपुणेव युद्ध्वा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः ॥५३॥
तद्बुद्धिरेषा यदि निश्चिता ते तूर्णं भवान् गच्छतु विन्ध्यकोष्ठम्।
असौ मुनिस्तत्र वसत्यराडो यो नैष्ठिके श्रेयसि लब्धचक्षुः ॥५४॥७॥

'अराड' और 'बुद्ध' के दर्शन से अभी कोई प्रयोजन नहीं। प्रसंग 'प्रेय' और 'श्रेय' का है और है 'उदय' तथा 'अपवर्ग' का। अतः ध्यान देना होगा हमें अश्वघोष के इस कथन पर—

रागेण सार्धं रिपुणेव युद्ध्वा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः।

'बुद्धचरित' के इस कथन को 'रघुवंश' में लिया गया है 'रघु' के रूप में, किन्तु किस हृदय के साथ! कवि ने स्फुट कह दिया—

अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥१०॥८॥

रघु को वस्तुतः विषय और उसके भोग से विराग तो हो गया परन्तु उससे विरोध की उनके मन में न ठनी । अज का आग्रह हुआ तो हृदय के कान से सुना गया और प्रजा के बीच में घर को ही वन बना लिया गया । 'राग' की हत्या न हुई । नहीं । उसको भी सहायक बना लिया गया । फल यह हुआ कि—

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥२४॥८॥

'सत्त्ववान्' रघु योगसमाधि के द्वारा परमपद को प्राप्त हुए तो 'रागवान्' अज ने किया यह कि—

श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥२५॥
अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥२६॥८॥

शव का अग्निसंस्कार कितना दारुण होता है । धर्म्म न होने पर भला कोई अज उसे कर सकता है ? किन्तु 'पिण्डोदकक्रिया' का लोप कोई 'पितृभक्त' भला कभी कर सकता है ? फलतः अज ने उसका पालन किया । उस 'सत्त्ववान्' रघु के हेतु नहीं । नहीं, वह तो अपने 'राग' के कारण किया गया किसी रागवान् द्वारा ।

प्रेम—अज जैसे रागवान् प्राणी के विषय में यह जान रखना चाहिए कि जब संस्कारजन्य प्रेम में उसकी यह दशा है तब वासनाजन्य प्रेम में तो उसकी स्थिति ही कुछ और होगी । उसके सामान्य शील के प्रति कवि का कथन है—

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥३१॥८॥

बल, विद्या, धन और गुण सभी परोपकार के निमित्त था । वह रागवान् सचमुच औरों के लिए ही जीता था । उस प्रेमवान् का प्रेम भी कितना प्रबल था कि उसकी प्रिया फूल की माला से आहत हो गिरी क्या, वह भी उसी के साथ गिर पड़ा और कवि ने भी वज्र की लेखनी से टाँक दिया—

वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥३८॥
उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः ।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥३९॥८॥

'समदुःख' की भी सीमा होती है । परिधि को पार करने की उसमें क्षमता नहीं । फलतः नाना उपचार से अज तो जी उठे पर इन्दुमती का प्राण पखेरू न फिरा । उसका हंस अपने निर्मल स्थान में जा रहा । कवि ने भी बड़े भाव से कह दिया—

नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥४०॥८॥

'नृपति' यदि व्यक्तिमात्र होता तो क्या होता, इसका कहना कदाचित् कुछ सरल है । प्रेम की साधना में अज किसी से पीछे नहीं । विश्व का कोई भी प्रेमी देख सकता है कि किस प्रकार घुल घुल कर उसने अपनी प्रिया के लिए प्राण दिया और अंत में पुत्र को राज्य दे 'प्रायोपवेशन' का व्रत लिया । परन्तु जो बात अन्यत्र कहीं नहीं मिलती वह है प्रेम पर धर्म और कर्म का यह अंकुश । धर्म की इसी भावना के क्षीण पड़ जाने का परिणाम है कि आज प्रेम के क्षेत्र में वासना का राज्य दिखाई देता है और लोग समाज की उपेक्षा कर अपनी अलग धूनी रमा रहे हैं । प्रेम की भूमि में अज की खेती होती तो प्रेमी को न तो बावला बनने का काम करना पड़ता और न पहाड़ खोदने का साहस । सचमुच मर्यादा के भीतर यदि प्रेम का दर्शन और राग का साक्षात्कार करना है तो निश्चय ही 'अज' का अध्ययन करें और यह सभी प्रकार जान लें कि वास्तव में किसी वियोगी का प्रेमयोग क्या है जो वह प्रिया की 'प्रतिकृति' और स्वप्नदर्शन से अपने जीवन का निर्वाह करता और अपने कर्तव्य से मुक्त हो अन्त में उपवास कर उसी में लीन हो नित्यविहार में मग्न हो जाता है । स्मरण है न कालिदास का यह कथन—

पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ ।
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥९५॥८॥

प्रवृत्ति-निवृत्ति—अस्तु, अब सरलता से कहा जा सकता है कि वस्तुतः रघुवंश में 'रघु' और उनके 'वंश' अज को निवृत्ति और प्रवृत्ति के आदर्श के रूप में देखा गया है और दोनों में सहज स्नेह दिखा यह प्रकट किया गया है कि तत्त्वतः दोनों का विवाद वा विरोध नहीं। 'सत्त्ववान्' का 'रागवान्' से कोई लगाव ही न रहे और वह घर छोड़ कर वन चला ही जाय, यह कोई अनिवार्य बात नहीं। इसी प्रकार यह भी अनिवार्य नहीं कि कोई रागवान् अपने कर्तव्य को तिलाञ्जलि दे नित्य प्रिया के प्रलाप में ही मग्न रहे। नहीं, कालिदास की दृष्टि में तो मानव की मानवता दोनों के समन्वय में ही है। मानव मानवता के प्रकाश में मोक्ष चाहता है तो रघु का अनुगामी बने। वह किसी के आँसू का आदर कर अपने स्थान पर ही अपना आसन जमा सकता है और प्रवृत्ति के मार्ग में बाधक भी नहीं बन सकता। इसी प्रकार प्रवृत्ति का प्राणी भी निवृत्ति से अलग रहने की चेष्टा न कर उसके प्रकाश से प्रभावित हो सकता है और उसकी छाया में अपना अनुपम राज्य स्थापित कर सकता है। भाव यह कि कालिदास ने 'प्रवृत्ति तथा निवृत्ति' अथवा 'राग' तथा 'सत्त्व' को कर्मभूमि और जीवनक्षेत्र में ही विकसित करने का उपदेश दिया है, कुछ घर-बार छोड़ कर घर घर भिक्षा माँगने अथवा हाय हाय करने में नहीं।

समन्वय—रघु फिर भी निवृत्ति के पोषक हैं और अज प्रवृत्ति के पालक। कालिदास ने सम भाव से जिस रूप को लिया है उसका नाम है 'पुरुषोत्तम' राम। वह 'हरि' ही नहीं 'पुरुषोत्तम' भी है। उसके 'राग' की स्थिति यह कि प्रिया के वियोग में व्याकुल हो लता को सीता समझ उससे चिमट जाना चाहता है और उसके 'सत्त्व' की दशा यह कि इसी को किस निष्ठुरता से 'गर्भ' का मोह छोड़ लक्ष्मण के साथ व्याज से वन में भेज देता है। यही नहीं, जहाँ कहीं आप देखेंगे आप उसे पूर्ण 'रागवान्' वा पूर्ण 'सत्त्ववान्' पावेंगे। उसमें 'राग' तथा 'सत्त्व' दोनों ही समभाव से विराजमान हैं। फलतः वह स्वयं तरता ही नहीं। नहीं, न जाने कितनों को तार भी देता है। कवि स्वयं स्पष्ट लिखता है—

> उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना।
> चक्रे त्रिदिवनिःश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥१००॥१५॥

कारण यह कि 'शोक' को हृदय में स्थान दे उसने बड़ी तत्परता से 'वर्णाश्रम' का पालन किया और अति सामान्य 'भोग' के साथ शुद्ध सत्ववृत्ति से जीवन का निर्वाह किया। देखिए न, कवि कहता है—

निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमना: शशास ॥८५॥१४॥

तो क्या इसी 'वर्णाश्रम' की पुकार से राम ने 'यतिधर्म' का बाना नहीं लिया? रघु ने तो लिया था न?

शृंगार—कवियशःप्रार्थी कवि कालिदास ने जहाँ रघुवंश में एक ही वंश के विभिन्न पात्रों में अपना कौशल दिखाया वहीं उसमें एक ही स्थान पर भिन्न-भिन्न वंशों के भिन्न भिन्न पात्रों में भी। उक्त वंशवीरों के विषय में एक शब्द में कहना यही है कि सभी 'दुर्लभ' थे एक ही दुलहिन के। कवि की चातुरी तो देखिए कि कहता है वह इस अनुपम सुन्दरी के लिए इतना ही—

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥१०॥
तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥११॥
तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥१२॥६॥

क्यों? उसे इन्दुमती के 'नखशिख' की क्यों नहीं सूझी? न सूझती, तो भी कुछ रूप के विषय में ही तो कह देता। किन्तु सो भी नहीं किया। क्यों? कारण कुछ भी तो होगा ही। हो। अभी तो प्रयोजन इतना भर है कि उसको देखते ही नरेन्द्रों की स्थिति यह हो गई कि मन कहीं और तन कहीं। 'पतिंवरा' को देखा नहीं कि पति लोगों का मन हाथ से जाता रहा और तन न जाने क्या बनाने में लीन हुआ। देखिए न, उसकी अनुपम छटा का प्रभाव किस पर क्या पड़ा और कौन क्या करने में मग्न हुआ। लीजिए। कवि की आँख से देखिए और 'शृंगारचेष्टा' से शृंगारी को ताड़िए। कवि कहता है—

१—कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम्।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयांचकार ॥१३॥

२—विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥१४॥
३—आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किंचित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥१५॥
४—निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥१६॥
५—विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः ।
प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः ॥१७॥
६—कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥१८॥
७—कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥१९॥६॥

विभावन—विचारने की बात है कि यथार्थतः कवि का भाव क्या है । 'शृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः' का जो विवरण हमें प्राप्त है उससे सिद्ध ही है कि एक ही घटना का प्रभाव भिन्न भिन्न प्राणियों पर भिन्न भिन्न पड़ा है । संस्कृत साहित्य के अद्वितीय टीकाकार श्री मल्लिनाथ ने इन चेष्टाओं की जो व्याख्या की है वह कहाँ तक साधु है, हम नहीं कह सकते । किन्तु इतना तो जानते ही हैं कि यदि वही सत्य है तो इससे नरेन्द्रों की शालीनता में कुछ बट्टा अवश्य लगता है । हाँ, हम भी यह मानते हैं कि कवि ने जो 'अभिव्यक्तमनोरथं' और 'प्रणयाग्रदूती' का उल्लेख किया है उसका कुछ अर्थ है । और वह यही कि वह इन्दुमती को किस रूप में और कितना चाहता है । उससे उसके हृदय का जितना लगाव है उतना उसके इन्दुमती के प्रति व्यवहार का नहीं । उधर इन्दुमती भी करती यह है कि—

१—एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।
ऋजुप्रणामक्रियया़ैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥२५॥
२—अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥३०॥

३—तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ।।३६।।

४—तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव ।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ।।४४।।

५—नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ।।५२।।

६—प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम् ।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ।।५८।।

७—स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ।।६६।।६।।

उद्दीपन—किस 'श्रृंगारचेष्टा' का प्रभाव इन्दुमती पर क्या पड़ा और उसने उसके प्रति प्रदर्शन किस भाव का किया इसका लेखा सरलता से लिया जा सकता है, परन्तु उसकी पूरी जानकारी के लिए यह भी आवश्यक है कि हम 'श्रुतवंशवृत्ता पुंवत्प्रगल्भा' सुनन्दा की भारती को भी पहिचान लें। कारण कि वही खुलकर प्रत्येक पति के विषय में उस 'पतिंवरा' से कहती है कुछ न कुछ विशेष बात। देखिए—

१—अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ।।२४।।

२—निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि ! तयोस्तृतीया ।।२६।।

३—अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु ! कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरंपरासु ।।३५।।

४—अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ।।४३।।

५—संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि ! यौवनश्रीः ।।५०।।

६—अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥५७॥
७—इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥६५॥६॥

मल्लिनाथ की व्याख्या—सुनन्दा ने इन्दुमती से जिसके साथ जो कुछ करने को कहा, सामने है। उससे उक्त 'शृंगारचेष्टा' का कहाँ तक मेल है, यह भी विचारणीय है। सुनन्दा की दृष्टि किसी की 'शृंगारचेष्टा' पर न गई हो, भला यह कब संभव है ? तो भी उसने उसका कुछ संकेत न किया और सबसे कुछ न कुछ विहार की ही कहती रही। कारण कुछ तो होगा ही। हमारी समझ में तो श्री मल्लिनाथ ने इसमें कुछ अधिक पढ़ लिया है। तभी तो उनका कथन है—

१—'करस्थलीलारविन्दवत्त्वयाऽहं भ्रमयितव्यः' इति नृपाभिप्रायः। 'हस्तघूर्णकोऽयमपलक्षणकः'—इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥१३॥
२—'प्रावारात्क्षेपणच्छलेनाहं त्वामेवं परिरप्स्ये'—इति नृपाभिप्रायः। 'गोपनीयं किंचिदङ्गेऽस्ति ततोऽयं प्रावृणुते'—इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥१४॥
३—पादाङ्गुलीयानामाकुञ्चनेन 'त्वं मत्समीपमागच्छ'—इति नृपाभिप्रायः। 'भूमिविलेखकोऽयमपलक्षणकः'—इतीन्दुमत्याशयः। भूमिविलेखनं तु लक्ष्मीविनाशहेतुः ॥१५॥
४—'त्वया वामाङ्के निवेशितया सहैवं वार्तां करिष्ये' इति नृपाभिप्रायः। 'परं दृष्ट्वा' पराङ्मुखोऽयं न कार्यकर्ता'—इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥१६॥
५—'अहं तव नितम्ब एवं नखव्रणादीन्दास्यामि'—इतिनृपाशयः। 'तृणच्छेदकवत् पत्रपाटकोऽयमपलक्षणकः'—इतीन्दुमत्याशयः ॥१७॥
६—'अहं त्वया सहैवं रंस्ये' इति नृपाभिप्रायः। 'अक्षचातुर्यं कापुरुषोऽयम्' इतीन्दुमत्यभिप्रायः। 'अक्षैर्मा दीव्यः' इति श्रुतिनिषेधात् ॥१८॥
७—'किरीटवन्मम शिरसि स्थितामपि त्वां भारं न मन्ये'—इति नृपाभिप्रायः। 'शिरसि न्यस्तहस्तोऽयमपलक्षणः'—इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥१९॥

अभिप्रायों के पुंज में इतना और जोड़ लीजिए कि इधर अज की दशा है—

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ।।६८।।६।।

अनुभाव—तो क्या अज की यही समाकुलता औरों को न हुई होगी ? हमारी समझ में तो यही 'व्याकुलता' उक्त 'शृंगारचेष्टा' की जननी है । हाँ, अज को यह समाकुलता तब हुई जब इन्दुमती ने उक्त सप्तनृपों को 'पति' के योग्य न समझ, निराश कर दिया । देखिए न, कैसी कथनीय है उनकी दशा—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ।।६७।।६।।

किन्तु यह 'पतिंवरा' अज के पास पहुँची नहीं कि वहीं निश्चल हो रही । कारण अज का सर्वांग सौंदर्य ही तो है । कहा भी है—

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ।।६९।।६।।

तो फिर उक्त नृपों की 'शृंगारचेष्टा' में विनय अथवा शिष्टता का अभाव क्यों माना जाय ? सच तो यह है कि इन्दुमती के दृष्टिपथ में आते ही उनके चित्त की जो दशा हुई उसके परिणामस्वरूप उनके शरीर में स्वस्वसत्त्वानुरूप शृंगारचेष्टा हुई और उसको सुष्ठु बनाने के हेतु उनका यह सहज व्यापार हुआ । निश्चय ही यह सात्त्विक भाव नहीं । इसे आप 'यत्नज' ही कह सकते हैं । किन्तु फिर भी इसे मानना होगा सत्त्व का प्रसाद ही । सुनन्दा भी अज का पूरा परिचय दे अन्त में इन्दुमती से यही तो कहती है—

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ।।७९।।६।।

'कुल', 'वय', 'गुण' एवं 'विनय' के साथ यह 'आत्मतुल्यता' अन्यत्र कहाँ जो इन्दुमती आत्मसमर्पण करे ! सुनन्दा की प्रार्थना भी कितनी सटीक है ।

संघर्ष—अज और इन्दुमती के मणिकांचनसंयोग के विषय में अधिक कुछ कहना ठीक नहीं । थोड़े में भी यहाँ इस संबंध में बहुत कुछ कहा जा चुका है । हाँ, जो कुछ कहना शेष रह गया है, वह यही कि व्यर्थमनोरथ नरेन्द्रों पर क्या बीती । सो वह भी विदित ही है कि अपने रूप तथा वेष की भर्त्सना कर

अंत में वे अज से मार्ग में जा भिड़े। समझने की बात है कि कवि ने वहाँ संख्या का विधान नहीं किया और उसे सामान्य रूप में ही अंकित किया। इसी से यह और भी प्रगट हो जाता है कि वास्तव में लथेड़ना कवि को इष्ट नहीं। फिर उनकी 'शृंगारचेष्टा' को ओछी क्यों समझा जाय? हाँ, कवि ने भी स्वयं कह दिया है—

सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेषेषु च साभ्यसूया ॥२॥७॥

कौतूहल—राजा लोगों की जहाँ यह गति हुई वहीं दूसरी ओर वर-वधू के दर्शन की पुरसुन्दरियों में होड़ मची। कवि कालिदास को कवियश की यहाँ भी सूझी। अश्वघोष ने सिद्धार्थ की 'विहारयात्रा' के प्रसंग में न जाने क्या समझ कर लिख दिया था 'बुद्धचरित' में—

ततः कुमारः खलु गच्छतीति श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम्।
दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुर्जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः ॥१३॥
ताः स्रस्तकाञ्चीगुणविघ्निताश्च सुप्तप्रबुद्धाकुललोचनाश्च।
वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणाश्च कौतूहलेनानिभृताः परीयुः ॥१४॥
प्रासादसोपानतलप्रणादैः काञ्चीरवैर्नूपुरनिस्वनैश्च।
वित्रासयन्त्यो गृहपक्षिसङ्घानन्योन्यवेगांश्च समाक्षिपन्त्यः ॥१५॥
कासांचिदासां तु वराङ्गनानां जातत्वराणामपि सोत्सुकानाम्।
गतिं गुरुत्वाज्जगृहुर्विशालाः श्रोणीरथाः पीनपयोधराश्च ॥१६॥
शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गतिं निजग्राह ययौ न तूर्णम्।
ह्रिया प्रगल्भा विनिगूहमाना रहःप्रयुक्तानि विभूषणानि ॥१७॥
परस्परोत्पीडनपिण्डितानां संमर्दसंक्षोभितकुण्डलानाम्।
तासां तदा सस्वनभूषणानां वातायनेष्वप्रशमो बभूव ॥१८॥
वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि ॥१९॥
ततो विमानैर्युवतीकरालैः कौतूहलोद्घाटितवातयानैः।
श्रीमत्समन्तान्नगरं बभासे वियद्विमानैरिव साप्सरोभिः ॥२०॥
वातायनानामविशालभावादन्योन्यगण्डार्पितकुण्डलानाम्।
मुखानि रेजुः प्रमदोत्तमानां बद्धाः कलापा इव पङ्कजानाम् ॥२१॥३॥

कला—अस्तु। 'कौतूहल' के कारण उनका दर्शनार्थ पहुंच जाना तो ठीक था, परन्तु उनका इस प्रकार का विवरण कहाँ तक समीचीन है? गृहिणी का शयन कब तक रहेगा? कुछ भी हो, इतना तो मानना ही होगा कि इसमें अश्वघोष ने स्त्री के स्वभाव का चित्रण अच्छा किया है। किन्तु कवियशःप्रार्थी का कहना कुछ और है। लीजिए यहाँ 'वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणा' की बहार है। कहते हैं—

ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥५॥
आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥६॥
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥७॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥८॥
जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥९॥
अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥१०॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥११॥७॥

कालिदास ने अश्वघोष के 'स्रस्तकाञ्चीगुणविञ्चिता' को भी कैसा रूप दिया है कि तपस्विनी को रशना-धारण का अवसर भी न मिला और उतावली में ऐसी दौड़ी कि अंगूठे में सूत ही लगा रह गया और अधगुही करधनी भी अनगुही हो गई। किन्तु कालिदास की परख तो अभी आई ही नहीं। अश्वघोष ने बहुत विचार कर लिखा था बुद्धचरित में—

दृष्ट्वा च तं राजसुतं स्त्रियस्ता जाज्वल्यमानं वपुषा श्रिया च।
धन्यास्य भार्येति शनैरवोचञ्छुद्धैर्मनोभिः खलु नान्यभावात् ॥२३॥३॥

कालिदास ने कहा, इतना कहने की आवश्यकता क्या? समय और सूझ की बात तो यह है—

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥१२।७॥

सचमुच यदि कालिदास के 'कवियश' को प्रत्यक्ष देखना है तो उनके इस 'राघव' का दर्शन अवश्य करें और कृपया भूल न जायँ कि यह वही राघव है जिसने गंगा-सरयू-संगम पर 'प्रायोपवेशन' कर प्रिया के लिए प्राण दिया। अद्भुत, अनुपम और अद्वितीय ।

प्रेमराशीभवन्ति

संजीवन-संदेश—प्रेमपारखी कवि कालिदास ने प्रेम के क्षेत्र में वह कौशल दिखाया कि उनकी सूझ को देख कर विश्व दंग रह गया और मानव हृदय को वह आँख मिली जो आज भी उघरी पर अधभरी ही रह गई। कारण यह कि उनके विरही यक्ष ने अपने मेघ से अपनी आकुल प्रिया के लिए कुछ संदेश कहा। वह संदेश क्या था, प्रेमकातर प्राणी का तारक मंत्र था। उस संजीवन-संदेश का सार है—

> शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
> शेषान्मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
> पश्चादावां विरहगणितं तं तमात्माभिलाषं
> निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥५०॥२॥

है तो यह कहना बहुत ही ठीक। इसके पहले कुछ हो भी तो नहीं सकता? धनुर्धारी विष्णु भगवान् शेषनाग की शय्या पर सो रहे हैं। उनके उठे विना भला किसी का काम सध सकता है? और उनका उठना भी समय पर ही होता है न? फिर उसके पहले उनको जगा कौन सकता है? तो फिर करना क्या चाहिए? यही न कि वर्ष के शेष मास भी किसी प्रकार काट लिये जाँय। अरे! कुल चार मास ही तो रह गए हैं? तो फिर अड़चन क्या? आँख मूँदकर उसे भी काट लो। फिर तो कहना ही क्या? पूनो की खिली चाँदनी में जो चाहो सो करो। शरत् की छिटकी छटा में डर काहे का? मन के सारे अभिलाष को एक एक कर के निकाल लो।

कहने को यक्ष कह तो गया यहाँ तक; किन्तु शीघ्र ही उसे बोध हुआ कि किसी विरहिणी को किसी मेघ का विश्वास क्या? निदान कह ही तो दिया—

> भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
> निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।

सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव ! रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥५१॥२॥

भेद की बात वट में भिनती और हृदय में स्थान मिलता तो परन्तु तो भी यक्ष का आशंकी हृदय भयभीत हो उठा और सोचा कि कहीं इसका प्रभाव उलटा न पड़े। भला पास में पड़ी हुई प्रिया को जब स्वप्न में ऐसा दृश्य दिखाई दे सकता है तब इतने दूर के और इतने दिनों के प्रवास में क्या नहीं सूझ सकता ? फलतः झट समाधान होता है—

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ॥

सिद्धान्त—कह तो दिया पर निरे कहने से होता क्या है ? भला विश्वास भी किसी के कहने से जमता है ? न जमे; परन्तु सिद्धान्त की बात तो यह ठहरी—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥५२॥२॥

कहते हैं, कुछ लोग अवश्य कहते हैं कि भोग के अभाव में स्नेह ध्वस्त हो जाता है; किन्तु उनसे कहे कौन ? अरे ! सच्ची बात तो यह है कि इस प्रकार का जमा हुआ स्नेह प्रेम का पुंज बन जाता है। तपस्वी जानते ही नहीं कि प्रेम का रसायन विरह के पुटपाक में सिद्ध होता है। वस्तुतः है भी यही। प्रेम भोग नहीं योग का नाम है। तभी तो 'कुमारसंभव' में कवि ने डट कर कहा है—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥२॥५॥

साधना—सचमुच 'प्रेम' और 'पति' का युगपत् तथा यथातथ लाभ तप वा एकान्तनिष्ठा के विना नहीं ही हो सकता। यही मानव को कालिदास का चिर सन्देश है। किन्तु साधना का लक्ष्य इसके भी आगे है। तभी तो कवि सहर्ष लिखता है—

तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम् ॥२७॥

अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा।
तया तु तस्यार्धशरीरभाजा पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि ॥२८॥७॥

समरसता—सच है। वह साधना ही क्या जो साधक और साध्य को एक न कर दे? भावना के क्षेत्र में सूफी इस क्षेत्र में बढ़े तो अवश्य पर उनके काव्य में वह 'अर्धनारीश्वर' कहाँ जिसका निर्देश कालिदास ने इस प्रकार किया है? वहाँ तो 'अमरद' की आराधना है न? अच्छा तो यहीं इतना और भी जान लें कि 'रति' की दृष्टि में 'प्रेम' की स्थिति है प्रिय के प्रति यह—

अयि संप्रति देहि दर्शनं स्मर! पर्युत्सुक एष माधवः।
दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥२८॥४॥

नारी के इस हल्के छींटे को नर ने पहचान लिया और समाधान में अज का कंठ फूटा—

समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥६५॥८॥

[रघुवंश]

किन्तु शोकग्रस्त आर्त वाणी को सिद्धान्त तो नहीं कह सकते? अतएव इसकी बाधा क्या? हाँ, प्रेम की भूमि में उतरने के पहले टाँकने की बात यह है कि कामी अग्निमित्र की दृष्टि में 'समानुराग' ही प्रणय के क्षेत्र में सब कुछ है। सुनिए। बड़े चाव से कहता है—

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिध्यता
समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं
शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥१५॥३॥

[मालविकाग्निमित्र]

संस्कार—किन्तु इस 'समानुरागता' की उपलब्धि होती कैसे है? क्यों कोई प्राणी किसी को ही जी से चाहता है? वह सबको समभाव से क्यों नहीं देखता? कारण उसका संस्कार ही तो है? इसी से राजा दुष्यन्त दृढ़ता से कहता भी है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥२०॥१॥

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

निश्चय ही 'आर्यमन' की यह पकड़ प्रेम के विश्व में अपना अलग संसार बसाती है और किसी पुरूरवा को यह कहने को विवश करती है—

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः ।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणीभवति ॥८॥३॥

[विक्रमोर्वशीय]

इतना ही नहीं, इसी सहज संबंध की प्रेरणा से जनसमाज को भी खुलकर कहना पड़ता है—

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ॥६६॥७॥

[रघुवंश]

फिर भी समाज में कुछ ऐसे प्राणी होते ही हैं जो वासनावश द्वन्द्व में पड़ जाते हैं और बलपूर्वक स्वयंवर में हार जाने पर भी किसी अज की इन्दुमती को उससे छीन कर अपनाना चाहते हैं। प्रेमप्रसंग में उनकी चर्चा से कोई लाभ नहीं। वे तो निरे काम के पुजारी ठहरे। वासना उनकी इष्टदेवी का नाम है। अतएव उनके प्रपंच से दूर रह देखिए यह कि किसी का आदेश है—

तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ॥५०॥१॥

[कुमारसंभव]

फलतः वह 'कन्या' बनी भी अपने 'प्रेम' से ही 'हर' की 'वधू'। सो कैसे ? इसकी मीमांसा में सहसा यही कहा जा सकता है कि पहले जन्म में वह 'सती' जो रह चुकी थी, और इसके समाधान में यह कि उसने इसके हेतु इतना तप जो किया था। कवि की वाणी ठहरी—

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥१॥५॥

रूप—रूप की निन्दा तो हो गई, पर समय पर उसका सत्कार भी कैसा हुआ। पार्वती के विषय में कदाचित् इतना कहना ही पर्याप्त समझा जायगा कि सजीं नहीं कि उन्हें प्रिय के पास पहुँच जाने की व्यग्रता हुई। देखिए—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥२२॥७॥

किन्तु उधर भोले बाबा की जो स्थिति हुई वह ध्यान देने की है। होती भी क्यों नहीं? कभी आप ही ने तो कहा था—

त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥६७॥५॥

फिर किस मुँह से उसी ऊश्कड़ वेष में उस वधू के पास जाते? निदान इधर भी अच्छा वेष बना। देखिए न कैसा प्रसाधन है—

तावद्भवस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम्।
प्रसाधनं मातृभिराहृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्पुरशासनस्य ॥३०॥
तद्गौरवान्मङ्गलमण्डनश्रीः सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण।
स एव वेषः परिणेतुरिष्टं भावान्तरं तस्य विभोः प्रपेदे ॥३१॥
बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुकूलभावः ॥३२॥७॥

अधिक तो क्या? संक्षेप में इतना भर जान लें कि फिर तो बाबा जी पर प्रेम का ऐसा गहरा रंग चढ़ा कि खड्ग में अपना रूप देखा। देखते भी क्यों नहीं? मर्यादा भी तो यही थी। लीजिए कैसी अनुपम झाँकी है—

इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात्प्रसिद्धनेपथ्यविधेर्विधाता।
आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्तप्रतिमं ददर्श ॥३६॥७॥

भला शिव के इस दुर्लभ रूप को देख कर कौन कह सकता है कि प्रेम की पुरी में रूप का राज्य नहीं? सुनिए न, पुर की सुन्दरियाँ कहती क्या हैं। यही न—

स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयापि तप्तम्।
या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम्।६५।७।

किन्तु यदि प्रेम के प्रसाद से वेष परिवर्तन न होता तो? तो वही होता न जिसका अंकन अपने 'मानस' में तुलसी ने किया है। तुलसी ने शिव के रूप में परिवर्तन नहीं किया और फलतः लिख दिया—

विकट वेष रुद्रहि जब देखा, अबलहु उर भय भयउ बिसेखा।
भागि भवन पैठीं अति त्रासा, गए महेसु जहाँ जनवासा॥
मैना हृदय भयउ दुख भारी, लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी।
अधिक सनेह गोद बैठारी, स्याम सरोज नयन भरे बारी॥
जेहि बिधि तुमहिं रूपु अस दीन्हा, तेहि जड़ बरु बाउर कस कीन्हा॥
कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहि तुम्हहि सुन्दरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई।
तुम्ह सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि महँ परौं।
घरु जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं॥
भईं बिकल अबला सकल दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलापु रोदति बदति सुता सनेहु सभारि॥१०१॥

[रामचरितमानस, बालकांड]

कालिदास के शिवचरित का लक्ष्य क्या था और क्या था लक्ष्य तुलसीदास के शिवचरित का जो उनके विवाह में इतना अन्तर हो गया। ऊहा की कोई बात नहीं। स्वयं तुलसीदास ने भी अन्यत्र लिखा है—

लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर।
भए सुन्दर सतकोटि मनोज मनोहर॥१२४॥
नील नीचोल छाल भइ, फनि मनिभूषन।
रोम रोम पर उदित रूपमय पूषन॥१२५॥
गन भए मंगलवेष मदन-मनमोहन।
सुनत चले हिय हरषि नारि नर जोहन॥१२६॥
संभु सरद राकेस, नखतगन सुरगन।
जनु चकोर चहुँ ओर विराजहिं पुरजन॥१२७॥

[पार्वती-मंगल]

ध्यान देने और टाँक लेने की बात है कि जहाँ 'रामचरितमानस' में शिव के वेष-परिवर्तन का उल्लेख नहीं वहीं पार्वती-मंगल में उसका विवरण है। क्यों? तुलसी ने स्वयं कह दिया है—

लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर।
भए सुन्दर सतकोटि मनोज मनोहर ॥१२४॥

अतएव समझ रखना चाहिए कि विवाह का कुछ रूप से भी नाता है और फलतः रूप के बिना प्रेम भी चल नहीं पाता। भला जब भक्तशिरोमणि तुलसी भी 'पार्वती-मंगल' में आकर लोकगीत के विचार से शंभु को भयावह से शोभन बना देते हैं तब कालिदास जैसा शृंगारसम्राट् उन्हें क्यों न रूपराशि के रूप में कर लेता? सो भी तब जब उन्होंने पहले दिखला दिया था कि मुझ पर रूप का कोई प्रभाव नहीं। देखिए न वही कालिदास यहाँ क्या लिखता है। पुरसुंदरियाँ शिव के इस 'रूपविधान' से यहाँ तक प्रभावित हुई कि अब उनको ऐसा लगने लगा कि शिव ने कामदाह नहीं किया। नहीं, वह तो लाज के मारे स्वयं चल बसा। कवि की वाणी में—

न नूनमारूढरुषा शरीरमनेन दग्धं कुसुमायुधस्य।
व्रीडादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये संन्यस्तदेहः स्वयमेव कामः ॥६७॥७॥

यह रूप का जादू नहीं तो और क्या है? ठीक ही तो है। कभी ब्रह्मचारी शिव, नहीं नहीं, शिव ब्रह्मचारी ने भी तो किसी रूप को देख कर ही कहा था—

यदुच्यते पार्वति! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने! तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥३६॥५॥

शील—निश्चय ही 'रूप' का 'पापवृत्ति' से नाता नहीं। उसका संबंध तो शील से है। शील के अभाव में ही रूप अभिशाप बनता है। पार्वती के शील का साक्षात्कार शिव को तब हुआ जब उनके कान में पड़ा—

अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥८२॥५॥

'काम' का नाश तो शिव ने बड़ी तत्परता से कर दिया, परन्तु जब इस गहरी 'कामवृत्ति' से पाला पड़ा तब 'भावैकरस मन' का रहस्य खुला और होते

होते यहाँ तक हो गया कि शिव को पार्वती के अतिरिक्त कुछ सूझता ही न था। कहा भी स्पष्ट गया है—

स प्रियामुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धिजननं सिषेविषुः।
दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात् ॥९०॥८॥

स्मरण है न ? यह वही शिव है जिसके विषय में कवि ने कभी लिखा था—

तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य।
स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ॥७४॥३॥

कवि कालिदास ने 'भूतपति' बाबा शिव को क्या से क्या कर दिखाया, सो तो प्रत्यक्ष ही है। किन्तु उन्होंने ऐसा किया क्यों, यही विचारणीय है। 'रूप', 'शील' और 'काम' की इस त्रिकुटी में जो योग जगा है वह है प्रेमयोग ही न ?

प्रेमयोग—प्रेमयोग के विषय में जान लेने की बात है कि इसकी भी सात भूमियाँ हैं। सप्तभूमिका इस साधना का अन्त है 'शृंगार' अथवा नित्य विहार में। तभी तो मेघदूत के उक्त 'प्रेमराशीभवन्ति' की टीका में पंडितप्रवर श्री मल्लिनाथ लिखते हैं—

प्रेमराशीभवन्ति। वियोगासहिष्णुत्वमापद्यन्त इत्यर्थः। स्नेहप्रेम्णो-रवस्थाभेदाद्भेदः। तदुक्तम्—

आलोकनाभिलाषौ रागस्नेहौ ततः प्रेमा।
रतिश्शृंगारौ योगे वियोगतो विप्रलम्भश्च ॥इति॥
तदेव स्फुटीकृतं रसाकरे—
प्रेमा दिदृक्षा रम्येषु तच्चिन्ता त्वभिलाषकः।
रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात्स्नेहस्तत्प्रणयक्रिया।
तद्वियोगासहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तनम्।
शृंगारस्तत्समः क्रीडा संयोगः सप्तधा क्रमात् ॥ इति ॥

तात्पर्य यह कि 'संयोग' की भूमियाँ हैं—

१—आलोकन, २—अभिलाष, ३—राग, ४—स्नेह, ५—प्रेम, ६—रति, एवं ७—शृंगार। ध्यान से देखा और सचमुच कहा जाय तो वस्तुतः 'कुमारसंभव' इसी योग का काव्य है ! स्मरण है न ब्रह्मा की यह वाणी—

उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः ।
शंभोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥५९॥२॥

और साथ ही कवि कालिदास का यह कथन भी—

गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः ।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥५१॥
अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥५२॥
यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज ।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥५३॥१॥

'उमा' और 'शंभु' का नाता था तो पुराना, पर कालक्रम के प्रभाव से उसमें बाधा भी बड़ी उत्पन्न हो गई थी। प्रत्येक की अपनी अपनी टेक अलग अलग थी। हिमालय की स्थिति तो स्पष्ट थी। होनहार का भी पता हो गया था। परन्तु कुछ बात समझ में नहीं आ रही थी भोले बाबा की। कवि का ही यह कथन है—

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥५०॥१॥

प्रेमभूमि—किस काम से स्वयं शिव तप में लगे थे, इसका पता नहीं। किन्तु इससे हुआ यह कि पार्वती जी को भी उनकी आराधना का अवसर मिल गया—

अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा ।
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ॥५८॥१॥

पिता की ओर से जहाँ यह व्यवस्था हुई वहीं भावी या भूत पति की ओर से यह छूट मिली कि हाँ, इस अवस्था में भी आराधना कर सकती हैं। कारण कवि के मुँह से सुनिए—

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥५९॥१॥

परिणाम इसका यह हुआ कि पार्वती जी प्रिय की सेवा में मग्न हुईं और विधि के साथ सब काम करने लगीं—

अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा
नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥६०॥१॥

आलोकन—इस प्रकार संयोग तो जुट गया, पर सच पूछिए तो अभी उस संयोग की आशा भर बँधी जिसका परिणाम 'कुमार' होता। इसे आप चाहें तो 'आलोकन' की भूमि कह सकते हैं। करना कुछ नहीं। बस देखते रहना, यही क्या कम है? देखिए न, युगलमूर्ति में कितनी विषमता है। प्रिय का रूप है—

पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥४५॥
भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥४६॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥४७॥
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥४८॥
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥४९॥
मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥५०॥३॥

प्रिय की इस समाधिदृढ़ता के साथ देखिए प्रिया की इस सुलभ चंचलता को—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥५३॥
आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥५४॥
स्रस्तां नितम्बादवलम्बमानां पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥५५॥

सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं विम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥५६॥३॥

अभिलाष—फिर इस अनुपम रूपराशि को देख कर काम के मन में जीत की भावना क्यों न जगे ? हुआ भी ऐसा ही—

तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम् ।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे ॥५७॥३॥

'उमा', 'शिव' और 'काम' को एकत्र देख कर आप को भी कुछ जानने की इच्छा होगी । सभी सयाने ठहरे । किसकी कौन कहे ? पर सबकी एक साथ क्यों न कह दे कविकुलगुरु कालिदास । सुनिए और सुन कर गुनिए भी मनोयोग से । स्थिति है कि सखियाँ फूल चढ़ा कर शिव की पूजा कर चुकी हैं और अब उमा की पारी है—

उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥६२॥
अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन ।
नहीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥६३॥
कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः ।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श ॥६४॥३॥

किसने किस अवसर पर क्या किया, इसको दृष्टि में रख कर आगे के क्रम तथा कर्म पर ध्यान दें—

अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण ।
विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम् ॥६५॥३॥

आशीर्वाद पा लेने पर उमा ने जो कुछ किया वह उनकी दृष्टि से चाहे जो कुछ रहा हो, परन्तु काम के लिए तो वह बहुत कुछ हो गया । अभी शिव ने भली भाँति उसे ग्रहण भी नहीं किया था कि काम को अपने दाँव की सूझी—

प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥६६॥३॥

काम का ऐसा करना था कि—

हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥६७॥
विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥६८॥३॥

'हर' और 'उमा' में कुछ वेदना जगी। हर में नाममात्र को और उमा में गहरी। हर ने फिर क्या किया इसका पता किसे नहीं है? 'भस्मावशेषं मदनं चकार' की ध्वनि आज भी कानों में गूँज रही है। हाँ, यही तो प्रेमयोग की 'अभिलाष' भूमि है! कहा भी है—

शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं
व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा
शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथंचित् ॥७५॥३॥

और शिव तो 'स्त्रीसंनिकर्ष' से पहले ही अन्तर्धान हो चुके थे। इस घटना से स्थिति यह हो गई कि रति विधवा हो गई और देवता लोगों का सारा यत्न निष्फल गया। रति शरीर छोड़ना ही चाहती थी कि 'सरस्वती' का आश्वासन मिला। आकाशवाणी हुई—

परिणेष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवणीकृतो हरः ।
उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति ॥४२॥
इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम् ।
अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः ॥४३॥४॥

राग—'ब्रह्मा' का शाप कब मिटेगा और 'काम' को फिर कब रूप मिलेगा, इसका निश्चय तो हो गया। 'रति' भी शान्त हुई, पर पार्वती को संतोष कहाँ? इसके आगे तो 'राग' की भूमि है न?

पार्वती ने प्रत्यक्ष देख लिया कि ऐसे रूप से ऐसे विरूप को पति पाना संभव नहीं। निदान मन में कुछ और ही संकल्प कर लिया। माता ने मना किया भी, पर अन्त में चली मन की ही। कहते हैं—

निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥३॥

मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क वत्से ! क च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥४॥
इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥५॥
कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥६॥
अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा ।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरीशिखरं शिखण्डिमत् ॥७॥५॥

पार्वती का राग प्रिय की प्राप्ति में कितना दृढ़ हो उठा। यही प्रेमयोग की 'राग' भूमि है। 'रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात्' की कसौटी पर इसे चाहे जितना कसें, यह खरा ही उतरेगा। हाँ, इतना ध्यान अवश्य रहे कि शिव का पता नहीं। वह अन्तर्धान हो चुका है। इसी से उसके निमित्त तप का ऐसा निश्चय है।

स्नेह—'राग' की परीक्षा हो गई। इसमें सफलता मिली तो 'स्नेह' की भूमि सामने आई। 'स्नेहस्तत्प्रणयक्रिया' ही इसकी पहिचान है। सो इसकी भी साधना है—

प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम् ।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रसनागुणास्पदम् ॥१०॥
विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥११॥
महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥१२॥५॥

आप इस साधना से कहीं विचलित न हो उठें और यह न समझ लें कि यह तो निवृत्ति की साधना है, इसका स्नेह से नाता क्या। अतएव इसी के आगे कवि का कथन है—

पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥१३॥५॥

अस्तु। मानना ही पड़ता है कि वस्तुतः यह 'स्नेह' की ही भूमि है और इसी को स्फुट करने के विचार से इतना और भी कहा गया है—

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥१४॥
अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥१५॥५॥

पशुपति की भार्या पत्नी की यह अँखमताई देखने योग्य है। सचमुच है यह 'स्नेह' की ही करनी। फिर भला कोई शिव कहाँ तक अन्तर्धान रह सकता है? उसे भी स्नेहवश प्रकट होना ही पड़ा। किंतु अभी पार्वती के प्रेम की तो परीक्षा हुई नहीं। अतः वह इसी में लीन हुआ। घुलमिल कर बड़े भाव से कह गया—

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः ॥४६॥
कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि ! विद्यते ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः ।
तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥५०॥५॥

'अर्धभाग' का अधिकारी कौन होता है? उसे यह फल मिल गया न? फिर भला वह अपने मन की बात अपने आप कैसे कहे? संकेत हुआ तो सखी ने कह दिया—

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥५३॥५॥

प्रेम—सखी ने बहुत समझा कर सब कुछ कह दिया था, किन्तु ब्रह्मचारी को तो स्वयं प्रिया से ही सब कुछ सुनना था न? निदान उनसे प्रश्न हुआ कि यह परिहास तो नहीं है। जब इस ध्रुव सत्य का बोध हो गया तब प्रिया के राग की खरी परीक्षा हुई। शिव-निन्दा की झड़ी लगी। यहाँ तक कि असह्य हो जाने पर वहाँ से उसे उठ जाना पड़ा। फिर जो कुछ हुआ सो तो हुआ ही, पर 'प्रेम' की सच्ची भूमि ठहरी यही। ब्रह्मचारी से पार्वती ने किस क्षोभ में कहा—

उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम् ।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥७५॥
विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥७६॥

अकिंचनः सन्प्रभवः स संपदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः ।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ।।७७।।५।।

परन्तु ब्रह्मचारी पार्वती के समाधान से सन्तुष्ट होने वाला न था और इधर पार्वती का प्रेम विपक्ष में कुछ सुनना पाप समझता था । जब पार्वती को यह सब असह्य हो गया तब ब्रह्मचारी की कृपा से 'न ययौ न तस्थौ' की स्थिति आ गई और 'तद्वियोगासहं प्रेम' की कसौटी खरी उतरी । प्रत्यक्ष ही नहीं परोक्ष में भी ।

प्रेमयोग की प्रेमभूमि में पहुँच कर हमने देखा यह कि 'वासना' जाती रही और प्राणी की 'निष्ठा' दृढ़ हो गई । परन्तु अभी कोई ऐसा सूत्र हाथ नहीं लगा जिससे हम 'साधना' को 'वासना' से अलग समझ लें और किसी के प्रेम को भली भाँति झट पहचान लें । सो इसी को कवि स्पष्ट करता है । पार्वती जी इस दास बने इष्ट को पा कर भी अपनाती नहीं । शरीर के नाते इतना सचेत कर देती हैं कि इस प्रणय पर पिता की छाप होनी ही चाहिए । तभी तो कवि समय पर स्वयं कहता है—

अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम् ।
दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति ।।१।।६।।

'अथ' से 'इति' तक यदि प्रेमयोग को समझना और 'वासना' तथा 'साधना' में भेद करना है तो हमें इस परम सूत्र को पकड़ना ही होगा और विश्व के भभकते प्रेमियों से संकेत में कहना ही होगा—

प्रमाणीक्रियतामिति ।

रति—प्रमाणीकरण का अवसर आया तो 'रति' का भी भाग्य जगा और आप 'प्रेमभूमि' से आगे बढ़कर 'रतिभूमि' में पहुँच गए । देखिए न कैसा दिव्य दर्शन है—

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः ।
वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ।।७३।।
तया प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुःकुमुदः कुमार्या ।
प्रसन्नचेतःसलिलः शिवोऽभूत्संसृज्यमानः शरदेव लोकः ।।७४।।
तयोः समापत्तिषु कातराणि किंचिद्व्यवस्थापितसंहृतानि ।
ह्रीयन्त्रणां तत्क्षणमन्वभवन्नन्योन्यलोलानि विलोचनानि ।।७५।।

तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्तिः ।
उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥७६॥
रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत् ।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य ॥७७॥
प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम् ।
सांनिध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥७८॥७॥

शृंगार—शिव पार्वती का प्रेम कहाँ तक पहुँच गया, इसे आप ने देख लिया । बस, अब 'प्रेमयोग' की एक ही 'भूमि' शेष रही । और वह है 'शृंगार' नाम की अन्तिम भूमि । सो अष्टम सर्ग इसी लीला का परिणाम है । थोड़े में इसे भी जान लें--

तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम् ।
सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकनिर्वृतिः ॥१६॥
शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया ।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥१७॥
दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा ।
शीतलेन निरवापयत्क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः ॥१८॥
चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शंकरोऽपि नयनं ललाटजम् ।
उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिने ॥१६॥
एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।
शैलराजभवने सहोमया मासमात्रमवसद् वृषध्वजः ॥२०॥८॥

और यहीं यह भी समझ लें कि वास्तव में यही है प्रेम की भोगभूमि भी । इसी से तो शिव ने यह लीला रची—

घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम् ।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥८०॥
तां विलम्बितपनीयमेखलामुद्वहज्जघनभारदुर्वहाम् ।
ध्यानसंभृतविभूतिसंभृतं प्राविशन्मणिशिलागृहं हरः ॥८१॥
तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम् ।
अध्यशेत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ॥८२॥

क्लिष्टचन्द्रमदयैः कचग्रहैरुत्पथार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभूदतृप्तये ॥८३॥८॥

भोग—अस्तु प्रकट ही है कि देवता लोगों के प्रपंच से नहीं अपि तु स्वयं पार्वती जी के प्रयत्न से शिव लोह की भाँति उनकी ओर खिंच गए। उमा भी एक ही 'चुम्बक' निकली कि शिव सा 'लोहा' झख मार कर ललक उठा और उसके चुम्बन में ऐसा लीन हुआ कि सुधि किसी की नहीं रह गई। फलस्वरूप जन्म हुआ उस 'कुमार' का जिसकी अधीनता में वध हुआ 'तारक' का। उस तारक का जिसका अति संक्षिप्त परिचय है—

उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥३२॥२॥

तो क्या 'लोक' को 'उपप्लव' से बचाने के लिए 'प्रेमयोग' की साधना अनिवार्य नहीं? विधाता का विधान ठहरा—

संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः ।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥५७॥२॥

और 'नीललोहितरेत' की प्राप्ति का मार्ग ठहरा 'उमा का उग्रतप ही न? संयोग श्रृंगार की यह सूझ? लोकमंगल में उसका यह विधान !! अरे यह तो विजय है 'रागवान्' की 'सत्त्ववान्' पर। 'प्रवृत्ति' की जीत हुई 'निवृत्ति' पर। श्रृंगार विजयी रहा ज्ञान पर।

मान—जी, रति का रोष के साथ गहरा लगाव है। रति मीठी तो रोष सलोना है। सृष्टि दोनों के अनुपात से चलती है। शिवपार्वती का यह संयोग भी दोनों से सिक्त है। रति के विषय में पहले ही बहुत कहा जा चुका है अब थोड़ा रोष का आनन्द भी लेना चाहिए और यह जानने का उद्योग करना चाहिए कि यथार्थतः प्रेमयोग में उसकी स्थिति क्या है। सो सौभाग्य से कालिदास यहाँ भी मौन नहीं। अनन्य प्रेम अनन्य अधिकार का भूखा होता है। अतः वह किसी का साझा नहीं चाहता। यही कारण है कि प्रेम 'विधि' का साथ नहीं देता और बहुत कुछ स्वच्छंद रहा चाहता है। सामना शिव को भी इसका करना पड़ा। प्रसंग सन्ध्या जैसे नित्यकर्म का है। अतएव जो कुछ घटा उसे ध्यान से सुनें। शिव का कथन है—

पार्ष्णिमुक्तवसुधास्तपस्विनः पावनाम्बुरचिताञ्जलिक्रियाः ।
ब्रह्म गूढमभिसंध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥४७॥
तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
त्वां विनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि ! विनोदयिष्यति ॥४८॥८॥

प्रिय का प्रस्ताव और प्रबंध तो अच्छा रहा । मुहूर्त टला जा रहा था, फिर संध्या की अवहेलना कहाँ तक की जाय और सबके साथ ही समय पर इसको भी क्यों न किया जाय ? निदान प्रिया से प्रस्ताव हुआ । विनोद का काम तो सखी भी कर सकती ही, पर यदि उसमें वही आनन्द मिलता जो 'प्रिय' के विनोद में तो किसी 'प्रिया' को किसी 'प्रिय' के लिए इतना तप क्यों साधना पड़ता ? फलतः—

निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा ।
शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥४९॥८॥

कोप—'विधि' का उल्लंघन तो नहीं हुआ, पर उसके प्रति कोई आस्था भी नहीं दिखाई गई । उलटे उसके प्रति उपेक्षा अवश्य प्रकट हुई । ओष्ठ बिचका कर सखी से अनापशनाप बकना इसी का तो द्योतक है ? शिवजी भी ताड़ गए । 'संध्यावंदन' से मुक्त हुए तो प्रिया-अभिनन्दन की सूझी । निदान प्रिया के पास पहुँचे और प्रसादन के विचार से बोले—

मुञ्च कोपमनिमित्तकोपने ! संध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यथा ।
किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ॥५१॥
निर्मितेषु पितृषु स्वयंभुवा या तनुः सुतनु ! पूर्वमुज्झिता ।
सेयमस्तमुदयं च सेव्यते तेन मानिनि ! ममात्र गौरवम् ॥५२॥८

शिव जी के इस स्पष्टीकरण से 'सहधर्मचारिणी' को सन्तोष हुआ वा नहीं, नहीं कह सकते । उन्हें भी यदि इस 'धर्माचरण' में अधिकार होता तो क्या होता, कह नहीं सकते । संभव है शिव के साथ ही उमा भी 'सन्ध्या' में जुट जातीं और 'चक्रवाकसमवृत्ति' का पूरा परिचय देतीं । परन्तु उन्होंने ऐसा किया नहीं । नहीं । उनसे ऐसा करने को कहा भी नहीं गया । फलतः शिव को स्पष्टीकरण की आवश्यकता पड़ी—

ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं मन्त्रपूर्वमनुतस्थिवान्विधिम् ।
पार्वतीमवचनामसूयया प्रत्युपेत्य पुनराह सस्मितम् ॥५०॥८॥

पार्वती क्या क्या कह चुप साध :बैठ रहीं, इसका पता नहीं। पता इतना अवश्य है कि 'प्रिया' को 'प्रिय' की यह क्रिया रुची नहीं। रुचती भी कैसे? प्रेम 'विधि' वा कर्मकांड का बन्धन कब मानता है? वस्तुतः पार्वती को इस 'असूया' का रहस्य यही है। धर्माचारी और प्रेमाचारी में यही तो भेद है? 'धर्म' 'प्रेम' को साथ लेकर चलता है, पर प्रेम धर्म के बन्धन को नहीं मानता। वह तो स्वच्छन्द रहा चाहता है। यही मानव इतिहास है। ईश्वर भी इस संघर्ष से मुक्त नहीं। मुक्त हों भी कैसे? इसके बिना 'कोप' का आनन्द कहाँ? काम कोप के बिना क्लीब है। इसी से तो 'शृंगार' में उसे भी स्थान है? स्मरण है न? कभी पार्वती ने 'निवार्यतामालि' की रट लगाई तो स्वयं 'न ययौ न तस्थौ' की स्थिति में पहुँच गई और आज 'आललाप विजयामहेतुकम्' का कांड रचा तो 'नम्रतेव सहकारतां ययौ' की स्थिति को प्राप्त हुई। 'कोप' 'काम' का उद्दीपक सिद्ध हुआ न?

मर्यादा—अस्तु, प्रेमयोग के इस प्रवाह में मर्यादा का उल्लंघन नहीं। नहीं। पार्वती को शिव के प्रेम-प्रसंग पर पिता का ध्यान आता है तो शिव को प्रिया-प्रसंग में 'संध्यावंदन' का। अनुशासन वा विधि की यह प्रतिष्ठा इसको सर्वथा स्वच्छन्द होने से बचा लेती है और हमारे सामने प्रेम का वह आदर्श उपस्थित करती है जो कभी वासना से धूमिल नहीं होता। प्रेम के पुजारी जो विधि-विधान को फटकारते और सूफी शेख की खबर लेते हैं वह जीवन की एकांगता का द्योतक है। कालिदास का प्रेमयोग वैसा कठोर और अनुदार नहीं। शिव ने पार्वती के प्रेम को परखा और लोकमर्यादा के अनुसार उनकी याचना की। पार्वती ने भी 'संध्या' का आदर किया और शिव के धर्मकर्म में कभी बाधक न हुई। हाँ, रंग जमाने के लिए थोड़ा मान अवश्य कर लिया जो किसी प्रेमपथिक के लिए पाथेय बन गया। अन्यथा यह संसार ही कुछ और है। यहाँ का दर्शन फिर कभी दूसरी दृष्टि का नहीं होता। वह अपने आप ही में गुथा रहता है। कालिदास ने इसे सभी प्रकार से जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है। हम उनके इस 'संयोग' वा प्रेमयोग को देखकर सरलता से कह सकते हैं—

स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।

कारण, इसमें वासना का स्वच्छ विलास ही नहीं ज्ञान का गभीर उल्लास भी है । तभी तो—

नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं
वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः ।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचि—
त्प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम् ।।६५।।७।।

प्रणय—शिव ने पार्वती के साथ गन्धमादन पर जैसा विहार किया वैसा क्या कोई अन्यत्र करेगा । उसे सहजानन्द की पराकाष्ठा कहिए । कालिदास ने संभोग श्रृंगार के चरम उत्कर्ष को कुमारसंभव में दिखा दिया । अब रहा 'विप्रलम्भ' श्रृंगार तो उसके लिए तो 'मेघदूत' है ही । किन्तु कुमारसंभव तथा मेघदूत के बीच की स्थिति है 'विक्रमोर्वशीय' की । विक्रमोर्वशीय की रचना में कवि का ध्यान क्या रहा, इसका ठीक ठीक पता बताना कठिन है । तो भी इतना तो सरलता से कहा ही जा सकता है कि 'उन्माद' ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । विक्रमोर्वशीय के पाठकों को पता होगा कि कालिदास की समस्त रचना में यही पिनाक है । श्रीशंकर पांडुरंग पंडित ने इसका सम्पादन क्या किया कि इसका चतुर्थ अंक काव्य का चक्रव्यूह बन गया । कालिदास के प्रेमियों को उसकी प्राकृत का पिनाक तोड़ना पड़ा । तोड़ने का उद्योग हो रहा है, पर अभी तक टूट नहीं पाया । यह सत्य है । अपभ्रंश की कालिदास को क्यों सूझी, इसका विचार तो यहाँ न होगा; परन्तु बताना होगा यहाँ वह रहस्य जो कालिदास ने वैसा किया क्यों । सो प्रत्यक्ष ही है कि कालिदास की इस रचना का प्राण है इसका चतुर्थ अंक ही । चतुर्थ अंक में है क्या ? पागल प्रिय का प्रलाप ही न ? इसी से सूत्रधार ने प्रस्तावना में कहा है—

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथ वा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात् ।
शृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य ।।२।।१।।

परवशता—'प्रणय' की बात ठहरी । उसकी उपेक्षा हो भी कैसे सकती है ? सच तो कहिए, विक्रमोर्वशीय का प्रणय है कैसा ! कह सकते हैं प्रेम का

परिणाम । किन्तु क्या यह सच भी है ? उर्वशी सी विवश नारी के सामने प्रेम है क्या ? मन भले ही उसका अपना हो, पर तन तो उसका सदा के लिए इन्द्र का हो चुका है न ? भूलिए नहीं, यह इन्द्र की कृपा है कि आ? प्रिय-प्रिया को साथ पाते हैं अन्यथा मैं कहीं और तू कहीं की स्थिति यहाँ भी थी । अनुराग की यह विवशता ? राजा अप्सरा को चाहता है और अप्सरा चाहती है राजा को । परन्तु इस चाहने का कोई अर्थ नहीं जो इन्द्र इसे न चाहे । कभी नहीं, किसी दशा में नहीं । नारी की विवशता तो देखिए कि पिता ने पुत्र का मुख देखा नहीं कि उससे दोनों छिने । 'प्रिय' भी गया और गया 'पुत्र' भी । हाँ, मिला इन्द्र का लोक । वही लोक जिसके विषय में कवि ने विदूषक के मुँह से कहा है—

भवति ! किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम् । न वा अश्यते न वा पीयते । केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना विडम्ब्यन्ते ।

[तृतीय अंक, १७ पूर्व]

अभ्युदय—आप विदूषक की बात पर हँस सकते हैं, पर हँसी में कवि की भावना को टाल नहीं सकते । नहीं, आप को मानना होगा कि वस्तुत: 'विक्रमोर्वशीय' मानव-विजय की रचना है और नारी को भोगभूमि से हटाकर कर्मभूमि में ला खड़ी करने का उद्योग है । है, सूत्रधार के निवेदन में इसी का निर्देश है । देखिए न,

सद्वस्तुपुरुषबहुमानात् ।

का आग्रह क्या है और क्या है भरतवाक्य के

संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ।

का मर्म भी । 'श्री' को उर्वशी और 'सरस्वती' को 'काशिराजपुत्री' मानने में संकोच हो सकता है, परन्तु कुछ रहस्य तो होगा अप्सरागण की बातचीत का जो इसी के पहले दी गई है इस रूप में—

अप्सरसः—(उर्वशीमुपेत्य) दिट्ठिआ पुत्तस्स जुवराअसिरीए भत्तुणो अविरहेण वड्ढसि । (दिष्ट्या पुत्रस्य युवराजश्रिया भर्तुरविरहेण वर्धसे ।)

उर्वशी—साहारणो एसो अब्भुदओ । (कुमारं हस्ते गृहीत्वा) एहि वच्छ जेट्ठमादरं अभिवन्देहि (साधारण एषोऽभ्युदयः) ।। (एहि वत्स ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व)

विचारने की बात है कि उर्वशी अपने इस अभ्युदय को 'साधारण' कहती है। भला उसका विशेष अभ्युदय सब का साधारण अभ्युदय कैसे हो सकता है? विनय की बात कहाँ तक बढ़ सकती है? नहीं, इसमें अप्सरामात्र का अभ्युदय तभी माना जा सकता है जब कि उर्वशी को यह सौभाग्य क्या प्राप्त हुआ अप्सरामात्र को इसका मार्ग खुल गया का सिद्धान्त ही मान लिया जाय। अन्यथा इसका भाव कुछ खुलता नहीं दिखाई देता। हाँ, यहीं यह भी ध्यान रहे कि 'कुमार' युवराज बनकर ज्येष्ठ माता के पास पहुँच नहीं पाता प्रत्युत नारद के आदेश से वहीं रुक रहता है। नारद कहते हैं—

तिष्ठ। समये तत्रभवत्याः समीपं गच्छसि।

'समय' का पता नहीं। नारद उसे क्षण भर रोक कर क्या किया चाहते हैं? हाँ, वहीं इतना और कहते अवश्य हैं—

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥२३॥५॥

और फलतः राजा भी सहज भाव से कह जाते हैं—

एवमनुगृहीतो भगवता कथं न योग्यो भविष्यति?

'आयुस्' की 'यौवराज्यश्री' से नारद को 'महासेन' की सुधि आई तो हमें भी यह सुधि यह आशा बँधा गई कि इस लोक का कल्याण किसी 'आयुस्' के हाथ है।

वात्सल्य—उर्वशी के टीकाकारों को भूलना न होगा कि उसकी मर्माहत कातर वाणी है—

मामपि मन्दभागिनीं कृतविनयस्य पुत्रस्य लाभानन्तरं स्वर्गारोहणेनावसितकार्यां महाराजः समर्थयते।

और 'महाराज' का इसी का समाधान है—

सुन्दरि! मा मैवम्।
न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि
प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः।
अहमपि तव सूनावायुषि न्यस्तराज्यो
विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥१७॥५॥

उर्वशी ने किस कुशलता से पुत्र की शिक्षा का प्रबन्ध कर अपने प्रिय के साथ कुछ दिन और रहने का उपाय कर लिया, इसकी सराहना तो दूर रही; उलटे लोग उसकी निन्दा में लीन हुए और कहने लगे कि पुत्र को वन दे प्रिय के साथ विहार करना कहाँ का धर्म है जो कालिदास इसका विधान कर गए। निवेदन है कि कालिदास की भारती को परखे बिना ऐसा कुछ न कहें तो ठीक है, समीक्षा के क्षेत्र में कल्याणप्रद है। स्मरण रहे उर्वशी का समय है प्रिय के साथ रहने का महाराज का 'दृष्टसन्तान' होना। राजा पुरूरवा ने पुत्र का मुँह देखा नहीं कि उर्वशी उड़कर इन्द्रलोक पहुँची। फिर वह पुत्र की सेवा करती तो क्या करती? वहाँ तो दैव का विधान ही कुछ और ठहरा। उर्वशी से भूल हुई। होती भी क्यों नहीं? जी की बात जीभ पर आ गई और 'लक्ष्मीभूमिका' में सजी उर्वशी 'पुरुषोत्तम' को पुरूरवा कह गई। फिर क्या, उपाध्याय का शाप मिला और फलतः उर्वशी 'दिव्यस्थान' से च्युत हुई। प्रेम की यह प्रतारणा हुई। किंतु महेन्द्र ने देखा कि बात बनी नहीं। निदान स्थिति से लाभ उठाने की सूझी और—

महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षणावसाने लज्जावनतमुखी भणिता यस्मिन्बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम्। सा त्वं यथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसंतानो भवेदिति।

[तृतीय अंक, मिश्रविष्कम्भक]

घटना—उर्वशी कुछ काल के लिए पुरूरवा को मिल गई। उसके वियोग में पुरूरवा की दशा यह थी कि अपने उसी अंग को धन्य समझता था जिससे उर्वशी का अंग कसकर छू गया था। इसी से वह आप ही कहता भी है—

अयं तस्या रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः।
एकः कृती शरीरेऽस्मिन् शेषमङ्गं भुवो भरः ॥११॥३॥

फिर जब महेन्द्र की कृपा से सेवन को पूरा शरीर मिल गया तब चिन्ता ही क्या? राजपाट अमात्यों को सौंप कर प्रिया के साथ 'गन्धमादन' पर जा जमे। भाग्य की बात ठहरी कि उर्वशी भी 'असूया' के चक्कर में आ गई और राजा को 'विद्याधरदारिका उदयवती' को घूर कर देखते क्या देखा कि आपे से बाहर हो गई। रूठकर चली क्या दैववश 'कुमारवन' में पहुँच गई और शापवश बन गई

वहीं 'लता'। राजा ढूँढ़ते ही रह गए कि 'मेघोदय' हो गया। फिर तो राजा की दशा ही कुछ और हो गई। और ऐसी कुछ और हुई कि आज तक उसका ठीक-ठीक पता न चला। चित्रलेखा ने ठीक ही तो कहा था—

एतेन पुनर्निर्वृत्तानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति।

और सहजन्या ने भी कुछ समझ कर ही कहा था—

सखि तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभागिनो न भवन्ति।

उन्माद—निदान दोनों का कहना सच निकला। राजा 'उन्मत्तवेष' में सामने आया। आकर गन्धमादन की भूमि में उसने जो कुछ किया उसकी मीमांसा में पड़ने के पहले टाँक लें इतना और कि इसके बहुत पहले ही 'रहस्य-भेद' की बात सुनकर विदूषक ने 'निपुणिका' से कहा था—

किमामन्त्रिता तत्रभवती उर्वशीति? तस्या दर्शनेन उन्मादितस्तत्रभवान् न केवलं तत्रभवतीं मामपि विनोदविमुखो दृढं पीडयति।

[द्वितीय अंक, १ पूर्व]

और कहा था स्वयं 'राजा' से भी—

भो अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वैद्य उर्वशीपर्युत्सुकस्य भवतोऽहमपि द्वावत्रोन्मत्तौ।

[द्वितीय अंक, ८ प०]

राजा ने भी अपने मन में भली भाँति देख लिया था कि होनहार कुछ अच्छा ही है। कारण यह कि मन प्रसन्न है। कहता है किस हुलास से—

न सुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम्।
अभिमुखीष्विव काङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः॥६॥२॥

और विश्वास है मन में कि उर्वशी का अनुराग शिथिल नहीं पड़ सकता। कारण—

अनीशया शरीरस्य हृदयं स्ववशं मयि।
स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव॥१६॥२॥

फिर इसी उर्वशी का सहसा लुप्त हो जाना और अहोरात्र के प्रयत्न पर भी न मिलना 'उन्माद' का कारण नहीं तो और क्या होगा?

'उन्माद' के चित्रण में कालिदास ने जिस चातुरी से काम लिया है उसका अभी तक यथार्थ पता नहीं। विवाद तो अभी उसकी भाषा में भी है। पागल पुरूरवा भला 'अपभ्रंश' में कुछ कह सकता है ? राजा तो सदा संस्कृत बोलता है न ? बोले। पर पागल भी यदि शास्त्र के मार्ग पर ही चलता रहा और कभी मन की कुछ न कर पाया तो भला वह पागल काहे का ठहरा ? अरे ! कभी तो उसके ग्रस्त हृदय को मुक्त मार्ग मिलना चाहिए ? अन्यथा 'उन्माद' का अर्थ क्या ? देखिए न शास्त्र की मर्यादा क्या है। भरत मुनि का कथन है—

उन्मादोनाम इष्टजनवियोगविभवनाशाभिघातवातपित्तश्लेष्मप्रकोपादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तमपनिमित्तहसितरुदितोत्कृष्टासम्बद्धप्रलापशयितोपविष्टोत्थितप्रधावितनृत्तगीतपठितभस्मपांस्ववधूलनतृणनिर्माल्यकुचेलचीरघटकपालशराभरणधारणोपभोगैरनेकैश्चानवस्थितैश्चेष्टानुकरणादिभिरनुभावैरभिनयेत् ॥

अत्रार्ये भवतः—

इष्टजनविभवनाशादभिघाताद्वातपित्तकफकोपात्।
विविधाच्चित्तविकारादुन्मादो नाम सम्भवति।
अनिमित्तरुदितहसितोपविष्टगीतप्रधावितोत्कुष्टैः।
अन्यैश्चविकारकृतैरुन्मादं सम्प्रयुञ्जीत ॥१२३॥

[नाट्यशास्त्र, ७ अध्याय]

चित्तविकार—निश्चय ही यहाँ भाषा का उल्लेख नहीं हुआ है। होता भी कैसे ? प्रकरण 'चित्तविकार' का है न ? लो यहीं इतना और भी जान लें कि श्री विद्यारण्य स्वामी की व्याख्या में—

'जाग्रत्स्वप्न०' इत्यादि—

शंका—सुषुप्ति अवस्था एक है, उसमें अनेकत्व कैसे ?

समाधान—जागर आदि अवस्थाओं में प्रत्येक अवस्था को तीन प्रकार की मानते हैं, अतएव अनैक्य सिद्ध होता है। एक जाग्रत्सुप्ति, दूसरी स्वप्नसुप्ति और तीसरी सुप्तिसुप्ति ये तीन भेद हैं ॥१६॥

'प्रमिति०' इत्यादि—

जिस जाग्रद् अवस्था में प्रमाज्ञान होता है, वह जाग्रज्जागर है, जिसमें भ्रम होता है, वह जाग्रत्स्वप्न है; और कामादि विषयों में आसक्त होने पर जिस जागर में विवेक नहीं होता, वह जाग्रत्सुप्ति है। अथवा मादक द्रव्य का पान करने पर जिसमें वक्तव्यावक्तव्य भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय का विवेक लुप्त हो जाता है, वह जाग्रत्सुषुप्ति है। मुख्य सुषुप्ति और जाग्रत्सुषुप्ति में निर्विवेकस्वभावत्व समान धर्म है ॥१९५॥

'स्पष्टस्मृति०' इत्यादि—

यदि स्वप्न की स्पष्ट स्मृति रहे तो वह स्वप्नजागर है, यदि अस्पष्ट स्मृति रहे तो वह स्वप्न-स्वप्न है और सर्वथा स्मृति न रहे तो वह स्वप्नसुषुप्ति है। किसी स्वप्न का पूरा स्मरण उठने के बाद होता है, किसी का स्पष्ट स्मरण नहीं होता और किसी का अवधान करने पर भी स्मरण नहीं होता, इसमें कारण यही है कि जो स्वप्न स्वप्नजागर में होता है, उसका स्मरण स्पष्ट होता है। जो स्वप्न स्वप्न-स्वप्न में होता है, उसका स्मरण अस्पष्ट होता है। यानी कुछ अंश का स्मरण होता है, और कुछ का नहीं होता। एवं जो स्वप्न स्वप्न-सुषुप्ति में होता है उसका कुछ भी स्मरण नहीं होता। यह अनुभवसिद्ध है। कार्यविशेष से कारणविशेष की सिद्धि होती है, अन्यथा कार्य आकस्मिक हो जायगा ॥१९६॥

[वृहदारण्यकवार्तिकसार, अच्युतग्रंथमाला]

अच्छा होगा यहीं मूल 'वार्तिक' को भी देख लें—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनामेकैकस्मिन् त्रिधा सति।
जाग्रत्सुप्तिः स्वप्नसुप्तिः सुप्तसुप्तिश्च लभ्यते ॥१९४॥
प्रमितिर्जागरे जाग्रद् भ्रमः स्वप्नोऽथ मूढता।
पानादिजन्या सुप्तिः स्यादेवं जागरणं त्रिधा ॥१९५॥
स्पष्टस्मृतिरथाऽस्पष्टस्मृतिरस्मृतिरित्यमी।
स्वप्नभेदाः स्वप्नमध्ये जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ॥१९६॥

[वृहदारण्यकवार्तिकसार, चतुर्थ अध्याय, तृतीय ब्राह्मण]

मनोदशा—अस्तु, हम कह सकते हैं कि १—'जाग्रज्जागर,' २—जाग्रत्स्वप्न, और ३—जाग्रत्सुप्ति के साथ ही जागरण अथवा बोध के प्रकरण में कुछ न कुछ

'स्वप्नजागर' तथा 'सुप्तिजागर' का भी महत्त्व है। इस प्रकार इधर उधर से लेकर जागरण के कुल पाँच रूप हैं। तीन जाग्रत् के तथा एक एक स्वप्न और सुप्ति के। अतएव अब इन्हीं को लेकर हमें उन्मत्त पुरूरवा का विचार करना है।

उन्मत्त राजा का साक्षात् दर्शन होता है हमें किस रूप में? कहने को तो कह दिया जाता है कि—

ततः प्रविशति उन्मत्तवेषो राजा।

परन्तु कहीं बताया नहीं जाता कि वास्तव में वह 'उन्मत्तवेष' था क्या। हमारी समझ में इसी का निर्देश है—

गहणं गइन्दणाहो पिअविरहुम्माअपअलिअविआरो।
विसइ तरुकुसुमकिसलअभूसिअणिअदेहपब्भारो ॥४॥४॥

में। इसकी संस्कृत छाया है—

गहनं गजेन्द्रनाथः प्रियाविरहोन्मादप्रकटितविकारः।
विशति तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः॥

'विक्रमोर्वशीय' के टीकाकार श्री रंगनाथ कहते भी हैं—

गजान्योक्त्या जायाविरहायासितस्योन्मत्तस्य पुरूरवसो रंगभूमावाक्षिप्तिकया प्रवेशं सूचयति।

हमारी दृष्टि में 'प्रवेश' ही नहीं 'वेष' की सूचना भी इसी से हो जाती है। यह और कुछ नहीं उन्माद का परिणाम है और है पुरूरवा की 'जाग्रत्सुप्ति' दशा का द्योतक। इस दशा में चित्त का प्रकृति से इतना गहरा लगाव हो जाता है कि वह उसी का अंग बन जाता है और राजा पुरूरवा सर्वथा प्रकृति का अनुकारी बन जाता है। उसमें विवेक का लेश भी नहीं रह जाता और स्वयं मंच पर बीच बीच में नाच भी उठता है। अतएव स्पष्ट ही है कि हम इसे असाधु नहीं समझते और इसमें कालिदास की सच्ची सफलता मानते हैं। स्मरण रहे। रंगनाथ का पाठ है—

(ततः प्रविशत्याकाशबद्धलक्ष्यः सोन्मादो राजा)

राजा—(सक्रोधम्।) आः दुरात्मन् रक्षः, तिष्ठ तिष्ठ। क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि। (विलोक्य) हन्त, शैलशिखराद् गगनमुत्पत्य

बाणैर्मामभिवर्षति । (लोष्टं गृहीत्वा हन्तुं धावन् ।) (अनन्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य ।)

हिअआहिअपिअदुक्खओ सरवरए धुदपक्खओ ।
वाहोवग्गिअणअणओ तम्मइ हंसजुआणओ ॥६॥

(विभाव्य सकरुणम् ।) कथम् ।

नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया मम नोर्वशी ॥७॥

(इति मूर्च्छितः पतति । पुनर्द्विपदिकयोत्थाय निश्वस्य ।)

मइ जाणिअ मिअलोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ ।
जाव णु णवतडिसामलि धाराहरु वरिसेइ ॥८॥

(इति सकरुणं विचिन्त्य ।) क्व नु खलु रम्भोरूर्गता स्यात् ।

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि हि न मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥९॥

अनुशीलन—यदि ध्यान से देखा एवं मनोयोग से विचार किया जाय तो अवगत होगा कि इसमें कई अवस्थाओं का चित्रण है। 'प्राकृत' को अभी अलग रखिये। स्वयं संस्कृत में भी सर्वत्र एक ही अवस्था नहीं है। 'आः दुरात्मन् रक्षः, तिष्ठ तिष्ठ' में निश्चय ही 'जाग्रत्स्वप्न' है। किन्तु यह वस्तुतः आश्रित है उस 'स्वप्नजागर' पर जिसका आधार है—

अज्जा, परित्ताअध परित्ताअध = आर्याः, परित्रायध्वं परित्रायध्वम् ।

अस्तु। 'नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः' में निश्चय ही विवेक का भान होता है न? तो फिर उसे 'जाग्रज्जागर' का ज्ञापक क्यों न माना जाय? रही 'मइ जाणिअ' की स्थिति, तो उसे भी देख लें। राजा को स्वप्न का विश्वास हो गया है कि प्रिया को कोई निशाचर हर ले गया है। इसी से सचेत होने पर भी वह कहता है—

मया ज्ञातं मृगलोचनां निशाचरः कोऽपि हरति ।
यावन्नु नवतडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति ॥८॥

क्यों ? कारण यह है कि वस्तुतः वह 'जाग्रत्' की भूमि में नहीं है । नहीं । वह तो उस भूमि में दिखाई भर देता है । उसका विवेक बना है सही, पर काम वह कर रहा है 'स्वप्न' के आधार पर ही । उसे अपने स्वप्न का सच्चा विश्वास जो है ? तो क्या हम इसे 'सुप्तिजागर' की अवस्था कह सकते हैं ? समाधान कुछ भी हो, पर राजा के चित्त की दशा विचारणीय अवश्य है । कालिदास ने अपभ्रंश का प्रयोग किस दृष्टि से किया है, इसका प्रसंग नहीं । परन्तु तो भी इतना तो प्रकट ही है कि उन्मत्त की भाषा एक नहीं । होती भी एक कैसे, जब वह एक साथ ही अनेक भाषा का ज्ञाता है और है राजवर्ग का प्राणी । नहीं नहीं, स्वयं उन्मत्त राजा ।

मतवैषम्य—अच्छा होगा, इस प्रसंग में यहीं श्री सुरेंद्रनाथ शास्त्री की विचार-धारा को देख लिया जाय । 'विक्रमोर्वशीय' की अपनी 'कल्पलता' व्याख्या में लिखते हैं—

अत्र हृदयाहितेतिगाथासन्निवेशस्तु अस्थान एवेति सहजं पक्षमवलम्ब्य क्वचिदियं गाथा न दृश्यते। किन्तु तत्रत्यदेशकालसमवायमाद्योपान्तं निटिलं विभाव्य सहृदयैरिदं नूनं विवेचनीयं यदत्र राजा बाणाभिवर्षिणं रक्षो विलोक्य लोष्टमुद्यम्य हन्तुं प्रक्रान्तः उन्मादस्य परतरां काष्ठां प्राप्तः। एतदन्तरे तस्य प्रगल्भत्वं सोढुमपारयन् क्व गतः स जाल्मोऽसुर इति जिज्ञासया सर्वतो दिशः सूक्ष्मं विलोकयन् राजा स्वावस्थासौसादृश्यप्रतियोगिनं हंसयुवानमेकत्राभिवीक्षते यस्तु हृदयाहितप्रिया दुःखदुःखित्वाच्च सरोवरे धुतपक्षः व्याधत्रासितनेत्रः तान्तः आसीत्। तत्र हंसयुगलयोः हंसी तावत्पूर्वमेव तेन व्याधेन आखेटिता बभूव। ततश्च परिशिष्टं हंसमपि हन्तुमुद्यतं क्वचिद्व्याधं परिभावयन् हंसः त्रस्तनयनः आसीत्। तमेतादृशं हंसं वीक्ष्य नायकोऽपि तत्रैवात्मानमपि प्रियाविरहदूनं आत्मनश्च सरोवरपदेबाध्यवस्यमाने विपिने धुतपक्षत्वं निःसहायत्वं हंसीहरव्याधनिभेन करालकालरूपेण उर्वशीहरेण राक्षसेना-

पवल्गितनयनत्वमनुभवन् कविना सलोष्टं धावनव्यापारात् स्वचातुरी-महिम्ना ईषदवरुद्धस्तेन चास्मै नेदं वस्तुतः रक्षः इति विभावनायावकाशो दत्तः। नो चेद्यदीदं व्याधत्रस्तस्यापहृतहंसीकस्य हंसयूनश्चित्रं नोपात्तं कविना। तदोन्मादस्य चरमावस्थां प्राप्तो राजा किमप्यनर्थमकरिष्यदित्यत एव नाट्यकलाकौशलपरिचायकमिदं चित्रं कवेः यत् सञ्चारिणः उन्मादस्य काष्ठां प्रापयित्वा स्वभ्रमविलसितमन्यथाकर्तुमवसरं राज्ञे पुरस्कृत्य एतदन्तरा सन्नद्धं तं नवजलधरं विभाव्यात्मनो मोहवशाद् ग्लानिमवाप्य सकरुणं कथं विप्रलब्धोऽस्मीति तत्त्वमवगम्य नवजलधरेति पद्यरत्नं वक्तुं संज्ञां लेभे। यद्येतस्मिन्नंतराले राजा याथातथ्यविभावनसामर्थ्यवञ्चितोऽभविष्यत्तदा तु मृगतृष्णया राक्षसमनुधावन् उन्मादवशात् क्वचिद्‌गर्ते पतन् मूर्च्छावशंवदः कदापि स्मरस्य दशमीं दशामवाप्स्यतेति हेतुना कविना हृदयाहितेति हंसचित्रं नायकस्य दृशि समुपस्थापितम्। तत्र हि नायकसदृशापरिपतितं हंसयुवानमकस्मात्प्रदर्श्य कविना कियत् सुन्दरं हृदयद्रावि-करुणाभावभ्रमाख्यमलङ्करणं (Pathectic Fallacy) उपयुक्तमिति अनतिगूढमेव अमुनालङ्कारेण हंसीघातकस्य व्याधस्य दर्शनात् विलोलतारकत्वद्योत्यमानस्य भयत्रासस्य विषयीभूतं हंसयुवानं प्रेक्ष्य शासकत्वधिया अपराधिने क्रुद्धस्य राज्ञः पयोदविवर्तभूतं बाणाभिवर्षिणं राक्षसं प्रति कोपस्योपबृंहितत्वात् तन्मनसि जगति दुर्वृत्तानां परदुःखत्वमेव निसर्ग इति विमर्शावकाशप्रसङ्गाद्राज्ञः भ्रान्तिनिरासाय कविना कृता विचित्रा कृतिरिति द्विपदिकया दिशोऽवलोकनफलमहिम्ना हृदयाहितेति गाथायाः चारुतया चरितार्थत्वं सुसिद्धमेव।

[विक्रमोर्वशीय, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुंबई। १९४२ ई०]

श्री शास्त्री जी ने उक्त प्रसंग में बहुत कुछ लिखा है। उनका पक्ष प्रत्यक्ष है। उनको 'प्राकृत' पद्यों में बहुत कुछ सार दिखाई देता है और फलतः उन्होंने दिया भी उनको मूल के साथ ही है। श्री रंगनाथ की परम्परा का पालन कर उन्होंने स्थिति को स्पष्ट करने का जो प्रयत्न किया है उसका कुछ अंश आप के सामने है और उससे सिद्ध होता है कि 'स्मर' की दशम अवस्था अथवा 'मरण'

से कवि ने किस प्रकार उन्मत्त पुरूरवा की रक्षा की है । प्रसंग जटिल है । इतना जटिल है कि श्री रंगनाथ जी को भी अपनी 'प्रकाशिका' टीका में इस अंक के आरंभ में लिखना पड़ा है—

मम स भविकाय भवताद्भवभयहन्ता हतानार्यः ।
निजचरणसक्तभक्तप्रापितकामश्चिरं रामः ॥

क्यों ! इसी से न कि इस मंगलाचरण से विघ्नबाधा का भय जाता रहेगा और अपनी अर्थकामना सिद्ध होगी । देखिए न, उनको किस कठिनता का सामना करना था कि अंक के अंत में कहना पड़ा—

विवृतिर्विक्रमोर्वश्याश्चतुर्थेऽङ्के यथामति ।
निर्मिता रङ्गनाथेन सद्भिः संशोध्यतामियम् ॥

अपभ्रंश—किन्तु श्री 'पंडित' की कृपा का परिणाम यह हुआ कि उनका संशोधन श्री 'रंगनाथ' के पाठ के सर्वथा विपरीत पड़ा और उन्होंने श्री 'काटय-वेम' का ऐसा पल्ला पकड़ा कि आज प्रायः सभी लोग उन्हीं का पाठ पढ़ने लगे और पुरूरवा का प्राकृत पाठ प्रक्षिप्त माना जाने लगा । किन्तु 'अपभ्रंश' का अध्ययन बढ़ा नहीं कि लोगों का ध्यान फिर इधर गया और फिर इसकी साधुता पर विचार होने लगा । भाषाविदों में से कुछ ने कहा—

कारणव्यपदेशेन प्राकृतं संप्रयोजयेत् ।
दारिद्र्याध्ययनाभावयदृच्छादिभिरेव च ॥३४॥

[नाट्यशास्त्र, सप्तदश अध्याय]

का जब विधान है ही तब उन्मत्त राजा के इसके प्रयोग में बाधा क्या ? रही उदाहरण वा प्रयोग की बात । सो उसका भी सर्वथा अभाव नहीं । देखिए न, श्री अभिनवगुप्ताचार्य की 'विवृति' है—

प्रतिज्ञाचाणक्ये तन्महाकविना भीमेन राजापि विन्ध्यकेतुः शकार इति भूयसा व्यवहृतः ।

[नाट्यशास्त्र, द्वादश अध्याय, श्लोक १४८]

तो फिर उन्मत्त पुरूरवा के लिए अपभ्रंश का निषेध कैसा ?

कालिदास की भाषा-नीति को लेकर अधिक उलझना प्रेम-प्रसंग में ठीक नहीं । अतः यहाँ बताया जाता है कि सचेत होने पर भी पुरूरवा की चिन्ता है—

तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि हि न मे शक्ताः पुरोवर्तिनीम् ।
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥६॥४॥

कोल—और यह इसी चिन्तन का परिणाम है कि वह आगे चलकर 'स्वप्नजागर' में फिर देखता है—

पसरिअखरखुरदारिअमेइणि वणगहणे अविचल्लु ।
परिसप्पइ पेच्छह लीणो णिअकज्जुज्जुअ कोलु ॥४८॥४॥

इसकी संस्कृत छाया है—

प्रसृतखरखुरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचलः ।
परिसर्पति पश्यत लीनो निजकार्योद्युक्तः कोलः ॥

विचारने की बात है कि कवि ने इस 'कोल' का प्रसंग क्यों छेड़ा है। उससे प्रिया का पता तो राजा पूछता ही नहीं फिर उसका महत्त्व है क्या जो कवि उसका परिचय इस प्रकार दे रहा है? स्थिति हमारी समझ में अति स्पष्ट है। कोल पृथिवी के उद्धार का प्रतीक जो है। कालिदास ने अनेक अवसरों पर इसका उल्लेख किया है। राजा की भावना में यह उर्वशी के उद्धार का संकेत है। वराह की इस योजना का मर्म तभी खुल सकता है जब आप इसके आगे की घटनाओं पर ध्यान दें और भावना की गहराई में उतर कर देखें यह कि राजा 'महीधर' से पूछता है—

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया ॥५१॥४॥

परिणाम होता है यह कि—

(तथैव प्रतिशब्दं शृणोति । आकर्ण्य सहर्षम् ।) कथं यथाक्रमं दृष्टेत्याह । भवतु । अवलोकयामि । (दिशोऽवलोक्य सखेदम्) अयं ममैवायं कंदरान्तरविसर्पी प्रतिशब्दः । (इति मूर्च्छति । उत्थायोपविश्य सविषादम् ।) अहह, श्रान्तोऽस्मि । यावदस्या गिरिणद्यास्तीरे तरङ्गवातमासेविष्ये । (द्विपदिकया परिक्रम्यावलोक्य च) इमां नवाम्बुकलुषां स्रोतोवहां पश्यता मया रतिरुपलभ्यते । कुतः

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।

पदाविद्धं यान्ती स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥५२॥४॥

भवतु । प्रसादयामि तावदेनाम् ।

भ्रान्ति—'मूर्च्छा' की दशा तक प्रेम पहुँच गया तो प्रिया का साक्षात्कार भी हो गया । 'मरण' तो कवि को इष्ट नहीं । निदान भविष्य की आशा बँधी—

नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ।

धोखा हुआ अवश्य, परन्तु कौन कह सकता है कि यह ठीक नहीं—

लताभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ।

राजा के 'प्रसादन' का प्रभाव न पड़ा तो उसके मन में कोई और ही भाव उठा । देखा तो सामने कुछ और ही दृश्य दिखाई दे रहा है—

पूर्वदिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहु-
मेघाङ्गैर्नृत्यति सललितं जलनिधिनाथः ॥

इतना ही नहीं अपि तु और भी—

हंसरथाङ्गशङ्खकुङ्कुमकृताभरणः
करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणः ।
वेलासलिलोद्वेल्लितहस्तदत्ततालो—
ऽवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः ॥५४॥४॥

'प्राकृत' की छाया 'संस्कृत' में देखकर कहीं यह न समझ लें कि सचमुच यही दृश्य राजा के सामने है । नहीं, यह भी उसी मनसाराम की कृपा है जो चुपचाप भीतर ही भीतर बहुत कुछ कर लेते हैं । नदी को पाकर 'नाथ' कैसा धन्य हुआ और 'नवमेघ' भी कैसा हितू बना यही राजा की मन की आँखों में फिर गया । बस आँख खुली तो समझ लिया कि यह 'उर्वशी' नहीं सचमुच 'नदी' ही है जो मुझको छोड़ समुद्र को ऐसा प्रसन्न कर रही है । स्मरण रहे, स्थिति अब यह हो गई है—

अवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः ।

फलतः प्रिया से प्रार्थना होती है—

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि भामिनि दासजनं यतः ॥५५॥४॥

पुकार अनसुनी हुई नहीं कि हृदय ने कह दिया कि यह तो उर्वशी नहीं नदी ही है, अन्यथा यह व्यवहार कैसा ?

चेत—प्रकृति की लीला तो देखिए कि जिस मेघ के 'उदय' से राजा पुरूरवा उन्मत्त हो उठा था उसी मेघ के चारों ओर घिर जाने से वह जी उठा। उसने देखा कि जिस वर्षा के प्रभाव से नदी उमड़ कर समुद्र से मिलने जा रही है कहीं उसी के प्रभाव से उर्वशी भी न अपने प्रिय से मिलने को आकुल हो उठी हो। अतः वहीं चलना चाहिए जहाँ उसका लोप हो गया था। कदाचित् वह भी कहीं वहीं घूमती फिरती हो। इधर उधर यों ही भटकने से कोई लाभ नहीं। फलतः—

(परिक्रम्यावलोक्य च।) इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तये सारङ्गमासीनमभ्यर्थये।

अभिनवकुसुमस्तबकिततरुवरस्य परिसरे
मदकलकोकिलकूजितमधुपझंकारमनोहरे।
नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन संतप्तो
विचरति गजाधिपपतिरैरावतनामा ॥५६॥

(गलितकः। जानुभ्यां स्थित्वा।)

कृष्णसारच्छविर्योऽयं दृश्यते काननश्रिया।
नवशष्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः ॥५७॥

(चर्चरी)

सुरसुन्दरि जहणभरालस पीणुत्तुङ्गघणत्थणि
थिरजोव्वण तणुसरीरि हंसगइ।
गअणुज्जलकाणणे मिअलोअणि भमन्ते
दिट्ठी पइं तहविरह समुद्दन्तरे उत्तारहि मइं ॥५८॥

(उपसृत्याञ्जलिं बद्ध्वा) हंहो हरिणीपते,

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने कथयामि ते तदुपलक्षणं शृणु।
पृथुलोचना सहचरी यथैव ते सुभगा तथैव खलु सापि वीक्ष्यते ॥५९॥४॥

कथमनादृत्य मद्वचनं कलत्राभिमुखं स्थितः। सर्वथोपपद्यते परिभवास्पदं विधिविपर्ययः।

स्मरण है न ? पुरूरवा ने इसके पहले भली भाँति जान लिया था कि 'निर्वेद' से 'श्रेय' की प्राप्ति नहीं होती । अतः स्वस्थ चित्त से वह कुछ करना चाहता था । अब वह एक प्रकार से 'जाग्रज्जागर' की दशा में था । इसी से फिर दृष्टिपथ में 'गज' आया तो उसे पहिचान लिया और उस 'ऐरावत' से कुछ नहीं कहा । हाँ, 'कृष्णसार' को तो अवश्य ही विशेष दृष्टि से देखा । उसे ऐसा लगा कि मानो वह वनदेवता की आँख ही हो । फलतः अपनी ठेठ भाषा में प्रार्थना की जिसकी संस्कृत छाया है—

सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।
गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती
दृष्टा त्वया तद्विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥५८॥४॥

कारण यह कि यही स्त्री के लिए 'सुखग्राह्यनिबन्धन' जो है । कवि ने स्वयं कहा भी है—

द्विधाप्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव ।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ॥६०॥७॥
[कुमार संभव]

सुधि—जो महत्त्व देने के विचार से फिर 'हरिणीपति' से पूछा तो उसने उपेक्षा की और प्रिया को तन्मयता से देखता रहा । राजा को विधि विपरीत जान पड़ा जो उसकी ऐसी अवहेलना हुई । किन्तु फिर कर देखा तो वह 'रक्तकदम्ब' गोचर हुआ जो प्रिया का 'शिखाभरण' बना था अपने पुष्प से असमय ही । पता मिल गया तो प्रकाश भी सामने आया—

प्रभालेपी नायं हरिहतगजस्यामिषलवः
स्फुलिङ्गः स्यादग्नेर्गहनमभिवृष्टं पुनरिदम् ।
अरे रक्ताशोकस्तबकसमरागो मणिरयं
यमुद्धर्तुं पूषा व्यवसित इवालम्बितकरः ॥६१॥४॥

अधिक क्या ? 'पूषा' का यह संकेत मिला तो 'मृगराजधारी' का यह आदेश—

वत्स ! गृह्यतां गृह्यताम् ।

सङ्गमनीयो मणिरिह शैलसुताचरणरागयोनिरयम् ।
आवहति धार्यमाणः सङ्गममाशु प्रियजनेन ॥६४॥४॥

और क्यों न हो ? इसी से तो पुरूरवा ने कभी बड़े अभिमान से कहा था—

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥३८॥४॥

तो क्या यह मेघमुक्त सायंकाल का दृश्य है ? सूर्यास्त और चंद्रोदय की संगति तभी तो ठीक होगी ? जी, तभी तो पुरूरवा भी अंत में अपनी प्रिया उर्वशी से कहता है—

अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना
सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना ।
गमितेन खेलगमने विमानतां
नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा ॥७३॥४॥

प्रस्ताव—पुरूरवा के जी में आ रहा है कि जिस मेघ से वियोग में इतना कष्ट मिला उसी से अब इच्छानुकूल अधिक सुख क्यों न लूटा जाय । अतः उर्वशी से उक्त प्रार्थना है । 'नय मां नवेन पयोमुचा' में इसी की पुकार है । स्मरण रहे, कवि ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि वर्षा हो चुकी है । देखिए न—

स्फुलिङ्गः स्यादग्नेर्गहनमभिवृष्टं पुनरिदम् ।

में 'अभिवृष्ट' की व्यंजना यही तो है ? तो फिर वृष्टि के अनन्तर मेघ के छुँट जाने में संदेह क्या ?

पुरूरवा के इस प्रस्ताव से प्रगट होता है कि अभी उसमें भोग की लिप्सा बनी हुई है । स्मरण है न ? उसने आप ही कहा था—

लए पेक्ख विणु हिअए भवामि
जइ विहिजोए पुणि तहिं पाविमि ।
ता रण्णे विणु करिमि णिब्भन्ती
पुण णइ मेल्लइ ताह कअन्ती ॥६७॥४॥

विहार—तो फिर भला वह अपनी इस प्रतिज्ञा की उपेक्षा कैसे कर सकता था—

लते प्रेक्षस्व विना हृदयेन भ्रमामि
यदि विधियोगेन पुनस्तां प्राप्स्यामि ।
तदारण्येन विना करोमि निर्भ्रान्ति
पुनर्न प्रवेशयामि तां कृतान्ताम् ॥६६॥४॥

फलतः उर्वशी के मुँह से सुना नहीं कि कदाचित् प्रजा हमारी चिंता में हो कि तुरत चलने को उद्यत हो गया; किंतु उस रूप में जिसमें प्रिया का पक्का एकान्त सुख मिले। इसी से कवि का विधान भी है—

पाविअसहअरिसंगमओ पुलअपसाहिअङ्गअओ।
सेच्छापत्तविमाणओ विहरइ हंसजुआणओ ॥७४॥४॥

टीकाकार समझ नहीं पाते कि अंत में इसका विधान क्यों। कवि किस उल्लास से कहता है—

प्राप्तसहचरीसंगमः पुलकप्रसाधिताङ्गः।
स्वेच्छाप्राप्तविमानो विहरति हंसयुवा ॥७४॥४॥

और क्यों न कहे ? पुरूरवा ने कभी इसी उर्वशी के विषय में तो कहा था—

हन्त ! सफलो मे विषमावतारः।
यदिदं रथसंक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणाया।
स्पृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥१३॥१॥

सारांश—रंगनाथ का यह पाठ है। पाठ किसी का भी लें, पर कृपया भूल न जायँ कि पुरूरवा और उर्वशी का 'मनसिज' जगा है 'विमान' में ही। अतएव परितृप्ति भी उसकी होगी वहीं ही। 'विहरइ हंसजुआणओ' में इसी विहार का निर्देश किया गया है। अस्तु, अंत में इसका होना अनिवार्य है। प्रश्न उठता है कि वास्तव में यह है किसका कथन। हमारी समझ में यह पुरूरवा का ही स्वप्नदर्शन है। 'स्वप्नजागर' में वासना की प्रबलता के कारण वियोगी राजा पुरूरवा को ऐसा दिखाई देता है। स्वयं उसकी प्रकट स्थिति है 'जाग्रत्स्वप्न' की जिसमें भावना की तीव्रता के कारण वासना की तृप्ति के लिए बीच-बीच में अन्योक्ति के रूप में वैसा कुछ दिखाई देता रहता है। अभी कामवासना की प्रबलता के कारण वह 'जाग्रस्वप्न' की अवस्था में ही है कुछ 'जाग्रज्जागर' की

अवस्था में नहीं। हाँ, कभी कभी इस अवस्था का भान भी उसे होता रहता है जिससे उन्माद में उसके विवेक का सर्वथा लोप नहीं होता। इसी से वह कभी कार्य साधने के विचार से 'संस्कृत' जैसी शिष्ट भाषा में निवेदन करता है तो कभी अधिक आत्मीयता जताने के विचार से 'प्राकृत' किंवा 'अपभ्रंश' का व्यवहार करता है। कभी उन्माद की अधिकता में स्वयं नाच भी उठता है। 'अप्सरा का प्रेमी' जो ठहरा। सारांश यह कि इस अंक में उसके जो भिन्न भिन्न रूप दिखाई देते हैं वे सभी उसकी अवस्था और मनोदशा के अनुकूल हैं। हम अपने कथन की पुष्टि में एक आधुनिक मानसशास्त्री का वचन उद्धृत करते हैं और चाहते हैं कि आप 'केरी' के स्थान पर 'पुरूरवा' समझ लें और फिर देखें कि वस्तुतः हमारा पक्ष क्या है। उसका कथन है—

केरी का मानस कई ऐसे टुकड़ों में बट गया था जिनमें से प्रत्येक अलग इस ढंग से काम करता था मानो दूसरा था ही नहीं। जो कुछ वह देखता या जो कुछ वह सुनता था वह उसकी भावनाओं से उन्मुक्त रहता था, जिससे वस्तु-स्थिति मन को सहज वृत्ति में उद्बुद्ध नहीं कर पाती थी।[1]

सम्बन्ध—पुरूरवा की उन्मत्त दशा को देखकर जानने की इच्छा होती है कि इसी की यह स्थिति क्यों। कालिदास ने उन्माद का इतना प्रकोप इसी में क्यों दिखाया? इसका कुछ कारण होना चाहिए न? हमारी समझ में इसका सीधा सा समाधान है यह कह देना कि वास्तव में पुरूरवा और उर्वशी का संबंध है 'काम' का ही, कुछ 'जीवन' का कदापि नहीं। अतः 'काम' का पूरा प्रताप

---

1. Cary's mind was split in another way, besides being cut up into separate pieces each acting as though the others didn't exist. The sights which met his eyes and the sounds which came to his ears were split off from his feelings so that reality did not call forth the normal emotional responses. (The Mind In Action by Eric Berne, John Lehmann, London, 1949, P. 197–8)

दिखाई देता है यहीं। 'विक्रमोर्वशीय' की रचना जिस दृष्टि से हुई है वह है क्या? कवि ने 'भरतवाक्य' में कह दिया—

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्।
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्॥२४॥५॥

तो क्या इस 'श्री' और इस 'सरस्वती' को यों ही छोड़ देना चाहिए? इसका कुछ न कुछ लगाव नाटक से भी तो होगा? और यदि इसके साथ ही—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥२५॥५॥

को भी 'भरतवाक्य' ही मान लें तो इसका विस्तार और भी व्यापक हो जाता है न? रंगनाथी परम्परा में 'अपि तु' के साथ यह भी 'भरत वाक्य' है ही। तो फिर इसका रहस्य क्या? हमारी समझ में मानव के काम की यही वह रचना है जिसको कालिदास ने 'जन्मान्तर' से अलग रख कर बढ़ने दिया है। इसमें स्पष्ट कहा गया है—

नारदः—राजन् श्रूयतां महेन्द्रसन्देशः।
राजा—अवहितोऽस्मि।
नारदः—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तमनुशास्ति।
राजा—किमाज्ञापयति?
नारदः—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरसंगरो भावी। भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः। तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति।
उर्वशी—(अपवार्य।) अम्महे सल्लं मे हिअआदो अवणीदं विअ।
(अहो शल्यं मे हृदयादपनीतमिव।)
राजा—परवानस्मि देवेश्वरेण।
नारदः—युक्तम्।

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा॥२०॥५॥

अपनी ओर से हमें कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। मानव आज भी तो

इसी की ओर लालायित दीख पड़ता है ? उर्वशी पुरूरवा की आयु भर की 'सहधर्मचारिणी' बनी, पर कभी उससे उसका 'विवाह' नहीं हुआ। सारा काम 'प्रणय' के साथ चलता रहा। 'उपाध्याय' के 'शाप' से उर्वशी का 'दिव्य स्थान' गया तो महेन्द्र की कृपा से वरदान मिला—

सा त्वं यथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति।

[तृतीय अंक, विष्कंभक]

वात्सल्य—स्त्री वस्तुतः 'माता' है 'रमणी' नहीं। इसका यह दृढ़ प्रमाण है कि इस मर्यादा के रहते हुए भी 'अप्सरा' माता बनी और उर्वशी ने 'आयुस्' को जन्म दिया। अन्यथा 'गर्भावरोध' कर सदा प्रिय के साथ बना रहना कितना सुगम था ? समय तो 'दृष्टसन्तान' का ही था न ? तो न 'सन्तान' होती न 'पुरूरवा' का साथ छूटता। किंतु तो भी उर्वशी सन्तानवती हुई और प्रिय से आँख बचाकर उसकी शिक्षा का उचित प्रबंध भी किया। 'वात्सल्य' का ऐसा दूसरा कवि कहाँ जो मातृ-हृदय की ऐसी आभा उतारे ? स्मरण है न ? उसकी सखी चित्रलेखा ने उससे कहा था—

हला उर्वशि ? पर्यवस्थापयात्मानम्। अनप्सरेव मे प्रतिभासि

[प्रथम अंक, ७ पू०]

तथा फिर समय पर डाँटा था—

किं पुनर्मानुष्यं विडम्ब्यते ?

[द्वितीय अंक, १० पू०]

किन्तु तपस्विनी को पता क्या कि मनुष्य वह प्राणी है जिसका दिया देवता भी खाते हैं। फलतः उर्वशी की ओर से आकर उसे स्वयं 'महाराज' से कहना पड़ा उसका यह सन्देश—

मम सुरारिसंभवे दुर्जाते महाराज एव शरणमासीत्। साहं तव दर्शनसमुत्थेन मदनेन बलवद्बाध्यमाना भूयोऽपि महाराजेनानुकम्पनीयेति।

महाराज ने भेदभरी भाषा में कह दिया—

भद्रमुखि !

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां तामार्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्॥१६॥२॥

श्री—अस्तु। जहाँ 'कुमारसंभव' में 'चुम्बक' और 'लौह' का संघटन है वहाँ 'विक्रमोर्वशीय' में 'लौह' और 'लौह' का। यहाँ काम का ही कल्लोल है, तप का नाम नहीं। पर सौभाग्य की बात तो देखिए कि यहाँ अपकार ही उपकार बन जाता है। नायिका उर्वशी कहती भी है—

उपकृतं खलु दानवैः।

और उर्वशी का परिचय है—

या तपोविशेषपरिशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य। प्रत्यादेशो रूपगर्वितायाः श्रियः। अलङ्कारः स्वर्गस्य। सा नः प्रियसख्युर्वशी कुबेर-भवनात्प्रतिनिवर्तमाना समापत्तिदृष्टेन हिरण्यपुरवासिना केशिना दानवेन चित्रलेखाद्वितीया अर्धपथ एव बन्दिग्राहं गृहीता।

[प्रथम अंक, ४ पू०]

एवं 'महाराज' का निश्चय है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥८॥१॥

अतएव हमारा कहना है कि 'उर्वशी' को 'श्री' समझ कर जीवन में 'विक्रमोर्वशीय' का महत्त्व समझा जा सकता है। 'विक्रम' पुरूरवा है तो 'श्री' उर्वशी और 'सरस्वती' तो 'औशीनरी' है ही। तीनों का सौहार्द कवि को इष्ट है। तीनों के समाहार और समन्वय में लोक का कल्याण है। देखिए न, औशीनरी का अभिमान है—

आर्यपुत्र ! अलङ्घितपूर्वो मया नियमः।

[तृतीय अंक, १४ पृ०]

कान्त—अस्तु, 'विक्रम', 'श्री' तथा 'सरस्वती' वा 'नियम' की इस त्रयी का अध्ययन 'विश्वविभूति' के विचार से करें और यह जान लें कि यहाँ की अनुभूति है—

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम् ।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥२१॥३॥

और है यहाँ की अभ्यर्थना—

त्वां कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति
मानावभङ्गनिपुणं त्वममोघमस्त्रम् ।
तामानय प्रियतमां मम वा समीपं
मां वा नयाशु कलभाषिणि यत्र कान्ता ॥११॥४॥

बस, किसी प्रकार 'कान्त' और 'कान्ता' का मिलन होना चाहिए फिर प्रयत्न चाहे जिस ओर से हो । इसी से यहाँ का आग्रह है—

पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं तत्
पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः ।
मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रवृत्त्या
स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥१५॥४॥

परिवार—कारण, इसके बिना भला यह सौभाग्य कब प्राप्त हो सकता है कि—

बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्
वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः ।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्ति—
रिच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः ॥६॥५॥

और फलतः उधर भी—

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति ।
उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः ॥१०॥५॥

पिता-पुत्र की स्थिति तो सामने आ गई, किन्तु माता का दर्शन कहाँ हुआ ? लीजिए वह भी प्रत्यक्ष है—

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा ।
स्नेहप्रस्नवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् ॥१२॥५॥

'स्नेह' की पराकाष्ठा हो गई तो महेन्द्र के 'शासन' की सूझी । उर्वशी को सविषाद राजा से कहना पड़ा—

तदेतावान्मे महाराजेन संवासः।

यदि नाटक यहीं समाप्त हो जाता तो अरस्तू के प्रेमी कदाचित् अधिक प्रसन्न होते; परंतु कालिदास की प्रसन्नता तो है यह कर दिखाने में—

तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्
स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्प्यधैर्ये।
अधिकतरमिदानीं राजते राज्यलक्ष्मी—
हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा ॥२२॥५॥

'राज्यलक्ष्मी' की भाँति ही 'उर्वशी' भी 'पुत्रकस्य युवराजश्रियं प्रेक्ष्य भर्तुर-विरहेण वर्धते।' किन्तु 'ज्येष्ठमाता' औशीनरी की स्थिति क्या है ? भरतवाक्य में उसे पढ़ देखें। कालिदास का काव्यबन्ध ठहरा।

अनुचर—'विक्रमोर्वशीय' की नायिका 'सुरस्त्री' है जो अपनी इच्छा से अपने त्राता मानव की पत्नी बनती है। सुरेन्द्र का यह पुरस्कार पुरूरवा को भाता है। यहाँ तक कि इसके वियोग में वह पागल हो जाता है। होते होते दोनों के प्रेम का परिष्कार हो जाता है और दोनों का सहवास जीवन भर निश्चिन्त हो जाता है। किन्तु 'मेघदूत' में स्थिति इसके विपरीत है। यहाँ 'राजराज' का प्रसाद नहीं कोप मिलता है और सो भी 'शाप' के रूप में। कवि आरम्भ में ही स्पष्ट कर कहता है—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥१॥

'शापेनास्तंगमितमहिमा' का परिणाम कहिए कि 'यक्ष' निरे 'मानव' के रूप में हमारे सामने आता है और अपने जी की आग मिटाने के लिए 'जनकतनया-स्नानपुण्योदक' की शरण लेता है। किन्तु उस पुण्य पानी में शांति कहाँ ? वहाँ की 'स्निग्धच्छाया' में न जाने कहाँ का ताप भरा था जो आषाढ़ का मेघ देखते ही भभक उठा और जिसने विरही कान्त को उन्मत्त बना दिया। देखिए न परिस्थिति कितनी विकट है—

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥२॥१॥

कामार्त्त—'प्रेक्षणीय' के दर्शन से 'अबलाविप्रयुक्त' 'कामी' की जो मनोदशा हुई उसका विवरण क्या ? कवि ने इसी से थोड़े में कह दिया—

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।

उसने ऐसा ध्यान क्यों धरा ? कारण भी यहीं विद्यमान है—

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥३॥१॥

उद्दीपन से उद्दीप्त होना 'चेत' का काम ठहरा। सो भी किसी विप्रयोगी के चेत का। उसका अन्यथावृत्ति हो जाना ही सरल है। फलतः क्रिया भी उसने वैसा ही—

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥१॥

मेघ के 'स्वागत' में उसने जो कुछ किया उसको देखकर आप स्वयं कह सकते हैं कि उसने विवेक खो दिया। कवि का भी स्फुट कथन है—

कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥५॥१॥

सत्त्वोद्रेक—हो। कामार्त्त की प्रकृति भले ही चेतन और अचेतन में भेद न कर सके, पर होता है इससे प्राणी का विकास ही न ? धन्य है न यह प्रकृतिकृपणता जो अचेतन को भी चेतन बना उससे अपना सुखसाधन निकाल लेती है ? इसी से तो मग्न हो वह मेघ से कहता भी है—

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
संदेशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।

गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥१॥

कहे भी क्यों नहीं ? विवेक गया तो क्या गया जो बुद्धि और हृदय को खुल खेलने का इतना व्यापक अवसर मिल गया कि जड़ भी चेतन हो गया ? हृदय का प्रसार तो देखिए—

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ।
कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥१॥

बस, इसी 'पराधीनवृत्ति' में कवि की सारी वेदना छिपी है । उर्वशी की पराधीनता मौन सी रही । पुरूरवा का ध्यान भी उधर नहीं गया और यदि कुछ कान में पड़ा भी तो कह दिया—

सुन्दरि ! मा मैवम् ।

न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि
प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः ।
अहमपि तव सूनावायुषि न्यस्तराज्यो
विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥१७॥५॥

महाराज जो ठहरा ! किन्तु यक्ष को इसका कटु अनुभव हुआ । 'अनुचर' जो ठहरा । 'अस्तंगमितमहिमा !' फिर भी तो उसका विश्वास—

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी—
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ॥

कारण यह कि—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥१०॥१॥

और बुद्धि का उपयोग ऐसा कि—

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ॥१३॥१॥

उदारसत्त्व—फलतः 'प्रयाणानुरूप मार्ग' का परिचय भरपूर दिया गया और यह भी समझा कर कह दिया गया कि इस प्रेमयात्रा में उसे कहाँ करना क्या होगा किस रूप में। इस यात्रा के विवरण का प्रयोजन कुछ और ही है। अतः समय पर उसका भी विचार यथास्थान होगा। यहाँ तो उसकी अपेक्षा प्रेम ही को अधिक पकड़ना है और यह प्रकट दिखा देना है कि सचमुच प्रेम का हृदय कितना उदार होता है। सो वह कहता है—

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥२२॥१॥

'आप भला जब जग भला' का यह सिद्धांत आज कहाँ? किन्तु यक्ष का उन्माद ऐसा नहीं कि शील को भी खो दे और सत्त्व की पुकार को भी न सुने। नहीं, उसका उन्माद तो उसके चिन्तन का परिणाम है और है उसके ध्यान का प्रतिफल। अरे! वह तो उस आश्रम का निवासी है जहाँ का पहाड़ भी आँसू बरसाता है। देखिए न, वह मेघ से कहता है—

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कित मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥१२॥१॥

'स्नेहव्यक्ति' को व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रख प्रेम का व्यापार नहीं किया जा सकता। स्नेह जीवन को पाकर फैलता है न? फिर उसे समेटने की चिन्ता क्यों? देखिए न, यक्ष कहाँ का वासी है—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै—
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति—
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥४॥२॥

किन्तु 'वित्तेशों' की इस सदासुहागिन पुरी में कहाँ वह 'हृदय' भी है

जिसका साक्षात्कार यहीं के एक प्राणी में 'रामगिरि' के 'आश्रम' में हो रहा है ? नहीं, इसी से तो वहाँ—

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥८॥२॥

और यदि वहाँ किसी की सहानुभूति किसी के साथ है तो वह प्रिया सारिका की—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनं सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥२४॥२॥

तो क्या अन्य सभी लोग यक्ष को सर्वथा भूल ही गए ? उत्तर हाँ के अति-रिक्त और क्या हो सकता है ? जो हो, मेघ को भी तो सावधान रहना चाहिए और देखना यह चाहिए कि कहीं उसकी भूल से उसके स्वप्नसुख में बाधा न पड़े। निदान निवेदन है—

तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या—
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।
मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचि—
त्सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥३६॥२॥

सन्देश—फिर तो धीरे से जगाकर सुष्ठुरूप में उससे कहना यह—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥३८॥२॥

सच पूछिए तो इस 'भर्तुर्मित्रं' और 'अविधवे' में ही सब कुछ कह दिया गया है और जो रह गया है वह भी आ गया है इस 'अम्बुवाह' में। व्याख्या का अवसर नहीं। सन्देश का मर्म है—

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥४१॥२॥

और कहना यह कि——

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा-
न्हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि ! सादृश्यमस्ति ॥४३॥२॥

कालक्षेप——प्रिय 'सादृश्य' की टोह में भटकता है तो भटका करे, पर प्रिया तो ऐसा कर नहीं सकती । उसे तो किसी कोने में रह कर ही अलख जगाना है न ! फलतः उसका व्यसन है——

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥२५॥२॥
शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥२६॥२॥

इस 'विनोद' से प्रेम प्रखर होता और जीवन को रस मिलता है । हाँ, शरीर की स्थिति अवश्य ही कुछ और हो जाती है—

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥२३॥२॥

विश्व साक्षी है कि इस 'क्लिष्टकान्ति' में जो शोभा है वह अन्यत्र भूरिसज्जा में नहीं। तभी तो विरही यक्ष की धारणा है—

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो—
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥४५॥२॥

प्रणयकोप—'आनन्द का अतिरेक कहाँ है' का समाधान कदाचित् यह हो सकता है कि जहाँ प्रणयकोप है। कारण कि—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥४४॥२॥

लेखन का यह कार्य करती है प्रिया भी—

मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।

किन्तु किस भाव और किस मुद्रा में? क्या 'प्रियप्रसादन' का भाव उसे भी प्रिय है? स्मरण है न? काशिराजपुत्री औशीनरी ने इसी का व्रत किया था। 'प्रणयकुपिता' के प्रसादन के अभाव में पुरूरवा उन्मत्त हो गया था। देखिए न किसी 'लता' के प्रति उसकी भावना क्या है—

अये! किं नु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यता मया रतिरुपलभ्यते? अथवा स्थाने मम मनो रमते। इयं हि—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते।
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥६६॥४॥

यावदस्यां प्रियानुकारिण्यां लतायां परिष्वङ्गप्रणयी भवामि।

चक्र—पुरूरवा को लता में प्रिया का साक्षात्कार हुआ और 'संगमनीय' के प्रताप से फिर दोनों का संगम हो गया। बाह्य और अन्तःकरण का जैसा मेल

कवि कालिदास ने यहाँ दिखाया है वैसा अन्यत्र कहाँ ? पुरूरवा के विषय में हम पहले कह चुके हैं कि उसका उन्माद 'स्वप्नजागर' का प्रसाद है । यहाँ इतना और निर्देश कर देते हैं कि इसके विपरीत यक्ष का उन्माद 'जाग्रत्स्वप्न' का फल है । घटना दोनों के सामने घटी है प्रातःकाल में ही । 'विक्रमोर्वशीय' में सूर्योदय का स्पष्ट निर्देश है, पर 'मेघदूत' में ऐसा कुछ नहीं । तो भी ऐसा सरलता से समझा जा सकता है कि वास्तव में यह भी प्रातःकाल का ही दृश्य है । कह लें सूर्योदय के कुछ उपरांत । कारण कि यक्ष मेघ से कहीं यात्रा के आरंभ में कलेवा वा प्रातः के जलपान का वर्णन नहीं करता और उसे यात्रा के लिए सर्वथा सन्नद्ध पाता है । उसे बस यात्रा के हेतु प्रियसखा से आज्ञा भर लेनी है । आगे का 'सद्यःसीरोत्कषण' भी इसी के पक्ष में है । अतः हमारा कहना है कि यक्ष और पुरूरवा के उन्माद की वेला में कोई विशेष अन्तर नहीं । हाँ, उनको जागरूकता में अवश्य गहरा भेद है । 'अग्निमित्र' और 'दुष्यन्त' में भी प्रेम का परिपाक हुआ है विघ्न पाकर ही । किन्तु उनकी ऐसी स्थिति नहीं कि उनका भी प्रसंग यहाँ छेड़ा जाय । अस्तु, कालिदास का अभिमत ठहरा—

> नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
> तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
> कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
> नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।।४८।।२।।

समुद्ररशना उर्वी

प्रस्ताव—समुद्ररशना उर्वी की कल्पना कब और कैसे हुई, इसका हमें पता नहीं; परन्तु हम जानते यह भली भाँति हैं कि कवि कालिदास के यहाँ इसका पूरा विधान है। देखिए न, कवि की सुनन्दा का पतिंवरा इन्दुमती से निवेदन क्या है और कहती क्या है वह किस भेदभरी वाणी में। लीजिए—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥६०॥
विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥६१॥
अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संधाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥६२॥
अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥६३॥
ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥६४॥
इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥६५॥६॥

कहने को कहा तो सुनन्दा ने बहुत कुछ 'पाण्ड्य' के पक्ष में, परन्तु परिणाम रहा इसके विपक्ष में ही। कारण यह कि बात इन्दुमती के गले के नीचे न उतरी। कवि का ही कथन है—

स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥६६॥६॥

सच पूछिए तो कवि कालिदास की भारती ने यहाँ सब कुछ भाख दिया है। भला कमलिनी कहीं सूर्य के अभाव में किसी चन्द्रमा से खिल सकती है? किन्तु

नहीं। टीकाकार 'दिनकर' ने इसका कुछ और ही रहस्य खोला है। उनकी दृष्टि में 'तडित्तोयद' का क्षणिक संयोग ही इस उपेक्षा का कारण है। हो सकता है। किन्तु क्या कभी नर-नारी का चिर संयोग लता और पादप की भाँति सदा लिपटा रह सकता है? नहीं। हमारी समझ में तो इसका मर्म है सुनन्दा का यह कथन ही—

रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः।

सपत्नी—तो क्या यह 'सपत्नी' इसके परित्याग का कारण है? कैसे कहा जाय? राजकुमारी भला राज्ञी बनने से विरत होगी? दुष्यन्त ने तो बड़े अभिमान से कहा था तपोवन में अनसूया से—

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥१८॥३॥

[अभिज्ञान शाकुन्तल]

अतएव इस 'सपत्नी' को परित्याग का कारण नहीं कहा जा सकता। और यदि इसको कारण कहा जा सकता है तो केवल इस आधार पर कि यह 'सपत्नी' समता के योग्य नहीं। कारण यह कि यह 'दक्षिण' तक ही सीमित है। 'दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः' की घोषणा यही तो है? सुनन्दा के कथन पर ध्यान दें और विचार तो करें कि उसके 'महीव गुर्वी' का मर्म क्या है। इन्दुमती यदि वस्तुतः 'महीव गुर्वी' है तो भला वह किसी 'दक्षिणाधिपति' को क्यों बरेगी? वह यदि सचमुच 'रत्नानुविद्धार्णवमेखला' है तो विधिवत् उसका पाणिग्रहण होगा किसी 'आसमुद्रक्षितीश' से ही, न कि किसी 'दक्षिणेश' से। सार्वभौम को छोड़कर किसी 'मंडलेश' की पत्नी भला इन्दुमती बन सकती है? स्मरण रहे, सुनन्दा स्पष्ट नाम लेती है इसी से 'अद्रिराज' और 'विन्ध्य' का, 'सिन्धुराज' और 'अगस्त्य' का, एवं 'जनस्थान' तथा 'लंका' का। हिमालय से लंका तक उसकी दृष्टि यों ही नहीं दौड़ती है। नहीं, उसके सामने तो 'सार्वभौम' सम्राट् है जिसका आरोप वह 'पाण्ड्य' पर करना चाहती है। 'पाण्ड्य' है तो बड़ा प्रतापी शासक पर उसका साम्राज्य ही सीमित है दक्षिणापथ में। फिर भला किसी 'विदर्भाधिपति' की भगिनी उसे अपना 'पति' क्यों चुने? देखिए न, इसी से कवि की स्फुट वाणी है—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥६७॥६॥

स्वयं-वर—भूमिपालों की दशा जैसी कुछ हुई सामने है और ओझल नहीं है यह 'पतिंवरा' भी। दोनों को दृष्टि में रखकर देखें यह कि 'अज' पर इसकी दृष्टि पड़ी नहीं कि कवि ने खुलकर कह दिया—

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥६९॥
तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेत्य ।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥७०॥६॥

स्वभावतः अज इन्दुमती को भा गए तो अच्छा ही हुआ। पूर्व का संस्कार ठहरा। किन्तु सुनन्दा के उल्लास का ठिकाना है न? देखिए न, किस उमंग में आकर कहती क्या है—

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥७१॥
महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥७२॥
ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥७३॥
जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥७४॥
यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥७५॥
पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।
चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥७६॥
आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥७७॥६॥

कुल की प्रशंसा कोरी नहीं रही। 'रघु' का पुत्र 'अज' भी एक ही निकला, पक्का धुरंधर। इसी से तो वह जमकर कहती भी है—

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ॥७८॥
कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥७९॥६॥

समर्थन—'रत्न' का 'कांचन' से समागम हो, सो तो ठीक; पर यहाँ 'विहार' की कोई चर्चा क्यों नहीं ? पुरवासी भी इस जोड़ी से प्रसन्न हो अपने जी की कह जाते हैं, परन्तु किसी के मुँह से विहारभूमि के विषय में भूल कर भी कुछ नहीं निकलता। सभी समता पर ही मुग्ध हैं। हाँ, निराश नृप अवश्य भुनकर रह जाते हैं। सारांश यह कि प्रमोद और अवसाद के बीच स्वयंवर समाप्त होता है और योग के सामने भोग भूल जाता है।

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम्।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥८६॥६॥

ऐसा हुआ क्यों ? निराशा के साथ अवहेलना भी सच्ची मिली। पुरवासी कह उठे साधु ! साधु !! और कवि ने टाँक दिया—

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥८५॥६॥

राजलोक—फलतः हुआ भी यह कि राजा लोग घात में लग गए और कवि ने भी स्पष्ट लिख दिया—

स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम्।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्त्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥३१॥७॥

'प्रमदामिष' इन्दुमती के ग्राहकों को सुनन्दा ने खूब समझ लिया था और इसी से उनके परिचय में संभोग का पूरा उल्लेख भी कर दिया था। अच्छा होगा, यहाँ उसका भी कुछ अनुसंधान कर लिया जाय। लीजिए सुनन्दा का निर्देश है—

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥२४॥
निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि ? तयोस्तृतीया ॥२६॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु ! कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरंगानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरंपरासु ॥३५॥
अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥४३॥
संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि ! यौवनश्रीः ॥५०॥
अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥५७॥६॥

मगध, अंग, अवन्ती, अनूप, शूरसेन एवं कलिंग के अधिपतियों के साथ 'पाण्ड्य' को भी गिन लें। सभी कालिदास की दृष्टि में 'प्रमदामिष' के ग्राहक हैं। सुनन्दा इसी से 'समय' के साथ वरण को कहती है। उसकी दृष्टि में सभी प्रकार से कोई इन्दुमती के योग्य नहीं। यहाँ तक कि 'पाण्ड्य' भी यहाँ उपेक्षणीय हैं। 'भोज्या' इन्दुमती का भोग कर सकता है सार्वभौम आत्मतुल्य अज ही। निदान मिली भी वह उसी को ही। साथ ही यह भी ज्ञात रहे कि—

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥२८॥८॥

सार्वभौम—भाव यह कि इन्दुमती को किसी विशेष भूमिभाग से अनुराग नहीं जो वह किसी विशिष्ट देशाधिपति को चुने। नहीं, उसे तो समस्त भूमि से राग है इसी से चुनती भी है वह किसी सार्वभौम राजकुमार को। 'क्षिति' जैसी सपत्नी से उसकी जैसी कुछ होड़ रही उसको कोई सार्वभौम सम्राट् ही समझ सकता है। सुनिए न, उसके अभाव में अज कहते क्या हैं—

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ?
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥५२॥८॥

किन्तु क्या यह सचमुच सच भी है? क्या सचमुच नाममात्र को अज 'क्षितिपति' थे। जी नहीं। इन्दुमती ही 'गृहिणी' 'सचिव' का भी काम करती थी जिससे सपत्नी क्षिति भी 'बहुरत्नसूः' बनी। फिर भी यह सत्य है कि उनकी निष्ठा जैसी 'इन्दुमती' में थी वैसी 'क्षिति' में नहीं। होती भी कैसे? इन्दुमती को स्वयं उन्होंने जीता था, किन्तु 'क्षिति' को प्राप्त किया था भोग्या के रूप में पिता से। पिता रघु ने 'क्षिति'को इतना महत्त्व दिया कि उनकी पत्नी का किसी को पता नहीं। परिणाम यह हुआ कि—

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥१९॥
इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥२०॥४॥

रघु का यश इतना क्यों फैला और क्यों उन्हें 'क्षिति' का ही इतना ध्यान रखना पड़ा आदि का कारण है उनकी अथवा समय की विकट परिस्थिति। देखिए न—

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम्।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥२॥
पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥३॥४॥

दिग्जिगीषा—रघु को प्रजा चाहती है, पर राजा लोग उसके राज्य को सह नहीं सकते। फिर तपस्वी करे तो क्या करे? चिन्ता में मग्न रहने का कोई कारण नहीं। कारण यह कि—

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥५॥४॥

'पद्मा' का प्रसाद ही नहीं, 'सरस्वती' की कृपा भी भरपूर थी, इसी से तो—

परिकल्पितसांनिध्या काले काले च वन्दिषु।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥६॥४॥

अधिक क्या? अति संक्षेप में—

पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः ।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥११॥
यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥१२॥४॥

'प्रकृतिरंजन' के कारण रघु सचमुच राजा हो गया तो इसका प्रभाव राजन्य वर्ग पर अच्छा न पड़ा। द्वेष के कारण उधर का भाव कुछ और ही हो गया। कवि ने स्पष्ट कहा भी है—

प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥२१॥४॥

'अभिभव' की आशंका से उधर की यह स्थिति हुई तो इधर 'असूया' से यह—

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥२३॥४॥

निदान होते होते हुआ यह कि—

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥२६॥४॥

रघु की 'दिग्जिगीषा' का कारण क्या हुआ, इसको जाने विना उसको साम्राज्यवादी कह देना ठीक नहीं। स्थिति भली भाँति भाँपने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसके उपसंहार को ठीक से समझ लें। कवि का ही कथन है—

सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभि-
र्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान् ।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्
राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥८७॥४॥

राजन्य—राजन्यों के प्रति सम्राट् का जो भाव है वह कभी भूला नहीं जा सकता। आदर-सत्कार का प्रभाव ही कुछ ऐसा होता है कि वह प्राणी को मोह लेता है। रघु के यहाँ इन राज्यों ने जो पाठ पढ़ा वह था—

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥८६॥४॥

'आदान' और 'विसर्ग' से साम्राज्य का संघटन किस प्रकार होता है इसकी मीमांसा का अवसर नहीं। दिखाना तो अभी यह है कि इसी दिग्विजय के बहाने हमने रघुवंश में देख क्या लिया है। सो कवि का प्रकट कहना है—

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥२८॥
रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥२९॥
प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥३०॥
मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥३१॥
स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम्।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥३२॥
त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥३३॥
पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥३४॥४॥

विदित ही है कि यहाँ तक कालिदास ने किसी विशेष जनपद का उल्लेख नहीं किया है। हाँ, इसके पश्चात् ही इतना अवश्य कहा है कि—

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥३५॥४॥

प्राची—'सुह्म' को इस प्रकार प्रत्यक्ष ही जो 'पौरस्त्य' से अलग कर दिया तो फिर 'पौरस्त्य' की सीमा क्या ? और भी। इसी के आगे फिर कहते हैं—

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥३६॥
आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥३७॥४॥

'सुह्म' और 'वंग' की भूमि तथा जीवन का जो परिचय कालिदास ने दिया है उसको कोई भी सरलता से स्वयं देख सकता है और 'वेतस' तथा 'कलम' की वृत्ति को स्वयं पकड़ भी सकता है। प्रकृति का प्रभाव प्राणी पर कैसा गभीर पड़ता है, सो भी प्रकट ही है। किन्तु जो प्रकट नहीं है वह है 'पौरस्त्य' का प्रदेश ही। एक बात और। 'पौरस्त्य' जहाँ 'अहित' हैं वहीं 'सुह्म' आदि 'अनम्र' भी। तो क्या 'पौरस्त्य' कभी दिलीप के शासन में थे जो उनके निधन पर उभर उठे? जो हो, इसके उपरान्त कवि का कथन है—

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥३८॥४॥

'उत्कल' का यह व्यवहार इतना अनुकूल रहा कि कलिंग यात्रा में वही मार्गदर्शक बना। रघु ने भी आगे बढ़कर महेन्द्र पर्वत को अपना आश्रम बनाया और कलिङ्ग से युद्ध छिड़ गया। कवि की भाषा में—

स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत्।
अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥३९॥
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥४०॥

घनघोर संग्राम में दोनों जुटे तो परिणाम यह हुआ—

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥४२॥
गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥४३॥४॥

अस्तु। सरलता से कहा जा सकता है कि 'प्राची' में रघु का सामना हुआ १—पौरस्त्य, २—सुह्म, ३—वंग, ४—उत्कल और ५—कलिंग से। इनमें भी कसकर मोरचा लिया केवल कलिंग ने। फलतः यहीं छक कर पान हुआ नारिकेल का आसव ताम्बूल के पत्ते से। कीजिएगा क्या? रणभूमि के साथ भूमि का प्रसाद ही यह ठहरा।

अवीची—प्राची को अधीन कर रघु दक्षिण की ओर बढ़े और बड़ी सरलता से पाण्डय की सीमा तक जा पहुँचे। मानव नहीं, बस भूमि की छटा देखिए और प्रकृति को कवि के हृदय से परखिए। लीजिए—

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना ।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥४४॥
स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना ।
कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥४५॥
बलैरध्युषितास्तस्यविजिगीषोर्गताध्वनः ।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥४६॥
ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥४७॥
भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
नात्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥४८॥४॥

ऐसी रम्य और मनोहर भूमि में किसका मन न रमेगा और सो भी तब जब अपना प्रताप अद्वितीय हो ? इसी से तो रघु भी यहाँ मन भर रम रहे, पर इसके भोग में लिप्त नहीं हुए। कवि की कला पर ध्यान दें—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥४९॥
ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ॥५०॥
स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥५१॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥५२॥

इतना ही नहीं, अपि तु—

तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥५३॥४॥

ध्यान देने की बात है कि कवि ने 'स्रस्तांशुक' की भावना को और आगे बढ़ने से रोक ही नहीं दिया है, अपि तु 'अनीक' से उस 'नितम्ब' को फिर आच्छादित भी कर दिया है जिसका सुखद परिणाम यह हुआ है कि 'केरल' की भयभीत स्त्रियाँ सज उठी हैं—

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥५४॥

सत्कार उधर से भी पूरा हुआ जिसके फलस्वरूप योधा भी सुवासित हो गए। कवि का कथन है—

मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः ।
तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥५५॥

फिर तो सेना में ऐसा उत्साह छा गया कि—

अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः ।
वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥५६॥
खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
कटेषु करिणां पेतुः पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः ॥५७॥
अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥५८॥४॥

रघु ने भी अच्छा स्थान पा कुछ विश्राम किया और फलतः वहाँ एक प्रकार का जयस्तम्भ भी स्थापित हो गया। सो कैसे ? सो इसे भी देख लें—

मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥५९॥४॥

स्मरण रहे, रघु का यह दूसरा जयस्तम्भ है। पहला जयस्तम्भ स्थापित हुआ था वंगविजय पर गंगास्रोत के मध्य में और दूसरा स्थापित हुआ है अपरान्तविजय पर त्रिकूट पर्वत पर। कह लें इसी को रूप मिल गया है जयस्तम्भ का।

प्रतीची—प्राची और दक्षिण दिशा को अधीन करने के उपरांत ध्यान गया प्रतीची पर तो मनमें कुछ और ही विचार उठ खड़ा हुआ। बहुत सोच विचार कर अन्त में प्रस्थान किया स्थल-मार्ग से ही—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥

परिणाम भी इसका यह हुआ कि यवन सहसा पंजे में आ गए और भीषण संग्राम का परिणाम भी अनुकूल रहा । कवि का उल्लासमय कथन है—

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥६१॥
संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्त्यैरश्वसाधनैः ।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥६२॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥६३॥
अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥६४॥४॥

सारांश यह कि कसकर मारकाट इसी तुमुल संग्राम में हुई । कवि ने इसी का वर्णन जमकर किया है । विजयश्री हाथ लगी तो 'विजयश्रम' भी दूर होना चाहिए ? सो भी इस मधुभूमि में ! फलतः—

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् ।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥६५॥४॥

उदीची—पश्चिम की सारी धरा यवनाधीन थी । यवन पराजित हो गए तो रघु 'उत्तर' की ओर बढ़े । यहाँ भी व्यवहार कुछ कड़ा ही रहा । देखिए—

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥६६॥४॥

उदीच्यों के उद्धरण में अश्वों को जो श्रम पड़ा उसको दूर करने का साधन भी निकल आया । लोटने को बढ़िया भूमि मिली तो उनका मार्ग का सारा श्रम जाता रहा । ऊपर से लाभ भी कुछ कम नहीं हुआ । कवि को उनका भी पूरा ध्यान है । तभी तो खुलकर कहता है—

विनीताध्वश्रमास्तस्य वङ्क्षुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥६७॥४॥

अश्व आनंद क्यों न मनाएँ ? यह भूमि तो उनकी जननी है न ? यहाँ लोटने से जो उनको स्फूर्ति मिली वह हूणों को बहुत महँगी पड़ी। उनके अभाव में उनके घर की स्थिति यह हुई कि सब का मुँह लाल हो गया। कारण कदाचित् गाल पीट-पीट कर रोना था। कवि की वाणी में—

> तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
> कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥६८॥४॥

कम्बोज—इस प्रकार हम देखते हैं कि 'केरल' से लेकर 'वंक्षु' तक कवि का ध्यान स्त्री पर अधिक रहा है और रघु के प्रताप की व्यंजना उसके द्वारा की गई है। सो भी सबसे अधिक व्यक्त हुई है 'हूण' में ही। प्रतीत होता है कि इनका संहार सा हो गया और इनकी स्त्रियों को बस रोना भर रह गया।

हूण को परास्त कर रघु आगे बढ़े तो समर में काम्बोज ठहर न सके और झट से अधीनता मान ली—

> काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः।
> गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥६९॥४॥

तो क्या रघु के गजबल के कारण उन्हें झुकना पड़ा? कारण कुछ भी रहा हो, परिणाम यह हुआ कि रघु को अच्छे घोड़े और बहुत सी द्रव्यराशि मिल गई। परन्तु इतने पर भी रघु को अभिमान छू तक नहीं गया। स्वयं कवि का ही कथन है—

> तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः।
> उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम् ॥७०॥४॥

हिमालय—रघु कम्बोज से निकले तो उन्हें हिमालय की चढ़ाई का सामना करना पड़ा और एक बार फिर कुछ दूर तक पहाड़ी छटा देखने को मिली—

> ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः।
> वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥७१॥
> शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम्।
> गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम् ॥७२॥

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥७३॥

सम्राट् का मार्ग में कैसा सत्कार हुआ ? अब पड़ाव की लीजिए—

विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥७४॥
सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥७५॥४॥

और तो और, यहाँ तक कि देवदारु भी रघु के प्रभाव से मुक्त नहीं रहे और उनके चले जाने पर भी उनके बड़प्पन को गाते रहे । कवि कहता है—

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः ।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥७६॥४॥

किंतु पहाड़ी होते बड़े विकट जीव हैं । अड़ गये तो बड़ों बड़ों के छक्के छूट जाते हैं । फलतः—

तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत् ।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥७७॥
शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान् ।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किंनरान् ॥७८॥
परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥७९॥
तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः ।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥८०॥४॥

प्राग्ज्योतिष—हिमालय को नत कर रघु उतरे तो प्राग्ज्योतिषेश्वर भी सरलता से नतमस्तक हो गए और रघु की बड़ी आवभगत की—

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥८१॥
न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम् ।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥८२॥

तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥८३॥
कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।
रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥८४॥४॥

रघु की इस अद्भुत पादपूजा के साथ दिग्विजय की यात्रा पूर्ण हुई। कालिदास ने 'कामरूपेश्वर' को इतना स्मरण क्यों किया, यह कोई भेद की बात है। 'प्राग्ज्योतिषेश्वर' और 'कामरूपेश्वर' में भेद भले ही न हो, पर कालिदास के हृदय में दोनों के लिए एक ही स्थान नहीं। 'प्राग्ज्योतिषेश्वर' प्रभुता में रघु के सामने तुच्छ हो सकता है, किन्तु 'कामरूपेश्वर' के सामने तो प्रश्न ही नहीं है। स्वागत और सत्कार ही मानो उसका धर्म है। इतना ही नहीं, इन्दुमती के स्वयंवर में तो कहीं 'कामरूपेश्वर' का नाम नहीं आता किन्तु अज के विवाह में हम देखते हैं कि आप भी वहाँ विराजमान हैं। देखिए न, आप करते क्या, अथवा आते किस काम में हैं। कालिदास कहते हैं—

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
उद्भासितं मंगलसंविधाभिः संबन्धिनः सद्म समाससाद ॥१६॥
ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥७॥

वसुन्धरा—कारण कुछ भी हो। उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। स्थिति स्पष्ट है कि इस दिग्विजय में हमने देख लिया कि कालिदास की दृष्टि में वस्तुतः 'समुद्ररशना उर्वी' की सीमा क्या है और कहाँ तक की 'क्षिति' को यहाँ का क्षितीश भोगता है। इन्दुमती ने इसी क्षिति को 'सपत्नी' बनाने के विचार से 'पाण्ड्य' को ग्रहण नहीं किया और वरा स्वयंवर में अज को ही। प्रसंगवश यहाँ यह भी टाँक लेने की बात है कि इनमें केवल 'कलिंग' और 'पाण्ड्य' ही ऐसे दो जीव हैं, जिनका दर्शन हमें इन्दुमती के स्वयंवर में भी मिलता है। शेष में से किसी का नहीं। हाँ, 'कामरूपेश्वर' अवश्य एक ऐसे राजा हैं जो इन्दुमती के विवाह में अज के साथ सहायक के रूप में दिखाई देते हैं। 'कामरूपेश्वर', 'कलिंग' और 'पाण्ड्य' सीमा के शासक हैं और हैं सभी एक ही ओर के प्राणी।

'प्राच्य' की स्थिति जहाँ यह है वहीं 'पाश्चात्य' की यह कि कहीं कोई इन्दुमती के स्वयंवर में गोचर ही नहीं होता। 'शूरसेन' और 'अवन्ती' के परे का कोई राजा स्वयंवर में क्यों नहीं? कह लें 'प्रतीची' का कोई क्यों नहीं? कारण उनकी अप्राप्ता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद ही है कि रघु ने इस वसुन्धरा के पालन में कुछ उठा नहीं रखा और अज ने भी इसे, कहने को ही सही, पालापोसा। दशरथ बड़े हुए नहीं कि भोगने को उन्हें यह भूमि मिली और अज ने मरण वा प्रियामिलन-व्रत ले लिया। अज ने दिग्विजय के रूप में कोई यात्रा न की। हाँ, स्वयंवर के अवसर पर ही अपने पराक्रम का पूरा परिचय अवश्य दे दिया। इस यात्रा में उन्हें इस उर्वी के जिस रूप का साक्षात्कार हुआ वह था—

तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥४१॥
स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥४२॥
अथोपरिष्टाद्भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तः सलिलप्रवेशः।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥४३॥
निःशेषविक्षालितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥४४॥
संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम्।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरंगान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥४५॥
शैलोपमः शैवलमंजरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात्।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥४६॥५॥

कवि कालिदास का यह वर्णन 'गज' को लेकर खड़ा हुआ है और है इसी से उसकी प्रधानता इसमें। अज को अपने इष्ट की प्राप्ति में इसका उसी प्रकार सामना करना पड़ा जिस प्रकार दिलीप को कभी 'सिंह' का करना पड़ा था। सिंह के विषय में कवि का कथन है—

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥२॥

दिलीप-यात्रा—अस्तु। कहने का भाव यह है कि कवि ने आलम्बन को प्रकृति के बीच देखा है और इस प्रकार परिस्थिति को पूरा-पूरा रूप दे दिया है। साकेत से विदर्भ तक की यात्रा अज ने की, किंतु कवि ने मार्ग के भूमिभाग के वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं समझी। बस, नर्मदा के वर्णन में ही उसका मन लगा। सो भी किस निमित्त से। किंतु ध्यान से देखा जाय तो यह बहुत कुछ उस दिग्विजय का पूरक सा है। सच तो यह है कि दिलीप की साकेत से 'वसिष्ठाश्रम' की यात्रा, अज की साकेत से 'विदर्भ' की यात्रा, एवं कुश की कुशावती से 'साकेत' की यात्रा, इस दृष्टि से विशेष विचारणीय हैं। इनके द्वारा भी कुछ भीतरी बातों का मर्म खोला गया है। सो राजा दिलीप की यात्रा है—

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया।
तौ दंपती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥३५॥
स्निग्धगंभीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमाश्रितौ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥३६॥
मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥३७॥
सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥३८॥
मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥३९॥
परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥४०॥
श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम्।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥४१॥
पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥४२॥
सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम्।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥४३॥

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥४४॥
हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥४५॥
काप्यभिख्या तयोरासीद्व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥४६॥
तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः ।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥४७॥१॥

इस यात्रा में उस समय का जीवन व्यक्त है। उसकी विशेष चर्चा न कर थोड़े में कहना यही है कि यद्यपि 'शाल' के अतिरिक्त वहाँ किसी अन्यवृक्ष का विधान नहीं तथापि अति स्फुट है कि मार्ग में कोई ऐसा पेड़ नहीं जिसका परिचय इस 'दंपती' को न हो। कोई अपरिचित पादप दृष्टिपथ में आया नहीं कि वहाँ के वृद्ध से उसका 'नामधेय' चट पूछा गया—

नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ।

और 'अरविन्द' का तो कहना ही क्या? भला कालिदास सा कुशल कवि कभी इस भूमि की यात्रा में इस जलज को भूल सकता है? 'सारस' और 'शिखंडी' के साथ ही मृग की आत्मीयता पर ध्यान दें और उत्तरापथ की सारी विभूति को समझ लें।

दशरथ-यात्रा—कुश की यात्रा का अभी नाम न लें। अभी दशरथ के साथ देखें प्रकृति की इस शोभा को। स्मरण रहे, यह उत्तर भारत का वसन्त है। कवि कहता है—

अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥२४॥
जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः ।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥२५॥

'मलय' को छोड़कर भगवान् 'रवि' भी उत्तर की ओर बढ़े तो वहाँ की छटा भी कुछ और ही हो गई—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुद्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥२६॥६॥

आजकल की 'आकाशवाणी' की भाँति अति संक्षेप में, सूत्ररूप में, यह सूचना दी गई । अब विस्तार के साथ सुनिए—

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
अभिययुः सरसो मधुसंभृतां कमलिनीमलिनीरपतत्रिणः ॥२७॥
कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥२८॥
विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः ॥२९॥
सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपंक्तिभिः ॥३०॥
उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ॥३१॥
व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥३२॥६॥

रवि ने 'मलय' से धनदद्दिशा में बढ़ कर जो इतना उपकार किया तो 'मलय-मारुत' ही क्यों पीछे रहे ? फलतः उसने भी अपना कौशल दिखाया और—

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥३३॥
प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥३४॥
श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥३५॥
ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥३६॥
शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः ॥३७॥

उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः ।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयानितया रजनीवधूः ॥३८॥६॥

'वसन्त' में 'रजनीवधू' की इस स्थिति से किसी को तोष क्या होगा ? किन्तु सो भी 'हिमकर' का प्रताप तो देखिए । कैसा अद्भुत काम किया—

अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥३९॥
हुतहुताशनदीप्तिवनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥४०॥
अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपंक्तिनिपातिभिरङ्कितः ।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥४१॥
अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसंगतया मनः ।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥४२॥
अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरैः ।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥४३॥
उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥४४॥
ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥४५॥
अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥४६॥६॥

फिर भी यदि कहीं कुछ कमी रह ही गई हो तो उसे भी कोकिल ने पूरा कर दिया । सो भी किस भाव से—

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥४७॥६॥

समुद्र-दर्शन—'वधूजन' के लिए प्रकृति ने कैसा उद्दीपन का कार्य किया और उससे वधू की शोभा किस शृंगार में निखर उठी, उसे आप सरलता के साथ यहाँ देख सकते हैं और यह भी भली भाँति समझ सकते हैं कि

कालिदास 'वीर' के प्रसंग में प्रकृति को कैसा देखते हैं और कैसा लखते हैं उसे 'श्रृंगार' के प्रसंग में भी। अच्छा होगा यहीं एक साथ ही एक दम्पती के प्रकृति-निरीक्षण को विमान से देख लें। यहाँ वीर और श्रृंगार दोनों का स्मरण है। लीजिए राम सीता से कहते हैं—

वैदेहि ! पश्याऽऽमलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥२॥
गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरंगे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥३॥
गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥४॥
तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥५॥
नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥६॥
पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥७॥
रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥८॥
मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरंगाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥९॥
ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥१०॥
मातंगनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥११॥
वेलानिलाय प्रसृता भुजंगा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः ।
सूर्यांशुसंपर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥१२॥
तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥१३॥

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥१४॥
दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥१५॥
वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि ।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णाम् ॥१६॥
एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥१७॥१३॥

राम ने सकल १६ श्लोकों में समुद्र का जो परिचय दिया है वह प्रकृति, पुराण तथा प्रेम से भरा हुआ है । 'मातंगनक्र' का वर्णन तो और भी हृदयग्राही है । वह जलचरेन्द्र जो है । कालिदास ने इसे आकाश पर से देखा है और देखा है इसी से इसे विहंगम दृष्टि से भी । सिंहावलोकन के रूप में राम ने यहीं यह भी कहा है—

कुरुष्व तावत्करभोरु ! पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि ! दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥१८॥१३॥

जनस्थान—राम ने आकाश में विमान पर से जो दृश्य देखा है उससे कोई प्रयोजन नहीं । पृथिवी की दशा तो यह है कि—

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥२२॥
सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥२३॥
त्वं रक्षसा भीरु ! यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥२४॥
मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि॥२५॥१३॥

'लता' और 'मृगी' के इस संकेत पर ध्यान दें और देखें यह कि एक ही वेदना सब में किस सूत्र से व्याप्त है । सीताहरण से मृगी और लता को कितना कष्ट हुआ, इसको कौन नहीं अब देख सकता ? भूला है वह प्राणी जो प्राण के इस प्रसार को नहीं लख पाता और इन्हें यों ही रुलाता रहता है ।

माल्यवान्—कहते-कहते राम आगे बढ़ गए तो माल्यवान् पर्वत दृष्टिपथ में आ गया और राम को सीता से कहना पड़ा—

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥२६॥

किन्तु साथ ही वियोग के कारण प्रकृति से दुःख भी बढ़ा ही। देखिए—

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे॥२७॥१३॥

तो भी प्राणी का स्नेह साथ था न? अतएव—

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥३०॥
अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये! सस्पृहमीक्षितानि ॥३१॥१३॥

पंचवटी—जी। जैसे-तैसे वियोग के दिन कट गए और उनका क्षेत्र भी दृष्टिपथ से जाता रहा। अतः अब—

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥३३॥

और इससे भी सुखद यह कि—

एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥३४॥
अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्ग निषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥३५॥१३॥

मुनि-दर्शन—'उत्संग' की बात में अधिक न लगें। 'वानीरगृह' की बात भी झटके में बीत गई और फिर होने लगा एक से एक बढ़कर मुनि-दर्शन। देखिए न—

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥३६॥
त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥३७॥

एतन्मुनेर्मानिनि ! शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥३८॥
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥३९॥
तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदंगघोषः ।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥४०॥१३॥

'पुष्पकचन्द्रशाला' तक प्रतिध्वनित कर देनेवाला यह शातकर्णी मुनि भी धन्य निकला कि इन्द्र ने इससे समाधिभीत हो इसको क्या से क्या बना दिया । अति का पर्यवसान भी कदाचित् अति ही में होता है । जो हो, आगे की स्थिति है—

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः ।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥४१॥
अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि ।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥४२॥
एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥४३॥१३॥

सचमुच सुतीक्ष्ण का तप ऐसा ही है कि इन्द्र भी उसका कुछ नहीं कर सकता । कारण कि वह राम को जानता तथा प्रकृति को पहचानता जो है । हाँ,

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किंचित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि संनिधत्ते ॥४४॥

किंतु उदारता और सत्कार तो 'शरभंग' का कहिए कि—

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥४५॥
छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥४६॥१३॥

पुत्र की चिन्ता न कर पादप को सुपुत्र बनानेवाले ये ऋषि मुनि वस्तुतः धन्य थे जो वन में रहते हुए भी वृक्ष से नहीं अघाते और अपने श्रम से नये वृक्षों से अनुपम तपोवन बनाते थे । आज की तो हमारी विडम्बना ही कुछ और है । करते हैं वनमहोत्सव पर रोपते हैं तुलसी का बिरवा भी नहीं ।

चित्रकूट—अच्छा, जाने दीजिए इस अप्रिय प्रसंग को और देखिए उस समय के 'चित्रकूट' को। किस उल्लास से राम कहते हैं—

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि ! चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥४७॥१३॥

'बन्धुरगात्रि' कह कर राम ने दरसा दिया कि वास्तव में सौंदर्य सपाट में नहीं भंगिमा में है। शरीर की शोभा तभी है न जब उसमें कहीं ऊँचा और कहीं नीचा हो ? पाषाण को रूप तभी मिलता है जब उसमें एक निश्चित विषमता बड़े शिल्प से लाई जाती है। राम ने चित्रकूट का दर्शन क्या किया वही चित्रकूट सीता में भी उनको गोचर हो गया। कहिए बँध गई न राम की आँख चित्रकूट में ? 'बन्धुरगात्रि' का सम्बोधन भी कितना सजीव निकला ? रम गया सचमुच राम का मन चित्रकूट में और मिल गई उसकी छाया वहीं सीता में भी। फिर तो ललक कर कह ही तो पड़े—

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥४८॥
अयं सुजातोऽनुगिरं तमालं प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥४९॥
अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम्।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥५०॥
अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम्।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥५१॥
वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥५२॥
त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥५३॥१३॥

संगम—प्रतीत होता है कि 'उपयाचित' शब्द ने सीता में कुछ और ही भावना भर दी और उनकी दृष्टि अवध की ओर मुड़ चली। फलतः राम ने भी परिचय दिया—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥५४॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥५५॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥५६॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि ! विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥५७॥
समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥५८॥

साथ ही यहीं कहीं निषादाधिपति का पुर भी तो है जहाँ रामने मुनिवेष धारण किया था ? जी । यहीं राम का यह भी निवेदन है—

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि ! कामाः फलितास्तवेति ॥५९॥

राजधानी—फिर तो राम को भी राजधानी की चिन्ता हुई और बड़े मर्मभाव से सीता से कह ही तो दिया—

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥६०॥
जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥६१॥
यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे संभावयत्युत्तरकोसलानाम् ॥६२॥
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरंगहस्तैरुपगूहतीव ॥६३॥
विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥६४॥१३॥

राजधानी की बात छिपी नहीं । इसके उदाहरण से लाभ नहीं । हाँ, टाँकने

की बात इतनी अवश्य है कि राम अभी राजभवन में पहुँचे नहीं। कवि का कथन है—

क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा
काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः
साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥७९॥१३॥

कारण ? राजा के अभाव में राजभवन रह कहाँ गया था ? परिवार भी तो 'वन' नहीं तो 'उपवन'-वासी बन गया था ! अस्तु।

हृदय की कामना कहिए अथवा कालचक्र का प्रभाव कि इसी सीता का परित्याग कर इसी पृथिवी का पालन राम को करना पड़ा जिसमें वास्तव में उनका इतना अनुराग था। होता भी क्यों नहीं ? 'रामाभिधान हरि' का अवतार ही इस हेतु हुआ था। निदान—

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम्।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥१॥१५॥

उदाररमणीया—'समुद्र' से 'सरयू' तक के जिन प्रमुख स्थानों और पात्रों का दर्शन अभी हमें हुआ है उनका दर्शन कराया स्वयं राम ने सीता को। कवि के मन में न जाने कौन सा भाव ऐसा उठा कि उसने सर्ग के आरम्भ में ही स्पष्ट कह दिया—

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥१॥१३॥

कारण कुछ भी हो, किंतु सभी दशाओं में हम कह सकते हैं कि वस्तुतः यह दिव्य पुरुष की वाणी है जो कही गई है एकान्त में अपनी पत्नी से। दिव्य पुरुष अथवा 'रामाभिधान हरि' को हमारी भूमि का कितना ध्यान है, इसे भी यहाँ देखा जा सकता है और खुलकर कहा जा सकता है कि उनका यह स्नेह ऊपरी नहीं। आकाश से उड़ते हुए राम को इस पृथिवी में कितना रस दिखाई देता है और उसका वर्णन किस चाव से करते हैं यह भी प्रत्यक्ष और प्रकट है। फिर भी लोग न जाने क्यों इसकी उपेक्षा कर किसी उस लोक

का वर्णन बहुत करते हैं और वहीं कहीं अपना अलग नीड बनाना चाहते हैं। हमारी समझ में तो यह आता नहीं और न हम यही समझ पाते हैं कि इसके लिए लोग कालिदास को क्यों घसीट लाते हैं। 'रामाभिधान हरि' को अलग रखिए, आपका अपना ही दुष्यन्त भी तो यही कहता है और 'स्वर्ग' का मातलि भी उसकी हाँ में हाँ मिलाता है। देखिए—

राजा—(अधोऽवलोक्य) मातले ! वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथा हि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥२॥

मातलिः—साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो ! उदाररमणीया पृथिवी !!

[अभिज्ञान शाकुंतल, सप्तम अंक]

रामगिरि—अस्तु, 'उदाररमणीया पृथिवी' की उपेक्षा कर किसी कामना की चाह में भी तो उसे कालिदास में बताना और भी साधु नहीं। स्मरण रहे कहीं कोई रहस्यपुरी बसाना ठीक नहीं। और यदि कहीं कोई ऐसी पुरी हो कालिदास की यक्षपुरी अलका भी इसी भूमि पर है और इसी भूमि में उनके यक्ष का मन भी रमा है। देखिए न—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥१॥

देखा न, दंडित यक्ष को आश्रय मिला है 'रामगिरि' में और शांति मिली है उसे इसी आश्रम की घनी छाया में। स्थान का प्रताप कहिए अथवा दंड की प्रभुता जो उसकी आँख खुल गई और प्रकृति मात्र के सुख दुख का ध्यान उसे हो आया। पर्वत पर उसे आषाढ़ का प्रथम मेघ क्या दिखाई दिया, उसका जी ललक उठा और प्रिया के जीवन की आ पड़ी। कहीं प्रिया ने भी

प्रथम वियोग में ऐसे 'वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीय' मेघ को देख लिया तो? तो अनिष्ट हो सकता है। अतएव—

> प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
> जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
> स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
> प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥१॥

'स्वागत' हो गया और वंश का गुणगान भी कर लिया तब जी की बात जीभ पर आई और मुँह खुला—

> संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
> संदेशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।
> गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
> वाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥१॥

उदात्त वृत्ति—किन्तु 'सन्देश' कहा गया बहुत कुछ कह कर। और सच कहिए तो वही 'कुछ' मेघदूत का सर्वस्व है, सब कुछ है। संतप्त हृदय का प्रसार कितना उदार और व्यापक होता है, इसे इसी से जान सकते हैं कि यक्ष किसी को दुःखी नहीं देखना चाहता और सबके सुख में अपना सुख देखता है। जहाँ कहीं उसकी दृष्टि पड़ती है प्राण का स्पन्दन देखती है और उसके सुख का विधान कर आगे बढ़ती है। प्रेम की आग में तप कर उसकी वासना भी अब उस ज्योति में चमक उठी है। अब वह अंधी नहीं दिव्य बन चुकी है और 'कार' क्या, 'परोपकार' का महत्त्व समझ चुकी है। निदान निवेदन होता है—

> आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
> वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
> काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
> स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥१२॥१॥

यक्ष ने मेघ को कैसा कुछ प्रलोभन दिया, उससे यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं। यहाँ तो बस मार्ग की हरियाली सुन लीजिए। मार्ग के साथी 'राजहंस'

मिल गए तो चिंता क्या ? हाँ, मार्ग का अच्छा बोध अवश्य हो जाना चाहिए जिससे यात्रा सभी प्रकार से मनोरम, निरापद और सुखद हो, तथा यह भी विदित हो जाय कि कहां पर पहुँच कर क्या करना है । अतएव बड़े चाव से कहा गया—

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥१३॥१॥

यात्रा का कहना ही क्या ? प्रस्थान किया नहीं कि अपार शोभा बढ़ी और गोपवेष विष्णु का भेद मिला—

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥१४॥
रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता—
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥१५॥१॥

लोक-जीवन—रामगिरि का परिचय क्या दिया जाय ? वहाँ तो मेघ भी विराजमान है । तो भी उस स्थली का बोध इतने से ही हो गया होगा । अब इसके आगे 'माल' की स्थिति यह है—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥१॥

'कृषिफल' और 'सीरोत्कषणसुरभि' का सच्चा सुख जनपदवधू को ही तो होगा ? कोई पौरवधू इसको क्या जाने ? कहिए, 'माल' का गुर मिला या नहीं ?

मालभूमि का दर्शन हो गया तो 'आम्रकूट' का साक्षात्कार कर वहीं कुछ विश्राम भी कीजिए। लीजिए—

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७॥१॥

आम्रकूट मेघ को सर-आँख पर लेगा तो उसकी शोभा भी कुछ और ही हो जायगी, और ऐसी और हो जायगी कि इतर की कौन कहे, स्वयं देवता भी देखने को ललक उठेंगे। तभी तो यक्ष बड़े विश्वास से कहता है—

छन्नोपान्त. परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१८॥१॥

'अमरमिथुन' का दर्शन हो वा न हो, पर 'वनचरवधू' का तो यह क्षेत्र ही ठहरा न ? अतः—

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥१९॥१॥

यात्री—विश्राम हो गया, दान हो गया, तो अब कुछ पान वा ग्रहण भी होना चाहिए न ? अतएव—

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥२०॥१॥

दोपहर का भोजन हो गया तो अब फिर यात्रा आरंभ होगी। भाग्य से यहाँ मार्गदर्शक भी मिल जायगा—

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥२१॥

किन्तु विदग्ध हृदय की वाणी तो यह है—

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे ! मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥२२॥१॥

सच है सच्चा प्रेमी किसी के प्रेम की उपेक्षा नहीं कर सकता । मयूर मेघ को चाहता है न ? अतएव उसको भी संतोष होना ही चाहिए । हाँ, इसके उपरांत शीघ्रता से चलकर 'दशार्ण' को सुशोभित कीजिए—

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥२३॥१॥

विश्राम—दशार्ण देश के इस दृश्य को देखकर यदि कुछ जलपान की इच्छा हो तो उसकी राजधानी विदिशा में पहुँचो और वहाँ 'वेत्रवती' का रसपान करो—

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा ।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥२४॥१॥

और फिर विश्राम के हेतु नीचैस् पहाड़ पर पहुँचो—

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः ।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥२५॥१॥

यौवन की उद्दाम लीला दृष्टिपथ में आ गई तो कहीं 'पुष्पलावों' का दर्शन भी होना चाहिये न ? उनके हार के अभाव में कैश की छटा क्या ? निदान—

विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्च—
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥२६॥१॥

भला 'पुष्पलावी' के इस 'क्षणपरिचय' से काम क्या सधेगा ? हाँ, मुखकी पहिचान तो हो जायगी न ?

नागरी—और अब नगर का चसका लग गया तब—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥२७॥
वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणि काञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः संनिपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥२८॥

कामशास्त्र की शिक्षा हो गई तो—

वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥२९॥
प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा—
न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥३०॥
दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।

यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥३१॥
जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै—
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यंल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥३२॥१॥

कर्तव्य—रात्रि में ठहरने को ऐसा अनुपम और सुंदर स्थान मिल गया तो आगे मेघ को करना क्या चाहिए ? सो भी सुन लीजिए । उत्तर भी यहीं है और है यहीं सारा सुख-साधन भी—

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या—
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३३॥
अप्यन्यस्मिञ्जलधर ! महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया—
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३४॥
पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू—
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥३५॥
पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥३६॥
गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।

सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥३७॥१॥

यक्ष की इस सहृदयता के विषय में कुछ कहना व्यर्थ है। यह तो स्पष्ट ही सर्वत्र स्फुट है। परंतु प्रसंगवश यहां जो निवेदन कर देना है वह यह है कि यह वास्तव में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा का दिन है, अन्यथा इसकी संगति किसी प्रकार 'सूचिभेद्य तम' तथा 'आषाढ़स्य प्रथमदिवस' के साथ बैठ नहीं सकती। हाँ ऐसी दशा में मास की गणना 'अमान्त' ही होगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शुक्लप्रतिपदा की काली रात भगवान् 'महाकाल' की नगरी उज्जयिनी में कटी। उसकी विधि है—

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥३८॥

यात्रा—सबेरे की यात्रा सयार होती है, इसी को कवि-वाणी में सुनिए—

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्त्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥३९॥

रही 'प्रातराश', 'कलेवा' अथवा 'जलपान' की बात। सो—

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥४०॥
तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४१॥१॥

भाव यह कि रसपान कर चल देना। कुछ पूरे भोग वा भोजन में न लग जाना। नहीं तो लक्ष्य तक पहुँचना कठिन हो जायगा। अच्छा, यात्रा में सहायता भी अच्छी मिलेगी। कारण कि—

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४२॥

सेनापति—धूप में 'शीतवायु' यात्री को कितनी सुखद होगी, इसे कौन नहीं जानता ? हाँ, ध्यान देने की बात है कि—

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना—
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥४३॥
ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४४॥
आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्य—
न्स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४५॥१॥

'देवगिरि' के इस नाके का उस समय कितना सामरिक महत्त्व था, इसका बोध हो गया और यह भी प्रगट हो गया कि कालिदास को उसका इतना ध्यान है कि यहाँ की पूजा भी बड़े ढंग से करने को मेघ से कही गई है। पूजा की दृष्टि से उज्जयिनी के उपरांत इसी का स्थान है। वहाँ 'महाकाल' की आराधना थी तो यहाँ सेनापति 'स्कन्द' की। आराधना के अनन्तर फिर अपने कार्य में लग जाना चाहिए और समय पर कुछ पा लेना चाहिए। अतएव—

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी—
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥४६॥

अन्तः शुद्धि—'चर्मण्वती' से भोग पा अपनी यात्रा में उद्यत होने की विधि है—

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥४७॥
ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।
राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥४८॥
हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना—
मन्तःशुद्धस्त्वमसि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥४९॥१॥

स्वर्ग-सोपान—'अन्तःशुद्धि' के इस उपाय से असहमत कौन होगा ? बाहरी रूप भले ही काला रहे, पर भीतर से सर्वथा शुद्ध होना चाहिए न ? जी । इसी से तो 'सरस्वती' का पान है, किसी अन्य का नहीं । अन्तःशुद्धि के अनन्तर मेघ को करना है कि—

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५०॥
तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्धलम्बी

त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययासौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥५१॥
आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५२॥

जलपान—अस्तु । कहा जा सकता है कि सायंकाल अथवा तीसरे पहर का जलपान है । इसके उपरांत थोड़े विश्राम का कारण यह है कि इसके आगे पहाड़ की बीहड़ चढ़ाई है । साथ ही यह भी कि आज की यात्रा में कुछ थकान मिट गई थी देवगिरि में 'स्कन्द' की आराधना में । इसी से चर्मण्वती के भोजन के पश्चात् विश्राम की आवश्यकता न रही और सरलता से इतनी लम्बी यात्रा हो गई । सरस्वती के जलपान से भी कुछ थकान मिटी ही । फलतः अब कहा गया—

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥५३॥१॥

उपकार की इस वृत्ति के साथ ही किसी के अपकार की भी आशंका है । लीजिए, वह है शरभ । यक्ष का आदेश है इसी के हेतु—

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मि-
न्मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम् ।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५४॥१॥

देव-दर्शन—कौन कहे ? 'शरभ' के लोप का कारण क्या हुआ ? किन्तु कवि की भाषा की ध्वनि में कहा जा सकता है कि उसका मत्सर ही उसके विनाश का हेतु हुआ । 'करकावृष्टि' का कारण भी कैसा अच्छा दिया गया ! कवि

की सूक्ष्म लहरी । किन्तु किसी का किसी प्रकार अहित हो ही गया तो इसके शमन के निमित्त और कुछ नहीं तो श्रद्धा के साथ देवदर्शन तो होना ही चाहिए । फलतः—

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।
यस्मिन्दृष्टे करणनिगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥५५॥
शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किंनरीभिः ।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्या—
त्संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥५६॥१॥

दुर्गम घाटी—तात्पर्य यह कि अपनी मधुर ध्वनि से 'मुरज' का काम कर वहाँ भी संगीत का अखाड़ा गरम कर देना और फिर बड़ी सावधानी से आगे बढ़ना । कारण ? एक तो पहाड़ की अनुपम छटा दूसरे उसकी दुर्गम घाटी । चूके कि गए । निदान—

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषा-
न्हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥५७॥
गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥५८॥
उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य ।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री—
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥५९॥

देवसेवा—मेघ वस्तुतः अब उस भूमि में पहुँच गया जहाँ यक्ष की पुरी 'अलका' बसी है। किंतु अभी उसके घरबाट का पता नहीं। यहाँ मेघ को अभी कुछ और ही कार्य करना है। उसके अतिरिक्त उसे अभी एक मधुर और सुन्दर बाधा से मुक्त होना है। और यह भी भली भाँति समझ लेना है कि कहाँ किसके साथ क्या व्यवहार करना है। अतएव यक्ष का सुझाव है—

हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शंभुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥६०॥
तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्‌घट्टनोद्‌गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे! घर्मलब्धस्य न स्या—
त्क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥६१॥
हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै—
र्नानाचेष्टैर्जलद! ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥६२॥

अलका—जब दिन के अन्तिम भोजन (मानसरोवर के जल) से छक कर तृप्त हो लिया और मनमानी कुछ अठखेलियां भी कर लीं तब—

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्‌गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥६३॥१॥

सच है, वह 'अलका' ही क्या जिसके परिचय की आवश्यकता हो? तो भी किसी 'दूत' को अपने घर का पता निश्चित रूप में बताना ही होगा न? अस्तु, यक्ष का निवेदन है—

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥१५॥
वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥१६॥
तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे ! चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥१७॥
रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मना स्याः ॥१८॥२॥

कहा जा सकता है कि किसी के पते में, बीच-बीच में, इस प्रकार की भावना व्यक्त करने से उसका सम्यक् स्वरूप तो सामने नहीं आता। ठीक है। किंतु किया क्या जाय ? किसी का बावला हृदय किसी पटरी पर दूर तक चलता कब है ? अतः—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥१९॥
एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥२०॥२॥

यक्षजीवन—यक्ष के भवन के शिखर से ही जाना जा सकता है कि 'धनपति' का वैभव कैसा कुछ रहा होगा। और वहाँ का जीवन ? उसकी कुछ न पूछिए। वहाँ की स्थिति तो यह है कि 'शृंगार' और 'वीर' दोनों ही अपने चरम उत्कर्ष पर हैं। देखिए न—

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै—
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥११॥

तथा—

पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात्।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥१२॥

सारस्वरूप संक्षेप में यह कि—

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै—
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥१३॥

और ऐसा क्यों न हो ? जब कि—

वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या—
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥१४॥२॥

[मेघदूत]

नगाधिराज—किन्तु इस कल्पवृक्षी लोक का दुःख भी अपार है। चूक हुई नहीं कि निष्कासन मिला और भरे भादों में पानी का काल पड़ा। 'पराधीन-वृत्ति' का दुष्परिणाम ! 'राजराज' का कोप ठहरा !! नगाधिराज की यह महिमा ? नहीं जी। कवि का प्रकृति वर्णन तो यह है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥१॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥२॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥३॥
यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥४॥
आमेखलं संचरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥५॥
पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम् ।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥६॥
न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥७॥
यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किंनराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥८॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥९॥
वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥१०॥
उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥११॥
दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव ॥१२॥
लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥१३॥
यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥१४॥

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥१५॥
सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥१६॥
यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥१७॥१॥

समुद्ररशना—'कुमारसंभव' के इस वर्णन से 'मेघदूत' के उक्त वर्णन की तुलना क्या ? हाँ, कहने को 'एक दोष' का उल्लेख यहाँ भी है ही। परन्तु तो भी इनकी समता है 'रघुवंश' के हिमालय से ही। मेघदूत की 'अलका' कवि-कल्पना की अलका है, कुछ हिमालय की बसी हुई कोई वस्तुतः नगरी नहीं, ऐसा मानना ही साधु तथा संगत प्रतीत होता है। अतः इस को छोड़कर देखा जाय तो पूर्वमेघ को वास्तव में उस समय का दर्पण कहा जा सकता है। प्रकृति के साथ प्राणी का ऐसा सजीव और यथातथ्य अंकन अन्यत्र कहाँ ? 'उद्भिज' के साथ 'अंडज' तथा 'पिंडज' का यह चित्रण धन्य है जो 'वनचर' से 'नागर' तक फैलता और सबको अत्यन्त रम्य रूप में एकत्र समेट लेता है। 'भास' ने कभी न जाने क्या सोचकर 'हिमवद्विन्ध्यकुण्डला मही' का नाम लिया था, पर उसे भरपूर दिखाया कभी नहीं था। कालिदास ने निश्चय ही इन कुंडलों को लखा दिया और दिखा दिया इनके शिखर को भी। साथ ही सामने खड़ा कर दिया पृथिवी के उस रूप को भी जिसे 'समुद्ररशना उर्वी' का चाहें तो 'नखशिख' कह सकते हैं। इसको स्फुट कर दिखाने की स्यात् आवश्यकता नहीं तो भी इतना निर्देश अपर्याप्त ही है। अतएव थोड़ा इसका भी विचार हो ले तो अच्छा। लीजिए इसी 'नगाधिराज' की दुहिता का नखशिख है जिसे आप देख सकते हैं समस्तपृथिवी में भी—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥३२॥
अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥३३॥
सा राजहंसैरिव संनताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु ।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि ॥३४॥

वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः ॥३५॥
नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥३६॥
एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।
आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम् ॥३७॥
तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥३८॥
मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥३९॥
अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥४०॥
शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥४१॥
कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥४२॥
चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥४३॥
पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥४४॥
स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥४५॥
प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥४६॥
तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥४७॥
लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥४८॥

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥४९॥१॥

पार्थिव—विधाता ने 'एकस्थसौन्दर्यदिदृक्षा' से प्रेरित हो कर अनुपम बाला पार्वती की सृष्टि की तो कवि ने उसी सौंदर्य को फिर किस प्रकार पृथिवी में बखेर दिया, इसे हमने इस 'समुद्ररशना उर्वी' में भली भाँति देखलिया और यह भी जान लिया कि वास्तव में उसकी इयत्ता क्या है। अब कुछ देखना यह चाहिए कि स्वयं शिव भगवान् ने इसे किस भाव से देखा। सो राजा तो थे नहीं कि इसे भोगते; फिर भी योगी तथा भोगी के रूप में इसमें रमते सुष्ठु रहे, इसमें संदेह नहीं। देखिए न, कवि कहता है—

स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि किंचित्क्वणत्किंनरमध्युवास ॥५४॥

और उनके गण भी वैसे ही प्रकृति-प्रेमी निकले कि—

गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥५५॥१॥

किन्तु जब प्रणयपाश में बँध गए तब बिचरन्त की सूझी और पहाड़ों पर जहाँ-तहाँ रमने लगे। लीजिए—

सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखखेदितम्।
तत्र तत्र विजहार संपतन्नप्रमेयगतिना ककुद्मता ॥२१॥
मेरुमेत्य मरुदाशुगोक्षकः पार्वतीस्तनपुरस्कृतान्कृती।
हेमपल्लवविभङ्गसंस्तरानन्वभूत्सुरतमर्दनक्षमान् ॥२२॥
पद्मनाभचरणाङ्किताश्मसु प्राप्तवत्स्वमृतविप्रुषो नवाः।
मन्दरस्य कटकेषु चावसत्पार्वतीवदनपद्मषट्पदः ॥२३॥
रावणध्वनितभीतया तया कण्ठसक्तदृढबाहुबन्धनः।
एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः ॥२४॥
तस्य जातु मलयस्थलीरते धूतचन्दनलतः प्रियाक्लमम्।
आचचाम सलवङ्गकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः ॥२५॥८॥

हिमालय, मेरु, मन्दर, कैलास और मलय आदि के विचरण से प्रत्यक्ष है कि शिव का पार्थिव क्षेत्र क्या है। सो कवि का स्वयं स्पष्टीकरण है—

इत्यभौममनुभूय शंकरः पार्थिवं च दयितासखः सुखम् ।
लोहितायति कदाचिदातपे गन्धमादनवनं व्यगाहत ॥२८॥८॥

गन्धमादन—'गन्धमादन' 'अभौम' है या 'पार्थिव' इसे हम नहीं जानते परंतु हमें पता है कि यहीं रूठने से मिल गया था लतारूप उर्वशी को और यहीं बड़े अनुनय के साथ कहना पड़ा था शिव को पार्वती से—

दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना ।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥४०॥
सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयंगमस्वनैः ।
भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः ॥४१॥
सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः ।
अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ ॥४२॥
खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः ।
तत्प्रकाशयति यावदुद्गतं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम् ॥४३॥
संध्ययाप्यनुगतं रवेर्वपुर्वन्द्यमस्तशिखरे समर्पितम् ।
येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥४४॥
रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि ! भान्त्यमूः ।
द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥४५॥
सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च ।
पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सांध्यमातपम् ॥४६॥
अद्रिराजतनये ! तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
ब्रह्म गूढमभिसंध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥४७॥
तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
त्वां विनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि ! विनोदयिष्यति ॥४८॥८॥

[कुमारसंभव]

कुलराजधानी—पार्वती ने इस 'नियम' का स्वागत कैसा किया और शिवने उनकी 'असूया' को दूर कर फिर कैसे प्रकृति में रमा अपना काम बना लिया, यह सब प्रसंग के बाहर का ब्योरा है । यहाँ कहना केवल इतना ही है कि मानव के सामने कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि वह इस 'गन्धमादन' की

चिन्ता रत्ती भर भी नहीं करता और अपनी पुरी को ही किसी 'अलका' से बढ़कर समझता है। कारण यह कि वह कभी नहीं भूलता कि उसी से उसकी पुरी की शोभा है। अन्यथा उसके अभाव में—

तमब्रवीत्सा गुरुणानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
तस्याः पुरः संप्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥९॥
वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या ।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥१०॥
विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तसालः प्रभुणा विना मे ।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥११॥
निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥१२॥
आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥१३॥
वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान् मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥१४॥
सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।
सद्योहतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥१५॥
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥१६॥
स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥१७॥
कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥१८॥
आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥१९॥
रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥२०॥
बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।

उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥२१॥
तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥२२॥१६॥

[रघुवंश]

जंगमराजधानी—कुश ने 'कुलराजधानी' की पुकार पर कान दे किया यह–

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥२५॥

कुशावती से अयोध्या का यह प्रस्थान उतावली और हड़बड़ी का था । इसी से इसमें मार्ग का कोई वैसा लेखा नहीं । और है भी तो इतना ही कि—

सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः ।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जंगमराजधानी ॥२६॥
तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥२७॥
तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥२८॥
उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥२९॥
तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरंगमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥३०॥
मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥३१॥
स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥३२॥
तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥३३॥
स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे ॥३४॥

आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरंगान् ।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥३५॥
अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा ।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥३६॥१६॥

विन्ध्याटवी में सेना का छिन्नभिन्न होकर अपना अपना मार्ग निकालना इस बात का द्योतक है कि अब कवि को विन्ध्य के वर्णन में विशेष कुछ कहना शेष नहीं रहा। वह तो 'ऋतुसंहार' तथा 'मेघदूत' में उसके विषय में इतना कुछ कह चुका है कि अब उसे और कुछ कहने की अपेक्षा नहीं रही। उसके बीहड़पन को थोड़ा बता देना ही अब अलं है। अस्तु 'अज' तथा 'कुश' के प्रयाण में उसका कोई विवरण नहीं। हाँ, कुछ निर्देश अवश्य है।

नव-निर्माण—अच्छा तो कुश ने अयोध्या के उपशल्य में ठहर कर किया यह कि नवीन नगरी के निर्माण में मग्न हुए और उसे फिर से बसा कर बस वहीं के हो रहे। देखिए किस तत्परता से कैसा काम हुआ—

तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात् ।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥३८॥
ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्घ्यप्रतिमागृहायाः ।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥३९॥
तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं संभावयमास यथाप्रधानम् ॥४०॥
सा मन्दुरा संश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।
पूराबभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥४१॥
वसन्स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयांबभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥४२॥१६॥

अमरावती और अलका की स्पृहा से मुक्त हो जो मैथिलेय अयोध्या के हो रहे तो आश्चर्य क्या? अरे! यह तो उस 'समुद्ररशना उर्वी' की राजधानी है न जिसके विषय में पुराणों का आह्लाद है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥१॥

अहो ! अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥२॥
अहो ! भुवः सप्तसमुद्रवत्या द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥३॥
कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ॥४॥
जानीम नैतत् क्व वयं विलीने स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम् ।
प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्या ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ॥५॥

'ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः' की व्याप्ति कहाँ तक है, इसे कौन कहे ? किन्तु कालिदास की भारती है—

न मैथिलेयः स्पृहयांबभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ।

फिर भी जो लोग कालिदास की रचना में स्वर्ग की गुह्य पगडंडी ढूँढ़ते हैं उन्हें क्या कहा जाय ? नहीं, कालिदास की दृष्टि में तो—

अहो ! उदाररमणीया पृथिवी ।

मा स्म प्रतीपं गमः

कण्व

चरित-निर्माता—जी। कालिदास चरित के ज्ञाता ही नहीं निर्माता भी थे। विधाता की सृष्टि में जहाँ उनकी दृष्टि पड़ी कला की वृष्टि हुई। देखा नहीं कि उसको उगा दिया। उनकी रचनाओं में एक से एक बढ़कर निराले चरित हैं और हैं सब अलग अलग ही। इस छोटे से निबंध में सबका दर्शन संभव नहीं, शक्य नहीं; अतएव थोड़े में दिखाया यह जाता है कि इस दिशा में कवि की दृष्टि का प्रसार कितना है। सो सबसे पहले कवि के एक ऐसे पात्र को हम देखना चाहते हैं जो झलकी के साथ झप से हमारे सामने आता और कालिदास की प्रतिभा की पराकाष्ठा का प्रदर्शन कर आँख से ओझल हो जाता है। नाटक में बस एक और केवल एक बार ही उसका दर्शन होता है, पर नाटक का कोई पात्र नहीं जो उसकी छाया को क्षीण कर सके। आप कहेंगे दुष्यन्त और शकुन्तला के सामने किसका नाम लिया जा रहा है? निवेदन है, उसी का जिसके विषय में स्वयं राजा दुष्यन्त का कहना है—

सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः करिष्यति।

और शकुन्तला की स्वतः प्रार्थना भी—

तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्। तन्मातिमात्रं मम कृत उत्कण्ठस्व।

किन्तु साथ ही उसका विषाद भी—

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥२१॥४॥

नीवारबलि का अंकुर जिसके चित्त में इतना विकार उत्पन्न कर सकता है उसी को लक्ष्य करके तो शकुन्तला कलप कर कहती है—

इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति। निवर्तस्व तावत्।

अनाथों का नाथ—क्यों? क्या अब शकुन्तला के द्वारा उसका पालन नहीं हो सकता? वह उसे स्वयं अपने साथ क्यों नहीं ले जाती? उसकी चिन्ता

'तात' ही क्यों करें ? कारण है तात की प्रकृति । 'तात' के अतिरिक्त अनाथों का नाथ कोई दूसरा नहीं । तात का यह अटल विश्वास ही तो है कि 'आपन्नसत्त्वा' शकुन्तला अपने इस 'पुत्रकृतक' से ऐसा अनुरोध करती है ? और करती भी क्यों नहीं ? जिसने जिस अविश्वासी राजा के हाथ का अपने आश्रम में भी जल ग्रहण नहीं किया भला वह उसके अन्तःपुर का पानी कैसे पी सकता था ? स्वयं शकुन्तला पर जो बीती वह सबके सामने है । निदान ऐसे अनाथ की सेवा या तो 'तात' ही कर सकते हैं या तात की दुहिता । राजमहिषी का कार्य तो कुछ और ही है न ? वहाँ तो 'मृग' की कौन कहे, वनवासी शिष्य को भी और ही गन्ध मिलती है । शारद्वत की दृष्टि में तो वहाँ सुखसंगियों का वास है कुछ असमय-सखाओं का नहीं । इसी से 'तपोवन' का कोई प्राणी शकुन्तला का साथी नहीं । तात के शब्दों में वहाँ स्वयं शकुन्तला की यह स्थिति हो जायगी—

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥१९॥४॥

उपदेश—जब स्वयं 'तात' की यह स्थिति होगी तब वनलताओं की कौन कहे ? किन्तु एक बात विचारणीय है । तात का आप ही आदेश है—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥१८॥४॥

'वनौकस' की यह 'लौकिक' शिक्षा 'गृहिणी' के सर्वथा अनुकूल है और इसी से इसका समर्थन भी गौतमी इस प्रकार कर देती है—

एतावान्वधूजनस्योपदेशः । जाते एतत्खलु सर्वमवधारय ।

'तात' ने 'गृहिणी' का उपदेश 'दुहिता' को दे तो दिया पर साथ ही सोचा कि स्त्री की बात स्त्री ही अधिक समझ सकती है । फलतः गौतमी से पूछा—

कथं वा गौतमी मन्यते ?

सान्त्वना—गौतमी ने समर्थन तो कर दिया पर इससे शकुन्तला की प्यास न बुझी। उसने चलते-चलते फिर 'तात' से पूछा—

तात ! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये ?

उत्तर मिला—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥४॥

किन्तु यह उत्तर तो किसी भी 'राज-गृहिणी' को किसी भी ऋषि द्वारा दिया जा सकता था। 'गृहस्थ' के बाद 'वानप्रस्थ' यही तो इसका भाव निकला ? यदि यही बात है तो पिता-पुत्री का नाता और आगे क्या रहा ? क्या शकुन्तला का अब इस 'आश्रम' से वह लगाव नहीं रह गया जो किसी दुहिता का अपने 'पीहर' से होता है ? शकुन्तला का 'नैहर' यही 'तपोवन' तो था ?

शकुन्तला तो गई, पर अनसूया और प्रियंवदा क्या करें ? तात का आदेश है—

अनसूये ! गतवती वां सहचारिणी। निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम् ।

दोनों का प्रश्न है—

तात ! शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः ?

तात की सान्त्वना है—

स्नेहवृत्तिरेवंदर्शिनी ।

मुक्ति—एवं सन्तोष है—

हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम् । कुतः—
अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥२२॥४॥

'न्यास' से मुक्त हो जाने पर अन्तरात्मा को जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह 'तात' को भी अवश्य ही मिल गया, परन्तु हम यह भी तो भलीभाँति जानते हैं

न कि अभी तात के सिर पर दो भवानी और सवार हैं। अभी अभी शकुन्तला को विदा करते समय तात ही ने तो समझा कर उससे कहा था—

वत्से ! इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी यास्यति।

दीर्घदर्शन—जी। अनसूया और प्रियंवदा के साथ जाने से स्थिति कुछ और होती और स्यात् शकुन्तला की अवहेलना भी कुछ कम ही होती, पर उनको ऐसा करने का अवसर न मिला। कला की दृष्टि तथा मर्यादा के कारण। सच तो यह है कि इस तात को ठीक-ठीक समझने का अभी उद्योग ही नहीं हुआ है। इसके उपदेश को शकुन्तला का सर्वस्व कहा तो गया है, परन्तु इस पर ध्यान विरलों का ही सो भी विरल ही गया है। अतएव इसको समझ लेने की चेष्टा भरपूर होनी चाहिए। सो आरंभ में ही हम देखते हैं कि अनसूया शकुन्तला से कहती है—

हला शकुन्तले ! त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षका प्रियतरा इति तर्कयामि। येन नवमालिकाकुसुमपेलवापि त्वमेतेषामालवालपूरणे नियुक्ता।

संकल्प—बात विनोद या छेड़छाड़ की ही क्यों न हो, पर बात है तो विचारणीय। तात काश्यप ने शकुन्तला को अतिथि-सत्कार ही नहीं सौंपा प्रत्युत 'आलवालपूरण' भी उसी को मिला। शकुन्तला का इसमें 'सोदरस्नेह' भले ही हो पर वस्तुतः है तो यह 'तातनियोग' ही न। और सो भी कब ! जब उसके 'दुर्दैव' के शमन के हेतु वह सोमतीर्थ में विराजमान हैं और शकुन्तला के विवाह के निमित्त कृतसंकल्प हैं। इतना ही नहीं, उसे दुष्यन्त की राजमहिषी बनाना चाहते हैं। देखिए, इसी से तो दोनों सखियाँ परिहास में शकुन्तला से कह पड़ती हैं—

के आवां परित्रातुम्। दुष्यन्तमाक्रन्द। राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम।

स्मरण रहे, यह 'सस्मित' कथन कुछ मर्म रखता है। इसके पीछे कुछ इतिहास है। प्रियंवदा आगे चल कर इसी से तो स्पष्ट कहती है—

आर्य धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्य अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः।

और यह संकल्प दुष्यन्त के लिए ही था। इसका कुछ आभास सखियों के इस वार्तालाप में मिलता है—

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा जनान्तिकम्) हला शकुन्तले यद्यत्राद्य तातः सन्निहितो भवेत्—

शकुन्तला—ततः किं भवेत् ?

सख्यौ—इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।

शकुन्तला—युवामपेतम्। किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे। न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि।

और यदि फिर भी सन्देह बना ही हो तो स्वयं तातकाश्यप के कथन पर ध्यान दें। कहा शकुन्तला से ही गया है—

> संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
> भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
> चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
> मस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः ॥१३॥४॥

तो क्या तातकाश्यप को शकुन्तला की भाँति ही 'नवमालिका' के विवाह की भी चिन्ता थी ? जंगम शकुन्तला तो पतिकुल में जाने के विचार से 'तात' से विदा हुई, पर नवमालिका अपने पति सहकार के साथ स्थावर होने के नाते जहाँ की तहाँ बनी रही। शकुन्तला का इसी से तो सोदर-स्नेह था !

उदार—तातकाश्यप की इच्छा चाहे जो रही हो, पर उनके अभाव में, उनके तपोवन में जो कुछ घटा उसका खेद अनसूया को अवश्य है। उसकी चिन्ता है—

ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम्।

सोच ही रही थी कि प्रियंवदा ने इस समाचार के द्वारा उसे मुक्त कर दिया—

तावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम् । दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से ! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति ।

गूढ़—तातकाश्यप का यह कथन बड़े ही महत्त्व का है । इससे व्यक्त होता है कि उनकी दृष्टि में इस घटना का स्थान क्या है । 'धूम' का अप्रस्तुत किस हेतु लाया गया है और 'आहुति' का रहस्य क्या है । 'विद्या' तो शकुन्तला है जो सुशिष्य दुष्यन्त को प्राप्त हुई जिससे कोई शोचनीय बात न रही । पर 'धूम' और 'आहुति' एवं 'यजमान' तथा 'पावक' का निर्देश क्या है ? इसके द्वारा 'तात' कहा क्या चाहते हैं ? टीकाकार राघवभट्ट का कहना है—

अनेन दृष्टान्तेन स्वस्य कृतकृत्यता ध्वनिता । समायासं विनैव वांछित-स्थले सम्बन्धो जात इत्यर्थः ।

किन्तु क्या इससे 'धूमाकुलितदृष्टि' का मर्म मिला ? इसमें अनायास की तो गन्ध भी नहीं है । तातकाश्यप की प्रवासयात्रा 'दुर्दैवशमन' के हेतु ही तो हुई थी ? फिर 'आयास' क्यों नहीं ? श्री शारदारंजन राय अपनी टीका में लिखते हैं—

त्वदर्थं योग्यं पात्रं नैव लब्धं मया, तथापि त्वं सत्पात्रे एव पतिता इत्यर्थः ।

किन्तु सच पूछिए तो राय महोदय भी कवि की मर्मभरी गूढ़वाणी के रहस्योद्‌घाटन में असफल ही रहे । हमारी समझ में तो यह आता है कि 'यजमान' है 'शकुन्तला', पावक है दुष्यन्त, 'आहुति' है 'प्रणय' या प्रेम, एवं 'धूम' है कामवासना । भाव यह है कि काम के प्रकोप अथवा परिभोग की दीप्त वासना से तुम्हारी दृष्टि निष्प्रभ हो गई थी फिर भी तुम्हारा भोक्ता इष्ट जन ही बना । इसलिए इसकी चिन्ता न करो । आज ही तुम्हें उसी प्रसन्नता के साथ तुम्हारे प्रिय के पास भेजता हूँ जिस प्रसन्नता से सुशिष्य को विद्यादान किया जाता है । शकुन्तला है भी दुष्यन्त के लिए विद्या ही । इसी विद्या के अभाव में तो उसका अवसाद बढ़ा ? इसका लाभ उसके आनन्द का कारण बना—पहले 'नेत्रनिर्वाण, का और फिर 'पुनर्भव'-निर्वाण का । देखिए भरत-वाक्य ।

सिद्ध—तातकाश्यप को इस वृत्तान्त का बोध अग्निगृह में देववाणी के द्वारा हो गया और किसी को उनसे कहने की आवश्यकता न पड़ी। उनकी 'मानसी सिद्धि' थी ही ऐसी। दुष्यन्त के कुशलप्रश्न के उत्तर में शाङ्गरव स्पष्ट कहता है—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः। किन्तु तातकाश्यप की सिद्धि कुछ और ही है। उनका कार्य है 'लोकानुग्रह'। दुष्यन्त ऋषियों से पूछता है तो यही—

अथ भगवाँल्लोकानुग्रहाय कुशली काश्यपः।

और कदाचित् इसी 'लोकानुग्रह' की परिपूर्ति के लिए उनको पक्का 'लौकिकज्ञ' बनना पड़ता है और शकुन्तला को पिता की नाईं ही नहीं माता की भाँति भी सिखाना पड़ता है। गौतमी तो हाँ भर कर देती अथवा धाय का कार्य संपन्न करती है। तो भी हमें ज्ञात है कि यह तपोवन माताविहीन तपोवन है। कवि को यही इष्ट भी है। इसकी पूर्ति होती है पिता कश्यप के 'पितृकुल' में, कुछ उनके वंशज तात काश्यप के गुरुकुल में नहीं।

तात काश्यप का आश्रम वस्तुतः गुरुकुल है और इसी से आप प्रसिद्ध भी हैं कुलपति कण्व के रूप में। वैखानस राजा दुष्यन्त से कहता है—

राजन्! समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः।

इष्टि—यह 'समिदाहरण' 'इष्टि' का रूप ग्रहण करता और राक्षसों से रक्षा करने के लिए दुष्यन्त को वहीं कुछ दिन और रह जाना पड़ता है। उसकी पूर्ति होती है तो दुष्यन्त चला जाता है और उसी दिन शकुन्तला को दुर्वासा का शाप मिलता है। सोचने, समझने और जान लेने की बात है कि इस यज्ञ के अवसर पर कुलपति कण्व यहाँ क्यों नहीं होते और इसका लक्ष्य वास्तव में होता क्या है। ऋषिकुमारों की प्रार्थना है—

तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसान्निध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति। तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति।

शिथिलासनों की छाया में 'इष्टि' की रक्षा तो दुष्यन्त के द्वारा हो जाती है पर यथार्थतः वह इष्टि है क्या? शकुन्तला के जिस दुर्दैव के शमन के निमित्त

कुलपति कण्व को सोमतीर्थ जाना पड़ा उसकी शान्ति के हेतु क्या आश्रम में कुछ भी नहीं किया गया ? ऐसा मानने को तो जी नहीं करता। तो क्या इस इष्टि से कुछ शकुन्तला का भी लगाव है ? यदि नहीं तो—

अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या

का रहस्य क्या ? यह वाणी तो उस 'वेतसगृह' में भी तो सुनाई पड़ सकती थी जिसमें 'भूयोऽपि परिभोगाय' का आमंत्रण मिला था ? शकुन्तला को सजाने में वनस्पति का योग था ही। देखिए—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा मांगल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥४॥४॥

साथ ही यह भी ज्ञात रहे कि यह 'इष्टि' नैमित्तिक ही है। कारण कि अनसूया कहती है—

अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति।

तो क्या इससे आप ही सिद्ध नहीं हो जाता कि हो न हो, इस 'इष्टि' का स्वयं दुष्यन्त से कुछ सम्बन्ध है। समिदाहरण के समय जो वैखानस की ओर से आशीर्वाद मिला था उस पर भी ध्यान दें—

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥१२॥१॥

पुत्रेष्टि—उद्देश्य कुछ भी रहा हो पर परिणाम बताता है कि यह प्रच्छन्न पुत्रेष्टियज्ञ ही था जिसमें दुष्यन्त का होना अनिवार्य था। इसकी सिद्धि में 'धूम' भी आ गया पर कार्य सफल हो कर ही रहा। सन्तान से 'भारत' का नाम जगा पर 'परिभोग' के कारण माता-पिता को प्रायश्चित करना पड़ा। अन्त में तातपिता मारीच का आशीर्वाद मिला—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।

इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥३३॥७॥

अस्तु, अब सरलता से देखा जा सकता है कि वस्तुतः इस 'भरत' के निर्माण में उस कण्व का हाथ है जिसकी 'नवमालिका' और 'शकुन्तला' में समबुद्धि है और जो ब्रह्मचारी होते हुए भी 'अप्सरा' की उज्झिता कन्या को दुहिता बनाता और उसे अपने आश्रम का प्राण समझता है। शिष्य कहता भी है—

सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम्।

कण्व ने उसकी कोख के महत्त्व को समझा और इसी से उसको आश्रम में 'भरण' का कार्य भी दिया जिससे उसका पुत्र 'भरत' हो।

लोकानुग्रह—इस कुलपति की दृष्टि 'लोकानुग्रह' और 'सत्कार' पर थी। इसके यहाँ उटज-उद्योग की शिक्षा थी और साथ ही अन्य विषयों का भी बोध कराया जाता था। लिखना तो शकुन्तला जानती थी और जानती थी गीत रचना भी। परन्तु अनसूया और प्रियंवदा के वार्तालाप से विदित होता है कि इनकी जानकारी बहुत थी और अनुभव के अभाव में भी ज्ञान बहुत था। प्रियंवदा और अनसूया की बातें भला किसी को भूल सकती हैं? ऋषिकुमार भी आश्रम में थे। उनका पाठ भी चलता ही था। कण्व कितने सहृदय, उदार और तत्त्वदर्शी थे इसका साक्षात्कार इस श्लोक से हो जाता है। आपबीती कहते हैं—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥६॥४॥

ताडना—किन्तु एक बात और भी जानने की रह गई और वह यह कि इस हृदय के अवतार ने शार्ङ्गरव जैसे हृदयहीन व्यक्ति को क्यों शकुन्तला के विसर्जन को भेज दिया और सो भी उसी को नेता बना दिया। कारण कदाचित् यह हो कि शकुन्तला को कुछ अपनी भूल का भी पता हो जाय और वह भी अपने किए का पश्चात्ताप करे। स्वयं संकेत में ही कुछ कह सकते थे, इसलिए झिड़कने का कार्य शास्त्री जी को दे दिया जिन्हें शास्त्र का तो बोध है पर समझ

का काम नहीं। फलतः फटकार भी शकुन्तला को ऐसी मिली कि यदि 'ज्योति' उसे उड़ा न ले जाती तो तातकाश्यप की यह दुहिता वहीं गड़ अवश्य जाती।

तातकाश्यप—माता मेनका का स्नेह शकुन्तला को अब मिला और अब वह तातकाश्यप नहीं तातमह कश्यप के आश्रम में रहने लगी और जब फिर उसका सुहाग जगा तो उसे फिर तातकाश्यप की सुधि आई। अदिति के मुँह से उसने सुना—

भगवन् अस्या दुहितृमनोरथसम्पत्तेः कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम्।

तो कहा—

मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या।

उत्तर में मारीच ने गम्भीरता से कहा—

तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः।

और दुष्यन्त ने भी सहसा समझ लिया—

अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः।

फिर भी लोकव्यवहार के नाते आकाशमार्ग से गालव के द्वारा उनको इसकी सूचना मिली कि सचेत होने पर राजा ने पुत्रवती शकुन्तला को अपना लिया। फिर तातकाश्यप के तपोवन में क्या हुआ? और क्या सखियों के कान भी इस शुभ समाचार से तृप्त हुए? बात हृदय की है इसलिये सुनें भी उसे हृदय के कान से ही। अभिज्ञानशाकुन्तल का यह तपोवन नित्य है। 'तातकाश्यप'!

सम्मोह—तातकाश्यप के आश्रम में पहुँचते ही दुष्यन्त क्या से क्या हो गया और वहाँ से निकलते ही फिर क्या से क्या बना आदि रूपों की ऊहा आप के हृदय को व्यथित कर रही हो तो स्वयं दुष्यन्त की इस जिज्ञासा पर कान दें और देखें कि उसका समाधान प्रजापति कश्यप किस रूप में करते हैं। राजा की जिज्ञासा है—

भगवन् ! इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य। पश्चादंगुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम्। तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति।

यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥२१॥७॥

राजा दुष्यन्त की यह जिज्ञासा कितनी प्रबल है और कितने लोगों को आज भी सता रही है, इसका समाधान स्वयं आप क्या करते हैं, इसे आप जानें पर भगवान् मारीच का समाधान यह है—

वत्स ! अलमात्मापराधशंकया। सम्मोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः। श्रूयताम्।

और फिर वहीं 'शाप' की बात राजा से कही गई है—

ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमंगुलीयकदर्शनावसानः।

शाप—'शाप' के उल्लेख से दुष्यन्त की चिन्ता दूर हुई, पर सच पूछिए तो परिस्थिति के बदल जाने के कारण आज यह 'शाप' ही आप के लिए विनाक बन गया। 'सम्मोह' नहीं 'शाप'। यही तो भगवान् मारीच का समाधान है ? परन्तु वर्तमान देशकाल में 'शाप' का महत्त्व क्या ? निदान हमारा आज की परिस्थिति में कहना है—'सम्मोह' नहीं 'सम्मोहन'। दुष्यन्त में 'सम्मोह' अपने आप नहीं उत्पन्न होता पर वह उसमें उत्पन्न कर दिया जाता है तपस्वी कण्व और तपोधनी दुर्वासा के द्वारा। कण्व के शिष्य कण्व के अभाव में क्या करते और

किस प्रकार दुष्यन्त को अपना अतिथि बनाते तथा 'इष्टि' के संपादन में उसका सहयोग प्राप्त करते आदि बातों का निदर्शन पहले ही हो गया है। यहाँ थोड़े में यही कहा जाता है कि दुष्यन्त कण्व के आश्रम में 'वर' की दशा में है तो हस्तिनापुर में 'शाप' की दशा में। पहली में 'कृपा' का फल भोग रहा है तो दूसरी में 'कोप' का। प्रभावित है उभय दशाओं में ऋषि वा महर्षि से ही। कण्व में 'संयम' है अतः उनका प्रभाव भी शान्त। दुर्वासा में 'तप' है अतः उनका प्रभाव भी 'तप्त'। अतः आज की धारणा के अनुसार हमें इसे 'शाप' के रूप में न देखकर 'सम्मोहन' के रूप में ही देखना अधिक संगत जान पड़ता है। परिणाम एक ही है पर नाम में भेद है। समय का प्रभाव है।

शील—यदि हमारे इस कथन में कुछ सार है तो हमें दुष्यन्त का अध्ययन दो रूपों में अलग-अलग करना होगा—स्वस्थ और सम्मोहित। दुष्यन्त का स्वस्थ रूप आदि और अन्त में हमारे सामने आता है और सम्मोहित रूप मध्य में। प्रथम में उसके शील का आभास भर मिलता है और द्वितीय में उसके चरित का प्रदर्शन। अस्तु, पहले उसके शील को लीजिए।

सो आरम्भ में ही हमारी दृष्टि मृगयाविहारी दुष्यन्त पर पड़ती है और हम देखते हैं कि वह 'कृष्णसार' का पीछा कर रहा है। पीछा करने में पर्याप्त समय निकल जाता है तो उसे कुछ चिन्ता होती है अवश्य। किन्तु तो भी उसे उसकी मुद्रा भाती है और वह सूत से बोल पड़ता है—

अयं पुनरिदानीमपि

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥७।१॥

दुष्यन्त की यह दृष्टि किसी भी वस्तु के ग्रहण में कितनी समर्थ होगी, इसका अनुमान आप स्वयं कर सकते हैं। किसी भी पदार्थ का परितः प्रेक्षण कोई दुष्यन्त से सीख ले। दृष्टिपथ में जो आ गया हृदय पर अपनी छाया छोड़ गया और वाणी ने उसको वैसा ही रूप भी दे दिया। 'रथजव' का प्रभाव तो देखिए। कैसा अद्भुत दृश्य दिखाता है—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत् ।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥९॥१॥

सूक्ष्मदर्शी—सूक्ष्मदर्शी दुष्यन्त की यह दृष्टि आगे भी बनी रहती है और वह लक्ष्य को पहिचान लेता है । तपोवन की परख है—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा—
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखांकिताः ॥१४॥१॥

श्रद्धालु—'कृष्णसार' का इतना पीछा किया पर ज्यों ही कान में पड़ा 'आश्रममृगोऽयं' त्यों ही भावना कुछ और हो गई । 'मृगया' की वासना गई और पुनीतदर्शन की भावना जगी । झट सूत को आज्ञा मिली—

सूत ! चोदयाश्वान् । पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे ।

और 'आश्रम' का ध्यान इतना कि राजसी ठाट का काम नहीं, विनीत वेष से आश्रम में पधारो और विघ्न का लेश भी न हो । अतएव सूत से कहा गया—

तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत् । एतावत्येव रथं स्थापय यावद-वतरामि ।

तथा—

सूत ! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम । इदं तावद् गृह्यताम् ।

'आश्रम' के प्रति श्रद्धा का जहाँ यह विनीत भाव है वहीं मूक पशु के प्रति यह उदार राग भी—

सूत ! यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः ।

प्रमा—'आश्रमद्वार' तक तो दुष्यन्त अपनी स्वस्थ दशा में रहे, द्वार पर पहुँचे नहीं कि 'सम्मोहन' के प्रभाव में आ गए—

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१५॥१॥

दुष्यन्त की इस स्वस्थ-दशा की पहिचान अत्यन्त सरल है। जहाँ सूत या सारथि का साथ है वहाँ दुष्यन्त स्वस्थ और 'प्रमा' की दशा में हैं। कारण यह कि 'सूत' 'बुद्धि' का प्रतीक जो है। कठोपनिषद् में कहा गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

इस न्याय से सूत 'बुद्धि' अर्थात् 'प्रमा' का प्रतीक है और जब तक दुष्यन्त के साथ है तब तक उसका सारा इन्द्रिय-व्यापार ठिकाने से चलता है। ध्यान देने की बात है कि 'सूत' 'आर्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः' के आदेशानुसार दुष्यन्त का साथ छोड़ देता है और फिर मातलि के रूप में हस्तिनापुर में गोचर होता है, राजा को सचेत करने तथा दुर्जय नामक दानव के वध के लिए ही। उस समय दुष्यन्त की स्थिति क्या थी, इसे उसी के मुँह से सुनिए और प्रकरण पर पूरा ध्यान दे कवि के आशय को अवधारिए। दुष्यन्त का स्वयं कहना है—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम्।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः॥२६॥६॥

किन्तु अधिक रोष आ जाने पर अपने अस्त्र का अभिमान जाग पड़ता है और ललक कर स्वयं कह पड़ते हैं—

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥२८॥६॥

इसके आगे का जीवन फिर सूत के साथ का जीवन है और फलतः विवेक से भरा हुआ 'हंस' का जीवन है। मारीच के आश्रम में फिर उसी शकुन्तला का दर्शन होता है पर उस रूप में नहीं। यहाँ सखियाँ नहीं सन्तान घटक का काम करती है और वही दुष्यन्त 'प्रमा' के प्रताप से अब यह कह पड़ता है—

सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशंकया॥२४॥७॥

सम्मोहन की बात कुछ निराली सी जान पड़ती है, किन्तु वास्तव में 'अभि-ज्ञान' के द्वारा कवि ने उसको भी सहज दिखा दिया है। 'धर्मदारपरित्यागी' दुष्यन्त इस आश्रम में जिस शील का परिचय देता है वह कण्वाश्रम में भी गोचर होता है, परन्तु यहाँ की विशेषता यह है कि उसमें वासना नहीं। वह तप कर शुद्ध सोना बन चुका है। यहाँ भी उसे शकुन होता है पर वह लालसा उसे नहीं होती—

> मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
> पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥१३॥७॥

फलतः मनोरथ सफल होता है और कठोपनिषत् के कथनानुसार—

> विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
> सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥६॥१॥३॥

मनुष्यलोक—इस प्रसंग में टाँक रखने की बात यह है कि 'असुरसंप्र-हार' में उत्सुक होने के कारण दुष्यन्त को स्वर्गमार्ग का पूरा ज्ञान नहीं हुआ था। चित्त की तन्मयता कुछ ऐसी ही थी कि आँख खुली रहने पर भी मार्ग में कुछ और ही देखती थी। उसकी कुछ प्रकृति ही ऐसी थी, नहीं तो सम्मोहन का प्रभाव इतना प्रभूत कैसे हो पाता ? हाँ, तो आते समय उसकी दृष्टि 'मनुष्य-लोक' पर पड़ी तो उसको और ही आनन्द आ गया और वह मातलि से बोल पड़ा—

> मातले ! वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथा हि—
> शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
> पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
> सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
> केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥८॥७॥

पृथिवीपति की यह भुवन-दृष्टि 'मनुष्यलोक' की उपेक्षा भला कर सकती है ? 'मातलि' का भी तो यही उल्लास है—

> साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो उदाररमणीया पृथिवी।

हाँ, इन्द्ररथ की विशेषता यह अवश्य है—

उपोढशब्दा न रथांगनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः ।
अभूतलस्पर्शतयाऽनिरुद्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥१०॥७॥

तो फिर इसे 'सूक्ष्मशरीर' के रूप में ग्रहण कीजिए और फिर 'मनुष्यलोक' के दुष्यन्त को लीजिए। उस दुष्यन्त को जिसके बारे में मातलि का उद्घोष है—

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु ।
विचिन्त्य गीतक्षमर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥५॥७॥

अभिज्ञान—आखण्डल के रथ पर चढ़कर दुष्यन्त अपनी राजधानी में आए और क्या क्या कार्य किये आदि से कुछ प्रयोजन नहीं। कवि का कार्य तो कुछ और ही है। कण्व के उद्योग से कैसे शकुन्तला का दुर्दैव नष्ट हुआ इसको देखना है तो सम्मोहित दुष्यन्त का अध्ययन करें और यह जान लें कि उसके भी दो रूप हैं-एक साभिज्ञान और दूसरा निरभिज्ञान। एक 'अंगुलीयक' के साथ और दूसरा उसके अभाव में। कण्व तथा शकुन्तला को इससे कुछ काम नहीं कि 'अभिज्ञान' क्या है। उसका उपयोग तो बस दुष्यन्त को सचेत करना है। वह 'विधि' है न ? 'श्रद्धा' शकुन्तला ने पहले तो प्रमाद में आकर उसे दुष्यन्त के हाथ से ले लिया पर जब उसके खो जाने का फल भोग लिया तब 'विधि' दुष्यन्त से यही कहा—

नास्य विश्वसिमि । आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु ।

अंगुलीय—पर आर्यपुत्र के लिए इस 'अभिज्ञान' का होना अनिवार्य है। प्रतीति के लिए पहिचान भी तो हो ! दुष्यन्त का दृष्टिपथ राजमार्ग है। उसपर सभी का आना-जाना है, पर शकुन्तला का दृष्टिपथ तो ऐसा है नहीं। फिर उसे पहिचान क्या ? वहाँ तो निरी निष्ठा का निवास है। निदान कालिदास ने इसको बहुत महत्त्व दिया है और प्रथम मिलन के अवसर पर ही इसको व्यक्त कर दिया है। एक प्रकार से 'अंगुलीयदान' से ही स्थिति दूसरा रूप धारण करती है। प्रियंवदा के इस कथन पर ध्यान तो दें—

तेन हि नार्हत्येतदंगुलीयकमंगुलीवियोगम् । आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा ।

यह तो हुई दुष्यन्त की वार्ता। अब शकुन्तला की स्थिति को लीजिए। वही प्रियंवदा वहीं उससे भी कहती है—

हला शकुन्तले! मोचितास्यनुकम्पिनार्येण। अथवा महाराजेन। गच्छेदानीम्।

हाँ, इस अभिज्ञान के द्वारा दुष्यन्त की लह तो गई पर बाद में इसी के कारण इतना कांड भी मचा। इसी ने छलना का कार्य किया। इसी के भरोसे सखियाँ रह गईं और समझा कि शाप-मोचन की अच्छी ओषधि हाथ लगी। परन्तु उनको भी गहरा धोखा हुआ और तपस्विनी शकुन्तला तो कहीं की न रही। खो जाने से उसको कष्ट मिला तो मिल जाने से दुष्यन्त को। शाप गया तो ताप दे कर।

विबोध—इस 'अभिज्ञान' की प्राप्ति 'धीवर' को भी पहले दुःखद रही और फिर जब इसका इतिहास खुला तब वह सुखी पर दुष्यन्त अति दुःखी हो गया। वह पश्चात्ताप और ग्लानि से गल गया। प्रायश्चित्त करे तो क्या करे? 'वसन्तोत्सव' रोक दिया। उसकी दशा इतनी गंभीर हो उठी कि उसको देखकर प्रकृति भी सन्न सी रह गई—

> चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
> सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।
> कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
> शंके संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्॥४॥६॥

'प्रकृतिगम्भीर' दुष्यन्त को भी कुछ सोच समझ कर कहना ही पड़ा—

> प्रथमं सारंगाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
> अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्॥७॥६॥

किन्तु दुष्यन्त का यह विबोध सच्चा विवेक नहीं। अभी वह राग के पंजे में जो है। उसी की आपबीती है—

> मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
> मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः॥८॥६॥

मन 'तामस' से 'राजस' हो गया और 'जाग्रत्सुप्ति' अवस्था जाती रही; पर मन का 'भ्रम' अभी नहीं गया, 'मूढता' भर गई। 'जाग्रत्स्वप्न' की अवस्था और भी भयंकर हो उठी। कारण—

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥६॥

इस विबोध का प्रतिफल यह मिला कि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥५॥६॥

किं बहुना । स्वयं राजा का पश्चात्ताप है—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।

मातलि की कृपा से राजा दुष्यन्त इस दशा से कैसे मुक्त हुए, इसे हम पहले बता चुके हैं । अब स्थिति को और भी स्पष्ट करने के विचार से दुष्यन्त का यह मत सामने रखते हैं—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-
न्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥२॥५॥

। **बोधत्रय**—'अभिज्ञान' के अभाव में दुष्यन्त का चेत जिस 'अबोध' दशा में भीतर ही भीतर जो कुछ स्मरण कर रहा है वही फिर 'विबोध' की दशा में सर्वत्र देखता है और 'अभिज्ञान' के आते ही सारा अतीत प्रत्यक्ष हो जाता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि कुशल कवि कालिदास ने चेत की तीनों दशाओं का अभिनय अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कराया है । 'अबोध' की चर्चा तो अभी अभी हुई है । 'सम्यग्बोध' का विचार 'स्वस्थ' चित्त के रूप में पहले ही हो चुका है । फलतः हमारी स्थापना है कि 'सारथी,' 'अंगुलीयक' और 'अभाव' को दृष्टि में रखकर ही हमें दुष्यन्त के चरित को परखना चाहिए और कभी भूल कर भी यह न समझ लेना चाहिए कि वह तो कवि की सूझ भर है । 'अभिज्ञान-शाकुंतल' चेत की चर्चा नहीं तो और कुछ भी नहीं । स्मरण रहे, चलते चलते दुष्यन्त अपने 'अमात्यपिशुन' से यही कह जाता है—

त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः ।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥३२॥६॥

और अन्त में फिर जब शकुन्तला को दृष्टिगत करता तब कुछ उसी सम्यग्बोध का पता देता है । वह बड़ी नम्रता से निवेदन करता है—

प्रिये !

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि ।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥२२॥७॥

तो क्या इसे आप अर्जुन के इस निवेदन से बहुत दूर समझते हैं ? सचेत हो दोनों को एक दृष्टि से देखें तो भला । उसका भी आत्मनिवेदन है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

[श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १८]

वृत्ति-विचार—अस्तु, सुख की दृष्टि से देखा जाय और 'चेत' के विविध रूपों पर ध्यान दिया जाय तो आप ही स्फुट हो जाय कि परमार्थतः अभिज्ञानशाकुन्तल का लक्ष्य क्या है और किस प्रकार दुष्यन्त की भूमिका में उसका प्रदर्शन हुआ है । दुष्यन्त की चित्तदशा की मीमांसा से व्यक्त होता है कि प्रथम तीन अंकों में उसका प्रसादन हुआ है और मध्य के तीन, विशेषतः दो अंकों में उसका विषादन । अन्तिम अंक में उसका सम्प्रसादन है ही । चतुर्थ अंक ही वास्तव में एक ऐसा अंक है जिसमें कहीं दुष्यन्त का साक्षात्कार नहीं होता । नहीं तो शेष सभी अंकों में कुछ न कुछ क्या, बहुत कुछ उसी का चरित है ।

चतुर्थ अंक में भी उसकी चर्चा बराबर बनी रहती है और प्रच्छन्न रूप में वही सबके मानस में विचर रहा है, तो भी कहीं उसके मुँह से वहाँ कुछ भी सुनाई नहीं देता । हाँ, कभी कभी उसकी आलोचना अवश्य हो जाती है । वैसे भी इस अंक में 'विषाद' का ही राज्य है । अतएव इसे भी 'विषादन' का ही अंश किया गया है । पंचम में 'अवसाद' एवं षष्ठ में विषाद है ही, अतः इन तीनों अंकों को एक साथ विषाद की स्थिति में देखा गया है । प्रथम अंक में 'आसक्ति' है तो द्वितीय में 'आयास' और तृतीय में 'आभोग' तो है ही । निदान इन तीनों

को एक साथ 'प्रसाद' ही कहा गया है। रहा अन्तिम अथवा सप्तम अंक। सो तो प्रत्यक्ष ही 'संप्रसाद' का द्योतक है। इस प्रकार मानस तत्त्व की दृष्टि से गोचर होता है कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में 'अभिज्ञान' ही प्रधान है कुछ 'शकुन्तला' नहीं। हाँ, प्रिय शकुन्तला अवश्य है दुष्यन्त नहीं। अभिज्ञानशाकुन्तल में 'अभिज्ञान' और 'विक्रमोर्वशीय' में 'विक्रम' 'प्रतीक' होकर आते हैं कुछ व्यक्ति हो कर नहीं। हाँ नहीं।

चरित—चित्तभूमियों की चर्चा आवश्यकता से अधिक कर दी गई। फिर कभी अवसर मिलने पर उनका स्वतंत्र विचार होगा। प्रसंग शील और चरित का है अतः अब उन्हीं की मीमांसा होगी। सो पहले से ही समझ रखना चाहिए कि शील सभी दशाओं में अपना रंग दिखाता है, किसी के प्रभाव में आकर कभी कुछ और कभी कुछ नहीं हो जाता। परन्तु चरित में यह बात नहीं होती वह बदलता रहता है। इसी से प्रायः लोग 'चरित' को ठीक ठीक नहीं समझ पाते और उसके कारण 'शील' को ही सदोष ठहराते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल का निर्माण 'भोग' को ले कर ही हुआ है और फलतः सभी अपना भोग भोगते भी हैं। हाँ, दूसरे लोग भी उस भोग में साधक और बाधक का काम अवश्य कर जाते हैं। इसी 'भोग' को साथ ले कर दुष्यन्त आश्रम में प्रविष्ट हुआ तो देखा कि तीन मुनि-कन्याएँ सामने हैं। रूप का कहना क्या, पर भोग्या उनमें से एक ही है। दृष्टि सब पर गई पर जमी एक पर ही न? लीजिए स्वयं दुष्यन्त सोचता है—

अये! एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयोदातुमित एवाभिवर्तन्ते।

यहाँ तक तो 'दृश्य' रहा। इसके आगे 'दर्शन' इस प्रकार है—

अहो मधुरमासां दर्शनम्।

'दृश्य' और 'दर्शन' तक ही दृष्टि का प्रसार होता तो विश्व में इतना विप्लव क्यों होता? चन्द्रमा के लिए कब कौन लड़ा, पर चन्द्रमुखी के लिए 'साहस' किसने नहीं किया? निदान राजा के हृदय में भी यह बीती—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥१६॥१॥

तत्त्वान्वेषण—एकवचन और बहुवचन का प्रयोग कुछ दिखाने के हेतु ही हुआ है। स्मरण रहे, तीनों सखियाँ साथ नहीं हैं। शकुन्तला अलग और शेष दो साथ हैं। 'इत इतः सख्यौ' की यही पुकार है। कवि बताना चाहता है कि दुष्यन्त ने देखा तो तीनों को साथ ही पर झुका शकुन्तला की ओर ही अधिक। शकुन्तला पर दृष्टि जमी तो भोग-वासना सजग हुई और 'उद्यान' पर दृष्टि गई। वहाँ ऐसी विभूति का दर्शन न मिला तो फिर 'वनलता' सामने आई। वनलताओं का स्वच्छन्द विलास ही इस मधुरता का कारण समझा गया। चित्त ने फिर क्या क्या कौतुक दिखाया उसे नाटक में कभी भी देखा जा सकता है, पर यह जन जो यहाँ बताना चाहता है वह यह है कि यही 'स्व' और 'पर' का द्वन्द्व बराबर दुष्यन्त के मन में बना रहता है। 'तत्त्वान्वेषण' ही मानव का अभिशाप है। तभी तो वह कलप कर कहता है—

> चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
> रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
> करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
> वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥२१॥१॥

'अग्नि' को 'रत्न' के रूप में पा कर दुष्यन्त को जो आह्लाद हुआ उसका क्या कहना और 'परिभोग' का आमन्त्रण मिला तो बस फिर कुछ पाना ही शेष न रहा किन्तु जब वही 'रत्न' फिर 'अग्नि' के रूप में घर पहुँचा तब उसी 'पर' के कारण 'हेय' बना, 'प्रेय' भी न रह सका। यहाँ तक कि उच्च स्वर से दृढ़ता के साथ शारद्वत को सभा के मध्य कहना पड़ा—

> तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
> उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥२६॥५॥

अच्छा हुआ, दुष्यन्त 'अग्निशरणालिन्द' में यह लीला देख रहा था और 'धर्मासन' पर विराजमान नहीं था। समय पाकर 'अग्नि' को फिर 'रत्न' का रूप मिला तो फिर पश्चात्ताप के अतिरिक्त और रह क्या गया? दैव फिरा और 'शाप' मिटा तो फिर 'हेय' ही 'श्रेय' हो गया। परन्तु 'घर' की चिन्ता वहाँ भी सताती रही—

तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि। अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः।

वर्णाश्रम—'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्', 'अनार्यः परदारव्यवहारः' आदि के आचरण में राजा दुष्यंत इसी से मग्न दिखाई देते हैं कि उनमें 'वर्णाश्रमधर्म' की मर्यादा है। वर्णाश्रमधर्म की प्रतिष्ठा उनके रोम-रोम में व्याप्त है। यहाँ तक कि शार्ङ्गरव जैसा खरा पंडित स्वीकार करता है—

> महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ।
> न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ॥१०॥५॥

'वर्णाश्रमधर्म' के साथ ही प्रजावत्सलता भी इनमें इतनी कि समुद्रव्यवहारी सार्थवाह धनमित्र का द्रव्य ही नहीं उसके गर्भ के बालक को ढूँढ कर दिया जाता है अपि तु चट राजघोषणा भी हो जाती है—

> येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
> स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥२३॥६॥

विनय—इतना ही नहीं, इस 'महाभाग' को अपने 'अपचरित' की इतनी आशंका कि काश्यप के यहाँ से ऋषियों का आना सुना तो चिन्ता में पड़ गया और सोचने लगा—

> किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
> धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
> आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
> मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥६॥५॥

और विनम्र इतना कि इन्द्र ने अर्धासन दिया तो उसे भी निरा सत्कार ही समझा, कुछ अपना सन्मान नहीं। मातलि के कुछ निराकरण पर किस विनम्रता से यही दुष्यन्त कहता है—

मातले! मा मैवम्। स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसर-सत्कारः। मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य—

> अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
> आमृष्टवक्षोहरिचन्दनांका मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥२॥७॥

आकृति—'शील' और 'स्वभाव' तो ऐसा और आकृति ऐसी कि आँख पड़ी नहीं और हृदय में आसन बिछ गया। पश्चात्ताप से दग्ध राजा को देखते

ही कंचुकी के मन में यह भाव उठा कि सर्वत्र शोभन शोभन ही रहता है। अवस्था उसको खा नहीं सकती। कैसा उल्लास है—

अहो ! सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः।

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥६॥६॥

और छिपी सानुमती पर इसका यह प्रभाव पड़ता है कि उसकी दृष्टि में—

स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यति।

तपस्विनी शकुन्तला का तो कहना ही क्या ! वह तो तपोवनविरोधी विकार के पंजे में आ चुकी थी। प्रियंवदा की अवश्य सुन लीजिए—

अनसूये ! को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते ?

उत्तर अनसूया तो क्या देती, समाधान किसी प्रकार हो गया। राजा था भी गुप्तवेष में। 'विनीतवेष' का ऋषिकन्या पर वैसा प्रभाव रहा तो राजवेष का ऋषिकुमारों पर ऐसा—

प्रथमः—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयतास्य वपुषः। अथवा उपपन्नमेतदस्मिन् ऋषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि। कुतः—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥१४॥२॥

प्रथम पर यह प्रभाव पड़ा कि वह दुष्यन्त को देखते ही 'राजमुनि' मान बैठा तो द्वितीय ने भी 'बलभित्सखा दुष्यन्त' को कुछ कम नहीं गिना। उसकी दृष्टि में—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री—
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।

आशंसन्ते समितिषु सुरा बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥२॥

दोष—राजर्षि दुष्यन्त का चरित सर्वत्र आदर्श है। शक्ति, शील और शोभा को एकत्र पाकर किसका हृदय नहीं खिलता ! किन्तु राजमुनि दुष्यन्त के चरित्र में एक दोष भी है। है वा नहीं, इसमें विवाद अवश्य है। सत्य नहीं आभास। पर आभास में ही सही, है तो ? कवि ने कभी नगाधिराज हिमालय के विषय में कहा था कुमार-संभव में—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः ॥३॥१॥

तो इसी ढंग से आप दुष्यन्त के दोष को भी देख सकते हैं। वह भी अनेक गुणों की खान में एक है। सानुमती उसकी चित्रकला पर मुग्ध हो कहती है—

अहमपीदानीमवगतार्था। किंपुनर्यथालिखितानुभाव्येषः।

प्रक्षालन—सच तो यह है कि कवि ने सानुमती की अवतारणा ही इसलिए की है कि हम उसके द्वारा दुष्यन्त को भलीभाँति जान लें। जब कभी उसको दुष्यन्त में कुछ दिखाई देता है वह उसे टाँक लेती है। सीधी भाषा में उसे मेनका का गुप्तचर समझिए। जाते-जाते उसके चित्त पर दुष्यन्त की वेदना का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ता है कि वह स्वतः तड़प उठती है—

हा धिक्! हा धिक्!! सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकार-दोषमनुभवति। अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि।

करती तो नहीं, पर किसी की क्रिया में विश्वास कर वहाँ से चल देती है। दुष्यन्त को जिस 'मोह' दशा में वह छोड़ जाती है उससे उसका उद्धार मातलि करता है। उसकी इस मोहदशा का कारण है आपन्नसत्त्वा धर्मपत्नी का परित्याग। उसकी दृष्टि में—

अहो ! दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। कुतः—
अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥२५॥६॥

'पितृऋण' की यह चिन्ता दुष्यन्त में इतनी प्रबल हो चुकी है कि जब सर्वदमन में वात्सल्य उमड़ता है तब इसका कारण भी उसे कुछ और ही दिखाई देता है। किस विषाद से वह कहता है—

किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः। नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

कभी इसकी माता शकुन्तला के प्रति भी तो ऐसा ही गुह्य आकर्षण हुआ था? 'शुद्ध शीला' 'आपन्नसत्त्वा', धर्मपत्नी का परित्याग! कितना बड़ा पाप!! तापसी ने ठीक ही तो कहा था—

कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति?

किन्तु क्या यह सच है? क्या सचमुच दुष्यन्त 'धर्मदारपरित्यागी' और इसी का पात्र है? धर्मदारा कहती है—नहीं। उसका उल्लास है—

दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः। न पुनः शप्तमात्मानं स्मरामि। अथ वा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः। अतः सखीभ्यां सन्दिष्टास्मि भर्तुरंगुलीयकं दर्शयितव्यमिति।

सच है, मूल में शकुन्तला की ही तो भूल है! उसका 'शाप' उसके माथे। पर दोष तो मढ़ गया दुष्यन्त के सिर। क्यों? स्वयं दुष्यन्त को शाप का पता लगा तो सन्तोष की साँस ली और कहा—

एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।

साक्षी के रूप में सानुमती का निश्चय है—

अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत्। अथ वेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते। कथमिवैतत्।

फिर भी क्या दुष्यन्त का दोष गया! आज भी तो उसकी खरी आलोचना होती है? 'वचनीय' से मुक्ति कहाँ? सानुमती ने कुछ सोच समझ कर कहा था—

सम्मोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः।

दाक्षिण्य—तो क्या यह आवश्यक नहीं कि हम 'प्रतिबोध' की अपेक्षा इस 'सम्मोह' को अधिक महत्त्व दें और इसके मर्म को समझें? कोई कुछ भी कहे, किन्तु हमको तो इस 'सम्मोह' के मूल में 'कष्टं खल्वनपत्यता' का ही हाथ

दिखाई देता है, कुछ कोरी कामवासना का नहीं। दुष्यन्त का हृदय शकुन्तला में क्यों लीन हुआ, इसकी मीमांसा की जा चुकी है। अब इतना और जान लीजिए कि शेष के साथ उसका व्यवहार क्या रहा। मन तो वह सदा सबका रखता रहा, पर सानुमती की दृष्टि से स्थिति यह है—

अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसम्भावनामपेक्षते।

किन्तु यह 'इदानीम्' की स्थिति है, इसे शाश्वत समझने की भूल न हो। ध्यान देने की बात है कि दुष्यन्त को हम कहीं भी किसी 'देवी' के साथ नहीं पाते हैं। उसका 'संयोग' और 'वियोग' शकुन्तला के साथ ही फूला फला और बढ़ा है। तो क्या दुष्यन्त 'अन्तःपुर' का प्राणी नहीं 'आश्रम' का जीव है? उसे तो आश्रम में सुख और अन्तःपुर में दुःख मिला। और कवि को?

अन्तःपुर—कवि ने भी अन्तःपुर पर बहुत ध्यान नहीं दिया है और 'अन्तःपुरकूटवागुर' से सबको प्रायः अलग ही रखा है। ध्यान देने की बात यह है कि स्वयं दुष्यन्त की दृष्टि में 'बहुपत्नीक' का कारण है 'बहुधनत्व'। सार्थवाह धनमित्र का निधन हुआ और सन्तान के अभाव में उसका अर्थसंचय राजगामी ठहराया गया तो उसे जान पड़ा कि कदाचित् उसकी कोई स्त्री गर्भवती न हो। कारण यह समझ में आया कि 'बहुधनत्व' के कारण वह 'बहुपत्नीक' भी रहा होगा। तभी तो उसका कहना है—

वेत्रवति! बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

भाव यह कि 'बहुपत्नीत्व' उस काल की सामान्य प्रथा है। उसको लेकर किसी 'धनमित्र' या सम्राट् पर आक्षेप करना ठीक नहीं। कालिदास ने इस प्रकार स्थिति को स्पष्ट कर दिया है और दुष्यन्त के इस रूप को व्यक्त करने के लिए कुछ उपाय भी किया है। विदूषक का चलते चलते यह कह जाना अथवा यह कह कर चल देना कुछ महत्त्व रखता है कि—

यदि भवानन्तःपुरकूटवागुरातो मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय।

उधर विदूषक का जाना और इधर 'सानुमती' का यह कहना कितना सार्थक है कि—

अतिशिथिलसौहार्द इदानीमेषः ।

'सौहार्द' हो वा न हो, पर 'संभावना' तो रहनी ही चाहिए। फलतः देवी वसुमती भी 'कार्योपरोध' से सावधान रहती हैं और दुष्यन्त का अन्तःपुर कलह का अड्डा नहीं बनता। सपत्नी के सपत्न को कौन नहीं जानता, पर राजा दुष्यन्त सबका ध्यान रखते हैं। शकुन्तला की प्रतिकृति के द्वारा मनोविनोद में लगे हैं कि वसुमती के कोप का पता चलता है और तुरन्त 'माधव्य' से कहते हैं—

वयस्य ! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च । भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु ।

माधव्य भी विदूषक ठहरा। कह गया—

आत्मानमिति भण ।

शिष्टाचार—किंतु प्रतीहारी के हाथ में पत्र देखा नहीं कि 'देवी' समझ गई कि कोई कार्य प्रस्तुत है, निदान आप ही लौट गई। 'वसुमती' की भाँति ही 'हंसपदिका' की भी दशा कुछ शोचनीय है। राजा का मन उधर से भी फिर गया है, उसका संगीतमय उपालम्भ है—

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥१॥५॥

राजा विदूषक के 'किं तावद् गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः' के उत्तर में पहले अपनी स्थिति स्पष्ट करता और विदूषक से फिर कहता है—

सखे माधव्य ! मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका निपुणमुपालब्धाः स्म इति ।

माधव्य जब कुछ अपनी दुर्गति का नाम लेता है तब राजा बड़े भाव से कहता है—

गच्छ नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम् ।

प्रसंग का शकुंतला-वृत्त से जो लगाव है सो तो है ही, इसमें स्वयं दुष्यन्त की 'नागरिकवृत्ति' भी है। चाहे 'हंसपदिका' हो चाहे 'वसुमती' किसी को भी उसे रुष्ट नहीं करना है। कोई किसी की ईर्ष्या से जले तो बात ही और है। वह तो हृदय से सबकी सुखकामना करता है। पर जब हृदय ही और का हो गया तब

उसको निकाल कर कहीं अलग रख दे? उसकी दशा को देखकर माधव्य कहता है—

लंघित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति।

भवितव्यता—सचेत होने पर पूछा, दुष्यन्त ने माधव्य से पूछा—

कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्?

उत्तर में उसने निवेदन किया—

न विस्मरामि। किंतु सर्वं कथयित्वावसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती।

'भवितव्यता' के पेट में सभी कुछ समा जाता है, पर दुष्यन्त ने ऐसा किया ही क्यों? पहले ही कहा जा चुका है कि वह 'सम्मोहन' के प्रभाव में आ चुका था और सोच लिया था--

चपलोऽयं बटुः। कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत्। भवतु। एनमेवं वक्ष्ये—

वयस्य! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापस-कन्यकायां ममाभिलाषः। पश्य—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे! परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥१८॥२॥

भक्ति—दुष्यन्त की यह यात्रा 'ऋषिगौरव' के कारण थी, इसमें सन्देह नहीं। शकुन्तला के दर्शन के पहले भी उसका ऋषि में यही भाव था। क्या वह आश्रम में इसी लिए प्रविष्ट नहीं हुआ था कि शकुन्तला के द्वारा उसकी भक्ति महर्षि को विदित हो जायगी? इसी प्रकार 'किमम्बाभिः प्रेषितः' में भी उसकी मातृभक्ति ही बोल रही है। माधव्य ऋषि का कार्य कर नहीं सकता था। राक्षस-वृत्तान्त ही कँपकँपी का कारण बन गया था, फिर उसका विनाश तो असंभव ही था। उधर माता का कार्य उसके द्वारा सध गया। निदान यह निश्चय हुआ। भय उसे माता का नहीं, अन्तःपुर का था। वह नहीं चाहता था कि यह वहाँ जाकर कुछ का कुछ और कहे और इस प्रकार उनका जीवन संशय में डाल दे। शकुन्तला

की ओर से अभी वह मन हटाना चाहता था और यह समझ नहीं पाता था कि संयोग संभव कैसे हो। अतएव यहाँ यह समझ लेना कि शकुन्तला के लिए ही वह वहाँ गया प्रमाद है। वहाँ उसे 'अन्तःपुर' की चिन्ता थी 'शकुन्तला' की नहीं। शकुन्तला में उसका हृदय आसक्त था पर वह अभी उसमें लीन नहीं। तभी तो उसका कहना है—

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥२॥३॥

'लतावलय' में वह गया अवश्य, पर प्रियंवदा की प्रेरणा और शकुन्तला की कामना से ही वह उसका भोक्ता बना। अथवा यों कहिए कि महर्षि कण्व के 'संकल्प' का साधक बना। वास्तव में इस प्रभाव से मुक्त तो वह तब हुआ जब इन्द्रसारथि मातलि ने माधव्य को दबोचा और उसकी गोहार से राजा के कान खड़े हुए। मातलि ने ठीक ही कहा कि 'काम' को दबाने के लिए 'कोप' आवश्यक होता है—

प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः।

में इसी को तो स्पष्ट किया गया है? निदान हमारा कहना है कि दुष्यन्त की महिमा को देखना है तो स्वस्थ दुष्यन्त को देखें। 'सम्मोहित' दुष्यन्त को नहीं–यद्यपि शील वहाँ भी वैसा ही है। 'सत्त्व' सदा समशील है पर चरित नहीं।

असमंजस—राजा दुष्यन्त ने अपने आचरण से राजा शब्द को 'अर्थवान्' कर तो दिया पर जान इतना भी न सके कि तपोधनों के बीच में 'अवगुंठन' का आगमन कहाँ? प्रतीहारी से पूछते हैं—

> कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
> मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥१३॥५॥

बेतुकी बात का समाधान सरल नहीं होता। स्त्री होने के नाते स्त्री की पहिचान प्रतीहारी को कुछ अधिक हो सकती थी और वह घूर कर देख भी सकती थी, किन्तु किसी 'अवगुण्ठन' का भेदन क्या उसके लिए सरल था! विवश हो कह पड़ती है—

देव कुतूहलगर्भः प्रहितो न मे तर्कः प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते।

'दर्शनीया आकृति' को तो देख लिया पर उसका भेद न पाया। पाती भी कैसे? यह अवगुण्ठनवती भी तो सदा की 'अवगुण्ठनवती' न थी! सच पूछिए तो उसे अवगुण्ठन का अभ्यास भी नहीं था। उसकी सखियों ने उसे सजाने के पहले ही यह कह भी तो दिया था—

अये! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनांगेषु त आभरण-विनियोगं कुर्वः।

बस यही चित्रकर्मविनियोग इस अवगुण्ठन में भी था। इस जन का आभूषण उपवन नहीं वन था। विधि की विडम्बना तो देखिए कि जिस 'वनलता' ने अपने सहज सौंदर्य से 'उद्यानलता' को नीचा दिखा दिया था, वही अब बनठन कर 'उद्यानलता' में लीन हो जाने को चल पड़ी। 'विधि' से यह अवमान देखा न गया और अवगुण्ठन साधक से बाधक बन गया। भला मुनिकन्या को 'अप्सरा' बनने की क्या आवश्यकता थी? अन्तःपुर में पैठ जाती तो वहाँ का परदा भी कर लेती। परन्तु नहीं, माया भी तो अपना काम किया करती है?

गौतमी ने ताड़ लिया। उसने देखा कि अवगुण्ठन से अभिज्ञान कुण्ठित हो गया है। निदान झट से कहा—

जाते ! मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति।

इसका कुछ प्रभाव पड़ा। परंतु कुछ ही। क्या कभी कोई भर्ता अपनी भार्या को इस परिस्थिति में पंच के सामने भर आँख देख सकता है और भार्या भी भर आँख देखने का सहज अवसर दे सकती है ? सो भी उस समय जब पहले ही से कुछ मन फिर गया हो। निहारने की क्रिया नीहार में नहीं होती। फलतः राजा भी सोच में पड़ गया—

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नापि शक्नोमि हातुम् ॥१९॥५॥

प्रतीहारी भी मुग्ध होकर मन ही मन बोल पड़ी—

अहो ! धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति।

चूक—किन्तु यह विचार ही तो अपचार हुआ ? आप कहेंगे, शाप के कारण। कवि कहेगा, सो तो है ही, पर क्यों और कैसे ? क्या इस तपोधनमंडली के लिए आवश्यक न था कि जब नगर में नागरी को लेकर किसी नागर को देने आए हैं तो काम भी नागर ढंग से करें ! नागरिकता का नाश न करें ? किन्तु नहीं, यह इनसे न बन पड़ा। बड़ी से बड़ी बात पहले ला दी गई और जब काम न सधा तब छोटी बात सामने लाने का उद्योग किया गया। किसी को कुछ ध्यान ही नहीं रहा कि मानव जीवन में अवसर, अनवसर और कुअवसर का भी कुछ हाथ होता है। यदि सु-अवसर पर सुढंग से काम लिया गया होता तो शाप ताक में लगा रह जाता और कार्य सध जाता। शकुन्तला भी भविष्य की हरियाली में मग्न थी। समय पर सचेत न हो सकी। 'कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा'। बस यही उसकी पुकार थी। देखा इतना भी नहीं कि 'अभिज्ञान' है भी वा नहीं। झट बोल पड़ी—

भवतु । यदि परमार्थतः परपरिग्रहशंकिना त्वयैवं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशंकामपनेष्यामि ।

बात ठिकाने की थी और ठौर पर काम करने वाली थी पर झूठी निकली । गौतमी ने बात कही तो पक्की पर प्रतिकूल परिस्थिति में प्रभाव पड़ा उलटा । 'उदारः कल्पः' कह कर राजा जो कुछ करना चाहता था उस पर पानी फिर गया और उसको सारा स्त्रैण किंवा त्रियाचरित्र दीख पड़ा । फिर तो सभी कुछ जाल समझा गया ।

कोप—यदि इस कु-अवसर पर कुछ काम कर सका तो वह था शकुन्तला का कायिक अनुभाव ही । उसका कोप ही कुछ ठिकाने का निकला और दुष्यन्त को मानना पड़ा—

सन्दिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते । तथा ह्यनया—

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥२३॥५॥

अर्थात् सुलभकोप महर्षि का शाप इस सात्त्विक कोप से कुछ सहम सा गया और दुष्यन्त को कुछ अपनी स्थिति में सन्देह उत्पन्न हो गया । कार्य बनने की ओर बढ़ रहा था कि शार्ङ्गरव का ज्ञान फूटा और शकुन्तला पर बौछार पड़ी—

इत्थमात्मकृतं चापलं दहति ।
अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥२४॥५॥

बस, यहीं इस कांड की पूर्णाहुति समझिए । अस्तु हमारा कहना है कि यदि वास्तव में यह 'शाप' का ही प्रतिफल है तो निश्चय ही शार्ङ्गरव उस शाप का ही स्वरूप है । यदि वह इस मंडली का नेता न होता और शकुन्तला को ही निबटने देता तो बात बन जाती, परन्तु उसके पोंगापन्थ ने सारा गुड़ गोबर कर दिया । उसकी निष्ठुरता तो देखिए । गौतमी तो तपस्विनी शकुन्तला की दयनीय दशा पर तरस खाती और 'किंवा मे पुत्रिका करोतु' की चिन्ता में कलप उठती है और आप सरोष फटकार बताते हैं—

किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ?

पता नहीं कब का वैर निकाला और तातकाश्यप ने इस पोगंड को क्यों अगुआ बना दिया। जो हो, शकुन्तला के इस वाक्य में कितनी वेदना भरी है—

कथमनेन कितवेन विप्रलब्धास्मि। यूयमपि मां परित्यजथ।

तिरोधान—प्रार्थना उलटी पड़ी। सब के सामने 'पीहर' की ओर से गहरी भर्त्सना हुई। पिता का राज्य छूटा, पति से वंचित हुई। माता ने पहले ही त्याग दिया था। पुरोहित की शरण मिली पुत्र के नाते, सत्त्व की अभिव्यक्ति के कारण। मानो 'रत्न' से रत्न की मंजूषा बन गई। पर बड़ा दर पदवी जाती रही। निदान प्रार्थना हुई—

भगवति वसुन्धरे! देहि मे विवरम्।

परन्तु आकाश की चिड़िया पाताल में अंडा नहीं देती और आश्रम की बालिका कूप में नहीं पड़ती। फलतः—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।
स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमाराादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥३०॥५॥

जो कहीं दुष्यन्त इस दृश्य को देख लेता तो? अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

मिलन—सचेत होने पर जब उसकी दृष्टि एकान्त की शकुन्तला पर पड़ी तो उसका कलेवर कुछ और ही था—

अये! सेयमत्रभवती शकुन्तला यैषा—
वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥२१॥७॥

दुष्यन्त की दृष्टि पड़ी नहीं कि उनके हृदय की छाया प्रगट हुई और शकुन्तला सहज में पहिचान ली गई। किन्तु इस बार परिस्थिति के बदल जाने से शकुन्तला को ही पहिचानने में देर हुई—

न खल्वार्यपुत्र इव। ततः क एष इदानीं कृतरक्षामंगलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति?

उधर शकुन्तला तो अभी सन्देह में पड़ी है इधर राजा को यह कहने में कोई क्षति नहीं दिखाई देती—

प्रिये ! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।

शकुन्तला पर इस 'नागरिक संज्ञापन' का इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि उसे मान लेना पड़ा कि आर्यपुत्र ही हैं । देखिए—

हृदय ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पितास्मि दैवेन । आर्यपुत्रः खल्वेषः ।

फिर तो क्या था ? 'जयतु जयत्वार्यपुत्रः' कण्ठ से फूटा नहीं कि कण्ठावरोध हो गया । भला कण्ठ जी की बात कब कह पाया ? किन्तु शकुन्तला विश्वास किसका करे ? भाग्य ने साथ नहीं दिया और आर्यपुत्र से धोखा हुआ । पर बालक कब किसी की चिन्ता करता है ? उसे तो जैसे हो तैसे इस अनोखे पुरुष को जान लेना है जो पुत्र कह कर उसका आलिंगन करता है । फिर पूछ ही तो बैठा—

मातः क एषः ?

कितना छोटा, मधुर और स्वाभाविक प्रश्न ? किन्तु कण्वदुहिता, राजर्षिपत्नी, परित्यक्ता शकुन्तला के लिए कितना कठिन ? बच्चे की बात टाली भी तो नहीं जा सकती ? एक बार अनसुनी हो चुकी थी । निदान मर्मभरा उत्तर मिला—

वत्स ! ते भागधेयानि पृच्छ ।

'वत्स' फिर पूछता तो क्या पूछता ? उसे तो देखने को ऐसा अद्भुत दृश्य मिल गया जो आश्रम में कभी नहीं मिला था । यह 'पुत्र' कहने वाला प्राणी उसकी माता के पैरों पर गिर पड़ा । बच्चा ही ठहरा । प्रश्न भूल गया । उत्तर तो बच्चे को पहले ही मिल गया था और वह जानता भी था कि उसका पिता दुष्यन्त है । अस्तु, उसे छोड़िए और शकुन्तला के शील को देखिए । उसने झट आर्यपुत्र से कहा—

उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः ।

सच है दुहिता के दुर्दैव को पिता कहाँ तक दूर करता । दुर्दैव की शमनयात्रा में ही तो दोनों का विवाह हुआ था ?

अवगुण्ठनवती शकुन्तला का अवगुण्ठन अब नहीं रहा, पर हृदय तो स्त्री का ही रहा न ? फलतः जब दुष्यन्त ने कहा—

शकुन्तले ! अवलम्ब्यतां पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि ।

तब उसने भी निवेदन किया—

जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम् ।

किन्तु पति ने कभी पत्नी की ऐसी लज्जा को स्वीकार किया है ? निदान उधर से भी आदेश मिला—

अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु । एह्येहि ।

अतिथि-सत्कार—अभ्युदय काल की शकुन्तला से किसी को क्या लेना ? हमें तो उदयकाल की शकुन्तला से पाठ लेना है न ? सो वह आप ही बोलती दिखाई देती है—

इत इतः सख्यौ ।

तो क्या उसकी सखियाँ भी उसी के मार्ग पर चलें ? क्या वह कालिदास की आदर्श रमणी है ? हो, पर उसका मार्ग विषम है । तातकाश्यप का आदेश है—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया विरतानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥१५॥४॥

उसने पूछा—

तात ! इत एव किं प्रियंवदानसूये सख्यौ निवर्तिष्येते ?

तात ने कहा—

वत्से ! इमे अपि प्रदेये । न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम् । त्वया सह गौतमी यास्यति ।

ठीक है । पर यदि कहीं सखियाँ साथ जातीं तो ? तो दुष्यन्त किन किन को भूल पाता ? शकुन्तला को शाप मिला था । बला से दुष्यन्त उसे न पहिचानता । पर क्या कभी वह प्रियंवदा और अनसूया को भी भूल सकता था ? कदापि नहीं । अरे भाई ! यह 'अभिज्ञान' नहीं, ऋषियों की लीला है । इसे मन की आँख से देखें तन की आँख से नहीं । कण्व ने अतिथि-सत्कार का भार इस शकुन्तला को दिया ही क्यों ? इतना तो पहले से ही जानते थे कि यह 'प्रदेया' है और है किसी का न्यास । फिर भी अतिथि-सत्कार उसी को करना है । जब तक है तभी

तक करे, पर करे अवश्य। उसे 'महादेवी' जो बनना है—राजमाता! काम भी तो उसका देखिए—

> यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां
> तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
> श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
> सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥१४॥४॥

इस प्रकार के लालन-पालन में जिसका इतना अनुराग है उसको अतिथि-सत्कार में कितना आनन्द आता होगा, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है और यह भली भाँति जाना भी जा सकता है कि स्वागत और सत्कार का कार्य उसी के हाथ में है। कण्व की दुहितामात्र होने के कारण उसको यह अधिकार प्राप्त नहीं है, इसमें तो उसके शील और उसकी प्रकृति का भी योग है। शकुन्तला का कार्य ही सत्कार और सत्क्रिया है। उसका मार्ग चाहे जितना विषम हो पर उसे करना यही है।

प्रकृतिरमणी—मारीच के आश्रम में उसकी चर्चा क्या थी, इसे हम नहीं जानते, पर जानना चाहें तो इतना तो जान ही सकते हैं कि इस 'प्रकृतिपेलवा' बाला को 'प्रकृति' के अतिरिक्त और सुख कहाँ? 'सोदरस्नेह' की बात यों ही नहीं कही गई।

पल्लव में शकुन्तला का प्राण है। वह कहती है—

एष वातेरितपल्लवांगुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावदेनं सम्भावयामि।

मारीच के आश्रम में भी उसे यही बुलावा मिलता रहा होगा। कारण, माता अदिति का स्नेह भी वृक्षों में कुछ ऐसा ही है। मातलि राजा से उस आश्रम के विषय में कहता है—

एतौ अदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः।

भला जिस आश्रम में मातामही अदिति का पादप में यह स्नेह हो उसमें जाकर शकुन्तला सी प्रकृतिरमणी अपने 'सहोदर स्नेह' को कैसे छोड़ सकती है? सो भी तब जब वह स्वयं माता बन गई है और अपने सर्वस्व से बिछुड़ गई है। कभी उसने प्रेम में आकर विदा के समय तातकाश्यप से कहा था—

कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतटोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि ?

और सखियों ने बिलख कर कहा था—

हा धिक् ! हा धिक् !! अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या ।

बस, शकुन्तला वनराजि ही में शकुन्तला है । आश्रम में सभी उसके हैं, पर आश्रम के बाहर राहवालों में कोई भी उसका नहीं । यहाँ तो जब वह विदा होती और आगे बढ़ती है तब उसे मृग भी रोक लेना चाहता है पर वहाँ कोई नाम लेने वाला भी नहीं, पहिचान की बात तो और भी निराली है ।

लतावलय—लालसामय राजा से सन्देश की सोच रहे हैं पर चकई को सचेत करने में देर नहीं होती । शकुन्तला उसकी चेष्टा को देखती और समझती है—

हला ! पश्य । नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति दुष्करमहं करोमीति ।

चक्रवाकी की रट का रहस्य तब खुला जब शकुन्तला की रट पर दुष्यन्त ने ध्यान नहीं दिया और अत्यन्त 'दुष्कर' हो गया । कभी किसी ने किसी चक्रवाकवधू को सावधान किया था और कहा था—

चक्रवाकवधुके ! आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थिता रजनी ।

और किसी मुनिदुहिता ने आमन्त्रण भी किया था—

लतावलय ! सन्तापहारक ! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय ।

'लतावलय' का 'परिभोग' हो लिया और चक्रवाकवधू ने फिर कुछ कहा । कान गया पर ध्यान तो कहीं और ही रहा । फलतः इस चक्रवाकी का मेल 'अदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्ष आश्रम' में 'अशोकवृक्ष' की छाया में हुआ । 'लतावलय' का सुख था—

इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावत् गच्छामि ।

और इसकी विशेषता थी—

अहो ! प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः ।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरंगाणाम् ।
अंगैरनंगतप्तैरविरलमालिंगितुं पवनः ॥४॥३॥

किन्तु उस अशोकछाया का आनन्द है—

स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम् । अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि ।

अशोकछाया—अस्तु, हमें समक्ष रखना चाहिए कि स्नेहपुत्रिका शकुन्तला 'प्रकृति' से अलग रह नहीं सकती। उसे इस आश्रम में उन सखियों का साथ नहीं जो राजा दुष्यन्त से लगा दें, पर यहाँ उन तापसियों का योग है जो दुष्यन्त को झुका दें। यहाँ इनका काम है बालक को बझाना। देखिए एक दूसरी से कहती है—

सुव्रते ! न शक्य एष वाचामात्रेण विरमयितुम् । गच्छ त्वम् । मदीय उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति । तमस्योपहर ।

'सुव्रता' को 'प्रियंवदा' की तुलना में रखकर देखें तो पता चले कि यहाँ शकुन्तला का जीवन कैसा है। उसका लाल सर्वदमन बालमृगेन्द्र को दूध भी पीने नहीं देता और अभी से उसका दाँत गिनना चाहता है। किसी की सुनता ही नहीं, तो फिर इसकी माता शकुन्तला है कहाँ जो पुत्र के 'अविनय' को नहीं रोकती ? कहीं किसी 'आलवाल' को आपूर करती होगी। जी नहीं। यह 'कण्व' नहीं, 'प्रजापति' का आश्रम है और फलतः यहाँ की कथा ही कुछ और है। देखिए—

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया ।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यत्कांक्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥१२॥७॥

तो यहाँ 'सेचन' की आवश्यकता नहीं 'परिवर्धन' का ध्यान है और है सच्चे सदाचार का विधान भी। विकार में निर्विकार और विषय-वासना में निर्लिप्त। 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' !

धर्म-चर्चा—अच्छा ! तो यहाँ आज हो रहा है 'पतिव्रताधर्म' का उपदेश और शकुन्तला है इसी प्रवचन में। कारण, वृद्ध शाकल्य का कहना जो है—

दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति ।

बस, इन्हीं महर्षिपत्नियों में इस राजर्षिपत्नी को भी समझ लें। तापसी कहती भी है—

सुव्रते ! एहि । इमं वृत्तान्तं नियमव्यावृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः ।

भला शकुन्तला 'नियमव्यापृता' न होती तो ऐसे ऊधमी सर्वदमन को साथ न रखती ? किसी प्रवचन या कथावार्ता में किसी ऊधमी बालक से कितनी बाधा पड़ती है इसका ध्यान शकुन्तला को है, आज भले ही किसी को न हो ।

सन्तत शकुन्तला को 'गात्रसंसर्ग' का बड़ा ध्यान है । उसे क्या पता था कि निठुर दुष्यन्त भी अब पिघल कर गल गया है । देखा तो पहिचाना नहीं और चिन्ता में पड़ गई—

ततः क एष इदानीं कृतरक्षाभंगतं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति ।

आशीर्वाद—परिचय से पता चला कि यह वही 'आर्यपुत्र' है जिसने उसे भी कभी गात्रसंसर्ग से दूषित किया था । फिर तो जंगल में मंगल हुआ और इस आश्रम से मनचाहा आशीर्वाद मिला । कण्व से 'वर' तो सहज ही मिल गया पर आशीर्वाद के लिए गौतमी को कहना पड़ा था न—

भगवन् ! वरः खल्वेषः । नाशीः ।

परन्तु मारीच ने स्वयं कहा—

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः ।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमी सदृशी भव ॥२८॥७॥

छेड़छाड़—शकुन्तला ने कभी अनसूया से कहा था—

सखि अनसूये ! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रितास्मि । शिथिलय तावदेतत् ।

अनसूया भला क्या कहती ? किन्तु क्या कभी प्रियंवदा इसको चुपचाप सुन सकती थी और हँसी में आड़े हाथों शकुन्तला को न लेती । लपक कर बोली—

अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व । मां किमुपालभसे ?

किन्तु 'यौवन' का प्रभाव सहसा नहीं पड़ सकता था । वह तो पहले से भी अपना काम करता आ रहा था और फलतः पयोधर का विस्तार भी धीरे धीरे

हो रहा था। निदान, इस विस्तार का निमित्त कुछ और ही था जो किसी को जान न पड़ा और बात हँसी में टल गई। भीतर की प्रेरणा भीतर ही बनी रही और बाहर शकुन्तला को ऐसा जान पड़ा कि केसर का छोटा वृक्ष उसे पल्लव के संकेत से अपनी ओर बुला रहा है। दौड़ी गई और प्रियंवदा को फिर 'हास' की सूझी—

हला शकुन्तले ! अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति।

इस बार उत्तर शकुन्तला को देना था। कुछ न सूझा तो बोल पड़ी—

अतः खलु प्रियंवदासि त्वम्।

तो क्या प्रियंवदा ने सचमुच प्रिय बात कही और वह वस्तुतः केसरवृक्ष को लतासनाथ देखना चाहती थी? कहा जा सकता है कि जैसे 'सहकार' को 'वनज्योत्स्ना' के द्वारा सनाथ किया वैसे ही किसी लता के द्वारा उसको भी सनाथ करना चाहती थी और जो कि अपने आप किसी लता से कम न थी, इसलिए प्रियंवदा को भी यह फबती सूझ गई। ठीक है, इसे भी ऐसा ही मान लीजिए। उधर अनसूया ने कहा भी तो है—

हला शकुन्तले ! इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतासि ?

भाव यह कि प्रियंवदा का प्रस्ताव मान्य नहीं। शकुन्तला भी समाधान करती है—

तदात्मानमपि विस्मरिष्यामि।

'आत्मा' को 'वनज्योत्स्ना' बना लिया तो उसे कुछ ध्यान से देखा और उसके भाव से जान लिया कि ऋतुकाल आ गया। तुरत अनसूया से कहा—

हला ! रमणीये खलु काल एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना। स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः।

बात खुल गई और प्रियंवदा ने झट से कहा—

यथा वनज्योत्स्नानुरूपेण पादपेन संगता अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति।

शकुन्तला भी चोज में चूकनेवाली न थी। चट बोल पड़ी—

एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः।

विकार—यह मनोरथ आत्मगत था और इसी का परिणाम था 'अति-पिनद्ध'। 'भाव' का पता न होने से अनुभाव का अर्थ न लगा। परिहास में बात टल गई। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह काम अथवा मदन के संकल्प का प्रभाव है जो शकुन्तला से यह अभिनय करा रहा है। ध्यान देने की बात है कि इस संकल्प अथवा दुष्यन्त के आगमन का प्रभाव पहले 'स्तन' पर पड़ा और 'अतिपिनद्ध' का अनुभव हुआ, फिर 'चित्त' पर पड़ा और 'केसरवृक्षक' का बुलावा मिला और फिर 'मन' पर पड़ा जिससे 'उपभोगक्षम' की भावना उठी और मनोरथ खुल गया। अपना निराकरण तो न हुआ पर दूसरे पर आरोप कर दिया गया। इसके पश्चात् 'मधुकर' की बाधा सामने आई और फिर उपयोग हुआ। शकुन्तला ने आप ही कह भी दिया—

अम्मो ! सलिलसेकसंभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधु-करोऽभिवर्तते।

मधुकर का यह अभिवर्तन नवीन नहीं। पहले भी न जाने कितनी बार उसका सामना करना पड़ा होगा। किन्तु नहीं, आज अपनी स्थिति ही कुछ और हो गई है। आज जो भी आता है कुछ और ही राग सुनाता है। इसलिए आज जिस मधुकर का अभिवर्तन हुआ है वह कुछ और ही क्रिया दिखाता है और आज शकुन्तला भी किसी और ही कला में रस ले रही है। स्यात् मधुप को कुछ इस मधु का भी बोध हो गया हो। कारण—

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥२१॥१॥

प्रकृति-प्रेरणा के पंजे में पड़े दुष्यन्त जो कुछ सोच रहे हैं शकुन्तला उसी को प्रकाशित कर रही है। सखियाँ इसको खूब समझ रही हैं और इसी से एक साथ बोल पड़ती हैं—

दुष्यन्तमाक्रन्द।

दुष्यन्त को अच्छा अवसर हाथ लगता है और शकुन्तला भी संसर्ग में आ जाने पर 'तपोवनविरोधी विकार' का अनुभव करती है, और अंत में इसी से पराभूत हो जाती है। 'हृदय' हाथ से निकल जाता है तो अतिथि-सत्कार

भी नहीं हो पाता और तन्मयता में 'भूल' का 'शाप' मिलता है । ऋषि भी दुर्वासा ठहरा । सुलभ कोप ! प्रकृतिवक्र !! कुचैला और दूब का खानेवाला ।

उत्ताप—शकुन्तला मेनका की पुत्री ठहरी । कण्व के आश्रम में पली तो क्या ? फलतः कामकला में कुछ कर गई, पर अपने स्वरूप को न भूली । स्थान का ध्यान रखा । उधर राजा भी पक्के नागर ठहरे । काम बन गया । बात तो तब बिगड़ी जब वियोग की घड़ी सामने आई । तो भी सखियों ने संभाला तो सही, पर प्राणी को अपना भोग आप ही भोगना पड़ता है । निदान राजधानी में शकुन्तला की जो अवहेलना हुई तो उसका राजर्षि तेज जगा और शापग्रस्त राजा भी मान गया कि क्रोध सच्चा है । यह स्त्री पुंश्चली नहीं । इसके इस कथन में कितना तेज और कितना ताप है—

अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे । क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ।

राजा कट कर रह गया और विवश हो बोला—

भद्रे ! प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न दृश्यते ।

ठीक ही कहा था । जब सुधि ही नहीं रही तब साखी कौन भरे ? न 'लतावलय', न 'सखियाँ', न 'दीर्घापांग' । एकान्त की बात पंच में कैसे मुँह खोले ? परिणाम यह हुआ कि शार्ङ्गरव की यह पुरोभागा, ज्योति के साथ आकाश में उड़ गई । कभी दुष्यन्त ने इसको देख कर कहा था—

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥२३॥१॥

और इसने भी कभी टोका था—

हला ! किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन !

किन्तु 'अन्तःपुर' से इसे द्वेष कैसा ? क्या काश्यप की भाँति ही कश्यप भी अपने यहाँ के लोगों से यह नहीं कह सकते—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥९॥४॥

क्यों नहीं ?

अनसूया

व्यक्तित्व—पतिगामिनी शकुन्तला ने विदा के समय क्षीरवृक्ष की छाया में सखियों की ओर लपक कर कहा था—

हला ! द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम् ।

इस 'सममेव' में उसकी जो वेदना काम कर रही थी वही इसके पहले भी 'आश्रम' से चलते-चलते इस प्रकार व्यक्त हुई थी—

हला ! एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः ।

और इसी की प्रेरणा से तो उसने अभी इसी छाया में तातकाश्यप से पूछा था—

तात ! इत एव किं प्रियंवदानसूये सख्यौ निवर्तिष्येते ?

'तात' का उत्तर 'इमे अपि प्रदेये' प्रख्यात है पर यह ज्ञात नहीं कि तातकाश्यप ने केवल अनसूया का नाम लेकर ही क्यों कहा—

अनसूये गतवती वां सहधर्मचारिणी । निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम् ।

यहीं नहीं, इसके पहले भी जब आश्रम से चलते समय सखियों ने बिलख कर एक साथ कहा था—

अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः !

तब भी तो तातकाश्यप ने केवल अनसूया को ही सम्बोधित करके कहा था—

अनसूये ! अलं रुदित्वा । ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला ।

इससे स्पष्ट है कि प्रियंवदा की अपेक्षा अनसूया में कुछ विशेषता है । तातकाश्यप ही क्यों, स्वयं शकुन्तला के यहाँ भी यह भेद पाया जाता है । जब कभी कुछ संकट या मन्त्रणा की बात होती है तो अनसूया को ही पुकार उठती है । देखिए न शकुन्तला अनसूया से आरम्भ में ही क्या कहती है—

सखि अनसूये ! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रितास्मि । शिथिलय तावदेतत् ।

तो क्या प्रियंवदा का काम 'पिनद्ध' करना और अनसूया का शिथिल करना है? बात कुछ आगे बढ़ी तो फिर अनसूया की ही गोहार लगी—

अनसूये! गमिष्याम्यहम्।

और जब सब कुछ खुला हुआ तब यह बहाना भी अनसूया से ही हुआ—

अनसूये! अभिनवकुशसूच्या परिक्षतं मे चरणम्। कुरबकशाखापरिलग्नं च वल्कलम्। तावत्परिपालयत मां यावदेतन्मोचयामि।

शकुन्तला ही नहीं प्रियंवदा भी ऐसे अवसर पर इसी सखी की शरण लेती है। दुष्यन्त के रंग-ढंग को देखकर 'अनसूया' से ही तो वह पूछती है—

अनसूये! को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते?

और शकुन्तला भी मन ही मन रीझकर अपने 'हृदय' को सान्त्वना देती है—

हृदय! मोत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते।

महत्त्व—तो बात क्या है जो सभी शकुन्तला की इस सखी को इतना महत्त्व देते हैं। सीधा समाधान है वह अवस्था में बड़ी जो है! हो सकता है। दुष्यन्त का कहना तो यह है—

अहो! समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्।

फिर भी वर्ष नहीं तो कुछ दिनों का अन्तर तो अवश्य होगा। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि अनसूया ही तीनों में बड़ी है। कारण यह कि 'वय' के विचार से पहले उसी का विवाह होना था। कहा जा सकता है कि शकुन्तला ने तो अपने आप अपना पति चुन लिया, फिर आयु के क्रम का प्रश्न ही कहाँ रहा? निवेदन है, ऐसा हो नहीं सकता। इससे एक तो शकुन्तला की मर्यादा घट जाती है दूसरे कण्व के 'संकल्प' का विरोध होता है। निदान हमारा कहना है कि यह इसका सच्चा समाधान नहीं। हमें इसकी जाँच करनी चाहिए और इसके भीतर कवि का भाव परखना चाहिए। हमें तो इसमें कवि की दृष्टि कुछ और ही दिखाई देती है। अधिक न कह संक्षेप में हम यही कहा चाहते हैं कि हमारी समझ में 'शकुन्तला' 'श्रद्धा' है तो 'अनसूया' 'मति'। रह गई प्रियंवदा, सो प्रत्यक्ष ही इस न्याय से 'रति' है। हमारी

दृष्टि से इस प्रकार अनसूया को 'मति' तथा प्रियंवदा को 'रति' मान लेने से सारा झगड़ा आप ही निपट जाता है। यदि आप ऐसा नहीं करते तो आप इसका समाधान क्या करेंगे कि 'काम' की बात को छोटी प्रियंवदा ही क्यों अधिक समझती है। उसका अनसूया से प्रश्न है—

अनसूये ! दूरगतमन्मथाऽक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन्बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम्। तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्।

अनसूया भी मान जाती है और कह देती है—

तथा यथा भणसि।

त्रयी—'मन्मथ' की परख 'रति' को जैसी होती है 'मति' को नहीं। मति तो बस हाँ-ना का काम ही अधिक करती है। इस भेद को दृष्टि में रखकर 'अनसूया' का अध्ययन करें और उसके नाम की निरुक्ति पर ध्यान दें तो पता चले कि कालिदास का इष्ट क्या है और किस प्रकार 'अभिज्ञानशाकुन्तल' हमारे 'अभिज्ञान' का आदर्श है। आप चाहें तो इन दोनों सखियों को 'समीपा' और 'दृष्टि' भी कह लें और चाहें तो 'श्रेय' और 'प्रेय' भी; पर हमें 'मति' और 'रति' ही अच्छा जँचा। यह द्वन्द्व ही भाव की व्यंजना में अधिक समर्थ जान पड़ा। निदान इसी को ग्राह्य समझा। 'श्रद्धा' के साथ 'मति' और 'रति' का लगाव है भी सीधा। अस्तु हमारा मत है कि इन सखियों की प्रकृतिभिन्नता अवस्थागत नहीं स्वरूपगत है। इनका स्वभाव अलग-अलग है और अलग-अलग है इनका शील भी। मानव में 'मति' की प्रधानता है तथा 'लोकचरित' इसी से अधिक बनता-बिगड़ता है। अतएव 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में 'अनसूया' का महत्त्व अधिक है। संकट के समय उसी की खोज होती है। वह स्वयं टोकती और रोकती भी है तथा करती है स्वयं जाँच भी। उसका दर्शन ही होता है 'तर्कयामि' से। वह एक ओर 'नवमालिकाकुसुमपेलवा' शकुन्तला को देखती है और दूसरी ओर उसके 'आलवालपूरण' को। उसको शकुन्तला की प्यास वृक्ष की प्यास से अधिक दिखाई देती है। फलतः वह शकुन्तला का भाव जानना चाहती है और अपनी ओर से कहती है कि मेरे मन में तो ऐसा आता है कि तातकाश्यप को 'आश्रम-वृक्षक' तुझ जैसी कोमलांगी से अधिक प्रिय हैं; नहीं तो तुझसे ऐसा कठोर काम

क्यों लेते । शकुन्तला इसमें 'तातनियोग' ही नहीं अपना मनोयोग या 'सोदरस्नेह' भी मानती है ।

कर्मराय—अनसूया शकुन्तला की चेष्टा को समझती और फिर दूसरा प्रश्न करती है कि क्या 'केसरवृक्षक' की पुकार पर अपनी प्यारी 'वनज्योत्स्ना' को भूल गई और इसे सहकार की 'स्वयंवरवधू' यों ही कह दिया । शकुन्तला ने उत्तर दिया कि यदि इसी को भूल गई तो मुझ में रह क्या गया ? जान लो कि मैं अपने को ही भूल गई और जो उसने इसके आगे इतना और भी जड़ दिया कि कैसा रमणीय समय आ गया है ! वनज्योत्स्ना पुष्पवती है और सहकार समर्थ ! तो फिर ? फिर तो प्रियंवदा ने उसके मन की कह दी और वास्तव में यह किसका 'मनोरथ' है इसी पर छिड़ गई । अनसूया चुपचाप दोनों की सुनती रही । 'नवकुसुमयौवना' की बात उसे जँच गई और फलतः जब उस पर भ्रमर का अभिवर्तन हुआ तो वह भी प्रियंवदा के साथ बोल पड़ी—

दुष्यन्तमाक्रन्द । राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम ।

किन्तु जब सचमुच दुष्यंत आ गया तब उसी को समय की सूझी और उसी ने कहा—

आर्य ! न खलु किमप्यत्याहितम् । इयं नौ प्रियसखी मधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता ।

कदाचित् भ्रमर को भी शकुन्तला के भाव का पता हो गया था और वह भी रति-रंग में आ गया था, नहीं तो 'नवमालिका' को छोड़ कर इस 'कुसुमपेलवा' का पीछा क्यों करता ? जो हो । अनसूया ने कर्त्तव्य को ध्यान में रख कर कहा—

इदानीमतिथिविशेषलाभेन ।

यह तो था दुष्यंत के 'अपि तपो वर्धते' का उत्तर जो शकुन्तला को लक्ष्य करके पूछा गया था, पर संभ्रान्ति के कारण उससे उसका उत्तर न बन पड़ा । इसके उपरांत उसे अतिथि-सत्कार की पड़ी । उसने शकुन्तला से कहा—

हला शकुन्तले ! गच्छोटजम् । फलमिश्रमर्घमुपहर । इदं पादोदकं भविष्यति ।

किन्तु जब 'सत्कार' की बात 'परिश्रमविनोद' में बदल गई और सखियों के विश्राम का भी प्रश्न उठा तब फिर अनसूया को शकुन्तला से कहना पड़ा—

हला शकुन्तले ! उचितं नः पर्युपासनमतिथीनाम् । अत्रोपविशामः ।

प्रियंवदा के प्रस्ताव तथा अनसूया के अनुमोदन से सप्तपर्णवेदिका पर जो 'परिश्रमविनोद' हुआ वह शकुन्तला को कहाँ से कहाँ ले गया इसका पता आप को है, पर जिस बात की उपेक्षा आप कर सकते हैं वह है शकुन्तला की चित्त-दशा। यह तो दुष्यन्त भी जानता ही था कि 'अतिथि-सत्कार' का भार शकुन्तला पर ही है, पर उसे उसकी चिन्ता न रही। उसे तो बस शकुन्तला की पड़ गई। और शकुन्तला ने 'परित्राण' की गोहार क्या की अपनी प्रतिभा खो दी। उसका चित्त दुष्यन्त के आ जाने से ठिकाने न रहा। वह 'भ्रांत' हो गई, फिर जो कुछ हुआ चित्त की इसी दशा अर्थात् 'जाग्रत्स्वप्न' में हुआ। 'अतिथि-सत्कार' तो 'जाग्रज्जागर' का काम था। जब 'प्रमा' ही नहीं रह गई तब उसका कार्य हो कैसे ?

दीर्घदर्शी—दुष्यन्त के कारण और सखियों के सहयोग से यह रोग इतना बढ़ गया कि शकुन्तला 'शून्यहृदया' हो गई और 'काम' की प्रबलता के कारण 'विवेक' जाता रहा। वह 'जाग्रत्स्वप्न' से 'जाग्रत्सुप्ति' दशा को प्राप्त हुई। अतिथि का आगमन आज फिर हुआ और हुआ 'तपोधन दुर्वासा' के रूप में। उधर अनसूया को सखी शकुन्तला की चिन्ता हुई। राजा दुष्यन्त के कृत्यों की आलोचना हुई और रह रह कर यह भावना जगने लगी—

अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्यर्षिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा नवेति ।

इसी चिन्ता की शान्ति के लिए शकुन्तला के 'सौभाग्यदेवता' के अर्चन का उपाय कर रही थी कि कान में 'अयमहं भोः' की विकराल ध्वनि पड़ी। अनसूया ने ताड़ लिया कि कुछ अनहोनी हुई। प्रियंवदा को सहेजा तो उसने शकुन्तला का नाम लिया। अनसूया जानती थी कि उटज के पास शकुन्तला शरीर से ही है मन से नहीं। 'अद्य पुनः हृदयेनासन्निहिता' की दशा सुधारने को थी ही कि उस तपस्विनी को दुर्वासा का दारुण शाप मिला। सुनते ही अनसूया ने प्रियंवदा से कहा—

गच्छ। पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।

हड़बड़ी में पुष्पभाजन हाथ से गिर गया। यह भी अपशकुन ही हुआ। किंतु जब प्रियंवदा से शापमुक्ति का उपाय मिला तब सन्तोष हुआ और सोचा—

शक्यमिदानीमाश्वसितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयांकितमंगुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम्। तस्मिन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति।

इतना ही नहीं। उसने प्रियंवदा से भी कह दिया कि यह किसी और के कान में न पड़े। कितनी उदार चिन्ता है—

प्रियंवदे! द्वयोरेव नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी।

किंकर्तव्य—'प्रकृतिपेलवा प्रियसखी' की चिन्ता अनसूया को ऐसी हुई कि फिर उससे मुक्ति पाना कठिन हो गया। उसके सामने बड़ी विकट समस्या आ गई—

प्रतिबुद्धापि किं करिष्यामि? न मे उचितेष्वपि निजकरणीयेषु हस्तपादं प्रसरति। काम इदानीं सकामो भवतु येनासत्यसंधे जने शुद्धहृदया सखी पदं कारिता। अथवा दुर्वाससः शाप एष विकारयति। अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावतः कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति। तदितोऽभिज्ञानमंगुलीयकं तस्य विसृजावः। दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्। ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम्?

मति—'अनसूया' को 'मति' कहने का यही तो कारण है! 'काम इदानीं सकामो भवतु' में जो बात कही गई है बड़े काम की है। 'काम' के सामने 'मति' की हार हो गई। अनसूया ने इसके पहले भी कहा था—

यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्य जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम्।

इस अनार्य आचरण का लक्ष्य क्या है? गांधर्व विवाह ही न? तो क्या इसमें अनसूया का हाथ नहीं—कहा जा सकता है? हाँ, पर वह दोषी नहीं। कारण, उसने तो अपनी सखी का जीवन सुखी कर दिया। उसे 'विषय' का बोध नहीं 'कर्तव्य' का ध्यान है। प्रियंवदा ने उसको प्रेरित किया तो उसने शकुन्तला का मन और राजा का गौरव देख कर वैसा करने में योग दिया

नहीं तो उसका ध्यान तो सदा 'व्यवसाय' और व्यवस्था में ही रहा। उसने प्रियंवदा से पूछा—

कः पुनरुपायो भवेद्येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं संपादयावः?

अनसूया की इस चटपटी का कारण यह हुआ कि उसने देख लिया कि अब शकुन्तला का संताप कामना की पूर्ति के बिना किसी प्रकार दूर नहीं हो सकता। शकुन्तला ने मुँह खोल कर स्पष्ट कह दिया—

तद्यदि वामनुमतं तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथावश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम्।

उपाय—तो फिर वह करती क्या? तिस पर भी प्रियंवदा ने इसको और भी पुष्ट कर दिया कि बात अब इतनी बढ़ गई है कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं कि शकुन्तला का अभिलाष पूरा हो। निदान उसने भी इसी की ठान ली और 'झट' का प्रस्ताव किया और यह भी सचेत किया कि 'निभृत' का भी ध्यान रहे। कहने का तात्पर्य है कि शकुन्तला के 'उन्माद' को दूर कर उसे जीवित और सुखी रखना तो वह भी चाहती है, पर वह समझ नहीं पाती कि किया क्या जाय। उसके पहले भी शकुन्तला से पूछते हुए उसने कहा था—

हला शकुन्तले! अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य। किं तु यादृशीतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं तव पश्यामि। कथय किंनिमित्तं ते संतापः। विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य।

सच है निदान के बिना उपचार कैसा? कारण का पता चला तो अनसूया उसकी व्यवस्था में बड़ी तत्परता से लगी। प्रियंवदा ने जो उपाय बताया तो सहर्ष उसका अनुमोदन किया और कहा—

रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति?

भला शकुन्तला को और कहना ही क्या था? वह भी इष्टसाधन में लग गई। फलस्वरूप जब फिर राजा का प्रवेश हुआ तब उसी ने तो बैठने का प्रस्ताव किया। उसके निवेदन पर ध्यान तो दें। किस ढब से वह कहती है—

इतः शिलातलैकदेशमलंकरोतु वयस्यः।

और जब शकुन्तला की चेष्टा, दुष्यन्त के भाव और प्रियंवदा के प्रस्ताव से जान लिया कि अब 'एकदेश' 'सर्वदेश' हुआ चाहता है और शकुन्तला की दृष्टि 'अन्तःपुर' पर जा चुकी है तब उसने भी राजा दुष्यन्त से अनुरोध किया—

वयस्य ! बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते । यथा नौ प्रियसखी बन्धुजन-शोचनीया न भवति तथा निर्वाहय ।

चिन्ता—बस 'निर्वाह' ही अनसूया को इष्ट है और इसी निर्वाह की धारणा से वह प्रियंवदा का साथ देती और शकुन्तला के गान्धर्व विवाह में सहायक होती है। यही कारण है कि उसे 'शाप' के कारण शकुन्तला की इतनी चिन्ता है। 'निभृत' की बात उजागर हो गई। 'आपन्नसत्त्वा' शकुन्तला के लिए वह क्या करे। यही उसको नहीं सूझता है। उपाय तो सामने आते हैं, पर उसकी पूर्ति में बाधा ही बाधा गोचर होती है। इसी से हाथ-पैर जकड़ से गए हैं और कुछ करने को जी ही नहीं होता। समाज भी ऐसे तपस्वियों का है जो 'दुःख' में सध चुके हैं। उसे कुछ समझते ही नहीं। फिर किसी दुखिया के मन की क्यों करें? और तातकाश्यप भी तो प्रवास से आ गए। बड़ा आधार मिला। पर सखी ठहरी 'आपन्नसत्त्वा' और 'शापग्रस्त' भी। फिर उनसे कहे तो क्या कहे। क्या सखी का दोष दिखाना ठीक है? उलझन! उलझन!! उलझन!!!

विमर्श—इधर अनसूया का जीवन बुद्धि-संकट में घिरा है उधर प्रियंवदा 'सखि! त्वरस्व त्वरस्व' का उद्‌घोष कर रही है। शकुन्तला का 'प्रस्थान-कौतुक' सामने जो है। अनसूया के मन की हुई। किन्तु उसे वियोग की चिन्ता है। चाहती है शकुन्तला कुछ दिन और रह जाती। पर नहीं, उसे तो जाना ही है। निदान—

सखि ! प्रियं मे । किं त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि ।

किन्तु कार्य तो करना ही है अतः—

तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नालिकेरसमुद्गक एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका । तदिमां हस्तसन्निहितां कुरु ।

यावदहमपि तस्यै मृगरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मंगलसमालम्भनानि विरचयामि ।

अनसूया फिर तो ऐसी व्यस्त हुई कि मानो उसको अलग कुछ कहना ही नहीं रह गया । अब जो कुछ कहना सुनना है सब प्रियंवदा के साथ । परंतु एक बार फिर उसे कुछ शकुन्तला से अलग कहना ही पड़ा । शकुन्तला ने भी कदाचित् इसी को संबोधित कर कहा था 'हला पश्य ।' अनसूया ने समझा कर कहा—

सखि मैवं मन्त्रयस्व ।
एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम् ।
गुर्वपिविरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ॥१६॥४॥

इसी से तो 'तातकाश्यप' ने भी 'अनसूया' का ही नाम लिया और 'प्रियंवदा' को संबोधित कर कुछ भी नहीं कहा ? प्रियंवदा ने शकुन्तला से परिहास में 'केसरवृक्षक' को 'लतासनाथ' करने को कहा था और शकुन्तला ने भी इसी से कह दिया था—

अतः खलु प्रियंवदासि त्वम् ।

जी चाहता है कि हम भी इस 'कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता केसरमालिका' को देखकर उसी न्याय से कह दें—

अतः खल्वनसूयासि त्वम् ।

कारण तुझमें 'असूया' का अभाव और व्यवसाय का विधान जो है । तू प्रिय नहीं तो 'सुष्ठु' तो है ही । शकुन्तला ने कभी दुष्यन्त से कहा था—

मुञ्च तावन्माम् । भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये ।

तो क्या उस समय उसे कुछ प्रियंवदा से जाँचना था अथवा उससे कुछ परामर्श लेना था ? प्रियंवदा को तो वह कभी असम्बद्धप्रलापिनी समझती थी न ? और किसने कहा उससे यह भी—

चक्रवाकवधुके । आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थिता रजनी ।

'लतावलय' से चल देने का संकेत तो प्रियंवदा ही ने किया था न ? कारण—

सदृष्टिक्षेपम्

अनसूये ! एष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति । एहि । संयोजयाव एनम् ।

सच तो कहना अनसूये ! कभी ऐसे संयोजन की तुम्हें भी सूझी ?

हाँ, कभी तुझको भी तो शकुन्तला से परिस्थितिवश कहना पड़ा था—

सखि ! न युक्तमकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम् ।

तो क्या 'अतिथिविशेष' का यही सच्चा 'सत्कार' था जो इस प्रकार स्वच्छन्द नहीं तो सखियों के मेल से 'लतावलय' में किया गया ? यदि यही बात होती तो अनसूया के मुँह से यह क्यों निकलता अथवा उसके मन में यह भाव क्यों उठता—

तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम् ।

तथा—

काम ! इदानीं सकामो भवतु येनासत्यसन्धे जने शुद्धहृदया सखी पदं कारिता ?

निश्चय ही यह अनसूया की पराजय है और काम की विजय है । तो उसने इसमें योग ही क्यों दिया ? कारण है—

गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः । तं यदि दैवमेव सम्पादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः ।

ठीक है । पर प्रियंवदा को तो देखिए ।

विनोद—प्रियंवदा ने कितने विश्वास से कहा था—

विस्रब्धा भव । न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति ।

अतएव उसे भविष्य की चिन्ता नहीं । उसकी दृष्टि में 'आकृति' में दोष नहीं । आकार अच्छा है तो आचरण अच्छा होगा ही । इसलिए दुष्यन्त की ओर से कोई डर नहीं । भय तो तातकाश्यप का उसे यह है कि आ कर वह न जाने क्या करेंगे ? तभी तो वह इसके आगे कहती है—

तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति ।

प्रियंवदा और अनसूया की प्रकृति में कितना अन्तर है इसका पता इस एक ही प्रसंग से चल जाता है । तो भी यह स्फुट नहीं होता कि वास्तव में प्रियंवदा है क्या । प्रियंवदा का नाम ही हमारे कान में कुछ ऐसे अवसर पर पड़ता है कि हम उसे भूल नहीं सकते । शकुन्तला की नियन्त्रणा इसी के हाथ तो है ? शकुन्तला ने आते ही अनसूया से प्रार्थना की थी—'शिथिलय' । कारण, प्रियंवदा का करतब ही तो था—'अतिपिनद्धेन वल्कलेन ।' किन्तु क्या वह प्रियंवदा के पंजे से मुक्त हो सकी ? वहीं प्रियंवदा ने उसका मुँहतोड़ उत्तर दिया न— 'यौवनमुपालभस्व' । और प्रतिदिन और प्रतिक्षण ऐसा कहती और करती गई जिससे शकुन्तला को उपालंभ की बात ही भूल गई और वह सर्वथा उसकी मुट्ठी में आ गई । यहाँ तक कि विदा के समय प्रियंवदा पर ही ध्यान पहले गया । उसने 'तात' से पूछा—

तात इत एव किं प्रियवंदानसूये सख्यौ निवर्तिष्येते ?

सुकर—और कुछ सम्पादकों की दृष्टि में तो उसने नाम ही केवल 'प्रियंवदा' का लिया और दोनों के लिए 'प्रियंवदामिश्रे' का प्रयोग किया । कुछ भी हो, प्रियंवदा उसकी मुँहलगी सहेली अवश्य है, और उससे छेड़छाड़ में आनन्द भी उसे विशेष आता है । कारण वह भाव, विभाव और अनुभाव की परख में पक्की और जी की खूब जानती है । वह रसकोविदा नहीं तो रसपंडिता

अवश्य है और दूती का काम भी भली भाँति जानती है। अनसूया समझ नहीं पाती कि शकुन्तला का विरह कैसे दूर हो और बात भी न उड़े। पर वह झट बोल उठती है—

निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत्। शीघ्रमिति सुकरम्।

'कैसे' का समाधान है—

ननु स राजर्षिरस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान्दिवसान्प्रजागर कृशो लक्ष्यते।

और उपाय भी कितना सरल—

हला! मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। तं सुमनोगोपितं कृत्वा देवप्रसाद-स्यापदेशेन तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।

सूझ—यह 'देवप्रसाद' की सूझ उसमें कहाँ से आ गई और कहाँ से शकुन्तला को यह प्रेरणा मिली—

पौरव! असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति तद्विटपान्तरितो भव।

'नागर' दुष्यन्त को 'तपोवनबाला' की यह सीख! दुष्यन्त ने इसी अनुभव के आधार पर तो शापग्रस्त दशा में हँसकर कहा था—

इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।

कहा तो 'गौतमी' के लिए था पर भाव जमा था प्रियंवदा के संसर्ग से ही। ऐसी प्रत्युत्पन्नमति कोई दूसरी नहीं। हम तो इसी से इसको 'रति' कहते हैं। 'मृग-पोतक' की सूझ इसी की तो है! किस चातुरी से अनसूया को साथ ले लतावलय से निकल गई और फिर क्या कर अनसूया को साथ ले गौतमी के साथ 'लतावलय' में शकुन्तला के पास आ गई।

प्रियंवदे! कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते।

से स्पष्ट है कि यहाँ इसी का राज्य है। है तो अनसूया भी साथ है पर कार्य होता है प्रियंवदा की रुचि के अनुसार ही। दोनों सखियाँ नलिनीपत्र से पंखा कर पूछती हैं।

हला शकुन्तले! अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः?

शकुन्तला कह बैठती है—

किं वीजयतो मां सख्यौ ?

अनसूया कुछ नहीं कह पाती; पर प्रियंवदा उससे कहती है—

अनसूये ! तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं नु खल्वस्यास्तन्निमित्तोऽयमातंको भवेत् ?

अनसूया अपनी भी आशंका प्रगट करती और 'इतिहासनिबन्ध' के आधार पर शकुन्तला से प्रश्न करती है और उसे 'कामयमान' समझती है। पर प्रियंवदा किसी 'निबन्ध' का सहारा नहीं लेती और आप ही कह देती है—

सखि शकुन्तले ! सुष्ठु एषा भणति। किमात्मन आतंकमुपेक्षसे ? अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः। केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति।

मर्मविद्—प्रियंवदा की बात मर्म पर बैठती है और शकुन्तला का रहस्य भी खुल जाता है। वह अपनी स्पष्ट कह देती है। 'तिलोदक' की बात से अनसूया भी काँप जाती है और फिर कोई विरोध नहीं रह जाता। फिर प्रियंवदा की कृपा और अनसूया के योग से वह होता है जिसका अनसूया को खेद पर प्रियंवदा को मोद हो है। वह जैसे इसी पर तुल गई थी कि आश्रम से शकुन्तला को विदाकर दे और उसकी मन की माँग को पूरा करे। तभी तो वह अनसूया से खुल कर कह देती है—

सखि ! आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः। सा तपस्विनी निर्वृता भवतु।

उसने राजा दुष्यन्त से किस ढब से कहा—

आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष वो धर्मः।

किन्तु उसकी दृष्टि में इतना पर्याप्त नहीं। उसका तर्क और आगे बढ़ा और और भी खुल कर कहा—

तेन हीयमावयोः प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवितमस्या अवलम्बितुम्।

घटक—और यह उसके लिए कोई बड़ी बात न थी। अनसूया के मुख से शकुन्तला की जन्मकथा सुन राजा की जो स्थिति हुई उसको लक्ष्य कर

प्रियंवदा ने मुसकरा कर अधोमुखी शकुन्तला को देखा और समझ गई कि नायक-नायिका का संग बन गया। तड़ाक से पूछा—

पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः ?

जब राजा का मन खिल गया तब उसने यह शाश्वत आश्वासन दे दिया—

अलं विचार्य। अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम।

दुष्यन्त के प्रश्न का उत्तर क्या दिया, उसके मार्ग का कंटक दूर किया और कहा—

आर्य ! धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवर-प्रदाने संकल्पः।

बस, इसी संकल्प ने तो सब कुछ किया। और इस सब कुछ में प्रियंवदा का हाथ अनसूया से कहीं अधिक था। स्यात् इसी से शकुन्तला ने पतिगृह-प्रस्थान के समय प्रियंवदा से कहा भी था—

हला प्रियंवदे ! आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते।

और प्रियंवदा ने बताया भी था—

न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव। त्वयोपस्थितवियोगस्य तपो-वनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते—

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥१२॥४॥

परिणाम यह हुआ कि शकुन्तला 'लताभगिनी वनज्योत्स्ना' की ओर मुड़ गई और उसको उसके 'वर' सहकार की भी सुधि हो आई। फलतः उसने सखियों से कहा—

हला एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः।

सखियों ने भी द्रवित हो कहा—

अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः।

प्रकृति—प्रियंवदा प्रेमप्रसंग में सबसे सदा आगे है और अनसूया संकट समय में। तातकाश्यप ने इसी से तो कहा था—'अनसूये ! अलं रुदित्वा।' रोने-धोने का काम प्रियंवदा करे तो करे पर अनसूया को तो देखने-सुनने का

काम करना है ? इसी से उसको सावधान किया गया है। समझाने का काम विशेषरूप से अनसूया ही कर सकती है। प्रियंवदा को तो 'रूप', 'मंडन' और 'विनोद' चाहिए। शकुन्तला के 'प्रसाधन' की बात उठी तो उसके मन में यह आया कि रूप के अनुरूप 'सज्जा' नहीं। कहा तो उसने भी 'सखि ! उचितं न ते मंगलकाले रोदितुम्।' किन्तु आगे बढ़ते ही उसकी दृष्टि अनसूया से अलग हो गई। उसको जान पड़ा—

आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते।

और जब उसके मन का 'अलंकरण' हो गया तब उसने आँख भर कर शकुन्तला को देखा और मन ही मन रीझ कर बोली—

हला ! अनयाभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीः।

'भर्ता' के गेह में शकुन्तला को जिस 'राजलक्ष्मी' का भोग मिला उसको हम समझ सकते हैं पर किसी स्थल पर देख नहीं सकते। इस विचार से कहा जा सकता है कि भव्य को अनसूया ही अधिक जानती है। अन्त में उसका सोचा ही ठीक उतरा है, प्रियंवदा का चेता नहीं। अनसूया को इसी से शकुन्तला के 'सौभाग्यदेवतार्चन' की चिन्ता है पर प्रियंवदा को उससे क्या करना ? उसे तो बस 'बलिकर्म' के लिए ही पुष्प-चयन करना है। वह अपने आप में यहाँ तक मग्न है कि कभी उसे किसी अतिथि की चिन्ता ही नहीं है।

कुशल—'अयमहं भोः' से अनसूया आकुल हो गई पर प्रियंवदा को सचेत करने पर भी यह कह देना पर्याप्त जान पड़ा—

ननूटजसन्निहिता शकुन्तला।

किन्तु जब उसे—

अद्य पुनर्हृदयेनासन्निहिता।

का बोध होता और उसके कान में शाप की भनक पड़ती है तब वह तुरत व्याकुल हो जाती है और जब यह देख लेती है कि यह तो सुलभकोप महर्षि दुर्वासा का शाप है तब तो और भी विचलित हो जाती है। पर किसी को रिझा लेना उसी का काम है। फलतः अनसूया के कहते ही जाती है और 'प्रकृतिवक्र' ऋषि को भी कुछ सीधा कर ही लेती है। महर्षि का कोप भला उसकी बात की अवहेलना कर सकता था ? उसकी वचन-चतुरता को तो देखिए—

भगवन् ! प्रथम इति प्रेक्ष्याविज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्यः ।

जब दुर्वासा से शाप-मोचन का मंत्र मिल गया तब देवकार्य की सूझी और अनसूया से कहा—

सखि ! एहि । देवकार्यं तावदस्या निर्वर्तयावः ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रियंवदा का धैर्य उस समय भी बना रहा और उसने कार्य भी साध लिया; परन्तु दूसरी ओर अनसूया हड़बड़ा सी गई और 'आवेग' में उसके हाथ का 'पुष्पभाजन' स्खलित हो गया । जब प्रियंवदा ने उससे कहा—

किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः

तब वह खिल उठी और उसने कहा—

तस्मिन्बह्वेतदपि ।

दोनों शकुन्तला की ओर बढ़ीं तो प्रियंवदा ने कहा—

अनसूये ! पश्य तावत् । वामहस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति । किं पुनरागन्तुकम् ?

निपुण—किसी वस्तु का रूप खड़ा करना प्रियंवदा जानती है और जानती है किसी के मन की भी । जो उसने देखा कि शकुन्तला का राग अतिथि में हो गया है और यह यों ही ऊपर से छनक रही है तो रोक रखने का झट एक सूत्र निकाल लिया । छूटते ही कहा—

हला ! न ते युक्तं गन्तुम् ।

शकुन्तला ने पूछा—

किंनिमित्तम् ?

तो उत्तर मिला—

वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे ।

उत्तर तो हो गया पर लक्ष्य नहीं बिधा । निदान बढ़ कर और भी कहा—

एहि तावत् । आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि ।

नागर नायक को अवसर हाथ लगा तो 'अंगुलीय' को प्रस्तुत कर दिया

और इस प्रकार शकुन्तला का उद्धारक बन गया। प्रियंवदा भी ताड़ गई और समझ लिया कि यह 'राजपुरुष' नहीं स्वयं राजा ही है। फलतः उसने कहा भी—

तेन हि नार्हत्येतदंगुलीयकमंगुलीवियोगम्। आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा।

फिर शकुन्तला की ओर मुड़ी और मुसकरा कर कहा—

हला शकुन्तले! मोचितास्यनुकम्पिनार्येण। अथवा महाराजेन। गच्छेदानीम्।

शकुन्तला जाती तो क्या? मुड़ कर भिड़ गई—

का त्वं विसृष्टव्यस्य रोद्धव्यस्य वा?

शकुन्तला कुछ भी कहे, पर है वह सर्वथा प्रियंवदा के हाथ में ही। और यह उसी की लीला है कि हम शकुन्तला को 'लतावलय' में पाते हैं। इसी से हम कहते हैं कि वस्तुतः वह 'रति' है। वह जो कुछ करती है वासना की प्रेरणा अथवा सहज भाव के कारण। इसी से 'मति' अथवा अनसूया की भाँति उसे 'इतिहासनिबन्ध' का प्रमाण नहीं देना पड़ता। हाँ, एक अवसर पर अवश्य ही अनसूया के साथ ही उसे भी कहना पड़ता है—

अये! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनांगेषु त आभरणविनियोगं कुर्वः।

ठीक भी है। 'आभरण का विनियोग' अपने आप नहीं आता वह तो किसी से सीखा ही जाता है। अतएव कोई शिक्षक नहीं तो 'चित्रकर्म' तो काम देगा ही। यहाँ उसी का उपयोग है। अस्तु, हमारा कहना है कि 'सुखशयितपृच्छिका' प्रियंवदा 'रति' है, 'वासना' है, 'दृष्टि' है। निरी मधुरदर्शना किशोरी नहीं।

शार्ङ्गरवमिश्राः

बटुकद्वय—अनसूया और प्रियंवदा की भाँति ही शार्ङ्गरव और शारद्वत की जोड़ी भी अमर है। 'मति' और 'रति' की भाँति ही 'सत्य' और 'साधु', शास्त्र एवं शील, तथा सिद्धान्त और व्यवहार का युग्म भी नित्य है। आप 'वाद' और 'विनय', 'कटु एवं 'मधु' तथा 'प्रखर' और 'प्रसन्न' का दर्शन एक साथ करना चाहें तो शार्ङ्गरवमिश्रों को देखें। शार्ङ्गरव और शारद्वत के शील में इतना अन्तर है कि हम उनकी वाणी से ही झट उन्हें परख सकते हैं। तो भी शारद्वत पर अलग विचार न करने का कारण है उसका मित भाषण। बोलने का कार्य तो शार्ङ्गरव ने ले लिया है। हाँ 'मर्यादा' का पालन तथा 'विनय' का निर्वाह अवश्य ही शारद्वत के हाथ है। सो निबाहता भी खूब है। कुशल यही है कि शार्ङ्गरव महाराज उससे उलझ नहीं पड़ते और चटपट उसकी मान लेते हैं। इसी से हम उसे 'व्यवहार' के रूप में साधुदर्शी पाते हैं। इतने से थोड़े शब्दों में इतना कार्य साधनेवाला कोई दूसरा पात्र नहीं। तातकाश्यप की लीला अपार है। उनके आश्रम के ये दो शिष्य प्रकृति के प्रतिकूल होते हुए भी परस्पर पूरक का काम करते हैं। उनके गुरुकुल में व्यक्ति नहीं बदलता उनका व्यवहार बदल जाता है। वह किसी भी कैंड़े का जीव क्यों न हो वह कुछ न कुछ शील पकड़ लेता है और समाज का अंग बन उसमें रहने के योग्य हो जाता है। वास्तव में शार्ङ्गरव ऐसा ही प्राणी है जो प्रकृति से चाहे जितना प्रचंड हो पर शारद्वत के सामने शान्त मुनि है। व्यवहार सिद्धान्त को ढर्रे पर लाता और उससे अच्छा काम बनाता है। राजा दुष्यन्त को—

किं पुनरिमामतिसन्धाय लभ्यते

कहते देर नहीं हुई कि तड़ाक से उत्तर मिला—

विनिपातः।

शारद्वत ने देखा पारा बहुत चढ़ गया है। अब अनर्थ हुआ चाहता है। सहसा बोल पड़ा—

शाङ्गरव ! किमुत्तरेण ? अनुष्ठितो गुरोः सन्देशः । प्रतिनिवर्तामहे वयम् ।

किन्तु यह तो एक पक्ष की बात रही, दूसरे पक्ष को भी तो कुछ कहा चाहिए ? निदान राजा दुष्यन्त को भी चेतावनी मिली—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा ।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ २६ ॥ ५ ॥

कहना ही नहीं, वह करना भी जानता था । निदान गौतमी से बोल पड़ा—

गौतमि गच्छाग्रतः ।

कठोर—प्रतीत होता है कि इस 'गच्छ' का अनुधावन शाङ्गरव में ही अधिक हुआ । शकुन्तला के मुँह से—

यूयमपि मां परित्यजथ

निकला तो नारी गौतमी का मातृहृदय पिघल गया और कातर स्वर से कहा—

वत्स ! शाङ्गरव ! अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ?

करुण गोहार क्या लगी आग में आहुति आ पड़ी । भभक कर उबल पड़ा—

किं पुरोभागे ! स्वातन्त्र्यमवलम्बसे !

किसी विवेकी व्यक्ति को इतने से सन्तोष हो सकता था, पर शाङ्गरव के लिए यह पर्याप्त कब था ! अभी तो धनुष का टंकार भर हुआ है शास्त्र की बाणवर्षा तो अभी आगे है—

शकुन्तले !

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥ २७ ॥ ५ ॥

उग्र—इतना भी पूरा न दिखाई दिया तो कड़क कर कहा—

तिष्ठ । साधयामो वयम् ।

राजा ने देखा कि विपदा गले पड़ी । उच्चस्वर से पुकार कर कहा—

भोऽनपस्विन् ! किमत्रभवतीं विप्रलभसे ?

शाङ्गरव भला कब चूकनेवाले जीव थे। चलते-चलते जड़ ही तो दिया—

यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसंगाद्विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरुः ?

राजा भी चक्कर में पड़ गया। विवश हो गुरु से पूछा—

मूढ़ः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ॥ २९ ॥ ५ ॥

तपोधन—राजा का धर्मसंकट कैसे दूर हुआ और उनको चेत आने पर फिर क्या करना पड़ा इसे हम जानते हैं, पर जिस बात पर हमारा सहसा ध्यान नहीं जाता वह है तपोवन की यह लीला। दुर्वासा और कण्व के कोप और कृपा, शाप और जाप को हम भूल ही जाते हैं और सहसा यह देख नहीं पाते कि शाङ्गरव और शारद्वत भी उन्हीं की छाया या प्रतीक हैं। 'तपोधन' और 'संयमधन' का यह द्वन्द्व अन्यत्र दुर्लभ है। 'अन्यसंग' से पहले किये को भूल सकते हो तब तुम्हें धर्म का डर क्या ! बात थी भी यही। विस्मृत तो था ही, पर किस 'अन्यसंग' के कारण ? तन वा मन ? यदि 'शाप' का भी इसमें संकेत है तो यह 'आश्रम' की माया नहीं तो और क्या है ? दुष्यन्त ने चेत आने पर 'स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु' का उल्लेख भी तो किया था। अस्तु, इसे तातकाश्यप की माया कहने में क्षति क्या है ? जो हो, शाङ्गरव को आप 'संयमधन' की अपेक्षा 'तपोधन' के रूप में अधिक पाते हैं और शारद्वत के 'संयमधन' होने में तो विकल्प कैसा ? वह तो है ही 'संयमधन'। तातकाश्यप की छाया !

अनुताप—शारद्वत ने इसके पहले भी एक अवसर पर शाङ्गरव को टोका था। उसने रोष में आकर यहाँ तक फटकार दिया था कि यदि रोका न जाता तो कुछ और ही परिणाम हो जाता। निदान उसको कहना पड़ा—

शाङ्गरव ! विरम त्वमिदानीम् । शकुन्तले ! वक्तव्यमुक्तमस्माभिः। सोऽयमत्रभवानेवमाह । दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम् ।

शकुन्तला की आँख खुल गई और अपना किया आँखों में फिर गया। सोचा-

इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन। आत्मेदानीं शोचनीय इति व्यवसितमेतत् ।

यह पश्चात्ताप और यह आत्मभर्त्सना क्या तातकाश्यप को इष्ट न थी? 'विनय' की अवहेलना 'कुलपति' नहीं देख सकता? फलतः शकुन्तला को किए का प्रत्यक्ष फल भोगना पड़ा। शकुन्तला की मनोदशा ऐसी थी कि उससे इसके विषय में कुछ कहना ही उसे ग्लानि में गाड़ देता था। परन्तु शास्त्री शार्ङ्गरव से नहीं रहा गया। उन्होंने तान ही तो दिया—

इत्थमात्मकृतं चापलं दहति।

फटकार—यह तो सामान्य बात ठहरी। इसका उपदेश भी तो हो जाना चाहिए कि इस घटना से पाठ क्या मिला। लीजिए, उसे भी कंठ कर लीजिए—

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥२४॥५॥

राजा को बात लगी और कुछ प्रतिरोध किया तो उनको भी यह फल मिला। असूया के साथ शार्ङ्गरव ने कहा—

श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम्।
आ जन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥२५॥५॥

सच है। यही है समय का फेर। ऋषि की बात कब किसी राजा से टाली गई? अरे! यहाँ तो मंडली की मंडली अपमानित हो रही है। राजा ऋषि की सुनता नहीं और मुनिकन्या को प्रपंची समझता है, तो फिर तपोधन में 'असूया' क्यों न हो। 'अनसूय' तो वह है नहीं कि निर्द्वन्द्व बना रहे और घात में चुपचाप सब कुछ सह ले। राजा को खरी सुनाकर उसका मानमर्दन क्यों न करे। कह ही तो डाला जो कुछ इस परिस्थिति में कहा जा सकता था? छोड़ किस दिन के लिए देता?

धर्म—आगे की बात पीछे आ चुकी है इसलिए अब पीछे की बात पहले आती है। तातकाश्यप के आश्रम को लीजिए और समझ रखिए कि आज प्राण-वल्लरी शकुन्तला की विदा है। पुकार उठती है—

क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः?

निवेदन होता है—

भगवन् इमे स्मः।

आदेश होता है—

भगिन्यास्ते मार्गमादेशय।

विचार करने की बात है कि 'भगिनी' किसके बल पर कहाँ जा रही है और क्यों ? 'रति' की बात तो रही नहीं, अब तो 'धर्म' की बात ठहरी। राजा दुष्यन्त का धर्म है कि अपनी भार्या का निर्वाह करे। अतएव मार्ग का आदेश भी वह करेगा जो धर्म का पुतला होगा। शकुन्तला जिस धर्म के पीछे अपने सर्वस्व के पास जा रही है वह कितना प्रचंड और कठोर है, इसे शाङ्गरव में देखें। उसका रूप इतना विकट क्यों ? क्यों न हो ? धर्म में लोच कहाँ ? किन्तु नहीं, धर्म के अतिरिक्त प्राणी में कुछ और भी तो है ? यही शील और स्वभाव, अर्चा और क्रिया, जो शारद्वत और गौतमी के रूप में साथ हैं। ध्यान देने की बात है कि गौतमी वहाँ भी साथ है और यहाँ भी साथ है। वह बराबर साथ है। पर पहले जहाँ 'अनसूया' और प्रियंवदा का साथ था वहाँ अब शाङ्गरव और शारद्वत का साथ हो गया। 'मति' को 'धर्म' का बाना मिला तो 'रति' को 'शील' का। इसके आगे बस कर्म ही कर्म रह गया और समय पाकर फल मिला 'सर्वदमन' जो 'विधि' के मेल से बन गया 'भरत' और जिसके पुण्य से यह बन गया भारतवर्ष।

हाँ, तो धर्म में स्पष्टता है प्रसन्नता नहीं। वह कचोटता है कलकलाता नहीं। वह नित्य है, शाश्वत है पर साथ ही विवादी और कर्कश भी। सिद्धान्त उसको भाता है व्यवहार की चिन्ता नहीं। यहाँ तक कि तातकाश्यप से भी उसका यही स्पष्ट कहना है—

भगवन् ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हति।

विनय—अर्थ स्पष्ट है, स्नेहियों की सीमा जल है। बस, इसके आगे उनकी गति नहीं। धर्म का अनुशासन ! शास्त्र की मर्यादा !! पर 'हृदय' भी तो 'धर्म' के भीतर अपनी भूमि निकाल लेता है न ? आगे न बढ़ेंगे, पर क्षीरवृक्ष की छाया में आश्रय तो ले सकेंगे ? हाँ, किन्तु कब तक ? फिर धर्म की घंटी बजी—

युगान्तरमारूढः सविता। त्वरतामत्रभवती।

क्रिया ने भी कह दिया—

जाते परिहीयते गमनवेला। निवर्तय पितरम्। अथवाचिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते। निवर्ततां भवान्।

वेला पर कार्य होना ही चाहिए। क्रिया समय की ही ठीक होती है। बात वही पर ढंग दूसरा है। शार्ङ्गरव ने यमदूत नहीं, धर्मदूत की भाँति स्पष्ट कह दिया कि दूसरा पहर आ गया, फुर्ती करो। गौतमी ने कहा—'देखो वेला टल रही है, पिता को विदा करो।' देखा कि काम नहीं चलता तो पिता से ही कह दिया—'देखिए। यह तो बहुत देर तक ऐसा वैसा कहती ही रहेगी। आप ही चल दें।'

पिता ने भी देशकाल के अनुरोध से कह ही तो दिया—

वत्से ! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

शील—फिर पिता के अनुष्ठान में कोई कन्या बाधा उपस्थित क्यों करे ? मार्ग का पता नहीं। पर 'अभिज्ञान' का खो जाना हड़बड़ी का द्योतक है। प्रेम-पुरी की यह मंडली जब नीतिपुरी में पहुँची तब वनवासी धर्म का माथा ठनक उठा और अपने साथी शील से कहा—

शारद्वत !
महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥ १० ॥ ५ ॥

और जो पुरोहित ने इसी वर्णाश्रमपालक राजा का गुणगान कर स्वागत किया तो यह धर्म दूसरे धर्म पर झल्ला उठा और तमक कर बोला—

भो महाब्राह्मण ! काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः। कुतः—
भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ १२ ॥ ५ ॥

पर अपने यहाँ का दर्प इतना कि 'कुशली काश्यप' के उत्तर में बोल उठे।

स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः ।

और राजा की ओर से कुछ अवहेलना हुई तो गरज उठे—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा ।
मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥ १८ ॥ ५ ॥

'ऐश्वर्यमत्तेषु' ही नहीं 'सिद्धिमत्तेषु' भी ! इसी के लिए तो 'शील' भी अपेक्षित है ? ओह ! यदि धर्म उदार होता और शार्ङ्गरव अनुद्धत !

धात्री—शार्ङ्गरव ने जब तातकाश्यप का सन्देश राजा दुष्यन्त को सुना दिया तब माता गौतमी की भी जीभ खुली और उन्होंने बड़े ढंग से उसी दुष्यन्त से कहा—

आर्य ! किमपि वक्तुकामास्मि । न मे वचनावसरोऽस्ति । कथमिति—
नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः ।
एकैकस्मिन्नेव चरिते भणामि किमेकैकम् ॥१६॥५॥

माता गौतमी का इतना कहना था कि स्थिति गंभीर हो उठी । शकुन्तला ने सोचा—देखें आर्यपुत्र क्या कहते हैं । और दुष्यन्त ने समझा—कैसी आपदा आ डँटी । फिर आगे जो कुछ हुआ उसमें कुछ गौतमी का भी हाथ था, पर गौतमी का हृदय जैसा यहाँ खुला है वैसा अन्यत्र नहीं । क्या वह वास्तव में इतनी भोली थी कि 'लतावलय' की गुह लीला का इसे कुछ भी पता न था ?

चक्रवाकवधुके ! आमन्त्रयस्व सहचरम्

एवं

लतावलय ! संतापहारक ! आमन्त्रये त्वाम्

का मर्म क्या उससे सर्वथा ओझल था ? क्या उसका ज्ञान इतना भी न था कि इन छोकरियों की गूढ़ गिरा को समझ ले ? ऐसा तो नहीं लगता । आर्या गौतमी की वाणी पर ध्यान तो दीजिए । वह शकुन्तला से कहती है—

अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति । वत्से ! परिणतो दिवसः । एहि उटजमेव गच्छामः ।

और इसके पहले भी तो पूछा था—

जाते ! अपि लघुसन्तापानि तेऽङ्गानि ?

सावधान—देखने में तो अति सीधी सी बात है, परन्तु सोचने की बात यह है कि यहाँ 'अंग' और 'शरीर' का ही उल्लेख क्यों हो रहा है । क्या शकुन्तला का जी अच्छा था और शरीर ही अस्वस्थ था ? लक्षण तो इसके सर्वथा विपरीत था । इसके अतिरिक्त इसी आश्रम के किसी शिष्य से हमने सुना था—

अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि ।

निश्चय ही इस 'शान्त्युदक' से 'शान्ति' की भावना उत्पन्न होती है और इसी 'शान्ति' को शकुन्तला को आवश्यकता भी थी; किन्तु गौतमी ने इस शान्ति का नाम भी न लिया और मन को छोड़ तन की बात कही। कारण भला इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि वह भेद की बात जानती थी और इसी से तुरत साथ चलने को भी कह दिया। पर साथ ही वह यह भी जानती थी कि तातकाश्यप का संकल्प क्या है और शकुन्तला किससे लग्गा लगा रही है। फलतः पी गई और जब अवसर हाथ लगा तब थोड़े में सब कुछ कह दिया। उसके कहने का आशय यह रहा कि इस अवसर पर कुछ कहने की इच्छा तो हमें भी थी; किन्तु करें क्या ? कुछ कहने को स्थान ही नहीं रहा। तुम दोनों आप ही सयाने हो। यहाँ तक कि ऐसा कार्य कर डाला और किसी से कुछ पूछा तक नहीं। इसने गुरुजनों की उपेक्षा की और आपने बन्धुजनों की। फिर क्या मुँह लेकर मैं तुम में से किसी से कुछ कहूँ ? तुम लोग आपस में ही एक दूसरे को समझ लो। मुझे अब कुछ भी कहना शेष नहीं रहा।

सतर्क—उसने इसी से कभी शकुन्तला से भी कुछ नहीं कहा। कहती भी क्यों ? कहाँ तो उसकी यह स्थिति थी कि छोटी सी छोटी बात भी इन छोरियों की इन्हीं के द्वारा उसके कान तक पहुँच जाती थी और कहाँ यह दुराव ! एक दिन था कि इसी शकुन्तला ने ताव में आकर कहा था—

इमामसम्बद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि ।

और कहाँ यह स्थिति हो गई कि वही प्रियंवदा सब कुछ हो गई और वही असम्बद्धप्रलाप जीवन का तारकमन्त्र बना। बस वह भी मौन रह गई और इस विषय में कभी किसी से कुछ कहा भी नहीं। यहाँ तक कि तातकाश्यप से भी नहीं। जैसे उनकी अनुपस्थिति में आश्रम में कुछ हुआ ही नहीं। हाँ, तातकाश्यप ने जब उससे कहा—

गौतमि ! आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय ।

तब उसने उनको पुकार लिया और जब तातकाश्यप ने उससे पूछा—

कथं वा गौतमी मन्यते ।

तब उसने भी कह दिया—

एतावान्वधूजनस्योपदेशः । जाते ! एतत् खलु सर्वमवधारय ।

बस, अपनी ओर से इतनी ही सीख मिली । हाँ, अपने आश्रम की मर्यादा का अवश्य उसे पूरा ध्यान है और नहीं चाहती कि किसी प्रकार आश्रम की किसी प्रथा का उल्लंघन हो । इसी से कभी कहती है—

जाते ! एष त आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।

और कभी समझाती है—

जाते ! ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनासि तपोवनदेवताभिः । प्रणम भगवतीः ।

इतना ही नहीं, तातकाश्यप के मुँह 'ययातेरिव शर्मिष्ठा' की मंगलकामना सुनती है तो वहीं कह देती है—

भगवन् ! वरः खल्वेषः । नाशीः ।

अर्थात् 'वर' की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता 'कुशल' की है । आशीर्वाद दीजिए वरदान तो हो गया ।

सचेष्ट—राजशाली में जब राजा दुष्यन्त की अवस्थिति की सूचना आँखों से मिली और शकुन्तला 'वामेतरनयन' के फड़कने से आकुल हो उठी तब गौतमी ने सान्त्वना की भाषा में कहा—

जाते ! प्रतिहतममंगलम् । सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु ।

और जब राजा ने किसी के कहने पर कुछ ध्यान नहीं दिया तब शकुन्तला से बड़े प्यार से बोली—

जाते ! मुहूर्त्तं मा लज्जस्व । अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम् । ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति ।

जब यह उपाय भी निष्फल गया और शकुन्तला को 'अभिज्ञान' के अभाव में 'हा धिक् ! हा धिक् !!' कह 'अंगुलीयक' के लिए विषाद करना पड़ा तब इस आर्या ने भी सहज भाव से कह दिया—

नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमंगुलीयकम् ।

बात सच्ची और सरलता से कही गई थी पर राजा के प्रस्त हृदय पर इसकी छाया उलटी पड़ी और उसे इसमें 'स्त्रैण' का सच्चा साक्षात्कार हुआ। उसकी हँसी तो घुम कर रह गई होगी। फिर भी गौतमी मौन रही। उसने राजा से कुछ भी न कहा। पर जब राजा ने शकुन्तला की गर्हणा की और कहा कि इस प्रकार की झूठी प्रिय बोलों से स्त्रियों के द्वारा विषयी लोग ही ठगे जाते हैं, तब उससे भी न रहा गया और उसने भी बड़ी नम्रता से निवेदन किया—

महाभाग ! नार्हस्येवं मन्त्रयितुम् । तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य ।

अन्त में जब कुछ भी वश न चला तब विवशता का कंठ फूटा और सबको सुनाई पड़ा—

किं वा मे पुत्रिका करोतु ।—

प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ।

सक्रिय—माता गौतमी की विवशता कलप कर रह गई पर किसी ने कान न दिया। अन्त में एक ज्योति ने इस 'पुत्रिका' का उद्धार किया। आर्या गौतमी को भी शकुन्तला के प्रसाधन की चिन्ता थी। वनस्पति लोग से जो वह दूर हुई तो माता गौतमी को आनन्द हुआ और 'तपोवनदेवता' के आशीर्वाद—

शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ।

से गद्गद हो शकुन्तला से कहा—

जाते ! ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनासि तपोवनदेवताभिः । प्रणम भगवतीः ।

परन्तु दुष्यन्त किंवा 'दुर्दैव' के सामने एक भी न चली और इस 'क्रिया' की गति भी इसके आगे न हुई। पर कौन नहीं जानता कि यदि गौतमी साथ न होती तो शकुन्तला की और ही गति होती ? क्या ? कौन और क्यों कहे ? अस्तु गौतमी है क्रिया।

उदय—धर्म और क्रिया जब पीछा दे आते हैं तब सत्त्व और सुकृत का हाथ खुलता है और जीव अपने किए का फल भोगता है। अतएव हम देखते हैं कि जब शकुन्तला का कोई न रह गया और उसकी सचाई की कसौटी 'भूत' नहीं 'भव्य' ठहरी तब वह स्वयं तो कुछ न कर सकी, पर उसके हृदय की पुकार उठी—

भगवति वसुधे ! देहि मे विवरम्।

पुकार ने दुर्दैव को दूर किया और देवप्रसाद किंवा जननी 'मेनका' की अनुकम्पा से वह गड़ी नहीं, ऊपर उठी और एक ज्योति के द्वारा 'प्रजापति' के आश्रम में पहुँच गई। वहीं उसके कर्मफल का उदय 'सर्वदमन' के रूप में हुआ। राजा दुष्यन्त फिर वहाँ पहुँचा पर किसी 'कृष्णसार' का पीछा करता हुआ नहीं, अपि तु प्रजापति के आश्रम में भगवान् मारीच का दर्शन करने के निमित्त असुरों का संहार कर नम्र भाव से अन्तरिक्ष में विचरता हुआ। उस आश्रम का प्रभाव दर्शनमात्र से यह पड़ा कि बरबस उसके मुख से निकल पड़ा—

स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।

चपल—इस 'निर्वृतिस्थान' में भी वृक्ष की छाया में ही उसे आश्रय मिला, किन्तु 'अशोकवृक्ष' की छाया में यहाँ उससे किसी ने नहीं कहा--'न खलु न खलु'। किन्तु 'मा खलु' की रट यहाँ भी कान में पड़ी। कहीं से सुना—

मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्।

राजा की समझ में कुछ न आया और विचार में पड़ गए—

अभूमिरियमविनयस्य। को नु खल्वेष निषिध्यते ?

और दृष्टि पड़ी तो विस्मय में गड़ गए। सहसा मुख से शब्द निकला—

अये ! को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः ?

दृढ़—जिस बालक ने अपने बल से इस प्रकार राजा दुष्यन्त को मोह लिया उसका हठ भी विचित्र था। उस पर धुन सवार थी दाँत गिनने की। सो भी सिंहशिशु के दाँत गिनने की। कोई कुछ भी कहे, वह मानने का नहीं। उसे

तो बस सिंहशिशु का दाँत गिनना ही है। वर्षों की बात नहीं, मन की मौज है। अस्तु—

जृम्भस्व सिंह ! दन्तांस्ते गणयिष्ये ।

कदाचित् किसी ने कभी सिंह की महिमा में कह दिया होगा कि सिंह का दाँत गिनना खेल नहीं या यों ही मन की तरंग होगी और अपनी भाँति ही सिंह के दाँतों को भी गिनने का विचार उठा होगा। बस, उसी पर आरूढ़ हो गया है और आश्रम की मर्यादा का ध्यान नहीं। 'विनय' और 'अविनय' का विचार नहीं। तपस्विनी कहा करे—

अविनीत ! किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि !

बालक कहने से नहीं रुकता। वह अपने मन का राजा होता है और विरोध से उसकी तत्परता बढ़ जाती है। फलतः—

हन्त ! वर्धते ते संरम्भः। स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि ।

'सर्वदमन' का नाम सार्थक सिद्ध हुआ और राजा के मन में कुछ और पकने लगी—

किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः। नूनमनपत्यता मां वत्सलयति ।

राजा के सामने तातकाश्यप के आश्रम में एक बाला थी और इस 'मारीचाश्रम' में एक बालक। मन के संकल्पविकल्प पर ध्यान दें तो 'प्रवृत्ति' का रहस्य खुले और 'निवृत्ति' का भी दर्शन हो जाय। दुष्यन्त अब निवृत्ति-भूमि में हैं।

अनुनय-विनय से काम चलते न देखकर दूसरों ने 'भय' की शरण ले कहा—

एषा खलु केसरिणी त्वां लंघयति यद्यस्याः पुत्रकं न मुंचसि ।

सर्वदमन भी सर्वदमन ठहरा। हँसकर बोल पड़ा—

अहो ! बलीयः खलु भीतोऽस्मि ।

तेजस्वी—राजा पर इस साहस का गहरा प्रभाव पड़ा और उसे विश्वास हो गया कि यह तेज कभी विश्व में फैलेगा। उसका मत है—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे ।
स्फुलिंगावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ॥१४॥७॥

उधर जब 'भय' निष्फल गया तब 'लोभ' का अस्त्र छोड़ा गया—

अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि ।

अपने राम को तो खेल चाहिए। दूसरा ही क्रीडनक भला । पर उधार नहीं । लाओ चटपट । लेने को हाथ फैला तो चक्रवर्ती का हाथ निकला । तो भी दुष्यन्त उधर नहीं लपका । हाँ, कुछ चिन्तामग्न अवश्य हुआ । तापसियों ने देख लिया कि सर्वदमन बातों में नहीं आने का । निदान 'वर्णचित्रित मृत्तिकामयूर' की सोची । बालक भी विनोदी ठहरा । कह उठा—

अनेनैव तावत्क्रीडिष्यामि ।

क्रीडा—'क्रीडा' के प्रति यही आग्रह दुष्यन्त का भी तो था ? बालक्रीडा नहीं कामक्रीडा के प्रति ! किन्तु थी वह भी क्रीडा ही । और यहाँ भी तो इसको देख कर उसके जी में यह स्पृहा उठी कि कहीं यह मेरा होता । सुनिए । उसी की लालसा बोलती है—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ॥
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ॥१७॥७॥

किन्तु यहाँ वह 'हाय' नहीं यहाँ भी गोहार लगी पर वह वंचना नहीं । तापसी ने प्रत्यक्ष राजा से प्रार्थना की—

भद्रमुख ! एहि तावत् । मोचयानेन दुर्मोक्हस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम् ।

राजा चाहते भी यही थे । सुनते ही इस 'दुर्ललित' की ओर बढ़े और झिड़क कर बोले—

अयि ! भो महर्षिपुत्र !
एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतस्त्वया ।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ॥१८॥७॥

वात्सल्य—बालक पर इस अनुपम पुरुष का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह विस्मित रह गया और तापसियाँ चिल्ला उठीं—

आश्चर्यमाश्चर्यम्।

राजा ने कारण पूछा तो उत्तर मिला—

अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरितिविस्मिताऽस्मि। अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति।

राजा को फिर वही 'वंश' की चिन्ता हुई। पहले 'मुनिकन्या' का प्रश्न था अब 'मुनिकुमार' का है। समाधान भी प्रायः वही पहले का है। तापसी 'अनसूया' की भाँति समझा कर कहती है—

यथा भद्रमुखो भणति। अप्सरःसम्बन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता।

दुष्यन्त को प्रमाण पर प्रमाण मिलते जा रहे हैं पर विश्वास नहीं होता; 'विकल्प' बना रहता है। सर्वदमन के कुल का तो पता चल गया पर पिता का बोध अभी नहीं हुआ। प्रमाण दुष्यन्त के पक्ष में हैं पर दूध का जला छाँछ को भी फूँक कर पीता है न? इसलिए दुष्यन्त भी उसके माता-पिता की खोज में लगे हैं और इसी तर्क-वितर्क में लीन हैं कि ऋषिकुमार का क्रीडनक 'वर्णचित्रित मृत्तिकामयूर' भी आ गया। तापसी ने अवसर देखकर कहा—

सर्वदमन! शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व।

'शकुन्तला' का नाम आया कि बालक का ध्यान माता की ओर मुड़ गया और तत्क्षण प्रश्न हुआ—

कुत्र वा मम माता?

किन्तु जब उसके सौंदर्य पर ध्यान गया तब फिर माता की सुधि न रही। और फिर उस रोचक मयूर में वैसे ही मग्न हुआ जैसे पहले सिंहशिशु में था। इधर तापसी ने देखा तो 'रक्षाकरण्डक' का पता नहीं। घबड़ा गई तो राजा दुष्यन्त ने उठा कर उसे दिखा दिया। फिर तो दोनों सखियाँ चकरा गईं। कारण का बोध होते ही दुष्यन्त खिल उठा और समझ गया कि हो न हो सर्वदमन उसी का आत्मज है। फिर क्या था, बालक का आलिंगन किया। उधर सर्वदमन को कुछ और ही सूझी। बोल पड़ा—

मुञ्च माम्। यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि।

दुष्यन्त का हृदय उमड़ पड़ा और दुलार से बोला—

पुत्रक ! मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि ।

भागधेय—बालक को 'पुत्रक' का प्रयोग खल सा गया और तन कर कहा—

मम खलु तातो दुष्यन्तः । न त्वम् ।

सर्वंदमन के इस विवाद से राजा का विश्वास दृढ़ हो गया और उन्हें 'आत्मज' का सुख मिला । सर्वंदमन जाने को उद्यत है और दुष्यन्त अपनाने को आतुर कि इसी अवसर पर शकुन्तला का पदार्पण हुआ । आने को आ तो गई पर पहला विश्वास कहाँ ? भाग्य का भरोसा कैसा ? राजा भी वह आनन्दी राजा नहीं, फिर पहिचान कैसी ? सोचा—

क एष इदानीं कृतरक्षामंगलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति ?

क्यों न सोचती ? 'गात्रसंसर्ग' का दोष सामान्य नहीं होता । उसका परिणाम जो देख चुकी है । हो, जो कुछ भी हो पर बालक को तो माताकी पड़ी है । फलतः पास पहुँचते ही पूछ ही तो दिया । पूछा क्या, अभियोग चलाया—

मातः ! एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिंगति ।

परन्तु आज माता किसी और ही ध्यान में लीन है । उसकी बात पर ध्यान ही नहीं देती और किसी अपरिचित से न जाने कैसा व्यवहार कर रही है । चकित हो, उच्च स्वर से पूछा—

मातः क एषः ?

उत्तर माता के पास इसके अतिरिक्त और क्या था—

वत्स ! ते भागधेयानि पृच्छ ।

बालक विस्मय में पड़ गया । 'भागधेय' को जानता तो अवश्य उससे भी पूछ लेता । परन्तु 'भागधेय' है कहाँ जो उससे पूछ देखे । तो फिर करे क्या ? माता का यह व्यवहार ! नहीं जी, उसको जानने का प्रश्न ही नहीं रहा । कारण ? कारण यह कि सर्वंदमन ने प्रत्यक्ष देख लिया कि यह विवादी आप ही उसकी माता के सामने झुक गया । क्षमायाचना हो गई । फिर और चाहिए क्या ? देखा यह पुरुष माता से स्वयं कह रहा है—

शकुन्तले ! अवलम्बतां पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि ।

कुलनन्दन—निदान शकुन्तला 'अभ्युदयकाल' में 'गुरुसमीप' गई पर अभिवादन किया पुत्र के साथ ही—

दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि ।

मारीच ने आशीर्वाद दिया—

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः ।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमी सदृशीभव ॥२८॥७॥

माता अदिति ने देखा, ऐश्वर्य का आशीर्वाद तो दूसरा नहीं रहा, पर शकुंतला की प्यास इससे अभी नहीं बुझी । सर्वदमन भी 'जयन्त' बनकर प्रसन्न न हुआ । निदान उसका आशीर्वाद हुआ—

जाते ! भर्तुर्बहुमता भव । अयं च दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु । उपविशत ।

'दीर्घायु' और 'उभयकुलनन्दन' से शकुन्तला को जो सुख मिला उसे 'जननी' ही जान सकती है । 'लतावलय' का 'परिभोग' अब किसे दुःख दे सकता है ? यह कलंक नहीं डिठौना है । इसको सचमुच हृदयंगम करना चाहते हों तो महर्षि मारीच की इस व्याख्या पर ध्यान दें और शकुन्तला, सर्वदमन तथा दुष्यन्त का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें । उनका निर्देश है—

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥२६॥७॥

भरत—'श्रद्धा', 'वित्त' और 'विधि' की यह त्रयी अभिज्ञानशाकुन्तल में कैसे व्यक्त हुई है, इसे आप 'तपोवन', 'हेमकूट' तथा 'हस्तिनापुर' में परिस्फुट देख सकते हैं । इस 'तपःसंसिद्धिक्षेत्र' में दुष्यन्त को सर्वदमन की प्राप्ति क्या हुई उसकी तीनों एषणाएँ पूरी हुईं । लोकैषणा, दारैषणा की पूर्ति तो पहले भी हो चुकी थी किन्तु पुत्रैषणा अभी तक शेष थी । सो सर्वदमन के उदय से पूरी हुई और उससे पहले का कल्मष भी धुल गया । मारीच ने दुष्यन्त से पूछा—

वत्स ! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः ।

'विधि' की आँख खुल चुकी थी। निदान नम्र निवेदन हुआ—

भगवन् ! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा।

किन्तु महर्षि का अनुष्ठान 'वंश' नहीं 'लोक' के लिए होता है। फलतः मंगल कामना हुई—

इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥३३॥७॥
भरत इति लोकभरणात्।

मेनका

'लोकभरण' के प्रसाद से 'सर्वदमन' को 'भरत' का नाम मिलेगा तो मिले पर कोई 'अदिति' उस 'मेनका' को क्यों भुला दे जिसकी कोख की कोख से किसी 'सर्वदमन' का उदय हुआ? परन्तु 'मेनका' ने इसके अतिरिक्त किया क्या जो इस शुभ अवसर पर उसकी भी सुधि ली जाय और तपोधन विश्वामित्र की भाँति उसे भी न भुला दिया जाय? निवेदन है, यही तो 'अभिज्ञान' का रहस्य है। इसको समझे बिना कवि की भारती का साक्षात्कार कैसा? फलतः निवेदन होता है इस शुभ मुहूर्त पर—

भगवन् ! अनया दुहितृमनोरथसंपत्त्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम्। दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति।

माता मेनका के साथ पिता विश्वामित्र का नाम न जगा। उनका तो बस एक बार उल्लेख भर कर दिया गया था कण्वाश्रम में। सो भी संकेतमात्र से 'कौशिक' रूप में। किन्तु उनके स्थान पर नाम चला तातकण्व का। 'उज्झिता' के प्रति उनकी यह ममता! उनके उदारशील का पता मेनका को था। फलतः उसने अपने डिंभ को उन्हीं की कृपा पर छोड़ दिया और किया यह कि जब उसकी सन्तान सन्तानवती होने को आकुल हुई तब उसका साथ दिया। तातकाश्यप का आश्रम छूटा तो माता मेनका का अंचल मिला। सुनिए तो सही, कहना मारीच का ही है। कहते हैं राजा दुष्यन्त से ही—

यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सह-धर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति ।

राजा के हृदय का काँटा तो निकल गया पर इससे अभी मेनका का शील कहाँ खिला ? फलतः आगे चलकर फिर स्पष्ट कहा गया—

दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति ।

मूल से ब्याज की ममता अधिक होती है न ! मेनका का प्यार शकुन्तला को भले ही न मिला हो, पर सर्वदमन तो उससे अभिषिक्त है न ? हाँ, शकुन्तला पर भी उसकी छाया सदा अवश्य है । अन्यथा 'सानुमती' यह कहती ही क्यों—

निवर्तितं मया पर्यायनिवर्तनीयमप्सरस्तीर्थसांनिध्यं यावत्साधुजनस्याभिषेककाल इति । सांप्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि । मेनका-सम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला । तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वाऽस्मि ।

सानुमती के इस कथन से प्रकट ही है कि 'नियमविघ्नकारिणी' मेनका भी वस्तुतः माता ही है और उसके मातृहृदय को खोल दिखाना ही कवि को इष्ट है। निश्चय ही हमें समझ रखना है कवि की उस कला को जिससे कोई 'नियमविघ्न-कारिणी' बन जाती है अपनी पद्धति पर चल कर 'दुहितृवत्सला' । कालिदास का यह वात्सल्य धन्य है जो मेनका को 'अप्सरा' से 'माता' बनाता और 'उर्वशी' को भी इसी घाट उतारता है । पाप का ऐसा पुण्य प्रताप जो आश्रम की कृपा से 'भरत' का कारण बन गया और जिसकी छाया में 'धीवर' भी चमक उठा ! तो 'धीवर' का 'मेनका' से नाता क्या ?

धीवर

जी ! धीवर आप ही तो कह जाता है--

अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः ।

और इस 'शक्रावताराभ्यन्तर' का इतिहास है 'अभिज्ञान' । तभी तो ठीक संकट के समय राजसभा में 'गौतमी' कहती है—

नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमंगुलीयकम् ।

बात तो पक्की कही गई थी किन्तु किसी कच्चे कान में उसे स्थान कहाँ ? उस समय तो उसका प्रभाव भी विपरीत ही रहा । परन्तु 'शचीतीर्थ' की आराधना व्यर्थ न गई । 'धीवर' के उद्योग से राजा को बोध हुआ और उससे भाग्य जगा 'शकुन्तला' के साथ ही सारे विश्व का । स्मरण रहे, यहाँ दुष्यन्त का नाम नहीं । यहाँ तो नाम है 'अभिज्ञान' का । 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में जो 'अभिज्ञान' है उसको जाने बिना किसी का कल्याण क्या ? स्मरण है न, किसी 'अप्सरातीर्थ' से ही किसी 'ज्योति' द्वारा किसी क्रन्दन करती हुई 'बाला' का लोप हुआ था ? तो फिर किसी 'शक्रावतार' के 'धीवर' से 'अभिज्ञान' का बोध हुआ तो इसमें आश्चर्य क्या ? वह तो मत्स्यबन्धन में निष्णात है न ! 'अप्सरा' का पानी से लगाव है तो धीवर का जलजन्तु से । निदान हम देखते हैं कि मत्स्य के पेट से इस 'अभिज्ञान' की उपलब्धि होती है और इसकी प्राप्ति से दुर्वासा के शाप का प्रभाव जाता रहता है, प्राणी अपने प्राण को पा जाता है । सचमुच इस धीवर को कालिदास ने बड़े ध्यान से देखा है और इसके 'आजीव' में जीवन का प्रकाश पाया है । इसके प्रति 'श्याल' के भाव में सहसा जो परिवर्तन हुआ है वह इसको विचलित करने में समर्थ नहीं । तभी तो किस भाव से फबती लेते हुए कहता है यह—

भट्टारक ! इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु ।

मारीच

'पान-फूल' के प्रेमी इस प्रस्ताव का चाहे जितना स्वागत करें पर है यह सर्वथा प्राणी के लिए विचारणीय ही । प्रतीत होता है कि राजकुल का एक यह भी प्रसाद है और इसकी भी शासन के साथ राजधानी की एक परम्परा है । स्थिति कुछ भी हो, सीधी सी सच्ची बात है यह कि कालिदास की दृष्टि में मानव का कल्याण-लोक बसा है किसी 'आश्रम' में ही । तातकाश्यप के तपोवन में कुछ अभाव था ऐसा जिसके कारण शकुन्तला को यह कष्ट सहना

और यह दिन देखना पड़ा, अन्यथा उसकी स्थिति होती कुछ और ही। स्पष्ट ही है कि वहाँ पर शासन चलता है एक उदार ब्रह्मचारी का जिसकी छाया में गृहस्थ की सच्ची अनुभूति नहीं। निदान कवि का विधान है एक ऐसे आश्रम का जिसके सम्बन्ध में स्वयं उसका निवेदन है राजा दुष्यन्त की भाषा में—

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।
यस्मिन्नात्मभवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ॥२७॥७॥

फलतः यहाँ की स्थिति भी है कुछ और ही। यहाँ 'मारीच' के साथ ही 'अदिति' का भी विधान है और है साथ ही उनका अधिकार भी। इसी से अन्त में उनको 'कण्व' की सुधि आती है और 'मेनका' भी स्मृति में बनी रहती है। हाँ, किसी को ध्यान नहीं है उस राजर्षि का जिसको शकुन्तला का जनक वा बाप कह सकते हैं। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र का 'गृहस्थ' से नाता? राजर्षि विश्वामित्र का वात्सल्य कैसा? हाँ, ब्रह्मनिष्ठ कण्व का आदेश अवश्य है अपनी लाडली शकुन्तला को—

मा स्म प्रतीपं गमः।

राजधानी

जी। भगवान् मारीच ने कहा था राजा दुष्यन्त से इन्द्र के रथ पर चढ़ कर अपनी राजधानी में प्रतिष्ठित होने को। पुत्र और पत्नी के साथ राजधानी में पहुँच कर उन्होंने क्या कुछ किया, इससे कवि का प्रयोजन नहीं। अभिज्ञान-शाकुन्तल में राजधानी को महत्त्व नहीं। उसका आभास भर कवि को इष्ट है। उसके जीव संयत और सतर्क तो हैं पर सुखी और प्रसन्न नहीं। प्रायः यही दशा 'विक्रमोर्वशीय' में भी राजधानी की है। हाँ, राज्याभिषेक का आनन्द अवश्य उसमें प्रकट होता है। किन्तु वहाँ भी कवि का ध्यान विशेषतः नायक पर ही टिका रह जाता है। इतर प्राणी तो प्रसंगवश प्रस्तुत हो जाते हैं। राजधानी

की कूटकला का दर्शन होता है कुछ विस्तार के साथ मालविकाग्निमित्र में ही। 'मालविका' तो मुग्ध बाला ठहरी। उसका कहना ही क्या? किन्तु उसके हेतु राजधानी में जो प्रपंच रचा जाता है वह जीव को कितना सजीव और सजग कर देता है यह कहने की बात नहीं। यहाँ की तो परिव्राजिका भी बोल उठती है—

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम् ॥१९॥५॥

इसमें सन्देह नहीं कि 'राजधानी' में आचरण सदा इसी का हुआ है। साध्वी 'धारणी' का तो कहना ही क्या? गर्विता 'इरावती' भी लोहा मान जाती है और 'अग्निमित्र' अपने छल में सफल होता है। परन्तु 'इरावती' और 'मालविका' में जो होड़ लगती है वह गुरुजनों की स्पर्धा से कुछ और ही रंग ला देती है। भला 'गणदास' को कभी कोई भूल सकता है? भाव यह कि यहाँ शुद्ध मानव का खेल है और फलतः संविधान है उसी की वासना का। इसी से कितना सफल और प्रगल्भ है यहाँ का विदूषक। 'मालविका' को लें चाहे 'अग्निमित्र' को लें, इनमें से कोई भी कर्मण्य नहीं। यहाँ 'प्रणय' की वह तत्परता नहीं जो 'विक्रमोर्वशीय' में है। इसी से 'मालविकाग्निमित्र' में पात्रों की प्रमुखता है। यदि प्राणी का अध्ययन अलग-अलग क्षेत्र में अलग-अलग दृष्टि से करना है तो इनके लिए 'मालविकाग्निमित्र' का अध्ययन अभीष्ट होगा। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में 'शील' का सौन्दर्य है तो 'विक्रमोर्वशीय' में 'भाव' की प्रवणता। हाँ, चरित्र की अनुपम छटा 'मालविकाग्निमित्र' में अवश्य है। यहाँ सभी कुछ मानव के हाथ में है, दैव के हाथ में कुछ नहीं। इसी से इसके सभी पात्र हमारे अधिक निकट हैं। न तो यहाँ कोई ऋषि है और न है यहाँ कोई मुनि। देव-दानव का भी यहाँ कोई उल्लेख नहीं। कहने को यहाँ नाममात्र की एक परिव्राजिका है जिसका उद्देश्य है किसी प्रणय को सफल करना कुछ जीवमात्र को सदुपदेश देना नहीं। भाव यह कि 'पात्र' के विचार से कालिदास ने इसी की रचना की है। इसके सभी पात्र सजीव और सचेष्ट हैं अन्तःपुर की लीला में, राजधानी की माया में। 'सेवादक्षता' ही यहाँ की कसौटी है कुछ मानवता का विकास नहीं।

विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः

सान्त्वना—शोकसन्तप्त मानव को सान्त्वना और श्रेय के लिए कदाचित् इससे बढ़कर उपदेश अबतक नहीं दिया गया कि—

> मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
> क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ।।८७।।८।।

किन्तु क्या मानव को इससे तोष मिला ? उत्तर में कवि का निवेदन है—

> तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः
> प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
> प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं
> लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ।।९३।।८।।

शोकसन्तप्त अज से ज्ञानी गुरु वसिष्ठ ने जो कुछ कहला भेजा उसका मर्म पाना कठिन नहीं। भाव उसका अत्यन्त सरल और उभरा हुआ है। किन्तु उसके उत्तर में अज ने जो कुछ किया उसको ठीक-ठीक समझ लेना कुछ कठिन अवश्य है। कवि का कथन है—

> स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
> तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ।।९१।।८।।

अज ने कहने को तो वसिष्ठ का उपदेश मान लिया, परन्तु जब घट के भीतर की बात आई तब पता चला कि वहाँ इसके लिए स्थान ही नहीं। भला शोक-भरे हृदय ने कभी किसी उपदेश का स्वागत किया है ? कह सकते हैं—नहीं। तो फिर वसिष्ठ के इस उपदेश का मोल क्या ? क्या ऋषि-वाणी का इतना महत्त्व है कि वह कान से सुनी भर जाय और उसपर कोई आचरण न किया जाय ? निवेदन है—जी नहीं। वसिष्ठ की वाणी व्यर्थ नहीं जाती। अज को 'लाभ' का संकेत मिला तो उन्होंने जीवन का मोल समझ लिया और किया यह कि लोक और परलोक दोनों सध गए। 'श्वास' का सच्चा 'लाभ' उठा लिया। देखिए न—

तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथंचिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥९२॥८॥

बस, क्षण भर में तो मनसाराम को तुष्ट कर लिया। कभी 'जागर' में मन आया तो प्रिया की 'प्रतिकृति' पर दृष्टि पड़ी और उसी में सर्वथा रम रहा। कभी आँख लगी तो 'स्वप्न' में उसका साक्षात्कार कर लिया। रहा उपभोग। सो उसका भी उपयोग समय पर होगा। कारण यह कि वसिष्ठ मुनि ने तो कहला दिया था न कि वस्तुतः इन्दुमती के निधन का रहस्य क्या है। देखिए न, उनका शिष्य किस भाव से अज से स्पष्ट कहता है—

असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम् ।
न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥७६॥
मयि तस्य सुवृत्त ! वर्तते लघुसंदेशपदा सरस्वती ।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार ! तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥७७॥
पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥७८॥८॥

सदुपदेश—क्यों ? अज से इतनी भूमिका बाँधकर कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? क्या अज वसिष्ठ की दिव्य शक्ति से अपरिचित थे ? नहीं जी। कारण वही अज को प्रकृतिस्थ करना था। शोकग्रस्त प्राणी को कुछ सुना देना सरल कब होता है कि शिष्य बिना कुछ कहे ही झट से झटपट मुनि का आदेश सुना दे ? फलतः उक्त भूमिका बँधी और सुनने को तत्पर पा निवेदन की जीभ जगी—

चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥७९॥
स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥८०॥८॥

कथा कुछ रोचक लगी। अतीत के इतिहास से भविष्य की आशा बँधी और वर्तमान कुछ खुलता हुआ गोचर हुआ। सुनने को कान खड़े हुए तो मुख से भेदभरी वाणी भी निकल पड़ी। अज ने सुना—

भगवन् ! परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवानासुरपुष्पदर्शनात् ॥८१॥८॥

का धर्म है। जीना तो बस किसी प्रकार हो भर जाता है। तो फिर 'प्रकृति' को छोड़कर 'विकृति' के लिए कलपा क्यों जाय? हाँ, ऐसी विषम परिस्थिति में क्षणभर जो जी रहे हो वही क्या कम है कि उसकी ऐसी उपेक्षा कर रहे हो? निदान निश्चय समझो कि—

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥८८॥८॥

बात सटीक कही गई है। विरोध किसी का क्या होगा? किन्तु 'स्थिरधी' होना सरल है क्या? न हो, तो भी इतना तो टाँकना ही होगा कि—

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥८९॥८॥

'विपश्चित्' समझ सकता है कि जब शरीर भी आत्मा का साथ नहीं देता तब किसी अन्य सम्बन्धी से आशा क्या? किन्तु कोई रागी ऐसी समझ कहाँ से लावे? न सही। किन्तु इतना तो उसे भी समझना ही होगा कि जीवन का प्राणी कोई और ही करतब दिखाता है। निदान प्रश्न होता है—

न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम! गन्तुमर्हसि।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥९०॥८॥

सच है। असमय पर ही तो किसी को सत्त्व का पता चलता है? तो फिर अज भी अपने 'सत्त्व' की रक्षा क्यों न करे और क्यों न अपनी मर्यादा पर दृढ़ रहे? फलतः किया भी उसने अपने सत्त्व का पालन। कारण—

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमार-
मादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः
प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥९४॥८॥

प्रायोपवेशन—राजा अज ने विधिवत् सारा काम कर लिया तो 'प्रायोपवेशन' का व्रत लिया और उसे भी सभी प्रकार से पूरा कर 'नन्दन' का वास लिया। 'विकृति' से मुक्त हो अपनी 'प्रकृति' में जा रमा। कवि किस उल्लास में कहता है—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥९५॥८॥

अज ने इस मरण-व्रत के लिए 'सरयू' और 'जह्नुकन्या' के संगम को ही क्यों चुना का समाधान पंडितप्रवर श्री मल्लिनाथ यह करते हैं—

यथाकथंचित्तीर्थेऽस्मिन्देहत्यागं करोति यः ।
तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयादीप्सितान्यपि ॥
इति स्कान्दे ।

हम उक्त प्रमाण का आदर करते हैं, परन्तु कह नहीं पाते कि सचमुच इसका कारण यही है। हमारा जी चाहता है कि इसमें कुछ और ही पढ़ लें। कारण यह कि 'प्रायोपवेशन' आत्मघात नहीं। हाँ, आत्मत्याग अवश्य है। उसका सच्चा अनुष्ठान कहीं भी हो, वह सदा पुण्य ही होगा।

संगम—तो भी इस तीर्थ को अनुष्ठान-भूमि बनाने का कारण कुछ तो रहा ही होगा। हमारी समझ में तो यहाँ अज सरयू के प्रतीक हैं और इन्दुमती हैं 'जह्नुकन्या'। सरयू को अज तथा जाह्नवी को इन्दुमती का प्रतीक मानने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि सरयू को जहाँ हम लौकिक जीवन से सम्बद्ध पाते हैं वहां गंगा को अलौकिक जीवन से बद्ध। वह सुरनदी जो है। इन्दुमती भी तो सुराङ्गना है न? फिर इस संगम में लौकिक और अलौकिक का योग क्यों न जगे? स्मरण रहे, गंगा-यमुना-संगम में यह गुण नहीं। राम का सीता से कितना स्फुट कथन है—

समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥५८॥१३॥

किन्तु अज को 'शरीरबन्ध' से मोह है न? अतएव साधना भी ऐसी सधी कि शरीर पहले से कहीं और अधिक शोभन प्राप्त हो गया और कवि ने भी उल्लास में आ आँक दिया—

पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ।

अतएव यह मुक्ति नहीं भुक्ति या संगति का क्षेत्र है। इसी से यहाँ यह अनुष्ठान भी। गंगा और सरयू का ध्यान ही कवि को कुछ ऐसे अवसर पर आता है जब वह विकृति के आनन्द में विभोर होता है। बनने की बात यहाँ भी है। राम-लक्ष्मण के दर्शन से माता कौशल्या और सुमित्रा की जो दशा हुई उसको व्यक्त करने के लिए 'गंगासरयू' के अतिरिक्त कवि के पास धरा ही क्या है? तभी तो किस आह्लाद में कहता है—

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥१॥
उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥२॥
आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।
गंगासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥३॥१४॥

सरयू—'शोक' को 'आनन्द' में परिणत करने का नाम है 'सरयू'। कारण कि स्वयं कवि का कथन है इसके विषय में यह—

ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥६०॥१३॥

फिर भला कोई कालिदास इस 'बुद्धि' की उपेक्षा क्यों करे और क्यों न इसे आराधना का अंग समझे? किन्तु नहीं। यहाँ कुछ विचारणीय भी है। और वह यह कि बुद्धि में अतिशय निमग्न होने का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता। कवि का ही कथन है कुश के प्रसंग में—

तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम् ।
आकाशगंगारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥७१॥
यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥७२॥
स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव ।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥७३॥१६॥

जैत्राभरण—'जैत्राभरण' की रक्षा अति विलास के कारण कुश से न हो सकी और वह निमग्न कुश के हाथ से खसक कर धीरे से किसी और के हाथ में पहुँच गया। फिर तो कुश की जो दशा हुई वह थी—

जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात्।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥७४॥
ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान्।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ॥७५॥
कृतः प्रयत्नो न च देव ! लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥७६॥
ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजंगनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥७७॥१६॥

फिर तो भुजंगराज ने अपनी अनुजा कुमुद्वती को भी 'जैत्राभरण' के साथ कुश को सौंप दिया और फिर दोनों में ऐसा सम्बन्ध जुटा कि सब की बन गई। कवि स्वयं कहता है—

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेया—
च्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥८८॥१६॥

राम को अगस्त्य से जो जैत्राभरण मिला था वही राम से राज्य के साथ कुश को मिला और वह इस प्रकार खो जाने पर भी कुश के काम आ गया। परन्तु फिर वह कहाँ गया, इसका हमें पता नहीं। हाँ, इतना हम अवश्य जानते हैं कि—

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥१॥
स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः।
अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥२॥१७॥

चेतना—कवि ने सरयू को 'बुद्धि' और उसमें निवासिनी कुमुद्वती को 'चेतना' कहकर क्या कुछ प्रगट किया ? कौन कहे ? स्नान में हार खोने का उल्लेख तो कबीर और जायसी भी करते हैं न ? अन्तर्ह्रदवासिनी 'कुमुद्वती' वा 'चेतना' के विषय में इतना और जान लें कि जहाँ उसका लाल 'उत्तर' और

'दक्षिणा' दोनों को पुनीत करता है वहीं वह स्वयं कुश के दिवंगत होने पर सती होती है। कवि की भाषा में—

स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान्।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥५॥
तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती।
अन्वगात्कुमुदानन्दं शशाङ्कमिव कौमुदी ॥६॥

फलतः होता है यह कि—

तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक्।
द्वितीयापि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥७।१७॥

मरण प्रकृति और जीवित विकृति का उपदेश कितना सटीक बैठा। इन्दुमती के लिए अज घुल-घुल कर मरा। वह पुरुष और शासक जो था। किन्तु कुमुद्वती का लोप कुश के साथ ही हो गया। वह नारी और सहगामिनी जो थी। परन्तु परिणाम दोनों का रहा प्रायः वही। वही सुरपुर-वास। नन्दन का आनन्द-भोग।

राम—किन्तु पुरुषोत्तम राम की स्थिति क्या रही? जीवित और मरण को उन्होंने क्या समझा? कवि कहता है—

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥९६॥
स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम्।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ॥९७॥
उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः।
अन्वितः पतिवात्सल्याद् गृहवर्जमयोध्यया ॥९८॥
जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः।
कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुभिः ९९॥
उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना।
चक्रे त्रिदिवनिःश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥१००॥१५॥

भक्तों पर कृपा कर भगवान् राम ने अपने अनुयायियों के हेतु जो सरयू को स्वर्ग की सीढ़ी बना दिया उसका कहना ही क्या! हाँ टाँकने की बात यहाँ केवल यह रह गई कि इस राम के साथ फिर सीता कहाँ! कवि का कहना है—

यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्संमर्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥१०१॥
स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु ।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥१०२॥
निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणां
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठम् ।
लंकानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥१०३॥१५॥

सीता—देखा न ? ध्यान से देख लीजिए । है कहीं इस सारी व्यवस्था में सीता को स्थान ? कहने को तो कवि ने कह दिया स्पष्ट ही थोड़े में राम के विषय में सभी कुछ; किन्तु उसमें है कहीं 'सीता' का संकेत भी ? लीजिए—

विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठम् ।

परन्तु सच तो कहें आपने इसका अर्थ समझ क्या लिया ? स्मरण है न ? कवि ने कहा था—

त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ।

अन्तर्धान—अच्छा तो यह 'स्वर्गान्तर' है क्या ? क्या यहाँ इन्द्र का राज्य नहीं ? भक्त कदाचित् इसी को 'वैकुण्ठ' कहता है और इसी को कहते हैं स्यात् 'साकेतवास' भी । किन्तु प्रश्न उठा था सीता का न ? देखिए । कवि का ही स्पष्ट कथन है, और है—

एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः ।
शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥८२॥
तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी ।
समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुंधरा ॥८३॥
सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् ।
मा मेतिव्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥८४॥१५॥

तो क्या यह सीता-हरण ऐसा हो गया कि फिर कभी राम उसको पा न सके ? निवेदन है—

धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः ।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥८५॥
ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् ।
रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥८६॥१५॥

अन्तर्वृत्ति—किन्तु यह तो तब रहा जब राम राजा रहे न ? इसके उपरान्त फिर 'विष्वक्सेन' ने सीता के लिए किया क्या ? उस सीता के लिए जिसने कभी कहा था किस अभिमान में किस किस को रुलाकर—

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥६५॥
साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥६६॥१४॥

जी। 'न च विप्रयोग' ही 'जीवित' की जान है। किन्तु क्या सीता का यह अनुष्ठान फिर कभी सफल हुआ ? हाँ, हम जानते इतना अवश्य हैं कि—

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥८७॥१४॥

और जब 'परित्यागदुःख' सुख में परिणत होने को हुआ तब यह भावना जगी—

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे ।
तथा विश्वंभरे देवि ! मामन्तर्धातुमर्हसि ॥८१॥१५॥

अवतार—क्यों ? यह लोक क्या अब रहने के योग्य नहीं ? अथवा इसका रहस्य ही कुछ और है ? सीता का यह अन्तर्धान क्यों ? राम तो शरीर त्यागकर 'सर्वलोक' में रम गए, परन्तु सीता का क्या हुआ ? प्रतीत होता है कि अभी 'सिया-राम-मय सब जग जानी' की प्रतिष्ठा नहीं और नहीं है अभी 'सीता-राम सीता-राम सीता-राम कहु रे' का उद्घोष भी। फिर भी इसी के आधार पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि कालिदास के समय में राम तो विष्णु के अवतार बन गए थे, पर सीता का महत्त्व अभी

नहीं बढ़ा था। कारण यह कि कालिदास की ही भाषा में हम पाते हैं कि 'पुरुष' 'प्रकृति' की प्रेरणा से ही कुछ कर पाता है अथवा यों कहिए कि पुरुष की क्रिया का नाम ही प्रकृति है। देखिए, कहते हैं ब्रह्मा से देवता लोग किस सन्ताप में 'तारक' से कष्ट पा—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥१३॥२॥

तो क्या 'कुमारसंभव' की इस वाणी की व्याप्ति अधिक नहीं? हमारी समझ में तो सीता का अन्तर्धान इसी का द्योतक है। सीता अपने मूल रूप की हो रहीं तो राम ही क्यों 'पृथिवी' को बसाने में लीन रहें। फलतः समय पाकर उन्होंने भी आकाश का मार्ग लिया। अपने पद में जा मिले। कवि ने राम-विवाह के अवसर पर किस उल्लास से कहा था—

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥४७॥
मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम्।
संनिधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥४८॥११॥

लक्ष्मी—जी। 'तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव' में कुछ कहा गया है जो अस्फुट रह गया है 'राघवाय' के कारण। पता नहीं कालिदास ने 'मैथिलः', 'राघवाय' तथा 'अयोनिजा' को दोहरा क्यों दिया है और क्यों नहीं कहीं खुलकर कह दिया कि 'सीता' लक्ष्मी ही हैं। हो सकता है कि अभी उनकी 'लक्ष्मी' के अवतार के रूप में प्रतिष्ठा न हुई हो। परन्तु कालिदास के मानस में इसका रूप था यह मानने को जी विवश हो जाता है। कारण यहाँ यह 'रूपिणी' जो है। 'रूपिणीं श्रियमिव' में कवि ने क्या कुछ कहा है, कौन कहे? परन्तु फिर भी इतना तो विदित ही है कि यहाँ 'एव' नहीं 'इव' है। यहीं नहीं। अन्यत्र भी स्थिति बहुत कुछ यही है। देखिए वन-यात्रा के प्रसंग में कवि लिखता है—

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥२६॥१२॥

और फिर राज-काज की दशा में भी यह कहना नहीं भूलता कि राम ने सीता

के साथ 'उपभोग' क्या किया कि मानो उत्सुक लक्ष्मी को ही परितृप्त किया। उसी की भाषा है—

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥२४॥१४॥

तो भी कहीं खुलकर कवि नहीं कह पाता कि वस्तुतः सीता 'लक्ष्मी' ही हैं। राम को 'विष्णु' कहने में उसे संकोच नहीं, पर सीता को 'लक्ष्मी' कहने में उसे यह संकोच क्यों? समाधान में सरलता से झट कहा जा सकता है कि अभी सीता को यह स्थान मिला कहाँ जो उसे 'लक्ष्मी' कह दिया जाय? ठीक है। हमारा इस समाधान से कोई विरोध नहीं, किन्तु हमारा अनुरोध यह अवश्य है कि कुछ और भी आगे की चिन्ता होनी चाहिए और देखना यह चाहिए कि वास्तव में 'लक्ष्मी' का स्वरूप क्या है। 'अयोनिजा' सीता और 'समुद्रजा' लक्ष्मी का सम्बन्ध क्या? और अच्छा होगा, कह लें 'स्थलजा' सीता और 'जलजा' लक्ष्मी का। पुराण की गुत्थी ठहरी। कवि को इसमें रस नहीं। उसको तो इतना और भी कहकर अपना आगे का काम देखना है। अस्तु उसका निवेदन है—

तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य।
वक्षस्यसंघट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥८६॥१४॥

प्रतिकृति—कहाँ तो हम 'सीता' को 'लक्ष्मी' का 'अवतार' समझना चाहते थे कहाँ हमें सामना करना पड़ा यहाँ इस 'सपत्नी' का। इसी से तो 'विकृति' को ही 'जीवित' कहा गया है! जी, परखना है अभी 'जीवित' को, 'प्रतिकृति' के महत्त्व को। सो कवि की वाणी ही में हम देख चुके हैं कि एक ओर जहाँ 'अज' को अपनी प्रिया की प्रतिकृति का दर्शन 'जीवित' रहने में सहायक होता है वहीं दूसरी ओर अपनी ही 'प्रतिकृति' का श्रवण सीता को दुःख-सागर से उबार लेता है। नर-नारी का जीवन में कितना लगाव है इस 'प्रतिकृति' से! प्रतिकृति की महिमा अपार है। यही तो बात है कि वियोगी 'प्रतिकृति' से जो प्राप्त करता है उसको थोड़ा-बहुत सभी जानते हैं। प्रिय के अभाव को भाव में परिणत करने का दूसरा साधन कहाँ? सबकी कौन कहे? हाँ, अपने मन में तो यह ठीक बैठता है कि वास्तव में यही 'प्रतिमा' का रहस्य है। कथन कालिदास का ही है। प्रसंग राम के पौत्र 'अतिथि' के राज्य का है। कहते हैं—

अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः ।
अनुदध्युरनुध्येयं सांनिध्यैः प्रतिमागतैः ॥३६॥१७॥

श्री—किन्तु क्या इन देवताओं में कहीं सीता-राम का भी युगल रूप है ? हो सकता है । परन्तु क्या साथ ही वह रूप है लक्ष्मी और विष्णु का भी ? कहा नहीं जा सकता । सीताराम की गृहलक्ष्मी तो अवश्य हैं पर राजलक्ष्मी कदापि नहीं । प्रतीत होता है कि लक्ष्मी को विष्णु का प्रेम तब मिला जब राजा विष्णु का रूप समझा गया । लक्ष्मी और भूमि में सपत्नी का व्यवहार है तो 'श्री' और 'सरस्वती' का नाता भी प्रायः वही है । धनार्थी परमार्थ को क्या जाने ? कदाचित् यही कारण है कि कालिदास को 'लक्ष्मी' के अवतार की आवश्यकता न पड़ी और कहीं सीता को खुलकर लक्ष्मी नहीं कहा । राम के रूप में विष्णु को जो कार्य करना था उसमें 'श्री' की आवश्यकता कहाँ जो उनको भी महत्त्व मिलता ? जीवन में 'लक्ष्मी' को जितना कम महत्त्व मिले उतना अच्छा । कारण यह कि कवि ने पहले ही उसकी प्रवृत्ति को खोल दिया है । देखिए न, किस भाव से वह कहता है—

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम् ।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥३६॥३॥

भूलना न होगा कि इसी चंचलता के कारण 'लक्ष्मी' की स्थिति है विष्णु के यहाँ प्रायः दासी की । कवि के इस कथन पर ध्यान तो दीजिए । इनका रहस्य आप ही खुल जाता है । वह कहता है—

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥८॥१०॥

निष्कर्ष—बस, है न इनका स्थान विष्णु भगवान् के चरण में ? 'क्षौमान्तरितमेखला' भी न भूले । नहीं तो शृंगार की भावना उभर आयेगी और आप उन्हें 'भूमिजा' का स्थान देने लगेंगे । देखेंगे इतना भी नहीं कि बाप के देश में इनकी यह स्थिति है । पीहर में बाला का यह सत्कार ? तभी तो विष्णु विश्व का पालन करते और लोकानुग्रह के विचार से मानव का शरीर धारण करते हैं ? अन्यथा लक्ष्मी के भोग से मुक्ति कहाँ ? रही 'सीता' की स्थिति, सो आप ही श्रीमुख की साखी है—

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्संगनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥३५॥१३॥

पाठक अब स्वयं देख सकते हैं कि 'सीता' का स्थान कहाँ और कहाँ स्थान है 'लक्ष्मी' का। फिर कवि सीता को लक्ष्मी का अवतार क्यों और कैसे कहे ? उसे तो 'लोकानुग्रह' का भाव जगाना है न ? हाँ, 'मूल प्रकृति' अथवा 'योगमाया' का प्रश्न कुछ और ही है। कवि को वह इष्ट नहीं। कारण उसे 'राम' को बताना है न, और बताना है उसे 'रघुवंश' को न ? निदान उसका कहना है—

निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥७२॥
तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वासिता इव ॥७३॥१०॥

व्यूह—'पुरुषोत्तम' के साथ 'चतुर्मूर्ति' का जो प्रयोग हुआ है उसको देखकर ध्यान कुछ 'व्यूह' की ओर जाता है और मन में विचार उठता है कि कहीं कवि ने इन्हें 'व्यूह' के रूप में तो नहीं दिखाया। कारण अन्यत्र भी वह स्पष्ट लिखता है—

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गवान् ॥८४॥१०॥

इतना ही नहीं, अपि तु और भी ध्यान देने की बात है कि 'कुश' भी कुछ और ही गोचर होते हैं। देखिए। कवि तथा कुमुद के कथन पर ध्यान दीजिए। जो है—

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥८१॥
अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥८२॥१६॥

राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की चतुर्मूर्ति के साथ 'कुश' को भी जोड़ लें तो वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध की समकक्षता आप ही आ जाती है अन्यथा 'साम्ब' और 'कुश' को छोड़ जाने पर भी स्थिति में कोई भेद नहीं आता। 'व्यूह' की दृष्टि से 'वंश' का यह महत्त्व विचारणीय है।

कालिदास को अधिक कुछ कहने का अवसर नहीं, पर 'अध्यात्मरामायण' में बताया गया है कि कौन किसका अवतार है। लीजिए वह सामने है यह—

> शृणु राजन्देवगुह्यं गोपनीयं प्रयत्नतः ।
> रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः ॥१२॥
> भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा ।
> स एव जातो भवने कौसल्यायां तवानघ ॥१३॥
> त्वं तु प्रजापतिः पूर्वं कश्यपो ब्रह्मणः सुतः ।
> कौसल्या चादितिर्देवमाता पूर्वं यशस्विनी ।
> भवन्तौ तप उग्रं वै तेपाथे बहुवत्सरम् ॥१४॥
> अग्राम्यविषयौ विष्णुपूजाध्यानैकतत्परौ ।
> तदा प्रसन्नो भगवान् वरदो भक्तवत्सलः ॥१५॥
> वृणीष्व वरमित्युक्ते त्वं मे पुत्रो भवामल ।
> इति त्वया याचितोऽसौ भगवान्भूतभावनः ॥१६॥
> तथेत्युक्त्वाद्यपुत्रस्ते जातो रामः स एव हि ।
> शेषस्तु लक्ष्मणो राजन् राममेवान्वपद्यत ॥१७॥
> जातौ भरतशत्रुघ्नौ शङ्खचक्रे गदाभृतः ।
> योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ॥१८॥४॥१॥

कालिदास ने इनमें से केवल राम को लिया और उन्हीं के साथ ले लिया उनके शेष तीन भाइयों को भी। सभी भाई चतुर्भुज के अवतार हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उनकी दृष्टि में कौन क्या है, यह कहना कठिन है। कदाचित् यही उनका भी मत सिद्ध हो। जो हो, कहना हमें यह था कि अभी युग था 'व्यूह' की उपासना अथवा 'चतुर्मूर्ति' की पूजा का। युगलमूर्ति की उपासना में अभी वह रस कहाँ जो इस वीरकाल को भाता था! 'शृंगार' अभी विलास था। अध्यात्म से अभी उसका नाता कहाँ? इसी से तो कालिदास शुद्ध शृंगार के रूप में हमारे सामने आते हैं कुछ 'गुह्य' शृंगार के रूप में कदापि नहीं?

परमात्मा—प्रश्न होता है, सब की नहीं सही, पर स्वयं राम को कवि ने क्या माना है। निरा 'विष्णु' वा परमात्मा भी? निवेदन है, उन्हीं कवि कालिदास की तो साखी है—

तदर्हसीमा वसतिं विसृज्य मामभ्युपेतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥२२॥१६॥

अस्तु । कालिदास की 'अधिदेवता' की इस साक्षी से सिद्ध ही है कि राम नित्य रूप में 'परमात्ममूर्ति' हैं, परमात्मा हैं । अन्यथा किसी कोरे विष्णु के लिए यह संभव कहाँ कि कवि उल्लास के साथ खुलकर लिख दे और परशुराम जैसे उद्भट वीर से दल के बीच में मुक्त कंठ से स्पष्ट कहला दे—

प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥८५॥
भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम् ।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥८६॥
तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरयोगलोलुपम् ॥८७॥११॥

ऋषि परशुराम के इस 'तत्त्वतः' निश्चय के प्रकाश में स्पष्ट किसे नहीं दिखाई देता कि वास्तव में राम हैं क्या जो कालिदास के राम को लेकर इतनी ऊहापोह हो रही है ? अन्ततः परशुराम जानना क्या चाहते थे और सब कुछ जान कर अन्त में उन्होंने कहा क्या ? यही न कि राम 'तत्त्वतः' पुरातन पुरुष हैं और फलतः जो चाहें कर सकने की क्षमता उनमें विद्यमान है ? जी । परशुराम भोग-लोलुप नहीं, स्वर्ग के भूखे नहीं । हाँ, प्यास उन्हें 'पुण्यतीर्थगमन' की अवश्य है । क्यों ? कारण 'लोकानुग्रह' के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? स्वयं ही कहते भी हैं—

राजसत्त्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥९०॥११॥

परात्पर—अतएव हमें तो यह कहने में संकोच नहीं होता कि वास्तव में कालिदास के यहाँ भी राम निरे 'विष्णु' नहीं प्रत्युत वह 'परमात्मा' वा सब कुछ हैं । देखिए न, कालिदास की दृष्टि में उस 'विष्णु' का रूप है क्या जिसने राम के रूप में सुर-कार्य किया है । सुनिए । उसकी 'स्तुति' में कहा जा रहा है—

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥१६॥

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥१७॥
अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः ।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥१८॥
हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् ।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥१९॥
सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥२०॥
सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् ।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥२१॥
चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः ।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥२२॥
अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥२३॥
अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ? ॥२४॥
शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः ।
पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥२५॥
बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थान सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥२६॥
त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये ॥२७॥
प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥२८॥
केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥२९॥
उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥३०॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥३१॥
महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः ।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥३२॥
इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम् ।
भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥३३॥१०॥

कवि के कथन का मर्म समझें । वह आप ही इसे 'भूतार्थव्याहृति' कह रहा है कुछ निरी 'स्तुति'मात्र नहीं जो आप इसे यों ही टाल दें । स्मरण रहे, उसने पहले भी कहा था—

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥१५॥१०॥

[रघुवंश]

'अवाङ्मनसगोचर' के अवतार राम को आप 'भगवान्' और 'परमात्मा' नहीं तो और क्या कहेंगे ? उनसे परे और है क्या जो आप उन्हें निरा 'विष्णु' का अवतार कहना चाहते हैं ? निश्चय ही कालिदास के समय में राम 'भक्त' के 'भगवान्' बन चुके थे । हाँ, सीता का प्रश्न अवश्य विचारणीय है । सो हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि अभी युगलमूर्ति की उपासना का समय नहीं । अतएव सीता को 'लक्ष्मी' वा 'योगमाया' बताने का कोई कारण नहीं ।

ब्रह्मा—'विष्णु' ही नहीं उन्हीं की भाँति शिव भी अपने भक्त के लिए परात्पर ही हैं । यहाँ तक कि ब्रह्मा की स्तुति में भी देवतागण कहते हैं, तारकासुर से व्यग्र हो—

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥४॥
यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज ! त्वया ।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥५॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥६॥

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥७॥
स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिंदिवस्य ते ।
यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥८॥
जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥९॥
आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ॥१०॥
द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥११॥
उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् ।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम् ॥१२॥
त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥१३॥
त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता ।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥१४॥
त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः ।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ॥१५॥२॥

[कुमारसंभव]

'रघुवंश' की उक्त 'स्तुति' की भाँति ही कवि इसे भी 'यथार्थ' बताता है और अपने आप ही लिख जाता है बड़े भाव से—

इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्था हृदयंगमाः ।
प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः ॥१६॥२॥

शिव—किन्तु इसी 'वेधा' के मुँह से हम समाधान में सुनते हैं कि यह तो किसी और 'देव' का कार्य है। उसके अतिरिक्त यह और किसी के वश का कार्य नहीं जो उससे तारकासुर का वध हो। कारण यह कि—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम् ॥५५॥

वृतं तेनेदमेव प्राङ्मया चास्मै प्रतिश्रुतम् ।
वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः ॥५६॥
संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः ।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥५७॥
स हि देवः परं ज्योतिस्तमःपारे व्यवस्थितम् ।
परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया न च विष्णुना ॥५८॥२॥

अभी अभी ब्रह्मा ने 'शिव' के विषय में जो कुछ कहा है उसी के स्पष्टीकरण में इतना और भी जान लें कि सप्तर्षियों के कथनानुसार भी वह परात्पर शिव का रूप है। देखिए न किस आह्लाद में क्या कहा जा रहा है! यही न—

या नः प्रीतिर्विरूपाक्ष ! त्वदनुध्यानसंभवा ।
सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥२१॥
साक्षाद्दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा ।
प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि वर्तसे ॥२२॥
किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत् ।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते २३॥६॥

त्रिमूर्त्ति—'कुमारसंभव' की इस जिज्ञासा का समाधान कोई कुछ भी करे, किन्तु सदा के लिए टाँकने की बात है कि वास्तव में इस त्रिमूर्त्ति का रहस्य है समय पर इनमें से किसी का भी परात्पर हो जाना। इसी से स्पष्ट कहा भी गया है—

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥४४॥७॥

अतएव भक्त की अभिरुचि के अनुकूल इनमें से कोई भी 'भगवान्' क्या परात्पर बन जाता है। हाँ, ऐसा कुछ प्रगट अवश्य होता है कि अवतार के रूप में चर्चा विष्णु की ही विशेष है। ब्रह्मा को लेकर कोई मत वैसा कहाँ चला जैसा 'शिव' और 'विष्णु' को लेकर। कारण का पता कदाचित् ब्रह्मा के इस कथन से ही हो जाता है—

तद् ब्रूत वत्साः ! किमितः प्रार्थयध्वं समागताः ।
मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता ॥२८॥२॥

उपास्य—विचारने की बात है कि बाबा जी जब कुछ 'सृष्टि' के अतिरिक्त कर ही नहीं सकते तब फिर उनकी उपासना क्यों की जाय ? उनकी पूजा में लाभ क्या ? निदान इनके मन्दिर का देश में इतना अभाव है। फलतः विवाह के अवसर पर स्वयं शिव ने भी शिर हिलाकर ही उनका स्वागत किया। स्वयं कवि का कथन है—

> कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन ।
> आलोकमात्रेण सुरानशेषान्संभावयामास यथाप्रधानम् ॥४६॥

अथवा और भी प्रकट रूप में—

> तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः ।
> क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश ॥७०॥७॥

अस्तु, 'कमलासन' किंवा ब्रह्मा के प्रति हमारा आदर-भाव चाहे जितना हो पर हाथ में हाथ मिलाकर परस्पर घुलते-मिलते पाते हैं हम शिव और विष्णु को ही। फिर भी लोग न जाने क्यों 'शैव' और 'वैष्णव' बनते ही न जाने कहाँ की स्पर्धा बीच में खड़ी कर देते हैं और एक को दूसरे से बढ़ाने में न जाने क्यों अपूर्व रस लेने लगते हैं। जो हो, ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि कालिदास के यहाँ कोई ऐसी बात नहीं। उनकी तो स्पष्ट घोषणा है कि जैसे हो तैसे सब उसी को उपासना में लीन हैं। सभी अपने अपने ढंग से उसी की पूजा कर सिद्धि प्राप्त करते हैं फिर परस्पर विवाद और कलह क्यों ? अतएव आप उपासना चाहे जिस रूप की करें, पर कृपया भूल न जायँ कि इस 'कविकुलगुरु' का उद्घोष है—

> बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
> त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥२६॥१०॥

व्यवस्था—बस यही भावना सदा आप की भी बनी रहे और आप भी समझ लें कि वास्तव में 'त्रिमूर्ति' की व्यवस्था क्या है और किस प्रकार इनमें से प्रत्येक अपना कार्य अपनी मर्यादा के भीतर रह कर किया करता वा करता रहता है। वस्तुतः परमार्थतः इनमें से कोई भी सब कुछ कर सकता है, परन्तु व्यवहारतः भूतार्थ में वह करता उतना ही है जितना करने को उसे वह रूप मिला है। इसी से तो प्रजापति ने देवताओं से स्पष्ट कह दिया था कि मारना

मेरा काम नहीं। इसके लिए 'शिव' की शरण लो। और विष्णु ने भी इसी से उनसे कहा था कि अच्छा 'धाता' ने तो 'तप' से रीझकर उसे वर दे दिया पर लोक की रक्षा का उपाय करना मेरा काम है। फलतः मैं उसका विनाश करूँगा। देखिए न—

> धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः।
> दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः ॥४३॥१०॥
>
> [रघुवंश]

भगवान्—बात है भी ऐसी ही, 'राक्षस' मद में आकर 'मर्त्य' को समझता क्या है? 'विज्ञान' में 'तप' की कमी नहीं। अभाव उसमें हृदय का है न? इसी से तो मानव आज इतना त्रस्त है? परन्तु आश्वासन है इसी से 'मर्त्य' को भगवान् का—

> सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम्।
> करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम् ॥४४॥१०॥

हाँ, निश्चय ही यह 'अहं' है 'भगवान्'। कारण यह कि स्वयं कवि का ही वचन है—

> अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना।
> स्वरेणोवाच भगवान् परिभूतार्णवध्वनिः ॥३५॥१०॥
>
> [रघुवंश]

और उधर 'शिव' की भी स्थिति तो प्रायः यही है न—

> सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः।
> अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रतियाचितः ॥२७॥६॥
>
> [कुमारसंभव]

जी। यहाँ भी कवि-वचन है—

> अथ मौलिगतस्येन्दोर्विशदैर्दशनांशुभिः।
> उपचिन्वन्प्रभां तन्वीं प्रत्याह परमेश्वरः ॥२५॥६॥

अस्तु। निवेदन इतना भर करना था कि 'त्रिमूर्त्ति' की व्यवस्था में व्यतिक्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं। विशेष विप्लव का शमन विशेष परिस्थिति में

उस विशेष पुरुष से होता है जिसे परात्पर वा भगवान् कहते हैं। परमात्मा और परमेश्वर भी उसी को कहते हैं। उसकी ओर से ही विशेष परिस्थिति में कुछ होता है, कुछ उसकी 'त्रिमूर्त्ति' की ओर से नहीं। अतः राम को भगवान् अथवा 'भगवान्' को 'राम' समझने में भूल नहीं। शिव को परात्पर समझने में चूक नहीं। हाँ, एक विचार-परम्परा का पालन अवश्य है।

मर्यादा—हाँ, कहते, कालिदास के स्वयं भोलानाथ कहते हैं आप ही बड़े चाव से, सप्तर्षियों से—

> विदितं वो यथा स्वार्थो न मे काश्चित्प्रवृत्तयः।
> ननु मूर्त्तिभिरष्टाभिरित्थंभूतोऽस्मि सूचितः ॥२६॥६॥

यह तो रहा सामान्य स्थिति। परन्तु किया क्या जाय? देवतागण संकट में घिर गया है। यहाँ तक विषम परिस्थिति हो गई है कि किसी से कुछ कहते नहीं बनता। सच्चे सेनानी के अभाव में पराजय पर पराजय! यातना पर यातना!! कारण यह कि अचानक 'उपद्रव' जो हो गया है—

> भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः।
> उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥३२॥२॥

विधाता से असुर को 'वर' मिला तो उसके शमन के लिए विधाता से 'सुर' को कुछ और मिलना चाहिए न? किन्तु पिछड़े को कुछ भोगना पड़ता ही है। स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई कि 'हरि' से भी कुछ न हो सका। निदान बृहस्पति को सब की ओर से कलप कर कहना पड़ा—

> जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा।
> हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम् ॥४६॥२॥

प्रताप इसे कहते हैं कि 'हरि' जैसे वीर का प्रहार भूषण बन जाता है। यह वरदान का बल जो है। कोई 'विष्णु' करे क्या? किसी 'रुद्र' की हुंकार क्या? विधाता ने तो उसे ऐसा वर दिया कि किसी देवता से उसका कुछ होने से रहा। उसके निधन का तो उपाय है 'नीललोहित' के पास। लीजिए, स्वयं विधाता की वाणी है—

> संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः।
> अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥५७॥२॥

विनाश तो 'नीललोहित' के वीर्य से होगा। ब्रह्मा और विष्णु तो कुछ कर सकने से रहे। अब तो 'महेश' को सिद्ध करना है। सो सप्तर्षियों को आदेश है—

अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने।
उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम् ॥२८॥
तामस्मदर्थं युष्माभिर्याचितव्यो हिमालयः।
विक्रियायै न कल्पन्ते संबन्धाः सदनुष्ठिताः ॥२९॥६॥

इतना ही नहीं। भोले बाबा को सत्क्रिया का इतना ध्यान कि आर्या अरुन्धती को न भूले और मुँह खोलकर कह ही तो दिया—

आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति।
प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता ॥३२॥६॥

सप्तर्षियों की कृपा से 'व्यापार' सधा तो शंकर की भूषा भी कुछ और ही हो गई और शोभा की ऐसी धुन लगी कि खड्ग में अपना रूप देखा। देखिये न कैसा नेपथ्य है—

इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात्प्रसिद्धनेपथ्यविधेर्विधाता।
आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्तप्रतिमं ददर्श ॥३६॥६॥

लोकाचार सभी किया पर लौकिक बने कभी नहीं। सदा 'अद्भुत' जो ठहरे। विवाह के उपरान्त आशीर्वाद का समय आया तो स्वयं विधाता भी चक्कर में पड़ गये कि इस अद्भुत वर को आशीर्वाद क्या दें—

वधूर्विधात्रा प्रतिनन्द्यते स्म कल्याणि ! वीरप्रसवा भवेति।
वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्तौ त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव ॥८७॥७॥

अष्टमूर्ति—मुसकरा देने से प्रायः विपदा टल जाती है। परन्तु विधाता की मुसकराहट का रहस्य कुछ और भी है। इसी 'वीरप्रसव' के निमित्त तो इतना कुछ हुआ है ! फिर 'अष्टमूर्ति' की कामना सफल क्यों नहीं ?

कालिदास को 'अष्टमूर्ति' से इतना अनुराग है कि जैसे इसी उच्चारण में सर्वस्व धरा हो। कवि के रूप में ही नहीं साधक के रूप में भी कविगुरु इसी में मग्न दिखाई देते हैं। उनका उल्लास है—

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।

अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥१॥१॥

[मालविकाग्निमित्र]

'सन्मार्ग' की प्राप्ति जिस रूप से हो सकती है उसमें विरोध का निवास नहीं तो और क्या हो? विरोध संसार से मिट नहीं सकता। हाँ, आश्रम में रह कर सामंजस्य के साथ वह अपना कौतुक सबको अवश्य दिखा सकता है। 'अष्टमूर्ति' उसी का प्रतीक है। उसकी शक्ति तो देखिए। कितना व्यापक और विराट् है यह रूप! कवि कहता है—

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥१॥१॥

[विक्रमोर्वशीय]

है तो ठीक ही। बड़ों की बात है। टाल कौन सकता है? किन्तु इस 'एकपुरुष', 'ईश्वर' अथवा 'स्थाणु' का रूप कहीं गोचर भी तो हो जो उसे देखकर किसी 'सन्मार्ग' को पकड़ा जाय? कवि भी इसी से तो फिर 'नान्दी' में निवेदन करता है—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥१॥१॥

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

जी। नाम नहीं काम देखें। देखें तो सही कि चारों ओर प्रत्यक्ष दिखाई क्या दे रहा है! पंचतत्त्व किस व्यापार में और क्यों लगे हैं? क्या आपका भी उससे कुछ नाता है। यदि हाँ तो अपने कर्तव्य के पालन में इतना प्रमाद क्यों? यदि नहीं तो आप की सत्ता कैसी? देखते नहीं 'सूर्य' और साथ ही 'चन्द्रमा' को। दोनों का एकत्र दर्शन कहाँ? एक का उत्कर्ष ही दूसरे का अपकर्ष है। परन्तु आप के लिए दोनों हैं एक ही। आपका सारा काल-बोध इन्हीं पर अवलम्बित है।

यजमान—सब कुछ तो हुआ, किन्तु जो अभी तक प्रत्यक्ष न हो सका वह है 'मानव' के रूप में उसका दर्शन। आप ने उसे देख तो लिया आग-पानी के साथ ही, पर प्रतीत होता है कि अभी आप ने उसे अपनों में ही नहीं पहिचाना। सो निश्चय ही वह 'होता', 'यजमान' अथवा लोकानुग्रही के रूप में कभी कहीं भी देखा जा सकता है। 'यजमान' की बात यदि न रुचे तो अपने आप को ही ले लेना चाहिए। कारण यह कि टीकाकार श्री अभिराम ने अपनी 'दिङ्मात्रदर्शना' व्याख्या में लिखा है—

प्रत्यक्षाभिः अक्षमिन्द्रियं प्रति वर्तमानाभिः स्थूलमतिभिरपि संवेद्याभिः; यदुक्तं वायवीये—

> भूमिरापोऽनलो वायुरात्मा व्योम रविः शशी।
> इत्यष्टौ सर्वलोकानां प्रत्यक्षा हरमूर्तयः॥ इति॥

जिससे सिद्ध ही है कि 'आत्मा' भी वस्तुतः 'हरमूर्त्ति' ही है। स्मरण रहे, इसके पहले भी आप ने स्पष्ट किया है—

तत्रायं क्रमः। 'आपोऽग्निर्यजमानोऽर्कसोमौ व्योम मही मरुत्' इति। वहति पितृदेवार्थं धारयति; यदुक्तं भारतेऽग्निना—

देवाश्चपितरोऽश्नन्ति जुहुते मयि यत्सदा॥ इति॥

होत्री होमकर्तृभूता;

> दीक्षितं ब्राह्मणं प्राहुरात्मानं च मुनीश्वर।
> यजमानाह्वया मूर्त्तिः शिवस्य शिवदायिनः॥ इति लैङ्गे॥

अतएव आज समझने की आवश्यकता है इस 'मूर्त्ति' को। स्मरण रहे, 'अष्टमूर्त्ति' में से 'सात' मूर्त्तियाँ तो ऐसी हैं जिनपर आप का अधिकार नहीं। हाँ, चाहें तो ईश-कृपा से किसी 'रावण' वा 'तारकासुर' की भाँति इन पर अधिकार जमा अपनी मनमानी कर सकते हैं। 'विज्ञान' के प्रताप से आज कुछ हो भी प्रायः ऐसा ही रहा है। किन्तु इसी 'अष्टमूर्त्ति' में एक ऐसी भी 'शिवमूर्त्ति' है जिससे आज भी विश्व कुछ कल्याण की सोच रहा है और उसी के हाथ में लोक-मंगल का विधान देखता है। कालिदास की भाषा में हम उसके प्रतीक को 'कण्व' वा 'वसिष्ठ' कह सकते हैं। सामान्यतः उसी का नाम तो 'होता' वा यजमान है।

आज आवश्यकता है इस 'नान्दी' को विश्व के रंगमंच पर उतारने तथा लोक में घटाने की। जीवन के नाटक से बढ़ कर दूसरा कोई नाटक कहाँ जो उसमें इसका शुभ पाठ न किया जाय ? अरे ! यह इस शुभ पाठ ही का तो परिणाम है कि तातकाश्यप को सन्तोष होता है यह देख कर कि—

दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।

निदान प्रस्ताव है इस 'यजमान' को पहिचानने का। कालिदास की 'अष्टमूर्त्ति'-साधना ही तो उनकी कविता की जान है ? निश्चय ही उनकी रचना का लक्ष्य है सबको इस 'मूर्त्ति' में रमाकर सबको 'यजमान' बना देना। इसी से उनका कहना है इस 'अष्टमूर्त्ति' के विषय में भी—

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥५७॥१॥

[कुमारसंभव]

इन्द्र—स्वयं 'अष्टमूर्त्ति' शिव को 'तप' करने की आवश्यकता क्यों पड़ी और क्यों सुरराज इन्द्र को उसके विघ्न की सूझी आदि प्रश्नों को लेकर उलझने से लाभ क्या ? इन्द्र की योजना है कि शिव के आत्मज से असुर का विनाश हो। अभ्यास और बल है ऐसी परिस्थिति में अप्सरा से काम लेने तथा कामदेव को सहेज देने का। सौभाग्य से यहाँ अप्सरा से कहीं बढ़कर सौन्दर्य सामने है, और ऐसी कामिनी के रूप में सामने है कि जिसके बिना असुर-संहार की कल्पना नहीं। निदान उनका निश्चय है बस समय पर 'काम' को वहाँ जुटा देना। उस काम को जुटा देना जिसका दृढ़ अभिमान है कि मैं अपने सामने किसी भी पुरुषार्थी को टिकने न दूँगा। तभी तो इन्द्र से ललक कर कहता भी है—

आज्ञापय ज्ञातविशेष ! पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति।
अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितमाज्ञया ते ॥३॥
केनाभ्यसूया पदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः।
यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्यास्य निदेशवर्ती ॥४॥
असंमतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः।
बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः ॥५॥

अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते ।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः ॥६॥
कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ॥७॥
कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधूतः ।
यस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम् ॥८॥
प्रसीद विश्राम्यतु वीर ! वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
बिभेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताधराभ्यः ॥९॥
तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥१०॥३॥

काम—'काम' के इस अभिमान में काम की बात है 'सहायमेकं मधुमेव ।' 'मधु' के बिना काम का प्रसार कैसा ? मधु की सहायता हो गई तो फिर काम के सामने कोई पुरुषार्थ क्या ? किन्तु विचारने की बात है कि किसी 'असुर' के सामने किसी सुर के इस मित्र वीर का कोई उपयोग नहीं । वहाँ तो इनका राज्य ही ठहरा । फिर भला 'तारकासुर' के वध में इनका सहयोग क्या ? वहाँ तो नित्य इनका सत्कार है न ? हाँ और आवश्यकता भी इसी से इनकी तब पड़ती है जब वज्र किसी तप के कारण बोल जाता है । तभी तो इन्द्र का निवेदन भी है—

सर्वं सखे ! त्वय्युपपन्नमेतदुभे ममास्त्रे कुलिशं भवांश्च ।
वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ॥१२॥३॥

ठीक ही तो है । तप से जिस नये बल की प्राप्ति होती है उसके शमन की शक्ति किसी पुराने शस्त्र में कहाँ ? फलतः तारकासुर के वध के लिए इन्द्र को भी नया उपाय रचना पड़ा और महादेव के आखेट की सूझी । सुरपति का उपाय ठहरा । अभ्यास के अनुरूप बना यह कि—

गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम् ।
अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतं मया मत्प्रणिधिः स वर्गः ॥१७॥

प्रतीत होता है कि सुरराज ने शिव की टोह में ब्रह्मा जी के यहाँ से आकर अपना 'गूढचर' छोड़ दिया था । देखिए न, भेदिया के रूप में यह वर्ग कितना

पुराना है ! जो हो, सुरराज का सुझाव देखने ही योग्य है। ध्यान से सुनें, किस भाषा में कहते क्या हैं—

> तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव ।
> अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥१८॥
> तस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृती त्वम् ।
> अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥१९॥
> सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
> चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो ! बतासि स्पृहणीयवीर्यः ॥२०॥३॥

तप—इन्द्र का वह बढ़ावा और महिमा का यह उपाय काम का विनाशक बना। भला 'अष्टमूर्त्ति' को यह मधुर विप्लव भा सकता है ? तप का देवता जाल से नहीं वश में आता। इन्द्रजाल की यहाँ नहीं चलती। फलतः हुआ 'काम' का विनाश। काम 'मधु' की सहायता से जो न कर सका उसे कर लिया सरलता से 'पार्वती' ने। और टाँक दिया उल्लास में आकर भारत-हृदय कवि कालिदास ने—

> अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि ! तवास्मि दासः
> क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
> अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
> क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥८६॥४॥

किन्तु 'नवता' के प्रेमी आज 'क्लेश' को चाहते कब हैं ? उनको तो बहुत कुछ इन्द्र ही सी सूझती है और करते भी प्रायः 'काम' की सी हैं। परन्तु 'तप' का प्रभाव तो देखिए कि फिर शिव को उसी काम को सजीव करना पड़ा। देवता लोग भी समझ गये कि किस ढब से काम निकलता है। समय की प्रार्थना सफल होती है। फलतः कामदेव को फिर रूप मिला। कवि ने कह भी दिया स्पष्ट भाषा में—

> तस्यानुमेने भगवान्विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम् ।
> कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥९३॥७॥

संध्या—'काम' को जीवन-दान मिला तो काम भी उससे पूरा लिया गया और उसके उद्दीपन में कुछ छोड़ा न गया। शिव के सन्ध्यावन्दन से पार्वती

कुछ छनक उठीं तो 'शिव' ने उनका समाधान भी किया और उनकी रति को सफल बनाने के लिए कहा—

एष चारुमुखि ! योग्यतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी ।
साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः ॥७३॥
पाकभिन्नशरकाण्डगौरयोरुल्लसत्प्रकृतिजप्रसादयोः ।
रोहतीव तव गण्डलेखयोश्चन्द्रबिम्बनिहिताक्षि चन्द्रिका ॥ ७४॥
लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रती स्वयम् ।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥७५॥
आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः ।
अत्र लब्धवसतिर्गुणान्तरं किं विलासिनि ! मदः करिष्यति ॥७६॥
मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम् ।
इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥७७॥
पार्वती तदुपयोगसंभवां विक्रियामपि सतां मनोहराम् ।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ॥७८॥८॥

[कुमारसंभव]

सहकारता—'जीवित' को जो विकृति कहा गया है उसका मर्म है किसी 'आम्रता' में 'सहकारता' उत्पन्न कर देना । मानव की मानवता इसी में है । प्रकृति में जो विकृति अपने आप होती रहती है उसके रहस्य को समझ कर उसे अपने अनुरूप बना लेना मानव का कार्य है । शोभा को शोभन बनाये बिना उसका काम नहीं चल सकता । भोग से उसका जी नहीं भरता । नहीं, वह तो भोग्य को अपनाना और चमकाना भी चाहता है । निदान उसके 'जीवित' में साधन और प्रसाधन का इतना महत्त्व है । फिर भला मधुमय जीवन में 'मधु' की उपेक्षा कैसी ? समय पर उसका भी संयत सेवन क्यों नहीं ? 'मद' का महत्त्व भी 'जीवित' के लिए कम नहीं । हाँ, उसे 'मदिरा' बना देना ठीक नहीं । फिर तो वह यज्ञ का आह्लाद नहीं और चाहे जो हो । 'अग्निवर्ण' का व्यसन तो देखिए—

घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥११॥

सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः ।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपि बद्धकुलतुल्यदोहदः ॥१२॥१६॥

[रघुवंश]

भाव यह कि किसी भी वस्तु के सेवन में अति से बचना और जीवन में 'युक्ताहारविहार' की मर्यादा को स्थापित करना ही 'जीवित' को कल्याणमय बनाना है । अन्यथा मानव का हित कहाँ ? इसके अभाव में वह तो दानव बन गया न ? फिर किसी 'होता' वा 'यजमान' से उसका अनुराग क्या ? उसका तो तप भी जग-विनाश का कारण बना । आज जो हम जन-जीवन में गली-गली और घर-घर 'जय हो जजमान' का घोष सुनते और ब्राह्मण से लेकर भंगी तक 'जजमानी' का प्रसार पाते हैं उसका रहस्य है 'शिव' का यही 'यजमान' रूप । अष्टमूर्त्ति की यही तो वह मूर्त्ति है जिसमें 'जीवित' का समस्त मंगल निहित है ?

यजमानलोक—कदाचित् यही कारण है कि कवि कालिदास ने 'यजमानलोक' का निर्देश भी स्पष्ट कर दिया है । 'क्षेमधन्वा' की सद्गति के विषय में लिखते हैं कि वह यज्ञ कर 'यजमानलोक' को गया । उसका पूरा प्रसंग ही ध्यान देने के योग्य है । कवि का कथन है—

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार ॥६॥
अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥१०॥
पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्बभूव ॥११॥
पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम् ॥१२॥१८॥

[रघुवंश]

वर्णाश्रम—सामान्य दृष्टि से तो इसमें कोई विशेष बात नहीं दिखाई देती, किन्तु ध्यान देकर देखने पर अवगत होता है कि इसमें 'यज्वा' और 'यजमानलोक' के साथ ही जो 'वर्णचतुष्टय' और 'क्षेम' का उल्लेख किया गया

है उसका कुछ कारण है। पिता-पुत्र के स्नेह की बात भी कुछ ऐसी है। वैसे तो इसमें कोई बात ऐसी नहीं जो इस 'वंश' मात्र की थाती न हो, फिर भी यह तो मानना ही पड़ता है कि इस स्नेह और इस 'वर्णचतुष्टय' के क्षेम को जितना इसमें प्रकट किया गया है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। अतः सर्वथा उचित प्रतीत होता है यहाँ यह स्पष्ट कह देना कि हमारी समझ में इसका कारण है 'वर्णचतुष्टय' की यही 'यजमान' भावना। वर्णव्यवस्था के मूल में यज्ञ की यही भावना काम करती न होती तो स्यात् कालिदास का कथन ही कुछ और होता। कह तो नहीं सकते, पर कहने को जी यही होता कि सारा वर्णाश्रम धर्म ही इसी यज्ञ पर आश्रित है और यह 'यजमान' ही इसका सब कुछ है। यज्ञ की भावना के अभाव और यजमान की निष्ठा की अल्पता के कारण आज मानव की जो दशा हो रही है वह किसी से छिपी नहीं। हाँ, प्रायः सबकी आँख से आज ओझल है शिव का यह स्वरूप। आज सचमुच भरपूर समझना है कि मानव से 'होता' ही शिव है, कुछ भोक्ता वा वक्ता नहीं। यह इसी वर्णाश्रम की महिमा तो है कि परित्यक्ता सीता ने भी डटकर राम से कहा वा कहला दिया—

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥६७॥१४॥

सीता की चेतावनी निष्फल न गई। 'वर्णाश्रम' का पालन कस कर किया गया और प्रजा ने भी आँख खोल कर भर आँख देख लिया कि वास्तव में राजा का स्वरूप क्या है। यज्ञ में पत्नी की आवश्यकता पड़ी तो सीता को सोने का रूप मिला। उनकी सुवर्णप्रतिमा सब की आँख में छा गई। परन्तु यह तो राम के निज जीवन की झाँकी थी। 'वर्णाश्रम' का कठोर पालन तो अभी होने को है। लो लीजिए वह भी सामने है। देखिए। कितना करुण दृश्य है। जानपद ब्राह्मण अपने शिशु के लिए कलप रहा है। वह अकाल काल के गाल में चला जो गया है। राम अन्तक के यहाँ से उसे लौटाना चाहते हैं। विप्र की फटकार से मर्माहत हो उठे हैं। परन्तु 'सरस्वती' से यह देखा नहीं जाता। कारण का पता बताना उनका काम है। फलतः गूढवाणी गोचर हुई—

राजन्! प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥४७॥१५॥

वर्णविक्रिया—सच है 'अपचार' का ही परिणाम कष्ट है, अपकार्य है, परन्तु किया क्या जाय ? किसी मर्यादा के भीतर सबका बना रहना भी तो संभव नहीं ? निदान—

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् ।
दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥४८॥१५॥

जी। 'वर्णविक्रिया' का परिणाम हुआ आश्रमविक्रिया भी जो ब्राह्मण को बचपन में परलोक मिला। अच्छा तो वह 'वर्णविक्रिया' है क्या ? यही न कि एक शूद्र तप कर रहा है ? देखिए न, आगे होता क्या है। कवि लिखता है वज्र-लेखनी से—

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
ददर्श कश्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥४९॥
पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः ।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥५०॥
तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् ।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥५१॥
स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् ।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥५२॥१५॥

कालिदास ने तो अपनी लेखनी से कलम करा दिया शूद्र का और यहीं यह भी लिख दिया कि उसको अपना इष्ट मिला राजदंड के कारण। किन्तु क्या आज का प्राणी इससे सहमत हो सकता है ? न हो, पर उस समय की मर्यादा है कि—

कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥५३॥

जी। दंड पाने के कारण उसको सद्गति मिल गई कुछ 'स्वमार्ग' के 'विलंघन' के कारण नहीं। जो हो, यहीं इतना और भी मान लें कि राम को इसका कुछ पुरस्कार भी मिला 'अगस्त्य' जैसे मुनि से। लीजिए—

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसंदर्शितात्मना ।
महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥५४॥

कुम्भयोनिरलंकारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् ।
ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥५५॥
तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना ।
पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥५६॥
तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः ।
स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥५७॥१५॥

अपचार—जीव का बदला जीव मिला यमराज को। सो तो ठीक। परन्तु राम ने इसे किया क्यों और अगस्त्य जैसे उदार मुनि ने इसे सराहा क्यों? बात तो कुछ होगी ही। सो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आप्तवाणी के कथनानुसार विप्र बालक के प्राणलोप का कारण है शूद्र का 'अपचार'। इसी को दंडनीति की भाषा में कह लें कि बालक का वध किया शूद्र ने अपने अपचार किंवा तप से। सो अपराधी तो वह सिद्ध हुआ इस राजविधान से। पकड़ा भी गया अपने इस अपचार में। स्वयं स्वीकार लिया अपने अपराध को। फिर प्राणदंड से वह मुक्त हो कैसे सकता है? निदान 'प्रजा' के लिए इस 'अबाबह' को मिला 'शीर्षच्छेद'। तप का प्रभाव कहिए कि राजा ने स्वयं अपने हाथ से दंड दिया। अन्यथा इसके लिए तो 'चांडाल' नियुक्त रहते हैं न? शम्बूक को अपने कर्म का फल मिला वर्णाश्रम की व्यवस्था से अपराध सिद्ध हो जाने पर। अतएव आज इसके 'न नु न च' की इतनी पुकार क्यों? प्राणदंड की व्यवस्था आज भी तो है ही—फिर यह आक्रोश कैसा?

दण्डभोग—जी। प्रश्न उठता है 'अधिकार' और 'अपचार' को लेकर। ठीक ही तो है। वर्णाश्रम की कठोरता पर ध्यान तो दें। दिलीप से अपराध क्या हो गया कि पुत्र का दर्शन नहीं? लीजिए गुरु वसिष्ठ के कथनानुसार वह है—

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥७५॥
धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥७६॥१॥

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥७७॥

अब कहिए । धर्मातुर राजा से अपराध क्या हो गया कि उसको गोमाता का शाप मिला ? वसिष्ठ का ही समाधान है—

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥७९॥१॥

'पूज्यपूजाव्यतिक्रम' का दंड दिलीप को भोगना पड़ा और उसकी मुक्ति में यहाँ तक करना पड़ा कि उठना-बैठना और खाना-पीना भी अपना न रह गया । उनकी स्थिति तो बस 'छाया' की हो गई । कवि ने ही कह दिया है—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥६॥२॥

इधर 'पूज्यपूजाव्यतिक्रम' का फल भूपति दिलीप को यह भोगना पड़ा तो उधर तापसकन्या शकुन्तला को भी अपने अनुराग के कारण कुछ और ही दृश्य देखना पड़ा । 'पूज्यपूजा' उससे भी न बन पड़ी । उसका भी अपराध था सर्वार्थ को छोड़कर स्वार्थ में लीन होना । कुलपति कण्व ने जाते समय 'आश्रम' के 'अतिथिसत्कार' का भार उसे सौंप दिया था । आज इष्टिसमाप्ति पर ऋषिविसर्जन का दिन था । किन्तु आज शकुन्तला का 'हृदय' कहीं और ही था । दिलीप का पत्नी में था तो शकुन्तला का पति में । परिणामतः यहाँ भी शाप मिला किसी 'कामधेनु' नहीं, नहीं किसी सुलभकोप महर्षि का । एक जागरूक ऋषि का । राजा और बाला में भेद जो है ।

हाँ, तो स्वराग के कारण स्वधर्म का पालन न हो सका और शकुन्तला अतिथिसत्कार में चूक गई और अपने आप में यहाँ तक तल्लीन हो गई कि उसके कान बहरे हो गए और 'अयमहं भोः' की गोहार व्यर्थ गई । स्वनिष्ठा का दारुण फल भोगना पड़ा उसे सर्वनिष्ठा के अभाव में । कीजिएगा क्या ? 'वर्णाश्रम' की वेदी पर व्यष्टि की बलि से समष्टि का पोषण होता है और फिर यज्ञ के प्रसाद से उसका भी चोला चमक उठता है । फलतः समष्टि की अवहेलना में शाप मिला तापसकन्या शकुन्तला को 'तपोधन' से । सुनिए । तपोधन जी की ही तो ताड़ना है—

आः अतिथिपरिभाविनि ?
विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि स-
न्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥१॥४॥

शम्बूकवध—'अप्रिय' तो यह अवश्य है पर विश्व का श्रेय है इसी में। शासन श्रेय के लिए होता है। प्रेय तो आप ही सबको प्रिय है। किन्तु क्या शूद्र 'शम्बूक' का वध श्रेय था? प्रश्न उठता है क्यों नहीं। कवि ने अगस्त्य की अवतारणा किस लिए की है? किसी व्यवस्था के भीतर रह कर उसके प्रतिकूल आचरण करना निश्चय ही 'अपचार' है। इसका दुष्परिणाम होकर रहेगा। हुआ भी ऐसा ही। अबोध ब्राह्मण बालक का प्राण गया शूद्र के आचरण-व्यतिक्रम से। फलतः उसे हत्या का दंड मिला प्राणदंड। उसकी उलटी उपासना का फल मिला कि काया का नाश हुआ। साधुदंड का, राजदंड का परिणाम हुआ कि उसकी सद्गति हो गई। साधना व्यर्थ न गई, पर साध जाती रही और वर्णाश्रम को बल मिला। वह सचमुच सजीव हो गया। उसकी कामना पूरी हुई, पर उसके आचरण के कारण नहीं। नहीं, राजदंड के कारण उसको इष्ट मिला और इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि शूद्र तप का 'अधिकारी' नहीं है किन्तु स्वर्ग का मार्ग उसके लिए बन्द नहीं। हाँ, वहाँ पहुँचने का मार्ग उसके लिए कुछ और ही है। उसकी अवहेलना कर मनमाने मार्ग से वहाँ पहुँचने का प्रयत्न करना घातक है। समष्टि का मंगल इसमें नहीं। अपना भी इसमें अहित ही है। इसकी मीमांसा में आज चाहे कुछ भी कहा जाय पर उस समय की धारणा थी यही। कर्म की मीमांसा और कर्तव्य के अनुष्ठान में करुणा का हाथ लगा नहीं कि सदाचार का मार्ग बिगड़ा और व्यवस्था में अनास्था उत्पन्न हुई। फिर तो समाज का सारा खेल ही बिगड़ा और विश्व विवाद का अखाड़ा बना।

सीता-परित्याग—तभी तो राम ने सीता-परित्याग के प्रसंग में स्पष्ट कह दिया था—

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिवेधनीयः।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥४२॥१४॥

और यह सच भी है। 'करुणार्द्रचित्त' से शासन का आचरण नहीं हो सकता। हाँ, परिस्थिति विशेष में प्राणी का कल्याण हो सकता है। अतएव किसी भी 'मानवदेव' का कर्तव्य है कि वह मानव को अपचार से बचावे। कारण यह कि मानव भावना में आकर प्रायः अपने मार्ग को भूल जाता है और भाववश 'स्वधर्म' से विचलित हो 'परधर्म' के आचरण में लीन हो जाता है। समय पर उसकी सूझ काम नहीं देती। देखिए न कारुणिक कवि का प्रस्ताव है कि राम सीता को स्वीकार कर लें और राम का फिर निवेदन है खुले जन-समुदाय में—

तात ! शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि।
दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुः प्रजाः ॥७२॥
ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली।
ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥७३॥१५॥

फिर भी 'प्रजा' मौन है। किंकर्तव्य विमूढ है। सीता को देखने का साहस कहाँ ? स्थिति तो अब यह है—

जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः ॥७८॥

उधर भरी सभा में कारुणिक मुनि की आज्ञा हुई—

कुरु निःसंशयं वत्से ! स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥७९॥१५॥

फिर भी लोकवाणी न खुली और सीता 'स्ववृत्त' दिखा सबको चकित कर जहाँ की तहाँ पहुँच गई। राम के अतिरिक्त किसी को उससे कुछ कहने का साहस न रहा। 'लोक' ने अब उसके महत्त्व को जाना और उसे 'राम' के पहले अपने हृदय में स्थान दिया। 'सीताराम' का नाम अमर हो गया। बहुतों का तारक मन्त्र बन गया। पर तब न जब उनका प्रत्यक्ष रूप न रह गया ? शरीर के रहते राम को सुख कहाँ ? सीता को शान्ति कहाँ ? फिर भी मानव सुख चाहता है, भव का अधिकार चाहता है और चाहता है सर्वत्र समता। का

व्यवहार। सब कुछ सही, पर जो जिसका धर्म बना उसकी उपेक्षा कदापि नहीं। 'अपचार' सदा घातक है, घातक।

रामराज्य—धर्माचार की दृढ़ता से रामराज्य का नाम जगा और उसका एक और भी अद्भुत प्रमाण मिला। राम का 'शूद्र' और 'नारी' के प्रति जो व्यवहार रहा वह जातिगत उपेक्षा के कारण कभी किसी और दृष्टि से देखा जा सकता है और समय समय पर उसकी व्याख्या भी अलग-अलग हो सकती है और आलोचना भी अलग-अलग। किन्तु जो बात कदाचित् सदा एकरस बनी रह सकती है वह है रामराज्य के दंडविधान की अन्तिम झाँकी। कविगुरु ने इसे इस रूप में अंकित किया है—

> उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम्।
> रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥९२॥
> तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः।
> आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥९३॥
> विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत्।
> भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसदर्शनार्थिनः ॥९४॥
> स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित्।
> चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥९५॥१५॥

समष्टि के हित में व्यष्टि की यह अन्तिम आहुति है किस रूप में? कर्तव्य का पालन इसे कहते हैं। जो कुछ किया तौल कर किया। 'समय' को सत्य समझा और मांसपिंड की रक्षा का उपाय न कर उसको सचमुच कृतार्थ कर दिया। राजा को फिर कहने की आवश्यकता न पड़ी। समय का पालन आप ही हो गया। धरा पर अब जाके रामराज्य की सच्ची प्रतिष्ठा हो गई और फलतः राम भी अपने परम रूप में जा रमे। अस्तु। रामराज्य की खरी कसौटी ठहरी दृढ़ता से 'स्वधर्म' अथवा अपने 'कर्तव्य' का पालन, न कि अतिकायरता से 'कानून' और 'करुणा' की पुकार। 'यजमान' को अपने प्राणपिंड की चिन्ता क्या? वह तो सर्वहित का साधन है न?

मुनिपुत्र—हाँ, यहीं टाँकने की बात है एक और भी। राम के जन्म के पहले ही पिता दशरथ को शाप मिल गया था पुत्र-वियोग में प्राण-विसर्जन का। अनजाने में उनसे हो गया था वध एक मुनि बालक का। फलतः मृगया का फल भोगना पड़ा मानव को। प्रसंग है—

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरंगमेण ॥७२॥
कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥७३॥
नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत्।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥७४॥६॥

दशरथ की भाँति आज न जाने कितने सुविज्ञ लोग रजोगुण से पराभूत हो 'अपथ' पर आ रहे हैं। राजमद से रक्षा का उपाय आज कठिन हो गया है। फलतः शाप ही शाप गोचर हो रहा है। विभूति का पता कहाँ? तो भी वस्तुस्थिति के बोध में अतीत का अध्ययन आवश्यक होता है और सामने सत्य और सदाचार की एक परम्परा सी खड़ी कर देता है। देखिए न, उस समय इस 'अपथ' का परिणाम हुआ—

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्ण—
स्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं
तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥७५॥
तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन
पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भि—
रात्मानमक्षरपदैः कथयांबभूव ॥७६॥

द्विजेतर—'अन्वय' का यह प्रश्न यहाँ भी उठा और उठा 'शम्बुक' के यहाँ भी। यहाँ समाधान में कहा गया 'द्विजेतर'। 'द्विजेतर' से तात्पर्य कुछ भी हो, परन्तु इतना तो प्रकट ही है कि 'मुनिपुत्र' ने ब्रह्महत्या को दृष्टि में

रख कर यह उत्तर दिया। वह समझ गया कि वधिक सहसा किस आपदा में घिर गया। वह ठहरा 'मुनिपुत्र'। अतः झट कह दिया ब्राह्मण नहीं। राजा को शान्ति मिली। महापाप से बच गया। इतना और भी अच्छा हो गया कि पुत्र की चिता पर चढ़ने के पहले उसके माता पिता ने यह शाप दे दिया कि—

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका—
दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम्।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजंगं
प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः ॥७९॥९॥

'प्रथमापराद्ध' का परिणाम भी अंशतः अच्छा ही रहा। नहीं तो स्वयं राजा को इसका दंड क्या मिलता, कौन कहे? किन्तु फिर भी इतना तो विदित ही है कि 'मुनिपुत्र' सामान्य मानव का पुत्र नहीं प्रत्युत है वह 'तपस्विसुत'। 'रामायण' से पता चलता है कि वह वैश्य पिता और शूद्रा माता की सन्तान है। अतएव उसकी गणना 'द्विजाति' अथवा 'द्विज' में नहीं हो सकती। नहीं 'करण' नाम की तो उसकी एक अलग जाति बन गई है। तो भी वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से तो बताना ही होगा कि वास्तव में उसका वर्ण क्या? सो वीर्य की प्रधानता से वह 'वैश्य' ठहरता है तो क्षेत्र की प्रधानता से शूद्र। परन्तु प्रतीत होता है कि उसकी गणना वैश्यवर्ग में नहीं होती और शिष्ट समाज भरसक गिनता नहीं उसको वैश्य में। 'द्विजेतर' से तो वह सिद्ध भी होता है शूद्र ही। वर्ण के इतिहास में यह भी एक विचारणीय बात है।

वर्णव्यवस्था—'मुनिपुत्र' की इस वर्णसंकरता को देखकर जी में होता है कि इसके विषय में कालिदास से कुछ और भी जान सकें तो अच्छा। कारण कि आज भी 'वर्णाश्रम' की चर्चा बन्द नहीं और प्रायः नित्य ही कहीं न कहीं इसकी मीमांसा में 'जन्म कर्म' का वाद चलता रहता है। सो कालिदास का पक्ष है जन्म। परशुराम की स्थिति है—

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥६३॥
पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्।
यः ससोम इव घर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥६४॥

साधक के रूप में सामने आता है और स्वधर्म की सुधि दिला अपने कर्म में लीन होता है। परशुराम भी अब ऋषिभाव में आ गए और उनका क्षात्ररूप जाता रहा। मातृक रजोगुण का लोप हुआ और अब पूरे सात्विक हो गए। प्रश्न होता है, यदि माता भी ब्राह्मण होती तो क्या परशुराम में यह भाव आ पाता? कवि का समाधान निश्चित रूप से है 'नहीं'।

असवर्ण—सवर्ण-विवाह की प्रतिष्ठा हो गई तो भी वर्ण-व्यवस्था में 'अनुलोम' का हाथ रहा। शकुन्तला को तपोवन में देख कर दुष्यन्त मन ही मन सोचता है—

अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात्। अथवा कृतं संदेहेन।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥२०॥१॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये।

क्यों? कारण वर्ण-व्यवस्था की मर्यादा ही तो है? अन्यथा वासना की स्वच्छन्दता तो मन मसोस कर कहती है—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥२१॥१॥

मानव मर्यादा को छोड़कर जिस 'रहस्याख्यायी' 'मधुकर' को अपना आदर्श बना रहा है उसके विषय में कहना इतना ही है कि इस पर ऊपर की फटकार यदि है नहीं, तो हो सकती है कल—

अनार्य! आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते।

जो हो। 'अंतःकरण' ने साथ दिया और तत्त्वतः जाना गया—

सर्वथाप्सरःसंभवैषा।

संस्करण—फलतः तपोवन में व्यवहार भी हुआ बहुत कुछ वैसा ही। परंतु धीरे-धीरे समय की कसौटी पर चढ़कर इसका भी रूप निखरा और 'अप्सरा'

के लोप से 'ऋषि' का उदय हुआ। फिर तो मंगल का विधान नहीं तो और क्या हो? तात्पर्य यह कि पुद्गल के विकास में पहले 'शोणित' अपना प्रभाव दिखाता है और फिर 'शुक्र-शोणित' के साथ संस्करण भी चला करता है और इसी से किया जाता है दोनों के समन्वय में इतना विचार। मानी हुई बात है कि यदि परशुराम की माता क्षत्रिया न होती और उनके पिता का वध भी कोई क्षत्रिय नहीं करता तो उनका यह अंश भी इतना दीप्त न होता। इसी प्रकार यदि शकुन्तला की माता अप्सरा न होती और उसका पालन-पोषण भी कण्व के आश्रम में न होता तो उसकी वासना भी कुछ और होती। परशुराम को उद्दीपन मिला खुल कर। उन्होंने उत्कर्ष भी दिखाया उस अंश का खुल कर। शकुन्तला को पाठ मिला विनय और संयम का। फलतः वासना भी उसकी इतनी उन्मुक्त न हुई कि यज्ञ की भावना ही न रह जाय और आँख में उतरते ही सब कुछ हो जाय। भाव यह कि संस्कार के साथ ही संसार भी काम करता है और शाप भी शील देख कर अपना रंग जमाता है। इसी से जन्म-कर्म का यह बन्धन उपेक्षणीय नहीं।

शकुन्तला की भाँति ही आयुस् भी 'अप्सरासंभव' है। एक की माता मेनका है तो तो दूसरे की उर्वशी, किन्तु दोनों के होने में भेद है। शकुन्तला का जन्म प्राकृत रूप में हो गया था। वह 'यज्ञ' नहीं निरे 'भोग' का परिणाम था। उसके पीछे इन्द्र का जाल था। स्पष्ट रूप में कहा गया है मेनका को इसी से 'नियम-विघ्नकारिणी' और शकुन्तला को 'उज्झिता'। देखिए न—

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम्। आ मूलाच्छ्रोतुमिच्छामि।

अनसूया—शृणोत्वार्यः। गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नामाप्सराः प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी।

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्।

बस इतने से ही जान लीजिए कि शकुन्तला की जन्म दशा क्या है। रहा आयुस्, सो उसके विषय में विशेष गुनने की आवश्यकता है। पिता को पता नहीं, पर पुत्र लक्ष्यभेदी बन गया। 'तापसी' का कथन है—

शृणोतु महाराजः एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः । यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादि विधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम् । गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽपि विनीतः ।

ध्यान देने की बात है कि इस 'क्षत्रियकुमार' का 'जातकर्मादि' संस्कार भगवान् च्यवन के आश्रम में ही होता है। 'आदि' की व्याप्ति में मतभेद हो सकता है। 'पुंसवन' को उसके भीतर घसीटना कठिन हो सकता है। परन्तु 'जातमात्र एव' को प्रत्यक्ष देखते हुए कौन कह सकता है कि 'आयुस्' का जन्म आश्रम में नहीं हुआ और कहीं से लाकर वहाँ उसका उक्त संस्कार किया गया? हम यह भी नहीं कह पाते कि 'च्यवन' को इसका पता नहीं कि यह हो क्या रहा है पिता के अभाव में। हमारी समझ में तो यह भी एक ऋषिचक्र ही है जो चल रहा है 'लोकानुग्रह' के लिए।

सहधर्मचारिणी—विवाद से लाभ नहीं। प्रकृत पुकार है कि उर्वशी आज 'अप्सरा' नहीं प्रत्युत कुछ और ही है। कारण 'महेन्द्र' का यह कथन है—

यस्मिन्बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम्। सा त्वं यथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भवेदिति ॥ [तृतीय अंक, विष्कम्भक]

महेन्द्र ने एक प्रकार से उर्वशी को वियोग की आज्ञा दी और 'दृष्टसन्तान' का समय लगा सन्तान को महत्त्व दिया। 'बद्धभावा' उर्वशी फिर भी प्रिय के गले नहीं लग जाती। वह चुपचाप देखती है प्रिय की गृहस्थ-लीला को। देवी का निश्चय कान में पड़ता है तो हृदय में कुछ और ही वेदना उत्पन्न हो जाती है। चित्रलेखा से जब देवी की मर्मवाणी का पूरा रहस्य खुलता है तब राजा की कामना को पूरा करने का विचार कर प्रगट होती और पीछे से जाकर उसकी आँख मूँदती और फिर विनोद में तथ्य की बात कह जाती है—

हला देव्या दत्तो महाराजः। ततोऽस्य प्रणयवतीव शरीरसंपर्कं गतास्मि। मा खलु मां पुरोभागिनीं समर्थयस्व।

'प्रणयवतीव' तथा 'पुरोभागिनी' तक ही कवि की दृष्टि नहीं रह जाती। उसे का इतना ध्यान है कि झट वहीं विदूषक बोल पड़ता है—

कथमिहैव युवयोरस्तमितः सूर्यः ?

और कुछ वार्तालाप के उपरान्त स्वयं राजा भी कह बैठता है—

अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरूरवाः ॥१८॥२॥

अस्तु । उर्वशी अब अप्सरा नहीं, प्रिया और पत्नी है । कह लें 'सहधर्मचारिणी' है । कारण कि इन्द्र का सन्देश है नारद के मुख से—

इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति ।

आयुस्—इसी से तो हमारा पक्ष है कि आयुस् शकुन्तला की भाँति कामज नहीं । नहीं, उसका जन्म तो कामयज्ञ में संस्कृता पत्नी से हुआ है । पत्नी में आपत्ति हो तो कुछ और भी कह लें । हमारा ऐसा कोई आग्रह नहीं । परन्तु किसी भी दशा में आप कह नहीं सकते कि आयुस् किसी 'नियमविघ्नकारिणी' की सन्तान है, संस्कार से उसका कुछ नाता नहीं । निश्चय ही वह 'संस्कृतयोनिज' है । पुरूरवा के पास उर्वशी के रहने का प्रयोजन ही है राजा का 'दृष्टसन्तान' होना । उर्वशी लीन है उसी अनुष्ठान में । राजा को पता भले ही न हो पर यजमान अपने यज्ञ में लीन है विवेक के साथ। परन्तु यह क्या? तापसी इसके विषय में कहती है—

अद्य पुष्पसमिदर्थमृषिकुमारकैः सह गतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम् ।

विस्मय की बात ठहरी । आश्रम में कैसा अनाचार किया ? समाधान में कहा गया—

गृहीतामिषः किल गृध्रः पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यीकृतो-बाणस्य ।

किन्तु यह अनाचार नहीं । वस्तुतः यह तो अस्थान में आचरित स्वधर्म ही है । 'आश्रमविरुद्ध' यह भले ही हो पर 'क्षत्रियविरुद्ध' तो कदापि नहीं । निदान वास्तव में यह है स्वधर्म-पालन की तत्परता । इसी से इस आचारी को जाना पड़ा है अपने देश में । स्वधर्म के अनुष्ठान के लिए । बीज, क्षेत्र, संस्कार और विद्या ने मिलकर वह 'गुण' दिखाया कि अपने 'दर्प' के कारण आयुस् को आना पड़ा आश्रम छोड़कर अपनी यज्ञभूमि में । वर्ण-व्यवस्था की मर्यादा ठहरी । पालन राजकुमार को करना ही होगा । शील समान में ही खिलता है न ?

अनुलोम—वर्ण का विवाह से भी गहरा सम्बन्ध है। सवर्ण विवाह का अर्थ है समान बीज और क्षेत्र का सम्पृक्त होना। फिर भी परिस्थिति विशेष अथवा प्राणी की सहज वासना वा प्रकृति के कारण समष्टि में कुछ शिथिलता का सत्कार रहता ही है। इसी से अनुलोम विवाह को भी प्रायः ठीक ही समझा गया। कालिदास के समय तक वह अनिन्द्य समझा जाता था। यह उनकी रचना से सिद्ध होता है। दुष्यन्त का प्रसंग पहले आ चुका है। उसमें 'असवर्ण' की चर्चा हो चुकी है। यहाँ 'अग्निमित्र' का सन्दर्भ है। 'मालविका' के विषय में बकुलावलिका गणदास का समाधान करती है—

अस्ति देव्या वर्णवरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा अन्तपालदुर्गे नर्मदाकूले स्थापितः। तेन शिल्पाधिकार इयं योग्या दारिकेति भगिन्यै उपायनं प्रेषिता।

[प्रथम अंक, विष्कम्भक]

काल पाकर वर्णाश्रम की कट्टरता बढ़ी और अनुलोम की प्रथा भी जाती रही। अब फिर उदारता का दर्शन हो रहा है, किन्तु वर्णव्यवस्था के रूप में नहीं। कह सकते हैं मनमाने ढंग पर मनमाने रूप में। अब अनुलोम और प्रतिलोम का भेद नहीं। सभी समानधर्मा जा हो रहे हैं।

जन्मान्तर—वर्णाश्रमधर्म में 'जाति' को महत्त्व मिलने का मुख्य कारण हुआ 'जन्मान्तर' में विश्वास। कालिदास का यह विश्वास इतना दृढ़ था कि उन्होंने निर्द्वन्द्व लिखा पार्वती के विषय में—

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥२९॥
ता हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥३०॥१॥

और अपने 'राम' के लिए भी लिख दिया—

वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान्।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥२२॥११॥

इतना ही नहीं अज और इन्दुमती की जोड़ी को देखकर पुरवधुओं ने खुलकर कह दिया—

रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ॥१५॥७॥

किन्तु वह 'मन' न जो विषय-वासना से मुक्त स्वस्थ दशा में हो ? न कि वह जो लिप्सा की पूर्ति में दर्शन की शरण लेता हो। वह तो मार्ग में अवरोध बनता है न ?

संस्कार—जी। वर्णाश्रम की दृष्टि से जन्म कोई घटना मात्र नहीं कि सहसा वह घटित होकर रह जाय। नहीं। वह तो संसृति का एक व्यक्त रूप है जो सदा गतिशील है। जन्म-मरण के इस चक्र का आनन्द है स्वधर्म-पालन में। और स्वधर्म का निर्णय होता है वर्णाश्रम में जन्म से किंवा पहले के संस्कार से। कर्म की उपेक्षा नहीं, पर जन्म भी तो वस्तुतः कर्म का अनुगामी है ! इसी से 'संस्कार' का महत्त्व है। कवि कहता है किस ढंग से—

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥२०॥१॥

'प्राक्तन संस्कार' शरीर में अपना रंग जमाए रहते हैं और जीवित में रुचि का काम करते हैं। उनकी अवहेलना से मानव अन्तर्द्वन्द्व में पड़ जाता है जिससे चित्त की प्रसन्नता जाती रहती है और मन अवसाद में पड़ जाता है। संस्कार वासना पर अंकुश का काम करता है। कवि का ही कथन है—

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम्।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥३५॥३॥

यह 'निसर्ग' भी तो पहले संस्कार ही है न ? अन्यथा सभी निसर्गतः एक ही क्यों नहीं होते ? मानव-प्रवृत्ति में इतना भेद क्यों ? प्राणी के स्वभाव में यह विषमता कैसी ? संस्कार की महिमा से मानव जैसा शोभन बन जाता है उसकी भी एक झाँकी यहीं देख लें और जीव के विकाश-क्रम में इसका महत्त्व जान लें। कहते हैं—

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥१८॥३॥

स्वधर्म—अस्तु। 'संस्कार' के प्रताप अथवा 'जन्मान्तर' के प्रसाद से 'वर्णाश्रम' की कुछ ऐसी धाक जमी कि किसी को अपना कर्म छोटा नहीं दिखाई दिया। सभी अपने स्वधर्म के आचरण में लीन हो गए। किसी को अपने 'आजीव' से घृणा न हुई। तभी तो 'धीवर' का जात्यभिमान भी समय पर ललकार उठा—

भर्तः अथ कीदृशो म आजीवः ?

कारण यह हुआ कि कभी उसकी वृत्ति पर फबती कसी गई थी।—

विशुद्ध इदानीमाजीवः।

उत्तर में झट वहीं टोक कर उसने इतना कह दिया था—

भर्तः मा एवं भण।

सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।

पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥१॥६॥

'श्रोत्रिय' का कर्म यों ही प्रमाण में प्रस्तुत नहीं हुआ है। यह तो उपस्थित किया गया है इसके समाधान में—

किं शोभनो ब्राह्मण इति कृत्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः।

अतः दिखा दिया कि उदार श्रोत्रिय भी तो पशुघात जैसा कर्म करता है। फिर स्वधर्म-पालन में दोष क्या ? हेठी तो उसके विपरीत आचरण में है। वह 'धीवर' है और उसे धीवर होने का अभिमान है। वह नहीं समझता कि धीवर 'कुम्भीरक' करके क्यों सम्बोधित हो सकता है। फलतः तुरत कहता है—

प्रसीदन्तु भावमिश्राः नाहमीदृशकर्मकारी।

और जब 'ब्राह्मण' का उल्लेख कर उसकी उपेक्षा की जाती है तब उसे भी अपनी आन में कहना पड़ता है—

शृणुतेदानीम्। अहं शक्रावताराभ्यन्तरवासी धीवरः।

'शृणुतेदानीम्' की दौड़ दूर तक है न ? 'इदानीम्' को 'अहं' के साथ पढ़ें तो गूढ़ वाणी का रहस्य खुले। कुछ भी हो, कहना यहाँ यह है कि कालिदास ने इस प्राणी को किसी नाम से अभिहित न कर केवल 'पुरुष' भर कहा है। कारण कदाचित् यह है कि वह पुरुष का प्रतीक जो है। स्वर्गकामी 'शम्बुक' की भाँति स्वधर्म से विमुख हो वह उलटा तापस नहीं बनता। नहीं। वह तो

समष्टि के लिए अपने धर्म का पालन करता और उसके मर्म को समझ कर उसके अनुसार आचरण करता है। पैसे का उसे लोभ नहीं। हाँ, अपने धर्म का ध्यान उसे अवश्य है। सचमुच कितना सरल, सुबोध और सजीव है यह 'धीवर' जो दे देता है अपना आधा 'पारितोषिक' उस महापुरुष को जिसे सूझती है इस अवसर पर 'कादम्बरी' और 'शौण्डिकापण' की। साथ ही कितना सटीक और मर्मभेदी है उसका यह कथन—

भट्टारक ! इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु ।

स्मरण है न ? इसको लक्ष्य कर कभी इन्हीं में से एक ने कहा था—

जानुक ! स्फुरतो मम हस्तावस्य वधस्य सुमनसः पिनद्धुम् ।

'सुमनसः पिनद्धुम्' का इससे और अच्छा समाधान क्या हो सकता है ? 'सुमनोमूल्यं' को सुनकर तो वह गल गया होगा न ? परन्तु इस वर्ग के लोगों के हृदय कहाँ जो करुणा की खेती करे ! फलतः फूल उठे द्रव्य को अपना होते देख कर। पड़ गए कुछ और लोभ में। रक्षक भक्षक में भेद कहाँ !

वैश्य—यजमान धीवर को तत्त्वदर्शी समझ देखिए यह कि त्रिवर्ण में वैश्य की स्थिति क्या है। सो प्रत्यक्ष है कि कालिदास का ध्यान इधर अधिक नहीं। प्रसंगवश जहाँ-तहाँ इसका भी आभास हो गया तो अच्छा, नहीं तो इसके बिना कोई क्षति भी नहीं। दिलीप राजमहिषी के साथ गुरु वसिष्ठ के आश्रम में जा रहे हैं कि मार्ग में ही घोषवृद्ध मक्खन लेकर जुट गए और वनवृक्षों का बोध भी राजा को करा दिया। रघु का नाम जगा तो ईख की छाया में भी यशोगान सुनाई पड़ने लगा और कवि ने ललक कर टाँक ही तो दिया—

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥२०॥४॥

और यक्ष को अलका की सूझी तो भी 'सद्यः सीरोत्कषणसुरभि' को न भुला सका और कवि ने तो अपनी प्रिया से उल्लास में जी खोलकर कह दिया—

प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगाङ्गनायूथविभूषितानि ।
मनोहरक्रौञ्चनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः ॥८॥४॥

अधिक क्या ? कृषि के प्रसाद से प्रफुल्ल हो कवि कामना करता है—

प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालीक्षुरम्यः प्रबलसुरतकेलिर्जातकन्दर्पदर्पः ।
प्रियजनरहितानां चित्तसंतापहेतुः शिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम् ।

कृषक का सौभाग्य कहिए कि उसे 'प्रियजनरहित' का सामना कम करना पड़ता है । भाग्य में बदा है यह तो 'समुद्र व्यवहारी' के न ? देखिए कितना दुःखद समाचार है—

राजा—(अनुवाच्य) कथम् । समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः । अनपत्यश्च किल तपस्वी । राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम् । कष्टं खल्वनपत्यता । वेत्रवति बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम् । विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात् ।

प्रतीहारी—देव इदानीमेव साकेतकस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायास्य श्रूयते ।

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति । गच्छ । एवममात्यं ब्रूहि ।

वणिग्वृत्ति—राजा दुष्यन्त का निर्णय उस समय जितना अच्छा लगा, उतना अच्छा आज कदाचित् न लगे । आज का सामाजिक पहले सा कहाँ रहा ? उसके संस्कार तो आज कुछ और ही हो गए । फिर भी धनमित्र की माया को छोड़ दें तो निर्णय में कुछ खोट नहीं । जो हो, कालिदास के वर्णाश्रम में यही साधु है । वर्णाश्रमी मानता है कि 'ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति' का न्याय सर्वथा साधु है । परन्तु विचारणीय हो जाता है यहीं यह प्रश्न कि क्या धनमित्र का यह संचय साधु है । उसे अर्थसंचय की इतनी आवश्यकता क्यों पड़ी ? विलास भी उसमें पूरा दिखाई देता है । 'बहुधनत्वाद्बहुपत्नीक' का न्याय भी उसपर घटित हो जाता है । 'साकेत' की श्रेष्ठिदुहिता के उल्लेख से उसकी समृद्धि का पता चलता है और 'पुंसवन' से संस्कारप्रियता का । किन्तु कहा नहीं जा सकता कि वास्तव में वह यजमान भी है । उसकी वणिग्वृत्ति कुछ बहुत प्रबल दिखाई देती है । कुछ यों भी वह होती है प्रबल ही । पता नहीं 'पुरुषसूक्त' में क्यों कहा गया—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

सो 'ब्राह्मण' और 'शूद्र' की स्थिति तो आप ही अत्यन्त स्फुट है। 'आसीद्' और 'अजायत' का अर्थ भी अस्पष्ट नहीं। दुराव थोड़ा अवश्य है। समष्टि किंवा समाज को शरीर में समझना है। पुरुष को पहिचानने में भटक कहाँ होती है? 'ब्राह्मण' को तो झट से 'मुख' कह दिया गया। विरोध का भाव ही नहीं उठा। हाँ, 'राजन्य' को परखने में कुछ देर हुई। फिर थोड़ी चिन्ता के उपरान्त उसका भी स्फुरण हो गया और 'बाहू राजन्यः कृतः' का उद्घोष आप ही हो गया। किन्तु कहना कठिन हो गया कि 'वैश्य' का संस्थान क्या है। विचारा गया और विचार कर जैसे-तैसे कहा गया 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः' फिर भी क्रिया अस्फुट ही रही। उसका स्फोट न हुआ। तो फिर भला 'वैश्य' की क्रिया को कोई क्या जाने? जो-सो के फेर में सदा क्यों न पड़ा रहे? जो 'वैश्य' सो इसका 'ऊरू'। आगे कहने नहीं समझने को है। स्वयं ऋषि इसके लिए क्रिया का प्रयोग नहीं करता। करे भी तो क्या करे? वैश्य की स्थिति ही कुछ ऐसी है। शरीर में 'ऊरू' का महत्त्व क्या है और क्या है इसका स्वतन्त्र उपयोग भी? 'पद' को वह शेष शरीर से जोड़ता अवश्य है। दोनों मिल 'अधोभाग' हैं। फिर भी उसकी स्थिति स्पष्ट नहीं। उससे शरीर का कौन सा कार्य सधता है जो खुलकर कहा जाय।

सामंजस्य—जी। समझने की बात है कि एक ओर जहाँ 'ब्राह्मण' और 'राजन्य' ऊर्ध्वभाग के अंग हैं वहीं 'वैश्य' और 'शूद्र' अधोभाग के। शरीर का मध्यभाग क्यों छूट गया की मीमांसा कौन करे? आगे चलकर स्यात् इसी से 'वैश्य' को 'उदर' कहा गया जो उसमें चरितार्थ भी भली भाँति हो गया। परन्तु हमारी दृष्टि में यह अच्छा नहीं हुआ। सच पूछिए तो छूटा हुआ भाग ही शरीर-यात्रा को सफल बनाता है। हम तो इस यन्त्रभाग को शास्त्र समझते हैं। श्रुति-स्मृति इसी का नाम है। मानस से इसका जो लगाव है वही इसका संचालन है। मस्तिष्क से यह अलग हुआ नहीं कि सारी पुरुष-व्यवस्था बिगड़ी। इसी से वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण ही इसका अधिकारी है। वही पुरुष का उत्तमांग जो है। हृदय की धड़कन उसी पर आश्रित जो है। सच पूछिए तो यदि 'ब्राह्मण' और 'शूद्र'—शरीर के दो छोर—ठौर-ठिकाने के हैं तो समष्टि में कोई क्षति नहीं। राजन्य का कार्य रक्षा है तो वैश्य का कार्य बढ़ाना। दोनों

की स्थिति कमाने से कुछ दूर भी। इनमें भी 'राजन्य' को समय पर किसी कार्य में योग देना होता है, किन्तु वैश्य का तो यह धर्म ही है कि वह सदा सम्पत्ति के संचय में लीन रहे और उसकी वृद्धि में अपने आप की आहुति कर दे। कार्य करने को कठिन अवश्य है, किन्तु वैश्य की समष्टि में इसके विपरीत आचरण से कुछ लाभ भी नहीं। व्यष्टि की दृष्टि से वणिक् की सत्ता क्या? वह सचमुच समाज का संघटक है। उसी के नाते सब एक सूत्र में बँधे हैं, उसकी सत्ता शूद्र पर टिकी है। उस पर 'ब्राह्मण' तथा 'राजन्य' का नियन्त्रण है। उसका महत्त्व गुप्त और मधुर है।

राजन्य—'वैश्य' और 'शूद्र' की तो नहीं किन्तु 'ब्राह्मण' और 'राजन्य' की जोड़ी को लक्ष्य करके कवि ने मुक्त कंठ से व्यक्त किया है—

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न संगताः ॥३८॥१७॥

सो गुरु वसिष्ठ के मूलमन्त्र का साक्षात्कार हम पहले ही कर चुके हैं और उसी के प्रकाश में इतना कुछ कहते आ रहे हैं। 'विकृतिर्जीवितमुच्यते' का उपदेश भला कभी हमें भूल सकता है? और क्या कभी भूल सकता है हमें राजन्य का यह अनुरोध भी—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥
कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥५४॥
सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥५५॥
भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥५६॥
किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥
संबन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते।
तद्भूतनाथानुग! नार्हसि त्वं संबन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥२॥

दिलीप की इस मर्मवाणी की व्याख्या व्यर्थ है। स्वधर्म-निष्ठा का यह अनुपम उदाहरण है। क्षत्रिय क्या है और क्या है उसका कर्तव्य भी, यह सभी प्रकार से यहाँ देखा जा सकता है। अपने मांसपिंड शरीर की ममता नहीं। उसमें किसी राजन्य की आस्था क्या? आस्था तो उसकी 'यशःशरीर' में है न? स्मरण रहे। उधर का प्रलोभन था—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥
भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि ॥४८॥
अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥४९॥
तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥२॥

मनुष्यदेव—स्वधर्म से विचलित करने की पद्धति कितनी लुभावनी होती है। किसी 'अर्थपति' का आदर्श इससे उत्तम और क्या हो सकता है? किन्तु 'दिलीप' किंवा 'राजा' वास्तव में 'अर्थपति' नहीं। नहीं, वह तो वस्तुतः 'मनुष्यदेव' है न? कवि के कथन पर कान दें और इन दोनों विशेषताओं की व्याप्ति को समझें। पहले कवि लिखता है—

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥४६॥२॥

परन्तु यह सचमुच प्रकाश नहीं। यह तो माया की चकाचौंध है न? ज्ञान की ज्योति का स्फुरण तो यह है। नाम भले ही 'मयूख' का इसमें न हो। फलतः 'अर्थपति' नहीं, हाँ, 'मनुष्यदेव' का समाधान है। कवि की ही भाषा में यह 'मनुष्यदेव' कैसा? स्वयं वह कहता है—

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥२॥

'दयालु मनुष्यदेव' की जो अनास्था 'भौतिकपिंड' में है उसका दर्शन हम पहले कर चुके हैं और यह भी प्रत्यक्ष देख चुके हैं कि इसे 'यशःशरीर' की

रक्षा की कामना है। फलतः अब उसे गोमाता का सामना करना है। अभीष्ट वरदान तो कहने मात्र से मिल गया। ऊपर से प्रसाद यह कि दुग्धपान। देखिए न परिस्थिति है—

संतानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥६५॥२॥

मर्यादा—किन्तु वह अनुष्ठान ही क्या कि विभूति के दर्शनमात्र से विचलित हो जाय? क्षत्रिय का स्वधर्म अडिग होता है न? निदान उसका उत्तर हुआ—

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
ऊधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥६६॥२॥

मर्यादा का यह ध्यान वर्णाश्रम का सर्वस्व है। ऋषि-मुनि सभी इसका दृढ़ता से पालन करते हैं। दिलीपसुत रघु के इस प्रश्न का मर्म तो समझें। 'वरतन्तुशिष्य कौत्स' से इनका प्रश्न है—

निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम्।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥८॥५॥

'वरतन्तु' के आश्रम में भी 'षष्ठांश' का विधान है न? राजा भले ही उसे अपने कोष के लिए न ले, पर प्रजा के रूप में एक ऋषि को भी तो इसका पालन करना है न? निदान रघु का प्रश्न होता है—

तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि

के साथ ही—

शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित्।

षष्ठांश—आश्रम के इस 'षष्ठांश' के प्रति किसी राजन्य की जो भावना है वह है—

मूर्ख! अन्यमेव भागधेयमेते तपस्विनो निर्वपन्ति यो रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यते। पश्य—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥१३॥२॥

राजा दुष्यन्त की श्रद्धा का सत्कार हो सकता है, परन्तु उनके 'मूर्ख' का सत्कार क्या ? क्या आप जानते हैं कि यह मूर्ख है कौन ? लीजिए। इनका वार्तालाप है—

विदूषकः—तेन हि गृहीतपाथेयो भव। कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि।

राजा—सखे तपस्विभिः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत्केनापदेशेन पुनराश्रमपदं गच्छामः।

विदूषकः—कोऽपरोऽपदेशो युष्माकं राज्ञाम्। निवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति।

स्वस्तिवाचक—काम की दशा में राजा को 'आश्रम' में 'अपदेश' की सूझी तो विदूषक ने उपाय भी बता दिया। किन्तु इसका पुरस्कार मिला उसको 'मूर्ख' का सम्बोधन। 'ब्राह्मण' की यह अवज्ञा ? प्रेम प्रसाद होने पर भी क्या यह चिन्त्य नहीं ? इतना ही क्यों ? और भी तो देखिए। चेटी निपुणिका 'इरावती' से कहती है—

भगिनि ! एष द्वारोत्सङ्गे समुद्रगृहस्य विपणिगत इव वृषभ आर्यगौतमः आसीन एव निद्रायते।

कितना बढ़िया है 'ब्राह्मण' का यह परिचय ! साथ ही यहीं और भी—

श्रुतं भट्टिन्या। कस्याप्येष आत्मनीनो हताशः कितवः ? सर्वकालमित एव स्वस्तिवाचनमोदकैः कुक्षिं पूरयित्वा सांप्रतं मालविकामुत्स्वप्नायते।

और फिर भी यदि स्थिति में कुछ सन्देह हो तो आगे की लीला पर ध्यान दें। प्रसंग वही है—

विदूषकः—इरावतीमतिक्रामन्ती भव।

निपुणिका—श्रुतमेतदत्यहितम्। इमं भुजंगभीरुं ब्रह्मबन्धुमनेन भुजंगकुटिलेन दण्डकाष्ठेन स्तम्भानन्तरिता भूत्वा भीषयिष्ये।

इरावती—एषोऽर्हति कितवः सर्पदंशस्य।

[मा०, चतुर्थ अंक, १५ पृ०]

'स्वस्तिवाचक ब्रह्मबन्धु' का जैसा कुछ सत्कार हो रहा है वह 'प्रत्यक्ष' ही है। 'आत्मनीन' अथवा 'आत्मनियोगसंपादक' का इतना ही सत्कार हो रहा

है। यही क्या कम है ? भला यह कभी 'होता' बन सकता है ? 'ब्रह्मबन्धु' और 'ब्राह्मण' में भेद जो है।

विदूषक—'विदूषक' के विषय में कुछ कहने के पहले यहीं इतना और भी जान लें कि इरावती उसे 'कामतन्त्रसचिव' कहती है। उसके कथन में कुछ सार है। वह सोच समझ कर ही कहती है—

उपपन्नं सर्वम्। ब्रह्मबन्धुनोद्दिष्टो दुष्प्रयोगः।

तथा—

इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः।

विदूषक भी अपनी ओर से निवेदन कर जाता है—

भवति ! यदि नित्यमेकमप्यक्षरं पठेयं ततो ननु गायत्रीमपि विस्मरेयम्।

'गायत्री' के प्रति ब्राह्मण की जो आस्था है उसका कुछ संकेत यहाँ हो जाता है। 'गुणकर्म' की कसौटी पर 'विदूषक' 'ब्राह्मण' नहीं ठहरता। इसी से कहा भी जाता है उसे 'ब्रह्मबन्धु'। तो भी जाति के कारण समाज में उसका सम्मान कुछ होता है अवश्य। पूर्वजन्म के संस्कार के कारण उसमें प्रतिभा का वास रहता है। वह उसी के सहारे अन्तःपुर की गुत्थी सुलझाता और आड़े समय पर राजा के काम आता है। उसके विषय में वात्स्यायन मुनि ने लिखा है—

एकदेशविद्यस्तु क्रीडनको विश्वास्यश्च विदूषकः वैहासिको वा ॥२३॥

[कामसूत्र, अधि० १, अ० ४]

'वैहासिक' तो वह होता ही है। नागर वा नायक के कटुजीवन में मधु घोलना उसी का काम है। परन्तु उसका नाम विदूषक क्यों है और क्यों इसका दृश्य काव्य में इतना मान है ? हमारी समझ में तो उसका महत्त्व है किसी दोष-दर्शन में ही। किसी प्रतिष्ठित वस्तु में अपनी अनुपम प्रतिभा और अनोखी सूझ से कोई ऐसा दोष निकाल कर कुछ ऐसा कह जाना जो उस दृष्टि से सर्वथा साधु हो, उसी का काम है। अपने 'गुण' तथा 'कर्म' से वह सबका खिलौना और विश्वासपात्र बनता है। फिर भी उसके सत्कार में उसके 'जन्म' का

योग रहता ही है। सच पूछिए तो 'ब्रह्मबीज' के इस 'अपदेश' का ही नाम है विदूषक। यदि इसका भी विकास ठीक से हो पाता तो यह कभी 'ब्रह्मबन्धु' के नाम से घोषित न होता। इसका शरीर सुन्दर नहीं तो क्या? इसका प्रसाधन तो इसके अनुरूप है? भाव यह कि 'विकृत' को 'विकृत' से सुशोभित कर 'विकृत' रूप में किसी को हँसा देना विदूषक का काम है। विद्वत्ता से उसका नेह नहीं, पर वह सीखता है कुछ न कुछ सभी विद्याओं को। भोग ही से उसका नाता है। योग से उसका नाता क्या? अपने जीते-जागते इसी 'आमोद' के कारण तो उसका किसी 'अप्सरा' से कहना है—

भवति ! किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम् ? न वा अश्यते न वा पीयते। केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना बिडम्ब्यन्ते।

[वि०, द्वि० अंक, १७ पृ०]

और किसी 'आचार्य' से निवेदन—

प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या। सा ननु वो विस्मृता।

[मा०, द्वि० अंक, ६ पृ०]

उत्तर भी मिला इसका—

महाब्राह्मण ! न खलु नेपथ्यसंगीतकमिदम्। अन्यथा कथं त्वामर्चनीयं नार्चयिष्यामः।

तो क्या ऐसे 'महाब्राह्मण' की पूजा 'समाज' को दिखाने के लिए ही होती है? संविधान से उसका नाता नहीं?

ब्राह्मण—'ब्राह्मण' पतितरूप में 'कामतन्त्रसचिव' किंवा 'क्रीडनक' बना तो क्या? 'विश्वास' तो अब भी उसका समाज को है न? 'कामयान' के पथिक 'अग्निवर्ण' का चोला छूट गया तो 'पुरोहित' ने विवेक से काम लिया और उसकी अन्त्येष्टि 'गृहोपवन' में ही हो गई। उस समय यह न देखा गया कि अब तक इनका दाहसंस्कार होता कहाँ था। हाँ, ध्यान इस बात का अवश्य रहा कि यह रोग अन्यत्र न फैल जाय। कवि ने कहा भी है स्पष्ट भाषा में—

तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः ॥५४॥१६॥

और राजा दुष्यन्त ने विषम परिस्थिति में जब कलप कर पूछा तब पुरोहित ने ही उसे उबारा। देखिए—

राजा—भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ॥२६॥५॥

पुरोहितः—(विचार्य) यदि तावदेवं क्रियताम्।

राजा—अनुशास्तु मां भवान्।

पुरोहितः—अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु। कुत इदमुच्यत इति चेत्। त्वं साधुभिरादिष्टपूर्वः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते।

भाव यह कि 'राजन्य' का 'शासन' ब्राह्मण के 'अनुशासन' के अधीन था और पुत्र पिता का प्रतिरूप समझा जाता था। 'लोकानुग्रह' में सदा एक दूसरे का ध्यान रहता था। फिर भी कुछ ऐसे कठोर ब्राह्मण भी थे जो धर्म पालन के कारण किसी को महत्त्व देना नहीं चाहते थे। 'आश्रम' के प्राणी 'नगर' की रीति का पालन क्या करें? तभी तो 'पुरोहित' तो अति आदरपूर्वक निवेदन करता और शार्ङ्गरव फटकारे सिद्ध का परिचय देते हैं। यदि आज की स्थिति होती तो कदाचित् वहीं 'शास्त्रार्थ' छिड़ जाता। परन्तु नहीं, पुरोहित ने चुपचाप सुन लिया और अपने शील का परिचय दे राजा का पूरा हित किया। उसका स्वागत है—

भो भोस्तपस्विनः असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। पश्यतैनम्।

शार्ङ्गरव का आचरण है—

भो महाब्राह्मण! काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः। कुतः—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥१२॥५॥

आश्रम—किन्तु क्या ऐसे 'मध्यस्थ' कभी 'परोपकार' भी कर सकते हैं ? काम तो 'नागरवृत्ति' से बनता है न ? सो तो ठीक है, पर ब्राह्मण को वस्तुतः रोष है राजा के गान्धर्व कृत्य पर। अन्यथा उसका स्वर कुछ और ही होता। और होता राजा का सत्कार भी कुछ और ही। रघु और कौत्स के व्यवहार पर ध्यान दें तो 'राजन्य' और 'ब्राह्मण' का आनन्द मिले। 'राजधानी' और 'आश्रम' का विरोध जाता रहे। लीजिए—

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥२॥
तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी।
विशांपतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥३॥५॥

'विधिज्ञ' रघु को 'पुरोहित' की आवश्यकता न पड़ी। अतिथि सत्कार हो गया तो समाचार के मुख खुले—

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे ! कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥४॥
कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्संभृतं वासवधैर्यलोपि।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥५॥
आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम्।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥६॥
क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥७॥
निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम्।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥८॥
नीवारपाकादि कडंगरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित्।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितसाधनं वः ॥९॥
अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥१०॥
तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥११॥

प्रश्नों से ही प्रगट हो जाता है कि उस समय का आश्रम-जीवन क्या था और कैसा था वहाँ उस समय आत्मीयता का प्रकाश कि 'मुनि' के अंक में मृग-शावक का 'नाभिनाल' गिरा करता था। जंगल में मंगल इसी को तो कहते हैं? तो भी यह हो क्या गया कि अकस्मात् इस शिष्य का दर्शन हुआ? क्या कुलपति ने प्रसन्न होकर शिष्य को राजा के पास भेजा? अवस्था तो विवाह के अनुकूल है न? तो फिर गृहस्थ बनने में विलम्ब क्यों? ऊहा को स्थान नहीं।

गुरुदक्षिणा—अति का परिणाम अच्छा कब हुआ जो किसी आश्रम में अप्रसन्नता का आगमन न हो जाय? ऐसे दयालु और हृदयालु कुलपति को 'गुरुदक्षिणा' की कामना क्या जो शिष्य से उसकी याचना करे? साथ ही वह शिष्य क्या जो गुरुदक्षिणा दिए बिना ही गृहस्थी का स्वप्न देखे? फलतः धर्म भी 'अति' के कारण संकट का हेतु बना। रघु के प्रश्न के उत्तर में कौत्स ने कहा—

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥२०॥

'महर्षि' की उदारता ठहरी कि उसने शिष्य की सेवा और भक्ति में ही सब कुछ पा लिया और उससे किसी 'गुरुदक्षिणा' की कामना न की। किन्तु शिष्य अपनी 'भक्ति' का पुरस्कार ऐसा क्या ले जो उसके किए पर पानी फेर दे और उसे एक व्यापारी का रूप दे दे? निदान उसका आग्रह अति को पहुँच गया और 'रोष' में आकर अन्त में महर्षि को 'गुरुदक्षिणा' माँगनी ही पड़ी। शिष्य का ही कथन है—

निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥२१॥

किन्तु क्या सचमुच यह सच भी है? हमारी समझ में तो महर्षि ने जान-बूझ कर चतुर्दश विद्या के लिए चतुर्दश कोटि की दक्षिणा माँगी। शिष्य का 'अर्थकार्श्य' ही वास्तव में इसका कारण था। कुलपति दरिद्र शिष्य से गुरुदक्षिणा क्या लें? परन्तु वह शिष्य ही क्या जो गुरुदक्षिणा दिए बिना साँस ले? फलतः द्वन्द्व छिड़ गया और इस संकट का सामना करना पड़ा सम्राट् रघु को। उस

समय यजमान रघु की अवस्था ऐसी न थी कि ब्रह्मचारी उससे चौदह कोटि के लिए मुँह खोले। लौटना चाहता ही था कि राजन्य का तेज जगा और बात की बात में कोषगृह 'सुवर्ण' से भर गया। फिर तो अधिक देने और रत्ती भर भी अधिक न लेने में होड़ लगी। कवि ने भी उल्लास में कुछ दिखाने के लिए लिख दिया—

> जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
> गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥३१॥

वृत्त—इससे भी महत्त्व की बात है कौत्स की राजा वा दाता के लिए शुभ कामना। कौत्स कहता है—

> किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
> अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥३३॥
> आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
> पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥३४॥५॥

किसी भी 'वृत्त'-परम्परा को चरितार्थ करने के निमित्त 'आत्मगुणानुरूप' पुत्र की कामना होती ही है। निदान यहाँ भी उसका उल्लेख है। 'वर्णाश्रम' की सफलता इसी 'वृत्त' में तो है? इसी से महाभारत में एक स्थल पर यहाँ तक कह दिया गया है कि 'वृत्त' ही 'द्विजत्व' का कारण है। कहते हैं—

> न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः ।
> कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥

कारण यह कि वास्तव में 'वृत्त' ही सब कुछ है और उसी के परिणामस्वरूप उपर्युक्त 'योनि' आदि सब कुछ प्राप्त होता और वर्तमान का विधान कर भाव्य को प्रभविष्णु बनाता है। वृत्त के आचरण में किसी अन्तराय की बाधा न हो इसी को दृष्टि में रख कर तो 'वर्णाश्रम' की व्यवस्था हुई? फिर भला 'वृत्त' के अभाव में किसी 'वर्णाश्रम' का विधान कैसा? वस्तुतः 'वृत्त' ही 'वर्णाश्रम' का प्राण है। 'जीवित' का जीव है। उसके बिना 'लोकानुग्रह' का स्वप्न कैसा?

शील—किन्तु वृत्त-मात्र के पालन से मानव का कल्याण नहीं हो जाता। उसके लिए तो शील वा सहज स्नेह की आवश्यकता होती है। जिसका सच्चा साक्षात्कार किसी आश्रम में ही हो पाता है। कवि ने 'हस्तिनापुर' और 'साकेत' में

यह स्पष्ट कर दिखाया है कि वास्तव में वर्णाश्रम की यथातथता क्या है। 'साकेत' का दर्शन हो गया तो हस्तिनापुर में प्रवेश कीजिए और ध्यान दीजिए इस वार्तालाप पर—

कञ्चुकी—इत इतो भवन्तः।

शार्ङ्गरवः—शारद्वत !

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥१०॥

शारद्वतः—स्थाने भवान्पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः। अहमपि-
अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥११॥५॥

निश्चय ही यह भेद है आचरण और आचार का। होने को तो हस्तिनापुर में भी आचरण हो रहा है वर्णाश्रम का ही, किन्तु इसमें वह शील कहाँ जो वर्णाश्रम का सर्वस्व है? विधि-विधान से दबा प्राणी यहाँ बस जी भर रहा है और जी भी रहा है 'सुखसंगी' के रूप से। यहाँ जीवन का आह्लाद कहाँ? वह तो तपोवन के आचार अथवा जीवित के सहज विकास में है न? संयत स्वच्छंदता के सामने संयमित सुखसंग कैसा? निदान तपोवन का प्राण नगर में घुट रहा है। वह देही को देखता पर देह से अपने को अलग पा रहा है। यहाँ दृश्य नहीं दिखावा जो है। तभी तो राजा दुष्यन्त भी किसी आश्रम में पहुँच कर कहता है—

स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।

सच है। मानव का अमृत स्रोत किसी आश्रम में ही है, कुछ किसी नगर वा राजधानी में कदापि नहीं।

आचार—आरण्यक और नागरक की अभिरुचि का अभी अभी जो दर्शन हुआ है उसकी छाया में हम देख सकते हैं कि वास्तव में वर्णाश्रमधर्म के आचरण के दो खंड हैं जिनमें से एक में हम 'ब्रह्मचर्य' और 'वानप्रस्थ' को

पाते हैं और दूसरे में 'गृहस्थ' और 'संन्यास' को। कदाचित् यही कारण है कि जब शकुन्तला ने जाते-जाते आश्रम की ओर देखकर पूछा था—

तात ! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये ?

तब तातकाश्यप ने भी सँभल कर कहा था—

श्रूयताम् ।

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥४॥

और जब अरण्योन्मुख रघु से आत्मज अज ने 'अपरित्याग' की याचना की थी तब रघु ने कुछ समझ कर ही निश्चय कर लिया था वहीं कहीं रह जाने का। कवि का कथन है—

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥१४॥८॥

'अन्त्याश्रम' का अर्थ 'वानप्रस्थ' करना ठीक नहीं। निश्चय ही वह 'संन्यास' है। इसी को कवि स्पष्ट कर स्वयं कहता है—

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥१६॥

तथा आगे चलकर फिर इसी 'यति' के स्पष्टीकरण में आप ही कह देता है—

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥२४॥
श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥२५॥८॥

आदर्श—तो क्या फिर भी किसी को यह मानने में सन्देह हो सकता है कि रघु ने 'यतिधर्म' को ग्रहण किया कुछ 'वानप्रस्थ' को नहीं ? संकोच को यहाँ स्थान नहीं। हाँ, रघु को समझने की आवश्यकता अवश्य है। सो प्रत्यक्ष ही है कि रघु को शिक्षा के हेतु किसी गुरुकुल में जाना नहीं पड़ा, अपितु घर पर ही उसकी सारी शिक्षा हो गई। देखिए न—

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥२९॥
धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥३०॥
त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥३१॥३॥

'रघु' के जीवन की यह विलक्षणता विशेषरूप से विचारणीय है। कारण यह कि यही 'रघुवंश' का मुख्य पात्र है और इसी के चरित्र को कवि ने यथार्थतः अपने काव्य का विषय बनाया है। जन्म से निधन तक इस पर जैसी दृष्टि कवि की रही है वैसी अन्य किसी पर भी नहीं। 'नन्दिनी' की कृपा का तो यह प्रसाद ही है। फिर इसका अहित कोई 'इन्द्र' क्या कर सकता है? यह तो किसी भी इन्द्रजाल के भेदन में समर्थ है न? देखिए न, इन्द्र की माया निष्फल जाती है माता 'नन्दिनी' के प्रसाद से। अश्वमेध का अश्व सहसा लुप्त हो गया तो इसी नन्दिनी के मूत्र के अंजन ने उसे गोचर कर दिया। कहते हैं—

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयागता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥४०॥
तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥४१॥३॥

'वसिष्ठधेनु' की कृपा का परिणाम यह हुआ तो स्वयं 'वसिष्ठ' की अनुकम्पा का यह कि वह अबाध गति से कहीं भी जाने में समर्थ हो गया। लीजिए न—

वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ॥२७॥५॥

'गोब्राह्मण' का प्रताप ठहरा। 'वर्णाश्रम' में उसकी महिमा मान्य है। परन्तु रघु के संस्कारमय जीवन में 'ब्रह्मचर्य' और 'वानप्रस्थ' का यह व्यतिक्रम क्या मान्य हो सकता है? निवेदन है, यही तो कवि का पक्ष है। कवि नहीं चाहता कि समर्थ परम्परा का पालन भर करे और समय पर 'देशकाल' को भी अपाने अनुकूल न बना ले। निदान रघु के प्रसंग में हुआ यही। उसने तो घर पर रहकर 'ब्रह्मचर्य' का आचरण किया और उसका 'गृहस्थ' भी इतना निस्पृह,

निरीह और निर्लिप्त रहा कि उसे 'वानप्रस्थ' की आवश्यकता न रही। उसे तो बस 'संन्यास' का जीवन बिताना रह गया। सो हृदयालु पुत्र के विनय को वह टाल न सका और वहीं कहीं कुटी बना अपने योगबल से परम ब्रह्मनिष्ठ का परिचय दे अन्त में ब्रह्मीभूत हो गया। पुत्र ने भी 'समाधि' दे उसकी ब्रह्मनिष्ठा का निर्वाह किया; किन्तु अपने आकुल हृदय की शान्ति के लिए साथ ही उसका श्राद्ध भी किया। हृदय ने ब्रह्म एवं भक्ति के ज्ञान को सरस बना 'जीवित' को धन्य कर दिया और वर्णाश्रम कोरा विधि का विधान नहीं मानव का धर्म समझा गया। जीवन धर्म नहीं तन्त्र बना और उसका मूलमन्त्र माना गया परप्रयोजन।

नारी—'रघु' के जीवन में जो 'आश्रम' का थोड़ा सा व्यतिक्रम दिखाई दिया वह कवि को इष्ट था। उसी को और भी हृदयंगम करने के लिए देखें यह कि 'उमा' के प्रसंग में भी कवि प्रायः कुछ ऐसा ही कर जाता है। उसका अधिकार-भेद ठहरा कुछ और ही। उसकी दृष्टि में नर-नारी में ऐसा भेद नहीं कि साधना के क्षेत्र में एक को दूसरे से सर्वथा अलग माना जाय। लीजिए। उसका पद्य है—

> कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम्।
> दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥१६॥
> विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि।
> नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥१७॥
> यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम्।
> तदानपेत्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥१८॥
> क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
> ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥१९॥५॥

'जुवतिन जोग कहाँ धौं' के पक्षपातियों को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए और मन में गाँठ देकर यह समझ लेना चाहिए कि वस्तुतः कोमल शरीर की क्षमता क्या है। 'काञ्चनपद्मनिर्मित' शरीर से क्या नहीं हो सकता जो नारी को 'योग' से विमुख समझा जाय! 'न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते' में 'वयः' का उल्लेख क्यों? 'लिंग' का निर्देश क्यों नहीं? क्या इससे स्वयं ही विदित नहीं

हो जाता कि तप में कोई 'लिंग-भेद' नहीं ? और भी। घटना और आगे की है। सप्तर्षियों के साथ 'अरुन्धती' का आगमन हुआ तो उनके स्वागत में कोई भेद नहीं रहा। वर्णन मननीय है—

तेषां मध्यगता साध्वी पत्युःपादार्पितेक्षणा।
साक्षादिव तपःसिद्धिर्बभासे बह्वरुन्धती ॥११॥
तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः।
स्त्री पुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महतां सताम् ॥१२॥
तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान्दारार्थमादरः।
क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥१३॥६॥

कार्यभेद—'सत्पत्नी' के विषय में और कहना क्या ? उसके अभाव में 'धर्म' का क्रियाकलाप कैसा ? 'ईश्वर' ने यदि 'स्त्री' और 'पुमान्' में कोई 'गौरवभेद' नहीं किया तो ठीक ही किया। उसका महत्त्व तो आज भी माना जा रहा है न ? किन्तु क्या सचमुच 'स्त्री' और 'पुमान्' में कोई भेद नहीं ? नहीं जी। इसी ईश्वर का वचन है यहीं—

आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति।
प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता ॥३०॥६॥

है। कार्यभेद तो इनमें अवश्य है; परन्तु तत्त्वतः इनमें भेद कहाँ ? वस्तुस्थिति तो यह है कि दोनों ही मिलकर सृष्टि के कारण हैं। देखिए। स्पष्ट स्तुति के रूप में कहा गया है—

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥७॥२॥

फिर भी 'स्त्री' के 'यतिधर्म' का सच्चा निर्देश नहीं। होता भी कैसे ? कहीं इसका प्रकरण भी तो नहीं है ? हाँ, प्रसंगवश इतना अवश्य कहा गया है—

अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ॥२१॥१॥

परिव्राजिका—अतः 'योग' में स्त्री का अधिकार तो सिद्ध है, पर 'संन्यास' में उसका विधान कहाँ ? सो इसके सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना समीचीन होगा। हमारी दृष्टि में 'मालविकाग्निमित्र' का यह प्रकरण विचारणीय

है। कारण कि हम इसे इसका प्रमाण मानते हैं। कृपया 'यतिवेष' पर ध्यान दें—

परिव्राजिका—अतः परमहं मन्दभागिनी कथयिष्यामि।

उभे—भर्तृदारिके आर्यकौशिक्या इव स्वरसंयोगः प्रतिभाति।

मालविका—अथ किम्।

उभे—यतिवेषधारिणी आर्यकौशिकी दुःखेन विभाव्यते। भगवति वन्दावहे। [पञ्चम अंक, १० पूर्व]

'यतिवेषधारिणी' पुकार कर कहता है कि स्त्री 'यतिधर्म' की अधिकारिणी है अन्यथा 'स्त्री' को इस 'वेष' की प्राप्ति कहाँ? 'परिव्राजिका' को बौद्ध भिक्षुणी मानने का कोई आधार नहीं। प्रतीत होता है कि इसी शंका को दूर करने के विचार से कवि ने इसके आगे 'तथागतभ्रातृकां' का उल्लेख कर यह स्फुट कर दिया है कि यहाँ सांकेतिक प्रयोग नहीं जो 'परिव्राजिका' को 'भिक्षुणी' मान लो। परिव्राजिका मालविका के अतीत के परिचय में अपने 'अग्रज' के विषय में कहती है—

स इमां तथागतभ्रातृकां मया सार्धमपवाह्य भवत्संबन्धकाङ्क्षया पथिकसार्थं विदिशागामिनमनुप्रविष्टः।

'वेष' तो इसका 'यति' का है न? फिर 'स्त्री' को 'यति' का 'अधिकार' क्यों नहीं? निश्चय ही कालिदास की दृष्टि में नारी को यह अधिकार है। अन्यथा 'यतिवेष' का महत्व क्या?

चतुर्वर्ग—कालिदास के 'जीवित' ने लोकयात्रा अथवा 'विकृति'-विकास के हेतु जो बौद्धिक श्रम किया उसका सारांश है वर्णाश्रम। वर्णाश्रमधर्म की प्रतिष्ठा का कारण है 'चतुर्वर्ग' की स्थापना। चतुर्वर्ग की सिद्धि के निमित्त ही चतुर्वर्ण और चतुराश्रम की व्यवस्था बनी और यह समझा गया कि वस्तुतः इससे मानवधर्म की स्थापना हो गई। इसके विरोध में जब जो कुछ हुआ अथवा इसके विपरीत जब जो भी उठा उससे कवि का कोई प्रयोजन नहीं। उसका आह्लाद तो बस इतना भर है—

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गवान्॥८४॥१०॥

[रघुवंश]

अथवा कुछ और भी प्रकट तथा व्यक्त रूप में—

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥२१॥१४॥

किन्तु वह इसके आगे भी कुछ और भी 'रूपक' वा 'उपमितिरूप' में कहना चाहता है, इसका हमें पता नहीं । हम तो बस इतना मात्र कहना चाहते हैं कि कवि का उल्लास है 'चतुर्वर्ग' की सिद्धि में । कह लें 'त्रिवर्ग' की पूर्ति में । कारण कि 'मोक्ष' तो आँख से परे की बात है न ? इसी से तो शासन की सफलता के विषय में कवि का कथन है—

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥५७॥१७॥

धर्म—निश्चय ही 'वर्णाश्रम' का महत्त्व है 'त्रिवर्ग' के इसी सन्तुलन वा सामंजस्य में । इनमें से किसी को भी अधिक महत्त्व देना ठीक नहीं । वर्तमान परिस्थिति में 'धर्म' की जो उपेक्षा हो रही है उसका दुष्परिणाम भी सामने है । कभी 'वर्णी' वा वटुवेषी शिव ने पार्वती से कहा था—

अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि ।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥३८॥५॥

[कुमारसंभव]

परन्तु हम भलीभाँति जानते हैं कि इस धर्म-सेवन का रहस्य क्या है । यही तो वह धर्म है जिसके फलस्वरूप 'काम' को फिर प्राण मिला ? 'कामार्थ' का उचित सेवन 'धर्म' ही है । दिलीप की प्रशस्ति में कहा गया है इसी से यह—

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥२५॥१॥

[रघुवंश]

अतः प्रकट हुआ कि लोकजीवन को मंगलमय बनाने के लिए 'धर्म' के सच्चे स्वरूप का बोध होना अति आवश्यक है । उसके सम्यग्ज्ञान के अभाव में कोई व्यवस्था ठहर नहीं सकती । इसी से 'पुरुषार्थ' में सबसे पहले उसी की गणना है । हमारी समझ में 'आश्रम' का यही काम है कि वह 'धर्म' की शिक्षा दे कर ब्रह्मचारी को समर्थ बना दे ।

आश्रम-विधान—आश्रमविधान से पुरुषार्थ की सिद्धि कैसे होती है, इसको भी यहीं देख लें। सो सर्वविदित है कि आश्रम का क्रम है-१-ब्रह्मचर्य, २—गृहस्थ, ३—वानप्रस्थ, और ४—संन्यास। तथा पुरुषार्थ का क्रम है—१—धर्म, २—अर्थ, ३—काम, और ४—मोक्ष। अस्तु। देखना अब यह है कि वस्तुतः इनका लगाव कैसा है। सो हमारा मत है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म की सिद्धि होती है। अर्थात् ब्रह्मचारी सभी प्रकार समझ जाता है कि धर्म की यथातथता क्या है और क्या है वास्तव में उसका सच्चा स्वरूप भी। इसी प्रकार 'गृहस्थ' में सिद्धि होती है 'अर्थ' की। 'गृही' को 'अर्थ' की चिन्ता है 'काम' की नहीं। अतः काम की सिद्धि होती है 'वानप्रस्थ' में। 'वानप्रस्थी' को ही अप्सरा का सामना करना पड़ता है न? स्मरण रहे, यहाँ 'निवृत्ति' का आदर है कुछ 'प्रवृत्ति' का सत्कार नहीं। 'त्याग' का आचरण है कुछ 'संभृत' का विधान नहीं। रहा 'संन्यास'। सो प्रत्यक्ष ही मोक्ष की सिद्धि का स्थान है। उसमें तो कोई विवाद नहीं। हाँ, सावधानी से समझने की बात यह अवश्य है कि 'यति' का महत्त्व कालिदास की दृष्टि में क्या है। सो हम देख ही चुके हैं कि उसका अधिकार 'क्षत्रिय' तथा 'नारी' को भी है। परन्तु उसके आचरण में 'वर्ण' की मर्यादा अवश्य है। अन्यथा 'शम्बुक' का बध कैसा?

पहले कहा जा चुका है कि 'ब्रह्मचर्य' और 'वानप्रस्थ' का कार्यक्षेत्र है 'अरण्य' तो 'गृहस्थ' और 'संन्यास' का 'आचार-क्षेत्र' है जनपद। 'जनपद' में 'गृही' रहता और 'यति' के सम्पर्क से सुष्ठु बनता है। इस प्रकार आश्रम-जीवन में प्रथम-तृतीय एवं द्वितीय-चतुर्थ का मेल है।

यज्ञ—'वर्ण' हो, 'आश्रम' हो, 'वर्ग' हो, कुछ भी क्यों न हो, सभी को होना है 'यज्ञ' के रूप में ही। 'वर्ण' की व्यवस्था 'समष्टि' की दृष्टि से विचारणीय है तो 'आश्रम' की 'व्यष्टि' की दृष्टि से। पहली में समाज व्यवस्थित रहता है तो दूसरी में 'व्यक्ति' वा जीव। अवस्था कोई भी क्यों न हो, पर जीव की कामना होती है कभी न कभी उससे मुक्ति की। इसी 'मुक्ति' का स्थूल रूप प्रगट होता है 'मरण' में। 'मरण' को जो 'प्रकृति' कहा गया है उसका मर्म है 'पुरुषार्थ' में। 'जीवित' को 'विकृति' कहा गया। बात सच है। विकृत

विलास ही जीवन है। उस जीवन से मुक्त होने का साधन है 'आश्रम'। परन्तु देश-काल से बद्ध होने के कारण उसकी साधना होगी 'समष्टि' में। निदान 'जीवित' का आधार है 'वर्णाश्रम'। कालचक्र के प्रभाव से इसमें जो विकार होता है उसको दूर करने का व्यापक प्रयास होता है 'पुरुष' के द्वारा। 'ब्रह्म' 'त्रिमूर्त्ति' के रूप में किस प्रकार कार्य करता है और 'अष्टमूर्ति' के द्वारा किस प्रकार मानव का कार्य सधता है, इसे भी हमने देख लिया है। निष्कर्ष रूप में निदान कहना यह है कि वस्तुतः 'होता' वा 'यजमान' ही 'शिव' का रूप है। कल्याण उसी का नाम है। जीव 'होता' बना नहीं कि 'वासना' की 'आहुति' हो गई। फिर 'विकृति' का मोह क्या? 'जीवित' की ममता क्यों? अब तो उसकी अनुभूति हो गई कवि की भारती में—

> बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
> त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥२६॥१०॥

प्रसाधन—तो भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार मानव उक्त धाराओं में कुछ विभेद करता या अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल उनमें निमग्न होता और उनको किसी न किसी रूप में गतिशील देखना चाहता है। जो कुछ भी हो, पर मानव सभी परिस्थितियों में करता यह है कि 'प्रकृति' को कुछ न कुछ अपने ढंग पर 'विकृति' बना देता है और उसे साधन से 'प्रसाधन' कह कर पुकारता है। इसमें उसका मन इतना रम जाता है कि 'अन्तकाल' में उसे इसी से सन्तोष होता है। तभी तो 'रति' का विलाप है—

> रचितं रतिपण्डित! त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम्।
> ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारु वपुर्न दृश्यते ॥१८॥
> विबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः।
> तमिमं कुरु दक्षिणेतरं चरणंनिर्मितरागमेहि मे ॥१९॥
> अहमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयणी भवामि ते।
> चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय! यावन्न विलोभ्यसे दिवि ॥२०॥
> मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेति मे।
> वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण! त्वामनुयामि यद्यपि ॥२१॥

क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परिलोकान्तरितस्य ते मया ।
सममेव गतोऽस्यतर्कितां गतिसङ्गेन च जीवितेन च ॥२२॥४॥

[कुमारसंभव]

कर्म-विपाक—'रति' का यह शोक सामान्य नहीं । 'जीवित' तो क्या, उसके प्रिय का 'अंग' भी सामने नहीं । शिव के कोप से वह भस्म जो हो गया था । यदि कहीं उसका शव सामने होता तो आज रति उसे जी भर सजाती और मन भर उसका मंडन कर आप भी उसके साथ सती हो जाती । परन्तु पिनाकी के कोप अथवा काम के करतब ने ऐसा कुछ भी होने नहीं दिया । निदान हुआ यह कि—

इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवा सरस्वती ।
शफरीं ह्रदशोषविक्लवां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत् ॥३९॥
कुसुमायुधपत्नि ! दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद्भविष्यति ।
शृणु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनार्चिषि ॥४०॥
अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ॥४१॥
परिणेष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवणीकृतो हरः ।
उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति ॥४२॥४॥

'काम' के भस्म हो जाने का मूल कारण तो यह था । इसकी जानकारी के अभाव में हम कहते यह कि काम यों मरा, काम त्यों मरा । परन्तु हम क्या उस दशा में सृष्टि के रहस्य को लख पाते ? समाधान के पहले जान लें यह भी कि—

इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम् ।
अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः ॥४३॥
तदिदं परिरक्ष शोभने ! भवितव्यप्रियसंगमं वपुः ।
रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ॥४४॥४॥

ब्रह्मवाणी—'आकाशभवा सरस्वती' का अभिज्ञान क्या ? पृथिवी का वासी मानव आज उसे पहिचान पाता है ? कहाँ की बात ! आज तो उसकी स्थिति ही कुछ और है । आज तो उसी की वाणी 'आकाशवाणी' बन गई है न ? बन ले, परन्तु इसका विचार तो करना ही होगा कि वस्तुतः इस ब्रह्मवाणी

का रहस्य क्या है ? क्यों प्राणी उसके चक्कर में पड़ा है ? प्रत्यक्ष के सामने परोक्ष का इतना महत्त्व क्यों ? स्मरण है न, कभी किसी ने किसी परिस्थिति में पड़ कर कुछ गुनने के बाद कहा था—

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।

सो तो ठीक । और आज की परिस्थिति में इससे अच्छा मूलमन्त्र कहाँ ? किन्तु यह कसौटी तो तब काम में आती है न जब मन दुविधा में पड़ गया हो और निर्णय का दूसरा कोई उपाय न हो ? परन्तु यहाँ तो सन्देह का नाम नहीं । कामदेव का देह कहाँ ? स्थिति तो 'प्रियमत्यन्तविलुप्तदर्शनम्' की है न ? और इसके अतिरिक्त गोचर कुछ है भी तो वह है भस्म की 'पुरुषाकृति' । फिर तो चेतना ने वह रूप धारण किया कि सारी प्रकृति एकप्राण हो उठी । कवि क भारती में—

अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी ।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ।।४।।४।।

निश्चय ही 'आकाशभवा सरस्वती' का साक्षात्कार उसी को हो सकता है जिसको 'वसुधालिङ्गनधूसर' बनने का अवसर मिला हो और जिसका दुःख भी सब का 'समदुःख' बन गया हो । सारांश यह कि जिसका 'जीवित' समष्टि का अंग बन गया हो और 'व्यष्टि' को 'मरण' का भय न रह गया हो उसी को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है कुछ व्यक्ति मात्र को नहीं । विधि-विधान में व्यवहार की प्रधानता है । विधाता 'विषवृक्ष' को भी सजीव रखते और वज्र तथा अमृत को एक साथ पनपाते हैं । सामने जो कुछ घटित होता है उसी को हम सब कुछ समझ त्राहि-त्राहि में पड़ जाते हैं । अन्यथा यदि व्यापक और उदार दृष्टि से देखें तो अवगत हो कि भस्म में ही भव्य छिपा है तथा 'अथ' से 'इति' कहीं उदात्त है । हाँ, आवश्यकता है यह समझने की कि—

अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।।८६।।५।।

अतएव 'नियमज क्लम' का स्वागत विश्वमंगल का बीज है । 'क्लेश' ही आनन्द की आँख है । कुछ भोग नहीं ।

अनामिका सार्थवती बभूव

प्रस्तुति—'कविकुलगुरु' कालिदास के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है वह कहाँ तक उनकी महिमा के अनुरूप है, कह नहीं सकता। तो भी यह जन इतना तो जानता ही है कि कभी किसी विदग्ध ने इतना भर कह देना पर्याप्त समझा कि कालिदास की तुलना में कवि कहाँ ? उसकी मर्मभरी वाणी है—

> पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
> अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

किन्तु 'अनामिका' के 'सार्थवती' होने से हुआ क्या ? कालिदास की गणना से हाथ क्या लगा ? 'कवि' कुछ और कहना नहीं चाहता और न 'सहृदय' कुछ और जानना ही चाहता है। उसका कहना-सुनना तो बस इतने में ही हो गया। परन्तु नहीं, लेखा-जोखा से मानव मुक्त कब हुआ ? निदान किसी का मुख खुला—

> महाकविं कालिदासं वन्दे वाग्देवतागुरुम्।
> यज्ज्ञाने विश्वमाभाति दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥

'हलायुध' को कालिदास की रचना क्या मिली, उनको तो विश्व का दर्पण ही मिल गया। परन्तु उस 'दर्पण' में 'विश्व' को देखा कितने प्राणियों ने ? किसी ने भी नहीं। क्यों ? कारण को समझ लेना कठिन नहीं। निवेदन 'पूर्णसरस्वती' का है—

> प्रतिपदमखिलार्थव्याकृतौ कः कृती स्यात्
> सुमतिभिरनुभाव्ये कालिदासस्य काव्ये।
> प्रभवति परिमातुं को विशेषानशेषान्
> वपुषि सुकृतिदृश्ये विश्वरूपस्य विष्णोः ॥६॥

[मेघ-सन्देश, विद्युल्लता टीका, आरम्भ]

व्याचिकीर्षा—तो भी मानव ने माना कब है ? मानव हारने वाला प्राणी नहीं। निदान इन्हीं 'पूर्णसरस्वती' जी को झख मार कर कहना पड़ा—

निधौ रसानां निलये गुणानामलङ्कृतीनामुदधावदोषे ।
काव्ये कवीन्द्रस्य नवार्थतीर्थे या व्याचिकीर्षा मम तां नतोऽस्मि ॥७॥

ठीक ही तो है। यदि किसी को ऐसी 'व्याचिकीर्षा' ही न हो तो किसी के मुख से ऐसी वाणी निकले ही क्यों ! 'श्रीकृष्ण' कवि की अनुभूति ठहरी। कंठ से फूटी तो हृदय में जा रमी। कवि-सामाजिक का भेद मिटा और सबका स्वर एक साथ गूँज उठा—

अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

नववधू—सचमुच कालिदास की वाणी सर्वथा 'विमर्दहृद्या' है। 'प्रियाङ्कपाली' की उपमा का कहना ही क्या ? स्वयं कालिदास ही कहते हैं—

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥१॥३॥

[ऋतुसंहार]

'शरन्नववधू' का यह रूप कितना ही रम्य क्यों न हो किन्तु इसको ठीक-ठीक समझ पाना खेल नहीं। कारण यह कि इसी 'नववधू' का एक दूसरा रूप भी हमारे सामने आता है। देखिए—

आदीप्तवह्निसदृशैर्मरुतावधूतैः
सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः ।
सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं
रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः ॥२१॥६॥

[ऋतुसंहार]

वेष—लीजिए। कहाँ तो पहले 'नववधू' 'काशांशुका' थी और कहाँ अब हो गई 'रक्तांशुका'। तो फिर कालिदास की 'नववधू' की वास्तविक भूषा है क्या जो उसे 'विमर्दहृद्या' समझा जाय ? कालिदास ने एक ही रचना में 'नववधू' को यह रूप क्यों दे दिया कि हम असमंजस में पड़ गए और यह समझ न सके कि वास्तव में उसका वेष है क्या। साथ ही यह भी स्पष्ट रहे कि जहाँ 'शरत्' में हमने उसके अलंकरण का दर्शन किया है 'वहीं' 'वसन्त' में उसके वस्त्रमात्र

का। कारण कुछ तो होगा ही। कालिदास की प्रिया का यह दोहरा नववधू-रूप कुछ खटक सा जाता है और विवेक चाहता है कि इसका मर्म पा ले। सो कवि का ही कथन है—

सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा।
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥११॥७॥

[कुमारसंभव]

रक्तांशुका—इससे इतना तो स्फुट ही हो गया कि 'नववधू' का 'काशांशुका' होना ही विहित है। विवाह के हेतु वधू का यही मंगलनेपथ्य है। तो फिर 'रक्तांशुका' नववधू का रहस्य क्या? स्थिति कदाचित् भवभूति के इस विवरण से स्पष्ट होती है। प्रतीहारी कामन्दकी से कहती है—

एतत्तावद्धवलपट्टांशुकचोलकमेतच्चोत्तरीयरक्तवर्णांशुकम्।

[मालतीमाधव, षष्ठ अंक, ७ प०]

प्रकट ही है कि भवभूति के यहाँ 'चोलक' तो 'धवल' है किन्तु 'उत्तरीय' है 'रक्त'। तो क्या इसका अर्थ यह ग्रहण किया जा सकता है कि पार्वती ने अभी केवल 'चोलक' धारण किया था कुछ 'उत्तरीय' नहीं? बात है तो ऐसी ही! कारण यह कि इसी के पश्चात् पार्वती का 'प्रसाधन' होता है। परन्तु इससे सधता तो कुछ भी नहीं। कारण यह कि 'प्रसाधन' के अनन्तर होता यह है कि वह 'नवक्षौमनिवासिनी' बन जाती है—

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना ॥२६॥७॥

[कुमारसंभव]

अतएव मानना ही पड़ता है कि 'वधू' के रूप में पार्वती सर्वथा 'काशांशुका' ही हैं कुछ 'रक्तांशुका' नहीं। हाँ, 'रक्तांशुका' भी वह अवश्य हैं, पर 'वधू' नहीं 'साधिका' वा 'राजकन्या' के रूप में। देखिए। कवि का कितना सटीक कथन है—

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥५२॥
अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥५३॥

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥५४॥३॥

काशांशुका—अस्तु । यह तो स्पष्ट ही है कि कालिदास ने 'नववधू' को 'काशांशुका' के रूप में देखा है और सच तो यह है कि यही दशा बहुत कुछ 'शिव' जी की भी है । कवि कहता है—

तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥७२॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः ।
वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥७३॥
तया प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुःकुमुदः कुमार्या ।
प्रसन्नचेतःसलिलः शिवोऽभूत्संसृज्यमानः शरदेव लोकः ॥७४॥७॥

शिव-पार्वती की भूषा सर्वथा 'शुक्ल' ही है, इसमें संदेह हो तो कृपा कर कवि के इस कथन पर ध्यान दें और देखें यह कि वस्तुतः कवि का मार्ग क्या है । उसका कथन है—

प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम् ।
सांनिध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥७८॥
प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥७९॥७॥

[कुमारसंभव]

और इस 'त्रियामा' के प्रसंग में स्मरण यह रहे कि वस्तुतः यह 'चाँदनी रात' है । कवि की भाषा में—

तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती मेघावरोधपरिमुक्तशशाङ्कवक्त्रा ।
ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना वृद्धिं प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला ॥७॥३॥

[ऋतुसंहार]

साथ ही यह भी स्पष्ट रहे कि कवि की दृष्टि में—

काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हंसैर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि ।
सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥२॥३॥

[ऋतुसंहार]

विवाहनेपथ्य—भाव यह कि 'कविकुलगुरु' ने 'शरन्नववधू' को जो 'काशांशुका' कहा है वही 'पार्वती' में भी सर्वथा चरितार्थ हुआ है । और क्यों न हो ? 'सत्त्व' का प्रतीक यही 'शुक्ल' तो है ? निदान मानना ही पड़ता है कि कालिदास की दृष्टि में उत्तम विवाहनेपथ्य यही है । इसे ब्राह्मण-वेष समझिए । नववधू मालविका का वेष है—

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी
लघुभिराभरणैः प्रतिभाति मे ।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका
गतहिमैरिव चैत्रविभावरी ॥७।२॥

[मालविकाग्निमित्र]

अग्निमित्र का यह कथन भी 'काशांशुका' के पक्ष में ही है न ? किन्तु क्या अर्थ समझा जाय देवी धारिणी के इस वचन का—

मर्षयतु भगवती । अभ्युदयकथया यन्मया न लक्षितम् । जयसेने गच्छ त्वं तावत्कौशेयपत्त्रोर्णमस्यै शीघ्रमुपहर ।

और क्या महत्त्व समझा जाय उनके इस कर्म का—

(मालविकामवगुण्ठ्य) इदानीमार्यपुत्रः प्रतीच्छतु ।

[वही, १८ पृ०]

निश्चय ही 'आर्य-विवाह' में इसका भी महत्त्व है । स्मरण रहे, कभी विदूषक ने राजा से कहा था—

अद्य खलु देव्या धारिण्या पण्डितकौशिकी भणिता । भगवति यदि त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे वैदर्भं विवाहनेपथ्यम् इति । तयापि सविशेषालंकृता मालविका ।

[वही, ३ पृ०]

निवसन—'मालविका' के 'वैदर्भ विवाहनेपथ्य' में 'निवसन' और 'अवगुंठन' का उल्लेख तो हो गया पर उससे उनके रंग का कुछ भी पता न चला । उधर 'शकुन्तला' पर दृष्टिपात करते हैं तो उसकी स्थिति कुछ न कुछ स्फुट अवश्य दिखाई देती है । देखिए न शकुन्तला का प्रसाधन वनदेवता की कृपा से कितना सरल हो जाता है । कवि किस उल्लास में कहता है—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै—
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥५॥४॥

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

इसमें संदेह नहीं कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस अवतरण में 'क्षौम' का रंग स्पष्ट है। वह प्रत्यक्ष ही 'इन्दुपाण्डु' जो है। परन्तु विचारणीय यह है कि वस्तुतः इस 'क्षौम' की व्याप्ति कितनी है। सो आगे चलकर हम देखते यह हैं कि सखियाँ शकुन्तला से स्पष्ट कहती हैं—

हला शकुन्तले अवसितमण्डनासि। परिधत्स्व सांप्रतं क्षौमयुगलम्।

'क्षौमयुगल' की व्याख्या में कहा जा सकता है कि इनमें से एक तो है 'निवसन' और दूसरा है 'अवगुंठन'। पहले 'निवसन' का उल्लेख लीजिए। कथन स्वयं शकुन्तला का ही है। वह चलते-चलते रुक कर कहती है—

को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते ?

अवगुंठन—'निवसन' के विषय में विवाद संभव नहीं। हाँ, 'अवगुंठन' की स्थिति चिन्त्य अवश्य है। कारण यह कि प्रायः उसका अर्थ 'घूँघट' मात्र समझा जाता है और आज एक साड़ी मात्र से 'निवसन' और 'अवगुंठन' दोनों का काम सरलता से ले लिया जाता है। परन्तु कालिदास के यहाँ तो ऐसा नहीं दिखाई देता। प्रसंग राजसभा का है। शकुन्तला राजा दुष्यन्त के दृष्टिपथ में आई नहीं कि उनके कंठ से फूट निकला—

कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥१३॥५॥

प्रतीहारी की सूझ भी असफल रही। समाधान में निवेदन हुआ—

देव! कुतूहलगर्भः प्रहितो न मे तर्कः प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते।

ध्यान देने की बात है कि राजा तथा प्रतीहारी की दृष्टि में शकुन्तला का पूरा 'शरीर' वा सारी 'आकृति' है कुछ मुख मात्र नहीं जो 'अवगुण्ठनवती' का

अर्थ 'घूँघटवाली' कर लिया जाय। इसके अतिरिक्त 'गौतमी' की साखी भी इसके विपक्ष में नहीं। कारण, वह भी तो यही कहती है न—

जाते! मुहुत मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति।

यहाँ भी 'अपनेष्यामि' का प्रयोग प्रायः इसी पक्ष में है। राजा के सामने यहाँ भी उसका 'रूप' ही है। देखिए वह आप ही कहता है शकुन्तला को भरपूर देख कर—

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नापि शक्नोमि हातुम् ॥१९॥५॥

'परिभोग' सारे 'रूप' का ही होगा न?

जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि इस 'अवगुण्ठनवती' को देखते ही दुष्यन्त ताड़ गया था कि हो न हो यह किसी की विवाहिता अवश्य है। तभी तो वह प्रतीहारी से कहता भी है—

भवतु। अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

कारण यही कि वस्तुतः 'अवगुंठन' वधू का वेष है। 'मालविका' के प्रसंग में पहले इसकी चर्चा हो चुकी है। यहाँ शूद्रक की साखी लीजिए। शर्विलक की प्रिया मदनिका गणिका-सेवा से मुक्त हो गई है। वसन्तसेना की इस कृपा का कहना ही क्या? कृतज्ञतावश शर्विलक मदनिका से कहता है—

स्वस्ति भवत्यै। मदनिके?

सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥२४॥४॥

[मृच्छकटिक]

एवं शूद्रक का विट भांडारीसेना की दुहिता कुमुद्वती को आशीर्वाद देता है—

अहो नु खलु निष्कैतवोऽनुरागः। अनपहासत्त्वमसेतद्राजयौतकम्। महिष्यावगुण्ठनभागिनी भवत्वेषा।

[पद्मप्राभृतकम्]

वर्ण——अस्तु। हमें यह मान लेना चाहिए कि वास्तव में यह 'अवगुंठन' भी एक स्वतन्त्र वस्त्र है। है तो, किन्तु है यह वस्तुतः किस वर्ण का? 'काशांशुक' वा 'रक्तांशुक'? 'पाण्डुपत्र' और 'किसलय' के अप्रस्तुत विधान में यदि इसका कुछ संकेत है तो यही कि यह 'रक्तांशुक' ही है। कारण यह कि यह 'किसलय' का वर्ण सिद्ध होगा। अन्यथा इसे भी 'इन्दुपाण्डु' ही मानना होगा। कालिदास का सचमुच अभीष्ट क्या है, यह अन्वेषण का विषय है। तो भी इतना तो विदित ही है कि इसका उल्लेख हुआ है कवि कालिदास की 'मालविका' तथा 'शकुन्तला' के वेष में ही। शकुन्तला को यह 'अवगुंठन' कब और किससे मिला, इसमें विवाद हो सकता है, किन्तु मालविका की स्थिति तो अत्यन्त स्फुट है। कारण हम भली भाँति जानते हैं कि पंडितकौशिकी से 'विवाहनेपथ्य' के रूप में उसे यह नहीं मिला। उसको देख कर इसके अभाव में भी तो विदूषक ने राजा से कहा था—

भो वयस्य! किमपि वैवाहिकनेपथ्येन सविशेषं खलु शोभते तत्रभवती मालविका।

[मालविकाग्निमित्र]

निदान मानना ही पड़ता है कि 'अवगुंठन' 'विवाहनेपथ्य' का अंग नहीं। हाँ, गान्धर्व विवाह का पूरक अवश्य है। शूद्रक ने निश्चय ही उसे 'वधू' का परिचायक कहा है। 'मालविका' को प्रत्यक्ष ही इसकी प्राप्ति 'देवी' से हुई है। और कहा चाहें तो कह लें कि शकुन्तला को इसकी प्राप्ति हुई है 'वन-देवता' से।

प्रत्युद्गमनीय वस्त्र—'प्राजापत्य' विवाह में 'अवगुंठन' की स्थिति क्या है, इसका पता बताना कुछ कठिन अवश्य है। कारण यह कि कालिदास ने कहीं इसे स्पष्ट नहीं किया है। पार्वती के प्रसंग में उन्होंने एक स्थान पर 'गृहीतप्रत्युद्गमनीय-वस्त्रा' का निर्देश किया है तो दूसरे स्थान पर 'नवक्षौम-

निवासिनी' का संकेत। रही इन्दुमती की स्थिति, सो उसके विषय में भी आप का कहना है—

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥१०॥६॥

[रघुवंश]

'पतिंवरा' का यही 'क्लृप्तविवाहवेष' आगे भी बना रहा है। 'विधिवद्‌गृहीता' इन्दुमती का वेष इससे कुछ भिन्न वा अलग नहीं। स्मरण रहे 'वर' अज के विषय में कवि का वचन है—

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥
महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥१८॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥१९॥७॥

[रघुवंश]

किन्तु 'वधू' के वेष में कहीं किसी परिवर्तन का उल्लेख नहीं। 'अज' और 'शिव' के 'विवाहनेपथ्य' में जो एकता है वही 'इन्दुमती' और 'पार्वती' के 'विवाहनेपथ्य' में भी होगी, इसमें संदेह नहीं। परन्तु जैसा कि पहले कह चुके हैं इससे सरलता से सधता कुछ भी नहीं। हाँ, इतना आभासित अवश्य होता है कि यहाँ भी 'दुकूलयुग्म' अथवा 'क्षौमयुगल' का विधान होगा।

दुकूलयुग्म—अच्छा, तो लगे हाथ इस 'दुकूलयुग्म' की भी कुछ मीमांसा हो ले तो अच्छा। 'वर्णी' तपश्चर्या में मग्न पार्वती को छेड़ता और खुल कर समझाता है—

अवस्तुनिर्बन्धपरे ! कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः ।
करेण शंभोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥६६॥
त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥६७॥५॥

[कुमारसंभव]

इससे इतना तो विदित ही हो गया कि 'वधू' का एक 'दुकूल' 'कलहंस' से चित्रित होता था। उधर हम यह भी देखते हैं कि कवि 'अतिथि' के 'राज्याभिषेक' के प्रसंग में कहता है—

आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान्।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥२५॥१७॥

सो 'कुमारसंभव' का 'वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं' 'रघुवंश' के 'हंसचिन्हदुकूलवान्' के सर्वथा अनुरूप है न? तो फिर इसके आधार पर खुलकर क्यों न कह दिया जाय कि वर-वधू का 'दुकूल' 'कलहंसलक्षण' भी होता था? 'कलहंस' और 'हंस' का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

हाँ, तो 'योगमर्हतः' की व्याख्या में संजीविनीकार मल्लिनाथ लिखते हैं—

पाणिग्रहणकाले वधूवरयोर्वस्त्रान्तग्रन्थिः क्रियते। कृत्तिवाससा पाणिपीडने तु दुकूलधारिण्यास्तव कथं संघटिष्यत इति भावः ॥६७॥

प्रावारक—अब, यदि यही बात है तो, कहना ही होगा कि यह कलहंसलक्षित दुकूल 'विवाहनेपथ्य' का अंग था और किसी उत्तरीय के रूप में धारण किया जाता था। कह लें एक प्रकार का अवगुंठन वा प्रावारक था। घूँघट से इसका लगाव नहीं। घूँघट के रूप में इसे देखना हो तो बाण के इस वर्णन पर ध्यान दें—

अथ तत्र कतिपयाप्तप्रियसखीस्वजनप्रमदाप्रायपरिवाराम्, अरुणांशुकावगुंठितमुखीं प्रभातसंध्यामिव स्वप्रभया निष्प्रभान्प्रदीपकान्कुर्वाणाम्, अतिसौकुमार्यशङ्कितेनेव यौवनेन नातिनिर्भरमुपगूढाम्, साध्वसनिरुध्यमानहृदयदेशदुःखमुक्तैर्निभृतायतैः श्वसितैरपयान्तं कुमारभावमिवानुशोचतीम्, अत्युत्कम्पिनीं पतनभियेव त्रपया निष्पन्दं धार्यमाणाम्, हस्तं तामरसप्रतिपन्नमासन्नग्रहणं शशिनमिव रोहिणीं भयवेपमानमानसामवलोकयन्तीम्.........अधोमुखं वरकौतुकालोकनाकुलं मुहुर्मुहुः कृतमुखोन्नमनप्रयत्नं सखीजनं हृदयं च निर्भर्त्सयन्तीं वधूमपश्यत् ॥

[हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास, अन्त]

और यह जान लें कि विवरणभक्त बाण भी 'विवाहनेपथ्य' के विषय में यहाँ इतना ही कहना अलं समझते हैं—

कृतपरिणयानुरूपवेशपरिग्रहां गृहीत्वा करे वधूं निर्जगाम । जगाम च नवसुधाधवलां निमन्त्रितागतैस्तुषारशैलोपत्यकामिव त्र्यम्बकाम्बिका-विवाहाहूतैर्भूभृद्भिः परिवृताम् ।

[वही]

हंसचिह्न—अस्तु । हमें 'त्र्यम्बक' और 'अम्बिका' के 'विवाहनेपथ्य' को भली भाँति परखना चाहिए । सो त्र्यम्बक के 'नेपथ्य' के विषय में विशेष तो कुछ कहना नहीं । हाँ, प्रसंगवश इतना निवेदन भर कर देना है कि कविगुरु ने इसी प्रसंग में इतना और भी स्पष्ट कर दिया है कि वास्तव में 'हंसचिह्न' का विधान था क्या । देखिए न शिव की महिमा कि—

बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः ।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुकूलभावः ॥३२॥७॥

[कुमारसंभव]

यहाँ भी 'संजीविनी' टीका है—

गजाजिनस्यैवोपान्तभागेष्वञ्चलप्रदेशेषु रोचनैवाङ्को हंसादिचिह्नं यस्य स तथोक्तो दुकूलभावः पट्टांशुकत्वं च बभूव ।

साथ ही 'बाण' का यह वर्णन भी—

अमृतफेनधवले गोरोचनालिखितहंसमिथुनसनाथपर्यन्ते चारुचामर-वायुप्रनर्तितान्तदेशे दुकूले वसानम् ।

[कादम्बरी, आरंभ]

धौतवस्त्र—प्रतीत होता है कि दुकूल के चारों खूँटों पर हंसमिथुन छपा होता था और गोरोचन से यह छाप बनाई जाती थी । स्थिति कुछ भी रही हो पर समझने की बात यह है कि पार्वती के नेपथ्य में कहीं इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है । हाँ, 'वर्णी' के कथन में इसका निर्देश अवश्य है । विचारने की बात है कि जो 'वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं' की बात कही गई है उसका संकेत क्या है । हमारी समझ में तो यह 'वधूदुकूल' ही मुख्य 'पत्युद्गमनीयवस्त्र' है । टीका में मल्लिनाथ ने लिखा है—

पत्युर्वरस्योद्गमनीयवस्त्रं धौतवस्त्रम् । 'धौतमुद्गमनीयं स्यात्' इति हलायुधः । 'तत्स्यादुद्गमनीयं यद्धौतयोर्वस्त्रयोर्युगम्' इत्यमरः ।

युगग्रहणं तु प्रायिकाभिप्रायम्। अत एवात्र क्षीरस्वामी-'युगं प्रायशो यल्लक्ष्यं तदेव' इति व्याख्याय 'गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा' इत्येतदेवोदाहृतवान्। गृहीतं पतिं प्रत्युद्गमनीयवस्त्रं यया सा। धौतवस्त्रमाच्छादितवतीत्यर्थः।

परन्तु यह 'आच्छादन' हुआ किस रूप में, कुछ इसका भी तो विचार होना चाहिए? सीधे से समाधान में कहा जा सकता है कि ऊपर से लपेट भर लिया। हो सकता है। किन्तु फिर इसके अनन्तर जो आगे यह कहा गया कि 'नवक्षौमनिवासिनी सा' उसका रहस्य क्या है। मल्लिनाथ तो सरलता से यहाँ भी लिख जाते हैं—

नवं नूतनं क्षौमं दुकूलं निवस्त आच्छादयतीति नवक्षौमनिवासिनी।

विधि—किन्तु इससे किसी विधि का पता कहाँ चला? निदान इसके जानने का प्रयत्न होना चाहिए। सो कालिदास ने इसके पहले ही बतला दिया है कि पार्वती के वस्त्र धारण करने की विधि है—

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना

अथवा 'सौभाग्य' के सदुद्योग में—

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥८॥५॥

[कुमारसंभव]

जी। पहले 'तरुणार्करागं' का विधान था और अब 'बालारुणबभ्रु' का चुनाव हो गया। और टीका में मल्लिनाथ ने इनको स्पष्ट किया 'बालार्कारुणं' तथा 'बालार्कपिङ्गलं' के रूप में। तो क्या रुचि 'अरुण' से 'पिङ्गल' पर जा पड़ी? 'वर्णी' ने इसी से तो इसे कहा भी था 'वार्धकशोभि वल्कलम्'। किन्तु ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि उभय दशाओं में धारण करने की विधि का उल्लेख है एक ही प्रदेश में। हाँ, दोनों में भेद इतना अवश्य है कि पहले में जहाँ 'वसाना' का विधान था वहीं दूसरे में 'बबन्ध' का विधान हो गया। तो क्या पहला सिला और दूसरा बिनसिला माना जा सकता है? कह तो नहीं सकते फिर भी 'बाण' का उदाहरण है—

अत्रान्तरे स्वयंभुवोऽभ्याशे समुपविष्टा देवी मूर्तिमती पीयूषफेन-पटलपाण्डुरं कल्पद्रुमदुकूलवल्कलं वसाना. बिसतन्तुमयेनांशुकेनोन्नतस्तनमध्यबद्धगात्रिकाग्रन्थिः।

[हर्षचरित, आरम्भ]

ग्रन्थि—'सावित्री' की इस भूषा के साथ ही 'पाशुपतव्रता कन्यका' के इस वेष पर ध्यान दें तो कदाचित् इस 'बबन्ध' का कुछ भेद खुले। उसी बाण का विवरण है—

अधोमुखहरशिरःकपालमण्डलाकारेण मोक्षद्वारनियुक्तकलशकान्तिना स्तनयुगलेनैकहंसमिथुनसनाथामिव गङ्गाम्, गौरीसिंहसटामयेनेव चामर-रुचिराकृता स्तनयुगलमध्यनिबद्धग्रन्थिना कल्पतरुलताबल्कलेन कृतोत्तरी-यकृत्याम्, अयुग्मलोचनसकाशात्प्रसादलब्धेन चूडामणिचन्द्रमयूखजा-लेनेव मण्डलीकृतेन ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्; आप्रपदीनेन च स्वभावसितेनापि ब्रह्मासनबन्धोत्तानचरणतलप्रभापरिष्वङ्गाल्लोहिता-यमानेन दुकूलपटेन प्रावृतनितम्बाम्।

[कादम्बरी, चन्द्रापीड-प्रसंग]

निश्चय ही यहाँ 'ग्रन्थि' का सम्पादन 'उत्तरीय' में हुआ है 'स्तनयुगल-मध्य' में 'सावित्री' और 'पाशुपतव्रता' का यह वेष कहाँ तक 'पार्वती' के मेल में है? पार्वती की भूषा में 'वल्कल' मात्र का उल्लेख है। यदि दो वल्कलों का निर्देश होता तो इसका निरूपण इसी रूप में हो जाता। परन्तु यहाँ तो एक ही 'वास' और एक ही 'वल्कल' का स्पष्ट उद्घोष है। अतएव मानना ही पड़ता है कि इससे कटिप्रदेश भी अवश्य आच्छादित होगा। फलतः हमारी धारणा है कि यह 'वास' और यह 'वल्कल' 'पयोधरों' को प्रायः आच्छादित करता हुआ आजानु व्याप्त था। इसकी अभिव्यक्ति के लिए 'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' के चित्र २१७ तथा ४१२ द्रष्टव्य हैं। विशेषतः ४१२। कारण यह कि वस्तुतः यही 'वल्कल'-परिधान की विधि है।

अन्तरीयग्रन्थि—प्रसंगवश यहीं यह जान लेना चाहिए कि शिव की योगभूषा के सम्बन्ध में कवि का कथन है—

भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥४६॥३॥
[कुमारसंभव]

तो क्या इस 'ग्रन्थिमती' विधि का बोध किसी प्रकार यहीं हो सकता है ? निवेदन है कि 'कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीला' का विधान इसी हेतु तो हुआ है ? हमारी बुद्धि में तो यह आता है कि यह ग्रन्थि वास्तव में कण्ठ के नीचे ही है और इसी से इसको तथा इसके आस-पास के कृष्णचर्म को विशेष नील वर्ण की प्राप्ति हुई है। भाव यह कि यह भी परिधान उसी प्रकार पहना गया है जिस प्रकार पार्वती का 'वल्कल' पहना गया था। ग्रन्थि दोनों की कंठ के नीचे ही है। पार्वती के प्रसंग में कवि ने जो 'स्तन' का उल्लेख किया है उसका इस 'कण्ठ' के लेख से विरोध नहीं। स्थिति दोनों दशाओं में एक ही है। भेद उत्तुंगता के कारण अवश्य है। वास्तव में इस परिधान की ऊपरी सीमा होती है काँख। बाहुमूल के नीचे तक ही इस आच्छादन की गति है। वक्षस्थल को आच्छादित कर लेने के विचार से ही इसको इस प्रकार ग्रहण किया जाता है। एक वस्त्र से ही धड़ को आच्छादित करने का यह एक ढंग है। कह लें साधु ढंग है। इसमें वक्षस्थल से कटिप्रदेश तक आप ही आच्छादित हो जाता है और हाथ कुछ भी करने को सर्वथा स्वतन्त्र रहता है। इसको 'सावित्री' की 'उन्नतस्तनमध्यबद्धगात्रिकाग्रन्थि' से भिन्न समझना चाहिए। उक्त ग्रन्थि का स्थान 'स्तनयुगलमध्य' के नीचे है तो इसका ऊपर। वह 'उत्तरीय' की ग्रन्थि है तो यह 'अन्तरीय' अथवा 'अधोवस्त्र' की। उसकी विधि के विषय में महाकवि 'माघ' का यह कथन विचारणीय है। प्रसंग 'पुष्पावचय' का है। कवि इसी को लक्ष्य कर लिखता है—

प्रियमभि कुसुमोद्यतस्य बाहोर्नवनखमण्डनचारुमूलमन्या ।
मुहुरितरकराहितेन पीनस्तनतटरोधि तिरोदधेंऽशुकेन ॥३२॥
विततवलिविभाव्यपाण्डुलेखाकृतपरभागविनीलरोमराजिः ।
कृशमपि कृशतां पुनर्नयन्ती विपुलतरोन्मुखलोचनाऽवलग्नम् ॥३३॥
प्रसकलकुचबन्धुरोद्धुरोरः प्रसभविभिन्नतनूत्तरीयबन्धा ।
अवनमदुदरोच्छ्वसद्दुकूलस्फुटतरलक्ष्यगभीरनाभिमूला ॥३४॥७॥
[शिशुपालवध]

गात्रिकाग्रन्थि—'माघ' के 'प्रसभविभिन्नतनूत्तरीयबन्धा' का लगाव कालिदास के 'स्तनभिन्नवल्कला' से कहाँ तक है, इसे कौन कहे ? परन्तु इतना तो विदित ही है कि 'माघ' ने अन्यत्र भी कहा है—

उत्तरीयविनयात्त्रपमाणा रुन्धती किल तदीक्षणमार्गम् ।
आवरिष्ट विकटेन विवोढुर्वक्षसैव कुचमण्डलमन्या ।।४२।।
अंशुकं हृतवता तनुबाहुस्वस्तिकापिहितमुग्धकुचाग्रा ।
भिन्नशङ्खवलयं परिणेत्रा पर्यरम्भि रभसादचिरोढा ।।४३।।१०।।

[शिशुपालवध]

'अचिरोढा' का यह 'तनुबाहुस्वस्तिकापिहितमुग्धकुचाग्रा' विशेषण विचारणीय है साथ ही स्थिति को स्पष्ट करने में सर्वथा समर्थ भी स्मरण रहे सावित्री की 'गात्रिकाग्रन्थि' की व्याख्या में 'हर्षचरित' के टीकाकार 'शंकर' ने 'संकेत' किया है—

गात्रिकागन्थिर्ग्रन्थिविशेषः स्वस्तिकाकारः स्त्रीणामुत्तरीयस्य स्तनोद्देशे भवति ।

तो प्रकट ही है कि 'बाण' जिसको 'गात्रिका' कहते हैं 'माघ' उसीको 'स्वस्तिका'। हाँ, 'माघ' कृपा कर इतना और भी स्पष्ट कर देते हैं कि 'आपिहितमुग्धकुचाग्रा' के साथ 'तनुबाहु' का भी विधान है। भाव यह कि इस 'ग्रन्थि' का सम्बन्ध 'कुच' के साथ ही 'बाहु' से भी है। अर्थात् यह 'उत्तरीय' की 'ग्रन्थि' है कुछ 'अन्तरीय' वा 'अधोवस्त्र' की नहीं। हमारी समझ में तो यह परिवेष और कुछ नहीं उत्तरीय का बना हुआ 'कूर्पासक' ही है। अस्तु, इस परिधान किंवा 'गात्रिकाग्रन्थि' की जो ऊहा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने की है वह समीचीन नहीं प्रतीत होती और न उनका 'उत्तरीय की गात्रिका ग्रन्थि' का चित्र ही उक्त विवरण के अनुकूल भासता है। उनका निर्वचन है—

"सावित्री के शरीर के ऊपरी भाग में महीन अंशुक की स्तनों के बीच बँधी हुई गात्रिकाग्रन्थि थी (स्तनमध्यबद्धगात्रिकागन्थि, १०) (चित्र ३)। गात्रिका से ही हिन्दी का गाती शब्द निकला है। ब्रह्मचारी या संन्यासी अभी तक उत्तरीय की गाती बाँधते हैं।

[हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५]

किन्तु बाँधते हैं गाती क्या इसी विधि से ? हमको तो प्रत्यक्ष ही इसमें भ्रान्ति दिखाई देती है।

वधूवेष—जो हो, परिस्थिति यह कहने को सर्वथा अनुकूल है कि वास्तव में पार्वती की भूषा थी एक ही वस्त्र वा वल्कल की जिसकी 'ग्रन्थि' थी युगलस्तन के मध्य में ऊपर की ओर। तपश्चर्या में मग्न पार्वती की भूषा के बारे में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उलझन तो खड़ी हुई थी 'नववधू' की भूषा को लेकर न ? सो उसी को सुलझाना साधु प्रतीत होता है। लीजिए। कथन है बाण का ही। पार्वती के पूरे 'परिकर्म' से प्रयोजन क्या ? प्रकरण की पुकार है—

मंगलमज्जनविशदा कर्पूरक्षोदपाण्डुरं क्षौमम्।
साधत्त जलदधौता द्यौरिव शरदिन्दुचन्द्रिकोद्भेदम् ॥१३॥५॥

[पार्वतीपरिणय]

सो निश्चय ही पार्वती का 'विवाहनेपथ्य' सर्वथा श्वेत ही है कुछ रक्त नहीं। किन्तु उधर श्रीहर्ष की उड़ान है—

सन्ध्यासरागः ककुभो विभागः शिवाविवाहे विभुनाऽयमेव।
दिग्वाससा पूर्वमवैमि पुष्पसिन्दूरिकापर्वणि पर्यधायि ॥१०॥
सतीमुमामुद्वहता च पुण्यसिन्दूरिकार्थं वसने सुनेत्रे।
दिशौ द्विसन्धीमभिरागशोभे दिग्वाससोभे किमलम्भिषाताम्

[नैषधीयचरित ॥११॥२२]

पुष्पसिन्दूरिका—और 'पुष्पसिन्दूरिका' के विषय में इसके टीकाकार श्री नारायण शास्त्री का परिचय है—

विवाहस्य चतुर्थे दिने प्रथमदिवसपरिहितानि वस्त्राणि प्रक्षालनार्थं परित्यज्य पुष्पसिन्दूरिकाख्यपर्वणि कौसुम्भादिरक्तवस्त्राणि वधूवरेण परिधीयन्त इति वृद्धाचारः। तत्रेशस्य दिग्वसनत्वाद्रक्तपश्चिमभाग एवानेन परिहित इत्यर्थः। वर्णकभूतपुष्पस्थाने ताराः, सिन्दूरिकास्थाने सन्ध्यासरागः पश्चिमदिग्भाग इति भावः ॥१०॥

एवं इसी प्रसंग में इतना और भी द्रष्टव्य है—

विवाहे वस्त्रं रञ्जनाय कस्यचित्करे समर्प्यते, तस्माच्छिवेन दिग्वल-यरूपे मम द्वे वस्त्रे भवतीभ्यां रक्तशोभे प्रापणीये इति सन्ध्याद्वयमाज्ञप्तं सद्दिग्द्वयं रक्तशोभं चकारेत्यर्थ इति वा।

यदि यही वस्तुस्थिति है तो 'रक्तांशुका नववधू' का रहस्य भी यहीं खुल गया। अन्यथा राजशेखर के इस संदर्भ पर ध्यान दें—

देवी—[अपवार्य] वत्से कुवलयमाले ! प्रेक्षस्वात्मनो भर्तुः सुसिद्धं महिलावेषम्।

[कुवलयमाला अवनतमुखी हसति]

राजा—[स्वगतम्]

दिवस इवास्मि सतापश्चन्द्रमुखीत्वेन रात्रिवच्चैषा।
इदमपि चान्तररचितं रक्तांशुकमावयोः सन्ध्या ॥११॥४॥

देवी—

आर्यपुत्र ! उद्घाट्यतां मुखमस्याः। उदेतु भवनगर्भे चन्द्रः।

[विद्धशालभञ्जिका]

परिणय—'रक्तांशुका नववधू' का यह रूप पाणिग्रहण के पहले का है। कारण यह कि इसके पश्चात् ही देवी फिर 'राजा' से कहती है—

आर्यपुत्र ! सांप्रतं भ्रामर्यो दीयन्तां हुतवहे हूयन्तां लाजाः।

कारण कदाचित् यह है कि गान्धर्वादि विवाह की यही विधि है। याज्ञिकमूर्धन्य रामकृष्ण का प्रमाण है—

गृह्यपरिशिष्टेऽपि—

गान्धर्वासुरपैशाचविवाहा राक्षसाश्च ये।
पूर्वं परिणयस्तेषां पश्चाद्धोमो विधीयते ॥

परिणयः स्वीकारः। अकृते तु होमे न भार्यापतिभावः। तदुक्तं वशिष्ठ-बौधायनाभ्यां वीरमित्रोदये—

बलादपहृता कन्या यदि मन्त्रैर्न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥ इति ॥

संस्कारावश्यकत्वमाह यमः—

नोदकेन विना चायं कन्यायाः पतिरुच्यते ।
पाणिग्रहणसंस्कारात्पतित्वं सप्तमे पदे ॥ इति ॥

[संस्कारगणपति, पृष्ठ २५६]

गान्धर्व—तो क्या, यदि परिस्थिति ठीक होती तो गौतमी भी 'किसलयांशुका, शकुन्तला के 'अवगुंठन' को लक्ष्य कर राजा दुष्यन्त से न कहती—

आर्य ! उद्घाट्यतां मुखमस्याः ।

किन्तु विधि की विडम्बना तो देखिए कि भाग्यवश कहना पड़ा उसे स्वयं शकुन्तला से—

अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम् । ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति ।

जो हो, ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि 'वसन्त' को कालिदास ने 'योद्धा' के रूप में ही देखा है । देखिए न उनका स्पष्ट कथन है—

प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः ।
मनांसि भेत्तुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ॥१॥६॥

[ऋतुसंहार]

फलतः कवि को 'भूमि' भी इस समय 'रक्तांशुका' ही दिखाई देती है तो ठीक ही है । योद्धा को 'गान्धर्व' ही प्रिय है न ? गान्धर्व विवाह में 'नववधू' का 'रक्तांशुक' होना विहित है । यह हमने भली भाँति देख भी लिया । निदान मानना ही पड़ता है कि कवि ने यहाँ भी 'वर्णाश्रम' की मर्यादा का निर्वाह किया है और बड़ी सावधानी से 'काशांशुका' तथा 'रक्तांशुका' का परिचय दिया है ।

राग—परिणीता नववधू की 'पुष्पसिन्दूरिका' की रक्त भूषा का रहस्य कदाचित् यह है कि अब उसमें भी 'राग' का उदय भरपूर हो गया । याज्ञिक रामकृष्ण की व्याख्या विचारणीय है । कहते हैं—

संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रं षड्रात्रन्त्रिरात्रमन्तत इति सूत्रम् । विवाहदिनादारभ्य संवत्सरं यावन्न मिथुनमुपेयातां ब्रह्मचारिणौ स्याताम् । द्वादशरात्रं वा षड्रात्रं वा त्रिरात्रं वा । तथा च शौनकः—

अत ऊर्ध्वं त्रिरात्रं तौ द्वादशाहमथापि वा ।
शक्तिं वीक्ष्य तथाऽब्दं वा चरतां दम्पती व्रतम् ॥
अक्षारालवणाहारौ भवेतां भूतले तथा ।
शयीयातां समावेशं न कुर्यातां वधूवरौ ॥

समावेशं मैथुनम् । तथा च हिरण्यकेशीसूत्रम्—त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनावधःशायिनावलङ्कुर्वाणौ ब्रह्मचारिणौ वसत इति । स्मृतिः—

विवाहे दम्पती स्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ ।
अलंकृतावधश्चैकसहशय्यासनासनौ ॥

[संस्कारगणपति, पृष्ठ २११]

फलतः कहा जा सकता है कि 'रक्तांशुक' अनुरक्त का द्योतक है । स्वयं कवि की वाणी में वसन्त की स्थिति यह है कि सभी रक्त पर ही अनुरक्त हैं । देखिए न—

गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि ।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्गः ॥१३॥६॥

[ऋतुसंहार]

और 'शरद्' की स्थिति यह कि इसमें 'रति' नहीं 'प्रीति' का प्रचार है। इसी से तो कवि का उल्लास है—

विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी
विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना ।
कुमुदरुचिरहासा कामिनीवोन्मदेयं
प्रतिदिशतु शरद्वश्चेतसः प्रीतिमग्र्याम् ॥२६॥३॥

वर्णविचार—'रक्त' और 'शुक्ल' का दर्शन भी कवि ने एक साथ किया है और दिया है 'रक्त' को अधःस्थान ही । एक नहीं अनेक अवसर पर हृदय का स्थान मिला है श्वेत को ही । प्रसंग 'वसन्त' का ही है । कवि कहता है—

कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम् ।
तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलङ्क्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥४॥६॥

तथा 'हेमन्त' की स्थिति है—

अन्या प्रियेण परिभुक्तमवेक्ष्य गात्रं
हर्षान्विता विरचिताधरचारुशोभा ।
रक्तांशुकं परिदधाति नवं नताङ्गी
व्यालम्बिनीलललितालककुञ्चिताक्षी ॥१६॥४॥

साथ ही 'वर्षा' में यह कि—

दधति पृथुकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं
प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः ।
नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजीं
ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः ॥२५॥२॥

[ऋतुसंहार]

परन्तु 'रक्तांशुक' कभी 'स्तनांशुक' रहा हो और 'सितांशुक' ने 'नितम्बांशुक' का काम किया हो, ऐसा कहीं कालिदास के यहाँ हो तो इस जन को पता नहीं। तो क्या कालिदास के यहाँ वस्त्र-विधान में भी वर्ण की मर्यादा है ? वर्णानुसार ही वस्त्र का शरीर में संस्थान है ? स्थिति कुछ भी हो, शास्त्र की मर्यादा है—

वस्त्रविषये मनुः—

ब्राह्मणस्य सितं वस्त्रं नृपते रक्तमुल्बणम् ।
पीतं वैश्यस्य शूद्रस्य नीलं मलवदिष्यते ॥

रक्तं धातुरक्तमुल्बणं निविडम् । नीलं नीलीरक्तम् । मलवत् कृष्णम् ।

[विधानपारिजात]

नील—परन्तु हम देखते हैं कि उर्वशी को 'नीलांशुक' ही प्रिय है। देखिए। उसी का प्रश्न है—

हला चित्रलेखे। अपि रोचते तेऽयं मेऽल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोभिसारिकावेषः ?

[विक्रमोर्वशीय, तृ० अंक, ६ प०]

'अभिसारिकावेष' के अतिरिक्त अभिरमण रूप में भी। कारण कि वियोगी पुरूरवा का उल्लास है—

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिर्निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम् ।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्यामिदं स्तनांशुकम् ॥४॥७॥

तो क्या कविगुरु ने यहाँ 'शास्त्र' की उपेक्षा की है ? कैसे कहा जाय ? जब कि शास्त्र की मर्यादा है—

स्कान्देऽपि—

नीलीरक्तन्तु यद्वस्त्रं दूरतस्तद्विवर्ज्जयेत् ।
स्त्रीणां क्रीडार्थसंयोगे शयनीये न दुष्यति ॥

[विधानपारिजात, पृष्ठ १६४, द्वि० खंड]

और वहीं—

कम्बले पट्टसूत्रे च नीलीदोषो न विद्यते ।

का विधान दोष का लेश भी नहीं छोड़ता ।

कुमारी-वेष—साथ ही इसी क्रम में यह भी ज्ञात रहे कि राजशेखर का किसी कुमारी-वेष के विषय में कहना है—

विदूषकः—

भो वर्धापयिष्ये । कुमारिका खलु एषा । एतस्या नेपथ्यलीलया लक्ष्यते ।

राजा—

यथाह प्रियवयस्यः ।
कन्येति सूचयति वेषविशेष एव
यन्नीलचोलकवती लिखितात्र चित्रे ।
पाणिग्रहात्प्रभृति तु प्रमदाजनस्य
नीवीनिवेशसुभगः परिधानमार्गः ॥३४॥

(विमृश्य)

अहो वपुःश्रीर्लिखितुर्जनस्य
स्वाकारसंवादि यदत्र चित्रम् ।
इदं च पौरन्ध्रमवैमि कर्म
रेखानिवेशोऽत्र यदेकधारः ॥३५॥

(सम्यग्विलोक्य)

तदियं मकरध्वजवैजयन्ती कापि स्वयमेव स्वं लिखितवतीति निर्णीयते ।

[विद्धशालभञ्जिका, प्रथम अंक]

अतएव 'नीलचोलक' का रहस्य यहाँ भी अभिसरण ही है । यह 'कुमारिका' अपने प्रिय के यहाँ ही थी । निदान इसका संकेत यही है । हाँ, स्मरण रहे कन्या का यह 'वेषविशेष' जिसमें 'नीवि' को स्थान नहीं । कालिदास ने तभी तो रागानुगा पार्वती को कहा है—

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।

वाग्दान—सो तो ठीक । किन्तु क्या समझा जाय कवि कालिदास के इस कथन का अर्थ—

इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्धया विमृश्य सः ।
आददे वचसामन्ते मङ्गलालंकृतां सुताम् ॥८७॥६॥

[कुमारसंभव]

उद्देश्य तो विदित ही है । लीजिए । पिता इस 'मङ्गलालंकृता' पुत्री के हेतु जो कुछ करता है यह है—

एहि विश्वात्मने वत्से ! भिक्षासि परिकल्पिता ।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥८८॥
एतावदुक्त्वा तनयामृषीनाह महीधरः ।
इयं नमति वः सर्वांस्त्रिलोचनवधूरिति ॥८९॥६॥

सचमुच 'महीधर' ने इस 'त्रिलोचनवधू' में सब कुछ कह दिया । फल-यह हुआ कि—

ईप्सितार्थक्रियोदारं तेऽभिनन्द्य गिरेर्वचः ।
आशीर्भिरेधयामासुः पुरःपाकाभिरम्बिकाम् ॥९०॥
तां प्रणामादरस्रस्तजाम्बूनदवतंसकाम् ।
अंकमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती ॥९१॥

तन्मातरं चाश्रुमुखी दुहितृस्नेहविक्लवाम्।
वरस्यानन्यपूर्वस्य विशोकामकरोद्गुणैः ॥८२॥
वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्क्षणं हरबन्धुना।
ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः ॥८३॥६॥

[कुमारसंभव]

जी हाँ, यह और कुछ नहीं 'कन्यावरण' वा 'वाग्दान' का विधान है।

प्रमाणकल्प—विधान की सूक्ष्मता का कालिदास को इतना ध्यान है कि कहीं किसी अवसर पर चूकते नहीं दिखाई देते। यहाँ तक कि शकुन्तला के गान्धर्व विवाह को लक्ष्य कर प्रसंगतः लिख जाते हैं—

दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।

और कदाचित् इसी को प्रमाण मान श्री अनन्त भट्ट निवेदन करते हैं—

गान्धर्वादिविवाहेऽपि होम उक्त आश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे।
गान्धर्वासुरपैशाचा विवाहाश्च सराक्षसाः।
पूर्वं परिणयस्तेषां पश्चाद्धोमो विधीयते ॥ इति ॥

यथा दुष्यन्तेन राज्ञा शकुन्तलायां गान्धर्वेण परिणीतायां कण्वेन प्रवासात् प्रतिनिवृत्य पश्चाद्धोमः कृतः। एतेन मातुलसुताविवाहविषये विवादोऽपि परास्तः।

[विधानपारिजात, तृतीय स्तवक, पृष्ठ ६११]

और कालिदास के लिए यह कोई नई बात नहीं। कारण कि मीमांसा के प्रकांड पंडित श्री कुमारिल भट्ट भी तो बड़े भाव से कह जाते हैं अपने 'तन्त्र-वार्तिक' ग्रन्थ में सदाचार-प्रामाण्य के प्रकरण में—

एवं च विद्वद्वचनाद्विनिर्गतं प्रसिद्धरूपं कविभिर्निवेदितम्।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

[विक्रमादित्य और उनके नवरत्न, पृ० १६४]

किस 'कवि' का उद्घोष यहाँ उच्च स्वर से हुआ है? इसके कहने की आवश्यकता नहीं। कालिदास के दुष्यन्त का हृदय ही कुछ ऐसा था जो सहसा उसमें यह भाव उठा—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥२०॥१॥

किन्तु शिव ने उसका मार्ग नहीं पकड़ा और 'वाग्दान' की शरण ली। पार्वती की प्रेरणा वा विधि के विधान से।

अभ्यंगनेपथ्य—'त्र्यम्बक' और 'अम्बिका' के 'विवाह' की विधि बैठ गई तो ठीक तिथि पर 'अभ्यंग' की सूझी। फलतः—

मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु ।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो या पतिपुत्रवत्यः ॥६॥
सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।
निर्नाभि कौशेयमुपात्तबाणमभ्यङ्गनेपथ्यमलंचकार ॥७॥७॥

[कुमारसंभव]

किन्तु इससे ठीक 'अभ्यंगनेपथ्य' का बोध कहाँ हुआ ? हाँ, 'निर्नाभि' से कुछ ऊपर की सीमा का भान अवश्य हो गया। तो भी नीचे की सीमा का पता क्या ? अन्यत्र भी कविगुरु का इतना भर निवेदन है—

अन्याश्चिरं सुरतकेलिपरिश्रमेण खेदं गताः प्रशिथिलीकृतगात्रयष्ट्याः ।
संहृष्यमाणपुलकोरुपयोधरान्ता अभ्यञ्जनं विदधति प्रमदाः सुशोभाः ॥

[ऋतुसंहार ॥१८॥४॥]

'कुमारसंभव' के अभ्यंगनेपथ्य' का कुछ पता 'ऋतुसंहार' के इस 'संहृष्यमाणपुलकोरुपयोधरान्ता' से हो जाय तो अच्छा ही अन्यथा 'वररुचि' के विट के इस कथन को लें और देखें कि सचमुच उसका यथार्थ बोध हो गया वा नहीं। सो उसका कथन है—

वासु ! अतिपरिश्रान्तजघनाप्यायनकरस्य नानागन्धाधिवासितस्य सुरभिगन्धिनो गन्धतैलस्यात्माङ्गस्पर्शप्रदानेन किमनुग्रहः क्रियते ? भद्रमुखि ! अवतारितघण्टाग्रैवेयककक्षाया राजौपवाह्यकरेणोरिवावमुक्तालङ्काराया निर्व्याजमनोहररूपायाश्चारुशोभं ते वपुर्यो न पश्यति स खलु वञ्चितः स्यात्। कुतः—

मुक्तालङ्कारशोभां नखपदरचितां गन्धतैलाङ्गरागा-
मीषत्ताम्रान्तनेत्रां प्रहसितवदनां यौवनौष्ण्यस्तनाढ्याम् ।
सुश्लक्ष्णार्द्धोरुवस्त्रां व्यपगतरशनां व्यायतश्रोणिबिम्बां
दृष्ट्वा त्वां चारुरूपां प्रविचलितधृतिर्मन्मथोऽप्यातुरः स्यात् ॥२८॥

[उभयाभिसारिका]

वररुचि ने जिस 'अर्द्धोरुवस्त्र' का उल्लेख किया है उसको प्रसाधन प्रेमी 'अर्द्धोरुक' कहते हैं। एक दूसरे कवि आर्यश्यामिलक इसको दृष्टि में रख कर लिखते हैं—

विपुलतरललाटा संयताग्रालकत्वात् ।
रुचिरजघनभारा वाससार्द्धोरुकेण ।
विवृततनुरपोढप्रागलङ्कारभारा
कथय कथमगम्या पुष्पिता स्त्रीलता स्यात् ॥४०॥

[पादताडितक]

तात्पर्य यह कि यह 'जघन-नितम्ब' का आच्छादक है। इससे आगे इसकी गति नहीं। 'निर्नाभि' से 'अर्द्धोरु' तक इसकी मर्यादा है।

अभिषेकनेपथ्य—पार्वती के 'अभ्यंगनेपथ्य' का बोध हो गया तो अब उनके 'अभिषेकनेपथ्य' पर ध्यान देना चाहिए। कवि का कथन है—

तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥६॥
विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे ।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयांबभूवुः ॥१०॥७॥

[कुमारसंभव]

तो 'अभिषेकयोग्य' का अर्थ क्या ? 'बाण' यहाँ भी स्थिति को कुछ स्पष्ट करते हैं। देखिए—

कौशिकी—

असमग्रभूषणायास्तनुतरकौशेयवासधारिण्याः ।
आलिप्तमङ्गमखिलं तैलेन सुगन्धिना तस्याः ॥११॥

हिमवान्—ततस्ततः ।
कौशिकी—
मणिपीठवर्तिनीं तां मङ्गलशङ्खेषु मन्द्रघोषेषु ।
अम्भोभिरमरनद्याः सखीजनो विहितमज्जनां व्यतनोत् ॥१२॥५॥

[पार्वतीपरिणय]

'तनुतरकौशेयवासधारिणी' 'अभिषेकनेपथ्या' पार्वती का दर्शन हो गया तो यहाँ कुश के 'अन्तःपुर' के सामान्य स्नाननेपथ्य का साक्षात्कार कीजिए। कहते हैं कि—

संदष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ॥
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥६५॥१६॥

[रघुवंश]

इससे प्रगट ही है कि पार्वती का 'अभिषेकनेपथ्य' कालिदास की दृष्टि में भी प्रायः वही था जो 'बाण' के प्रकृत वर्णन में व्यक्त हुआ है। 'तनुतर' नहीं तो 'तनु' कौशेय तो यहाँ भी रहा ही होगा। 'स्नानशाटिका' का उल्लेख संस्कृत-साहित्य में पाया जाता है। तो क्या इसे भी किसी प्रकार की 'स्नानशाटिका' ही समझा जाय ? जो हो, विदूषक ने वसन्तसेना से ठीक ही तो कहा था—

भवति ! समर्प्यतां मम स्नानशाटिका ।

[मृच्छकटिक, पंचम अंक, अन्त]

और शर्विलक ने भी 'जर्जरस्नानशाटीनिबन्ध' 'अलंकरणभांड' का सेंध में दर्शन किया था। अतः सरलता से कहा जा सकता है कि पावती का 'अभिषेक-योग्य' वस्त्र भी कुछ विशेष प्रकार का ही रहा होगा।

कौतुकवेष—'मंगलस्नान' के अनन्तर पार्वती का जो कौतुक-वेष बना उसमें 'गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा' का उल्लेख सबसे पहले हुआ है और 'नवक्षौम-निवासिनी' का सबके पश्चात्। तो फिर इसका रहस्य क्या है ? श्रीहर्ष ने तो ऐसे अवसर पर दमयन्ती के विवाहनेपथ्य के विषय में इतना ही लिखा है—

असौ मुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद्दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला ।
द्वयस्य वर्षाशरदं तदानीं सनाभितां साधु बबन्ध सन्ध्यया ॥२१॥

पुरा प्रभिन्नाम्बुददुर्दिनीकृतां निनिन्द चन्द्रद्युतिसुन्दरीं दिवम् ।
शिरोरुहौघेण घनेन वर्षता क्वचिद्दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला ॥२२॥
विरेजिरे तच्चिकुरोत्कराः किराः क्षणं गलन्निर्मलवारिविप्रुषाम् ।
तमः सुहृच्चामरनिर्जयार्जिताः सिता वमन्तः खलु कीर्तिमुक्तिकाः ॥२३॥
म्रदीयसा स्नानजलस्य वाससा प्रमार्जनेनाधिकमुज्ज्वलीकृताः ।
अदभ्रमभ्राजत साश्मशाणनात्प्रकाशरोचिः प्रतिमेव हेमजा ॥२४॥१५॥

[नैषधीयचरित]

प्रतिभा का प्रखर पांडित्य ठहरा । स्थिति से इसका लगाव क्या ? २२ और २३ को छोड़कर पढ़ें तो दमयन्ती का सौन्दर्य और भी खिल उठे । २२ को प्रक्षिप्त कहा भी गया है । परन्तु जानना तो हमें यह है न कि उस समय 'विवाहनेपथ्य' कैसा होता था अथवा था क्या ? सो श्रीहर्ष के सामने उतना नहीं जितना कालिदास के सामने है । कालिदास को वह इष्ट है तो श्रीहर्ष को निमित्त । इसी से कालिदास उसके स्वरूप का बोध कराना चाहते हैं तो श्रीहर्ष उसको निमित्त बना अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन । बाण की भी दशा बहुत कुछ यही है । छवि उतारना उनका काम हो सकता है पर छवि की सच्ची आरती उतरती है कालिदास के यहाँ ही जिसमें उस समय का समाज भासमान हो उठता है । इसी से तो कविगुरु कालिदास ने यहाँ भी अपनी कला का परिचय दे यह प्रकट कर दिया है कि काव्य समझने का धन्धा है समझाने का उद्योग नहीं । 'विवाहनेपथ्य' अथवा 'कौतुकवेष' को स्फुट करने के विचार से ही कवि-गुरु ने उसका दो बार अलग अलग उल्लेख किया है । एक तो 'गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा' के रूप में और दूसरा 'नवक्षौमनिवासिनी' के रूप में । कह लें 'अन्तरीय' और 'उत्तरीय' के रूप में ।

वस्त्रद्वय—सो वस्तुस्थिति के उद्बोधन के विचार से याज्ञिक रामकृष्ण का स्पष्टीकरण है—

अथैनां वासः परिधापयतीति । परिधापयतीति मन्त्रस्यापि तदर्थत्वात् परिधापयिता अन्य इत्यवगम्यते । स किं वरः अध्वर्युर्वा ? श्रौतेषु अध्वर्योः कर्तृत्वम् । अतो वर एव परिधापयिता । भर्तृयज्ञमते तु आचा-

यंकर्तृकं परिधापनम्। आचारादहतं वासो ग्राह्यम्। अहतलक्षणं कश्यपेनोक्तम्—

अहतं यन्त्रनिर्मुक्तं वासः प्रोक्तं स्वयम्भुवा।
शस्तं तन्मङ्गले नूनं तावत्कालं न सर्वदा॥ इति॥

वस्त्रं कन्यापित्रा दत्तम्। 'अस्मिन्नेव समये कन्यापिता वस्त्रद्वयं वराय प्रयच्छति, तन्मध्ये एकं वरः कुमारीं परिधापयति' इति प्रयोगरत्ने। "जराङ्गच्छेति" मन्त्रेण। हरिहरमते तु मधुपर्कपूजनसमये कन्यापिता वराय वस्त्रचतुष्टयं प्रयच्छति, तन्मध्ये वस्त्रद्वयं स्वयं परिधत्ते, उर्वरितं वस्त्रद्वयं कन्यायै परिधापयति।

[संस्कारगणपति, पृष्ठ २५७–८]

ध्यान देने की बात है कि 'शिव' की भाँति ही 'अज' के विषय में भी कालिदास ने स्पष्ट लिखा है—

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः॥१८॥७॥

[रघुवंश]

'वर' के 'वस्त्रद्वय' का उल्लेख तो स्पष्ट है। इसमें किसी को संदेह क्या? हाँ, ननु नच को है स्थान 'वधू' के 'वस्त्रद्वय' के बारे में। सो हमारी समझ में कवि के उक्त उल्लेखों से वह भी आप ही प्रकट है। साथ ही कवि का यह भी कथन है स्वयं 'शिव' की वाणी में—

तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात्सप्तर्षिभिस्तान्स्मितपूर्वमाह।
विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति॥४७॥७॥

[कुमारसंभव]

अतएव इस 'विवाहयज्ञ' में वस्त्रपरिधापन का कार्य यदि 'अध्वर्यु' करता है तो विप्रतिपत्ति क्या? 'अध्वर्यु' नहीं तो 'कारयितव्यदक्षा' माता तो यह सब कुछ कराती ही है।

ब्राह्म—प्रश्न उठता है कि यह 'विवाहयज्ञ' हो किस विधि से रहा है प्राजापत्य वा ब्राह्म विवाह की विधि से? सो हमारी धारणा है कि ब्राह्म विधि से। कारण यह कि इसमें प्रत्यक्ष कहा गया है—

तौ दंपती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ ।
स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम् ॥८०॥७॥

और उधर शास्त्र का विधान यह—

व्यासः—

आच्छाद्यालङ्कृतां कृत्वा त्रिः परिक्रम्य पावकम् ।
नामगोत्रे समुद्दिश्य दद्याद् ब्राह्मो विधिस्त्वयम् ॥

पावकपरिक्रमणं च शाखान्तरेऽग्निं प्रतिष्ठाप्य कन्यया सह तं त्रिः परिक्रम्य तां दद्यादिति क्रमदर्शनादत्रोक्तमिति ध्येयम् ।

[वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश, पृष्ठ ८४६]

प्राजापत्य—किन्तु विपक्ष में कहा जा सकता है कि पंडितप्रवर मल्लिनाथ ने तो इसे 'प्राजापत्य-विवाह' माना है। ठीक है, किन्तु उनके भ्रम का कारण प्रत्यक्ष है। देखिए। कालिदास का कथन है—

वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से ! वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी ।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ॥८३॥॥७॥

[कुमारसंभव]

इसी 'धर्मचर्या' की टीका में आप लिखते हैं—

अयं च प्राजापत्यविवाहो द्रष्टव्यः । यथाहाश्वलायनः—
'सह धर्मं चरेदिति प्राजापत्यः' इति ॥

तो भी वस्तुस्थिति कदाचित् यह है—

तत्र मनुः—

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥

देवलः—

सहधर्मक्रियाहेतोर्दानं समयबन्धनात् ।
अलंकृत्यैव कन्यायाः विवाहः स प्रजापते ॥

गौतमः—संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सहधर्मश्चर्यतामिति ।

याज्ञवल्क्यः—

इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने । स कायः ॥इति॥

आश्वलायनः—सह धर्मं चरत इति प्राजापत्यः।

कन्यादानसमयेऽन्योन्याव्यभिचारेण सहोभौ चरतां धर्ममित्यनेन वाक्येन समयं कृत्वा यत्कन्यादानं स प्राजापत्य इति कल्पतरुप्रभृतयः। देवस्वामिनस्तु यद्यप्यन्येष्वपि विवाहेषु सहधर्मचरणमस्त्येव तथाप्यत्र सहधर्मचरणमेव न मध्ये आश्रमान्तरप्राप्तिर्नापि स्त्र्यन्तरविवाह इति विशेष इत्यव्यभिचारपदार्थं व्याचख्युः॥

[वीरमित्रोदय, पृष्ठ ८५१–२]

धर्मचर्या—भाव अति संक्षेप में यह कि 'प्राजापत्य' में वर 'सहधर्मचरण' के 'समय' से बाँधा जाता है। उसे किसी 'धर्मचर्या' के हेतु वधू का सहयोग आवश्यक होता है। वह अपने आचरण में स्वतन्त्र नहीं। परन्तु 'ब्राह्म' की स्थिति ऐसी नहीं। उसका आचरण प्रमाण होता है। और सच तो यह है कि उसी के फलस्वरूप उसे वधू की प्राप्ति होती है। भला शिव से किसी 'समय' वा शर्त की आकांक्षा हो सकती है? सप्तर्षियों ने ठीक ही तो कहा था—

उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्।
वरः शंभुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः॥८२॥६॥

[कुमारसंभव]

तो भी इस 'शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या' का कुछ प्रयोजन तो होना चाहिए न? निवेदन है, अवश्य। यह तो 'वधू' को उपदेश भर दिया जा रहा है कि मुक्त हृदय से शिव का अनुगमन करो। इसमें तो कहीं 'समय' का लेश भी नहीं है। हाँ, यही यदि 'वर' से कहा जाता तो अवश्य 'प्राजापत्य' के पक्ष में हो जाता। निदान हमको तो यह 'ब्राह्म' ही प्रतीत होता है।

उपात्तबाण— 'धर्मचर्या' की भांति ही 'निर्नाभि कौशेयमुपात्तबाणं' के 'उपात्तबाणं' को समझने में भी स्यात् श्री मल्लिनाथ से भूल ही हुई है। उनकी टीका है—

उपात्तबाणं गृहीतशरम्। 'शरः क्षत्रियया ग्राह्यः' (३४४) इति मनुस्मरणात्।

किन्तु भगवान् मनु का वचन है—

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥४३॥
शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥४४॥३॥

[मनुस्मृति]

और इसकी टीका है श्री कुल्लूक भट्ट की—

पाणीति ॥ समानजातीयासु गृह्यमाणासु हस्तग्रहणलक्षणः संस्कारो गृह्यादिशास्त्रेण विधीयते । विजातीयासु पुनरुह्यमानासु विवाहकर्मणि पाणिग्रहणस्थानेऽयमनन्तरश्लोके वक्ष्यमाणो विधिर्ज्ञेयः ॥४३॥

शर इति ॥ क्षत्रियया पाणिग्रहणस्थाने ब्राह्मणविवाहे ब्राह्मणहस्तपरिगृहीतकाण्डैकदेशो ग्राह्यः । वैश्यया ब्राह्मणक्षत्रियविवाहे ब्राह्मणक्षत्रियावधृतप्रतोदैकदेशो ग्राह्यः । शूद्रया पुनर्द्विजातित्रयविवाहे प्रावृतवसनदशा ग्राह्या ॥४४॥

इससे प्रकट ही है कि वस्तुतः यह 'असवर्ण' अथवा 'अनुलोम' विवाह की विधि है जिसमें 'पाणिग्रहण' विहित नहीं । किन्तु यहाँ तो विधिवत् पाणिग्रहण हुआ है । कवि का कितना सटीक कथन है—

तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्तिः ।
उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥७६॥
रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत् ।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य ॥७७॥
प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम् ।
सांनिध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥७८॥७॥

[कुमारसंभव]

आदर्श—शिवपार्वती के 'पाणिग्रहण' को इतना महत्त्व यों ही नहीं दिया गया है । वास्तव में यही कालिदास की दृष्टि में आदर्श विवाह है । कालिदास ही क्या ? सभी तो पाणिग्रहण के अवसर पर इस दम्पती का प्रसाद चाहते हैं ? निदान मानना ही पड़ता है कि कालिदास के 'उपात्तबाणं' का रहस्य वह नहीं

जो श्री मल्लिनाथ की दृष्टि में है। उसका उपयोग भी तो 'अभ्यंग' तक ही सीमित दिखाई देता है ? स्मरण रहे, कवि का साथ ही यह भी कथन है—

सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।

और इसकी भी श्री मल्लिनाथ की टीका है—

सा गौरी गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिः श्वेतसर्षपप्रक्षेपवद्भिर्दूर्वाप्रवालै-र्दूर्वाङ्कुरैः प्रतिभिन्नशोभं विशेषितशोभम् ।

भाव यह कि इस 'गौरसिद्धार्थ' के साथ ही इस 'उपात्तबाणं' को भी समझना चाहिए और 'शोभा' के साथ ही इन्हें सिद्धि का साधक किं वा हित का रक्षक भी मानना चाहिए ।

कामवेष—'विवाहयज्ञ' के पश्चात् शिवपार्वती का 'कामयज्ञ' किस प्रकार सम्पन्न हुआ, यह 'कुमारसंभव' के अष्टम सर्ग में भलीभाँति देखा जा सकता है । कविगुरु ने उसका आरम्भ ही इस प्रकार किया है—

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति ।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदसुखं मनोहरम् ॥१॥८॥

[कुमारसंभव]

किन्तु हमारा ध्येय 'कामयज्ञ' के अध्ययन का नहीं है । हम तो बस इतना भर दिखा देना चाहते हैं कि यहाँ पर 'अशुंक' वा परिधान का उपयोग क्या है । सो क्रमशः बढ़ते हुए 'काम' के साथ इसे भी देख लीजिए । लीजिए—

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥२॥
नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः ।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम् ॥३॥
शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुध्य नयने हृतांशुका ।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत् ॥७॥
ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः ।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥८७॥८॥

ध्यान देने की बात है कि इसमें किसी परिधान विशेष का कोई उल्लेख

नहीं और न कहीं उसके वर्ण का ही संकेत है। हाँ, इस सर्ग में भी दो श्लोक ऐसे हैं जिससे वर्ण का बोध तो स्वयं हो जाता है पर 'वेष' का उनसे कुछ पता नहीं चलता। देखिए न—

पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम्।
मारुते चलति चण्डि। केवलं व्यज्यते विपरिवृत्तमंशुकम्॥७१॥८॥

तथा—

तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम्।
अध्यशेत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः॥८२॥८॥

[कुमारसंभव]

नीवि—अस्तु सरलता से कहा जा सकता है कि वस्त्र तो यहाँ भी 'हंसधवल' अथवा शुक्ल ही है। रही उसके परिधान की विधि। सो उसमें 'नीवि' का होना अनिवार्य है। इसके आगे कुछ और कहने का साहस इसलिए नहीं होता कि—

ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं

की व्याख्या में 'मल्लिनाथ' का कथन है—

तत्क्षणं मारुतवीजनसमय ऊरुमूले नखमार्गराजिभिर्नखपद-पङ्क्तिभिः।

तो 'सीताराम' का वक्तव्य—

ऊरुमूले या नखमार्गाणां नखक्षतानां राजयः पङ्क्तयस्ताभिः कर्त्रीभिः।

तथा—

तत्क्षणं प्रभातसमये।

किन्तु विचार करने से पक्ष श्री मल्लिनाथ का ही ठीक ठहरता है। कारण यह कि इसी के ठीक पहले कवि ने स्वयं कह दिया है—

स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम्।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमङ्गलः॥८५॥
तौ क्षणं शिथिलितोपगूहनौ दंपती चलितमानसोर्मयः।
पद्मभेदपिशुनाः सिषेविरे गन्धमादनवनान्तमारुताः॥८६॥८॥

[कुमारसंभव]

निधुवन—अन्तिम पंक्ति में 'मारुत' को जो महत्त्व मिला वह श्री मल्लिनाथ के पक्ष में है यद्यपि यह पाठ है श्री सीताराम का ही। इसके अतिरिक्त भारवि का एक 'दिव्यस्त्री' के विषय में कथन है--

संवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघनवरांशुके विवृत्तिम्।
पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलांशुजालं सञ्जज्ञे युतकमिवान्तरीयमूर्वोः॥१४॥७॥

[किरातार्जुनीय]

इसमें 'युतक' का 'अन्तरीय' के रूप में उल्लेख तो है पर इसमें 'अंशुक' की स्थिति क्या? यहाँ भी तो 'अनिल' कुछ अपना करतब दिखाता है? और दोनों को दृष्टि में रख कर कविगुरु के इस कथन पर ध्यान तो दीजिए—

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थावलम्ब्य वासः॥६०॥७॥

भारवि ने कालिदास का अनुकरण किया है वा नहीं, यह हमारा आलोच्य नहीं हम तो अभी इतना ही कहना चाहते हैं कि कविगुरु के इस कथन से 'नीवी' की स्थिति भी बहुत कुछ विदित हो गई और हमने यह भी जान लिया कि वास्तव में इनका पक्ष क्या है। स्मरण रहे, कवि ने 'निधुवन' के प्रसंग में निर्देश किया है—

केवलं प्रियतमादयालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्क्तिषु।
तेन तत्परिगृहीतवक्षसा नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम्॥८४॥८॥

[कुमारसंभव]

आशय यह कि 'गर्भाधान' सम्पन्न हो गया और 'कुमार' का 'संभव' सध गया, किन्तु तो भी साध न गई। यहाँ तक कि—

तेन भङ्गिविषमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम्।
निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम्॥८६॥८॥

पुरुषायित—परन्तु तो भी हमारी दृष्टि में श्री मल्लिनाथ का यह निष्कर्ष साधु नहीं कि—

अत्र देव्या सकलसुरतोपचारसंपन्नत्वं पुरुषायितं सूच्यते।

कारण यह भी कि 'पुरुषायित' 'गर्भ' का बाधक है। कहा भी गया है—

किं गर्भवती भवती इति प्रियेण पृष्टा काचिदाह—
विवरीअसुरअलेहल पुच्छसि मह कीस गब्भसंभूइम् ।
ओअत्ते कुम्भमुहे जललवकणिआ वि किं ठाइ ॥५४॥७॥
[विपरीतसुरतलम्पट पृच्छसि मम किमिति गर्भसंभूतिम् ।
अपवृत्ते कुम्भमुखे जललवकणिकापि किं तिष्ठति ॥]
अपवृत्तेऽधोमुखी कृते ।

[गाथासप्तशती]

संभव—'कुमारसंभव' के 'संभव' को समझ लेने का कितना सटीक साधन है यह हाल का 'गब्भसंभूइम्' । 'गर्भसंभव' ही तो कुमारसंभव का कार्य है ! स्मरण है न ? कवि ने उमा के नखशिख में कहा था—

एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।
आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम् ॥३७॥१॥

और 'निधुवन' में सिद्ध कर दिखाया—

पार्वती तदुपयोगसंभवां विक्रियामपि सतां मनोहराम् ।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मिता नम्रतेव सहकारतां ययौ ॥७८॥८॥

इतना ही नहीं, अपितु यह भी स्पष्ट रहे कि कविगुरु ने प्रथम सर्ग में संकेत किया था—

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥३८॥
मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥३९॥१॥

और अष्टम सर्ग में सफल किया इसे इस रूप में—

क्लिष्टचन्द्रमदयैः कचग्रहैरुत्पथार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभूदतृप्तये ॥८३॥८॥

[कुमारसंभव]

कामयज्ञ—कारण यह कि इसी रति-रण के प्रसाद से विनाश होगा तारकासुर का । कविगुरु की कला का सत्कार तो दूर रहा उनकी कस कर भर्त्सना

हुई इस रचना के कारण। परन्तु कवि करता क्या ! उसे तो कविता में सरस पाठ पढ़ाना था ऋषि की इस सुष्ठु वाणी का—

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनि-रर्चिर्यदन्तःकरोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥१३॥६॥२॥

[बृहदारण्यकोपनिषत्]

एवं यह भी ज्ञात रहे कि—

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रतिस्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥१॥१३॥२॥

[छान्दोग्योपनिषत्]

इसी वामदेव-व्रत का परिणाम है कि कवि ने अपनी अगम अवस्था का परि-चय दिया—

प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम् ।
सांनिध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥७८॥७॥

होमकुंड—सच है आदर्श में ही आत्मदर्शन होता है। उधर कर्मकांड का भी कुछ निवेदन है। उसका विधान है—

मण्डपस्य च वेद्याश्च विशेषन्तु निबोधत ।
कोटिहोमे चतुर्हस्तं चतुरस्रायतं पुनः ॥
योनिवक्त्रद्वयोपेतं तदप्याहुस्त्रिमेखलम् ।
द्व्यङ्गुलेनोच्छ्रिता कार्या प्रथमा मेखला बुधैः ॥
त्र्यङ्गुलेनोच्छ्रिता तद्वद्द्वितीया मेखला स्मृता ।
उच्छ्रिता मेखलान्या तु तृतीया चतुरङ्गुला ॥
द्विगुणास्तत्र विस्तारः पूर्वयोरेव शस्यते ।
वितस्तिमात्रा योनिः स्यात् षट्सप्ताङ्गुलविस्तृता ॥
कूर्मपृष्ठोच्छ्रिता मध्ये पार्श्वतश्चाङ्गुलोच्छ्रिता ।
गजोष्ठसदृशी तद्वदायता च्छिद्रसंयुता ॥

एतत्सर्वेषु कुण्डेषु योनिलक्षणमुच्यते ।
मेखलोपरि सर्वत्र अश्वत्थदलसन्निभा ॥

[विधानपारिजात, द्वि० स्तवक, पृष्ठ ५८५-६]

होमकुंड के इस विधान को पार्वती के शरीर में दिखाने के विचार से ही तो कविगुरु ने 'तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः' तथा 'वेदिविलग्नमध्या' आदि का निर्देश किया है ! अस्तु, हमारी समझ में तो 'कुमारसंभव' वस्तुतः इसी 'संभूति' का काव्य है । इसको अश्लील वा कोककला का काव्य समझना कहाँ तक साधु है, इसे सहृदय अब स्वयं समझ सकते हैं । हमें तो गोवर्धनाचार्य की यह आर्या ही तृप्त कर देती है । सुकवि की सूझ है—

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमये मुदे रतिलीला कालिदासोक्ती ॥

[आर्यासप्तशती]

परिधान—कालिदास के शास्त्रसम्मत वाग्विलास को देखते हुए कहना ही पड़ता है कि शिव-पार्वती का वस्त्र-विन्यास भी सदा शास्त्रानुसार ही रहा होगा । अधिक क्या ? सो शास्त्र का विधान है—

अधौतं कारुधौतञ्च पूर्वेद्युर्धौतमेव च ।
अप्सु यत्पीडितं वस्त्रं तत्त्याज्यं सर्वथा द्विजैः ॥
अष्टहस्तं नवं श्वेतं सदशं नान्यधारितम् ।
अहतं तद्विजानीयात् सर्वकर्मसु पावनम् ॥

साथ ही यह भी ज्ञात रहे कि यहीं यह भी कहा गया है—
तथा—

अहतं यन्त्रनिर्मुक्तमुक्तं वासः स्वयम्भुवा ।
शस्तं तन्माङ्गलीकेषु तावत्कालं न सर्वदा ॥
एकवस्त्रो न भुञ्जीत न कुर्याद्देवतार्चनम् ।
न कुर्यात्पितृकर्माणि होमं दानं तथा जपम् ॥
आजानुमूलं वस्त्रं स्यात्पञ्चकच्छन्तु धारयेत् ।
तन्न्यूनमधिकञ्चैव सर्वकर्मसु गर्हितम् ॥

कुक्षिद्वये तथा पृष्ठे नाभौ द्वौ परिकीर्तितौ ।
वस्त्रस्य धारणं यच्च पञ्चकच्छन्तु तद्विदुः ॥

यद्वा—

कट्यां नाभौ तथा पृष्ठे कच्छत्रयमुदाहृतम् ।
कच्छत्रयसमायुक्तो यो विप्रः स शुचिः स्मृतः ॥
एककच्छो द्विकच्छस्तु मुक्तकच्छस्तथैव च ।
एकवासा अवासाश्च नग्नः पञ्चविधः स्मृतः ॥

[विधानपारिजात, तृतीय स्तवक, पृष्ठ १६५-६]

कच्छविधान—ध्यान देने की बात है कि यह कच्छविधान अन्तरीय अथवा अधोवस्त्र के लिए ही है। सो भी ऐसा नहीं कि इससे स्थिति आप ही स्फुट हो उठे। फिर भी इतना तो प्रकट ही है कि अधोवस्त्र-धारण का शास्त्रीय विधान क्या है। हमारी समझ में तो इस कच्छविधान को समझे बिना हम संस्कृत कवियों के नीवि-काव्य को ठीक से नहीं समझ सकते। हमने पहले देखा भी है कि राजशेखर इस नीवि को विवाहिता का द्योतक समझते हैं और भारवि भी बड़े भाव से लिखते हैं—

लोलदृष्टि वदनं दयितायाश्चुम्बति प्रियतमे रभसेन ।
व्रीडया सह विनीवि नितम्बादंशुकं शिथिलतामुपपेदे ॥४७॥
ह्रीतया गलितनीवि निरस्यन्नन्तरीयमवलम्बितकाञ्चि ।
मण्डलीकृतपृथुस्तनभारं सस्वजे दयितया हृदयेशः ॥४८॥६॥

[किरातार्जुनीय]

एवं कविगुरु भी कह जाते हैं—

चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥२७॥१६॥

[रघुवंश]

तो इसका कारण भी तो होगा ही जो 'नीवि' किंवा 'रशना' को इतना महत्त्व दिया गया है। बात यह है कि वस्तुतः 'कछौटा,' 'कछाड़' अथवा 'लाँग' ही इसका कारण है। कछनी की व्यूह-रचना में प्रवेश के दो ही द्वार होते हैं।

कच्छ का जो विधान पहले दिया गया है उसमें 'पृष्ठ' और 'नाभि' का प्रमुख स्थान है। पृष्ठ की ग्रन्थि को खोल पाना सहज नहीं। निदान नाभि ग्रन्थि का सामना करना पड़ता है। भाव यह कि 'पछौटा' का काव्य में कोई महत्त्व नहीं उसमें गुणगान तो सदा 'फाँड़' अथवा 'फेंटा' का ही होता है।

उच्चय—हाल की एक गाथा है जिससे उधर की स्थिति का बोध हो जाता है। लीजिए—

कस्याश्चित्सखी सख्या अनुरागातिशयं नायकविषये सूचयन्ती नायकाग्रे कथयति—

कह तंपि तुइ ण णाअं जह साआसन्दिआणँ बहुआणम्।
काऊण उच्चवचिअं तुह दंसणलेहला पडिआ ॥६७॥७॥
[कथं तदपि त्वया न ज्ञातं यथा सा आसन्दिकानां बहूनाम् ॥
कृत्वा उच्चावचिकां तव दर्शनलालसा पतिता]

[गाथासप्तशती]

एवं भारवि के कथनानुसार—

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ॥१५॥८॥

[किरातार्जुनीय]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'संभोग' में इस 'उच्चय', 'उच्चावचिका' अथवा 'नीवि' का बड़ा महत्त्व है। मन की गाँठ खुले बिना इस गाँठ का खुलना संभव नहीं। किन्तु इनसे भी अधिक महत्त्व के शब्द हैं प्राकृत 'उक्ख' तथा नागरी 'फुफंदी' जिसका एक ठेठ रूप है 'फुफती' भी। श्री घुरे ने 'इंडियन कस्ट्यूम' (भारतीयवेषभूषा) पृष्ठ १२८ पर 'उक्ख' को 'उच्चय' का रूप अंकित किया है। किन्तु ऐसा सिद्ध नहीं हो पाता। वास्तव में इसका संस्कृत रूप है 'उक्ष' जिसका लगाव एक ओर 'छिड़काव' से है तो दूसरी ओर 'वृषभ' से।

रतिवेष—हमारी दृष्टि में तो यह आता है कि चाहे 'कच्छ' को लें चाहे 'उक्ष' को, चाहे 'नीवि' को लें चाहे 'फुफँदी' को, सभी के साथ एक ही भाव जुटा है जो है 'पुष्पवती' (फुफती) का आच्छादन। 'रजस्वला' और 'नग्निका'

का जो भेद विवाह में किया गया है उससे तो यही प्रकट होता है कि वस्तुतः परिधान का सूत्रपात ही हुआ है कामोद्दीपन के रूप में। कालिदास का ही तो कथन है न—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥२२॥७॥

[कुमारसंभव]

और इसी से तो अवसर देखकर चित्रलेखा ने उर्वशी के 'अभिसारिकावेष' के विषय में उसके उत्तर में कहा था—

अपि नामाहं पुरुरवा भवेयमिति।

अस्तु, प्रतीत तो यह होता है कि 'वेष' को जो 'प्रसाधन' और 'शृंगार' को जो 'रस' कहते हैं उसका रहस्य भी यही है। कारण कुछ भी हो, कहना कालिदास का ही है—

पृथुजघनभरार्ताः किंचिदानम्रमध्याः
स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः।
सुरतसमयवेषं नैशमाशु प्रहाय
दधति दिवसयोग्यं वेषमन्यास्तरुण्यः ॥१४॥५॥

[ऋतुसंहार]

अतएव 'सुरतसमयवेष' को अन्य किसी वेष से अलग कर देखना ही समीचीन है। कालिदास ने समय-समय पर इस वेष का निर्देश किया है और ऋतुसंहार में तो इसका पूरा दिग्दर्शन ही करा दिया है। देखिए न, 'हेमन्तकाल' की स्थिति है—

मनोहरैः कुङ्कुमरागरक्तैस्तुषारकुन्देन्दुनिभैश्च हारैः।
विलासिनीनां स्तनशालिनीनां नालंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥२॥
न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सङ्गं वलयाङ्गदानि।
नितम्बबिम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु ॥३॥
काञ्चीगुणैः काञ्चनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बान्।
न नूपुरैर्हंसरुतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्तिभाञ्जि ॥४॥

गात्राणि कालीयकचर्चितानि सपत्रलेखानि मुखाम्बुजानि ।
शिरांसि कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ।।५।।४।।

ऋतुवेष—'सुरतोत्सव' से जाड़ा-गर्मी अथवा दक्षिणायन-उत्तरायण के भेद से जो वेषपरिवर्तन हुआ उसको दृष्टि में रखकर सभी ऋतुओं के सामान्य वेष का भलीभाँति अध्ययन किया जा सकता है और इसकी तुलना में राजभोगी अग्निवर्ण की ऋतुचर्या का रंग भी निखार के साथ देखा जा सकता है । हम यहाँ किसी लेखा-जोखा में नहीं पड़ना चाहते । हाँ, संक्षेप में इतना निवेदन अवश्य कर देना चाहते हैं कि यहाँ शीतकाल की स्थिति है—

गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः ।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सकाःस्त्रियः ।।५।।५।।

देखा आपने ? 'शिशिर' में 'शय्यागृह' को भी 'धूपवासित' करना पड़ गया और सामान्य स्थिति यह हो गई कि शीत-विजय का उपाय यह निकला—

मनोज्ञकूर्पासकपीडितस्तनाः सरागकौशेयकभूषितोरवः ।
निवेशितान्तःकुसुमैः शिरोरुहैर्विभूषयन्तीव हिमागमं स्त्रियः ।।८।।
पयोधरैः कुङ्कुमरागपिञ्जरैः सुखोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः ।
विलासिनीनां परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः।।९।।५।।

[ऋतुसंहार]

कूर्पासक—फिर भी वस्त्र 'जानु' के ऊपर ही रह गया । कभी 'गुल्फ' वा 'प्रपदीन' तक नहीं पहुँचा । रही 'कूर्पासक' की स्थिति सो उसके लिए भी कवि ने 'पीडितस्तन' का ही व्यवहार किया है । कारण यह समझ पड़ता है कि यह इसके नीचे का वस्त्र था ही नहीं । उदीच्य कवि आर्यश्यामिलक का स्पष्टीकरण है—

कर्णद्वयावनतकाञ्चनतालपत्रा
वेण्यन्तलग्नमणिमौक्तिकहेमगुच्छा ।
कूर्पासकोत्कवचितस्तनबाहुमूला
लाटी नितम्बपरिवृत्तदशान्तनीवी ।।१०३।।

[पादताडितक, चतुर्भाणी]

लगता है कि किसी कवि ने कालिदास के उक्त वर्णन के पुष्टीकरण में ही जमकर लिख दिया है—

कार्पासकृतकूर्पासशतैरपि न शाम्यति।
शीतं शातोदरीपीनवक्षोजालिङ्गनं विना ॥१५॥६॥

[सुभाषितरत्नभाण्डागार]

तो क्या इन विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि 'कूर्पासक' वास्तव में 'वक्षस्थल' का वस्त्र था और था सिला हुआ ? 'उत्तरीय' से यह काम पहले किस प्रकार लिया जाता था, इसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। पार्वती के शरीर पर कभी सिला वस्त्र भी था, इसका प्रमाण हमें कालिदास में नहीं मिला। उनके अलग 'स्तनांशुक' का भी नहीं।

ऊरुक—हाँ तो सुरत-परिधान के प्रसंग में स्मरण रखना चाहिए कि उससे एक ही 'ऊरु' भलीभाँति कवचित रहता था जो वायु के झोंके में भी मुक्त नहीं हो पाता था। यही कारण है कि कवि ऐसी परिस्थिति में एक 'ऊरुमूल' के 'नखक्षत' का उल्लेख करते हैं। देखिए। कथन कालिदास के यक्ष का है—

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै—
मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीगर्भगौरश्चलत्वम् ॥३५॥२॥

[मेघदूत]

ठीक ही तो है। वामा का वामोरु ही तो प्रिय के दक्षिण कर का प्रसाद पाएगा और समय पर मुक्त दर्शन दे क्षणभर को प्रिय को उल्लसित कर देगा ? निदान मानना पड़ता है कि सुरत-वेष की विशेषता यह थी कि लाँग से उसमें एक ही ऊरु सदा ढका रह सकता था, दूसरा अर्थात् बायाँ नहीं। शिव पार्वती के 'विवाह' तथा 'शिष्ट' नेपथ्य के लिए देखिए 'इंडियनकस्ट्यूम' चित्रसंख्या २३९ तथा २६८।

वेष्टन—'अन्तरीय' और 'उत्तरीय' के साथ ही कुछ 'कूर्पासक' और 'स्तनांशुक' की चर्चा हो ली तो साथ ही कुछ 'वेष्टन' पर भी विचार हो जाना चाहिए। लीजिए। उसकी स्थिति है—

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥४२॥१॥

[रघुवंश]

'अस्पृष्टालकवेष्टनौ' की व्याख्या में संजीविनीकार श्री मल्लिनाथ लिखते हैं—

अलका देव्या वेष्टनमुष्णीषं च राज्ञो ययोस्तौ तथोक्तौ ।

आशय यह है कि इस आश्रम-यात्रा में 'दिलीप' ने जहाँ 'वेष्टन' धारण किया है वहीं 'सुदक्षिणा' का शिर किसी शिरोवस्त्र से मुक्त है । तो क्या स्त्री कभी 'वेष्टन' नहीं धारण करती थी क्या ? कैसे कहा जाय ? शूद्रक का निवेदन है—

अये ! इयं शोणदासी किमपि चिन्तयन्ती द्वारकोष्ठक एवोपविष्टा । तत्किमिदानीं निर्मुक्ताभूषणतया विविक्तशरीरलावण्या मलिनप्रावारार्धसंवृतशरीरा रक्तचन्दनानुलिप्तललाटा सितदुकूलपट्टिकावेष्टितशीर्षोऽवनतवदनचन्द्रमण्डलाऽङ्काधिरूढां वल्लकीमीषत्करुहैरवघट्टयन्ती काकलीमन्दमधुरेण स्वरेण कौशिकाश्रयमाकूजन्ती तिष्ठति । उत्कण्ठितयाऽनया भवितव्यम् ।

[पद्मप्राभृतक]

वारवधूटी 'शोणदासी' की इस भूषा के सम्बन्ध में इतना और जान लें कि उसी 'विट' का आगे और भी कथन है—

वासुशोणदासि ! किमिदं वेशतापसीवेषः परिगृह्यते ।

तो क्या 'वेष्टन' का सम्बन्ध 'देवी' से नहीं तापसी' से है और उसे वारवनिताधारण करती है ? कवि कालिदास वेष्टन के विषय में कुछ और कहते हैं तो इतना ही—

तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥१२॥८॥

[रघुवंश]

भूलना न होगा कि यह 'सुत' भी राजा बन चुका है और पिता वानप्रस्थ का बाना लेना चाहता है । अतः इस 'वेष्टन' को किसी सामान्य बालक का भेष नहीं समझा जा सकता । किसी राजपुत्र वा युवराज का भी नहीं । कारण यह कि—

अनुभूय वसिष्ठसंभृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥३॥८॥

तो क्या यह 'वेष्टन' राजपद का द्योतक है ? जो हो, परन्तु इतना तो प्रकट ही है कि इसका किसी देवी से लगाव नहीं ।

वीरवेष—कालिदास ने राजसी वेषभूषा का देशकाल देखकर जो वर्णन किया है वह थोड़े में कहने का नहीं है । इन्दुमती के प्रसंग में उसका बहुत कुछ एकत्र दर्शन हो जाता है । शृंगार की तो बात ही क्या ? वीरवेष की झाँकी लीजिए । अज से तुमुल संघर्ष के फलस्वरूप--

तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥४८॥
शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥४६॥
उपान्तयोर्निष्कुषितं विहंगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥५०॥७॥

'वर्म' और 'शिरस्त्र' का परिचय मिल गया तो कोई बात नहीं । रणभूमि में ही तो उनका गुणगान होता है ? परंतु सच तो कहें, यहाँ 'केयूरकोटि' का उपयोग क्या है ? फिर भी कवि ने भूषा के विचार से इसका भी यहाँ उल्लेख कर दिया है और प्रत्यक्ष दिखा दिया है कि वीर का शोभन अलंकार भी युद्धभूमि में अपना कौशल दिखाता है और यह सिद्ध कर दिखाता है कि अब भी वह किसी 'शिवा' का पात्र नहीं । वह अभी अपनी रक्षा में समर्थ है । इसी से यह जाना जा सकता है कि कवि को अपने समय को व्यक्त करने का कितना ध्यान है ।

उद्गमन—प्रसंग आ गया तो कवि के एक दोष का मर्म भी समझ लें । कविसमय के अनुसार वह अपनी कला का मुँह खोलता है—

कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥५१॥
अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।

व्यश्वौ गदाव्यायतसंप्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ।।५२।।
परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव ।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः ।।५३।।७।।

वृत्ति वृत्त का अनुसरण करती और वासना जीव के साथ जाती है तो किसी 'ताटका' की स्थिति वीरगति पाने पर क्या होगी ? संस्कृत के आचार्य इसका विचार नहीं करते तो न करें। कविगुरु का तो इसी से स्पष्ट कहना क्या, खुला उद्घोष है—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ।।२०।।११।।

कवि ने इस प्रकार ताटका को जो 'पतिलोक' में भेजा है उसका कारण है उसका पतिव्रतधर्म ही। वाणी आदिकवि की है—

सुन्दे तु निहते राम अगस्त्यमृषिसत्तमम् ।
ताटका सहपुत्रेण प्रधर्षयितुमिच्छति ।।१४।।२५।।

[वाल्मीकीयरामायण, बालकाण्ड]

पति 'सुन्द' के निहन्ता के प्रति उसकी पत्नी ताटका का यह भाव उसकी दृष्टि से धर्मयुद्ध नहीं तो और क्या है ? सच तो यह है कि यह कवि की अमोघ वाणी का एक ज्वलन्त उदाहरण है और है साथ ही 'राम' जीवन का द्वार भी। ताडका की भूषा तो देखिए—

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः ।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निविडा बलाकिनी ।।१५।।
तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया ।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ।।१६।।
उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघवः ।।१७।।११।।

कहाँ तक कवि की कल्पना सफल रही है अपनी उड़ान में ? इसकी मीमांसा तो संस्कृत के रससिद्ध आचार्य करें। अपना लक्ष्य तो यहाँ यह बताना है कि ताड़का 'अभिसारिका' नहीं 'सती' है। फलतः कवि की ही वाणी में—

गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ।

स्मरण है न, इसी से कवि ने पहले भी तो कहा था—

स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः ।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥१३॥११॥

काम-वन में पहुँच कर राम ने ताडका को जला दिया कि पत्नी का काम पति का साथ देना है कुछ उससे अलग रहकर संग्राम करना नहीं। निदान निशाचरी ताडका का इसे मंगलनेपथ्य समझिए। वह सामान्य अभिसारिका तो है नहीं। कालिदास की अभिसारिका का वेष है कुछ और ही जिसकी चर्चा पहले कुछ हो चुकी है। ताडका किसी 'संकेत'-स्थान में किसी 'कान्त' से मिलने कब गई कि उसे 'अभिसारिका' मान लें निश्चय ही यह उसकी 'जीवितेश'-लोक की यात्रा है। सती का प्रस्थान।

रजस्वला—और तो और, परशुराम के प्रकरण में कविगुरु ने 'रजस्वला' का अंकन भी विशेषरूप में कर दिया है। प्रतीत होता है कि ताडका की स्मृति अभी बनी है। लिखते हैं—

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः ।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥६०॥११॥

विचारने की बात है कि कवि के इस अप्रस्तुत का रहस्य क्या है। इसके पहले और बाद में जो विप्लव प्रकृति में गोचर हुए हैं उन्हीं को लक्ष्य कर तो कवि ने कहा है—

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥६२॥११॥

बात गुरु वसिष्ठ की सत्य निकली। परशुराम का पराभव और राम का उदय हुआ। देखिए—

तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥८२॥
तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसंनिभः ॥८३॥११॥

'दिनात्यये पार्वणौ' के साथ 'स्खलितवीर्यमात्मनि' की मीमांसा में लीन हो देखें यह कि रजस्वला दिशा अब श्वेताम्बरा होकर 'शशि' के अधीन हो गई है और

'दिवाकर' का भोग निशाकर को मिल गया है। दिवाकर का 'वीर्य' अपने आप में 'स्खलित' हो चुका है। उन्हीं की वाणी में—

> तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे।
> पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥८७॥११॥
>
> [रघुवंश]

परशुराम सचमुच 'भोगलोलुप' कभी न थे। संहारी उन्हें हम कह सकते हैं, संभोगी कदापि नहीं। उनके लिए भोग्या दिशा 'रजस्वला' थी जो दिग्जयी राम के लिए ऋतुस्नाता बन गई। परशुराम ने अपने पराक्रम से पृथिवी किंवा दिशा को 'रुधिरार्द्र' कर दिया तो राम ने अपने शील से उसे शुभ्र बना दिया। जहाँ वह पहले अनवलोकनक्षमा थी वहीं अब 'अवलोकनक्षमा' हो गई। राम परशुराम के पराभव से सचमुच दिक्पति बन गए। दिग्विजय का यह निर्देश कितना सटीक है! वीरभोग्या वसुन्धरा का यह विधान मननीय है। राम के बालकांड की अन्तिम यह झाँकी! 'रजस्वला' का यह अप्रस्तुत!!

मुनिवेष—गृह-जीवन की वेषभूषा के विषय में इतना कुछ कह लिया गया कि इससे कालिदास के देशकाल को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है कि तो भी अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इतने से ही उस कवि का सारा भाव उतर आया। कारण यह कि अभी आश्रम-जीवन की छवि कहाँ उतरी? सो उसकी वेष-भूषा का भी कुछ आभास हो जाना चाहिए। सो लीजिए। उसकी विषमता—

> काममननुरूपमस्य वपुषो वल्कलं न पुनरलंकारश्रियं न पुष्यति।

कुतः—

> सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
> मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।
> इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
> किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१८॥१॥
>
> [अभिज्ञानशाकुन्तल]

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आश्रमवासी शोभन का ध्यान नहीं रखते थे। देखिए न, सप्तर्षियों का वेष कैसा दिव्य है। कहते हैं—

> मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः।
> रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः ॥६॥६॥

[कुमारसंभव]

'प्रव्रज्या' की यह भूषा सामान्य नहीं। यहाँ रत्न ही रत्न की आभा है। इसी से कहा भी तो गया है—

> ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः।
> सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन्पुरः प्रभोः ॥४॥६॥

वटुवेष—यह 'प्रव्रज्या' 'वानप्रस्थ' है वा 'संन्यास' इससे हमारा प्रयोजन क्या? यह 'गृहस्थ' नहीं, यही पर्याप्त है। रहा ब्रह्मचर्य, तो उसे भी उसी के वेष में देख लें—

> अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
> विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥३०॥५॥

[कुमारसंभव]

'आषाढधर' ब्राह्मण ब्रह्मचारी के वेष का दर्शन हो गया तो यज्ञदीक्षित राजा दशरथ का रूप देखिए—

> अजिनदंडभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम्।
> अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥२१॥६॥

बकवादी वटु और मितभाषी यजमान की व्यंजना कितनी भव्य है। वटु भी 'कुशमेखला' से मुक्त नहीं। उमा को पहले ही 'व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार' के रूप में कवि ने अंकित कर दिया था न? सबको मिलाकर एक साथ देखें तो ब्रह्मचर्य का पूरा रूप झलक उठे और कवि की वाणी सफल सिद्ध हो। किसी ने ठीक ही तो कहा है—

> वयमपि कवयः कवयः कवयोऽपि च कालिदासाद्याः।
> दृषदो भवन्ति दृषदश्चिन्तामणयोऽपि हा दृषदः ॥

अथवा श्रीकृष्णभट्ट के कथनानुसार—

कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी ।
पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम् ॥

कविता—परन्तु यह तो तार्किकों की बात ठहरी । इसकी मीमांसा में हम क्यों पड़ें ? 'कालिदासादि' से हमें सन्तोष कहाँ ? हम तो कालिदास को लेकर चले हैं न ? सो भी उनके कारण 'अनामिका को सार्थक' सिद्ध करने । सो हमारी दृष्टि में तो कालिदास की कविता के सम्बन्ध में सरलता से कहा जा सकता है उन्हीं की भारती में एक मात्रा के परिवर्तन के साथ—

मङ्गलालङ्कृता भाति कैशिक्या यतिवेषया ।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया ॥१४॥१॥

[मालविकाग्निमित्र]

'कौशिकी' को 'कैशिकी' कर दिया और कालिदास की रचना उन्हीं की भाषा में अपना जौहर खोल चुकी । न करना चाहें तब भी कोई क्षति नहीं । 'कौशिकी' को 'कौशिक' के साथ देखें तो भी क्षति नहीं । नहीं तो 'कौशिकी' के रूप में भी तो वह वृत्तिविशेष का नाम है ही । 'त्रयी' में स्त्री का अधिकार भले ही न हो, पर कालिदास ने तो 'त्रयी' की छवि उतार ली न ! कालिदास की कविता सचमुच 'मङ्गलालङ्कृता' है । सो भी 'अध्यात्मविद्या' के साथ । उसे 'कामुकता' का अंग समझना ठीक नहीं । 'कामयज्ञ' का ऐसा 'होता' फिर कहाँ ? तो फिर आश्चर्य क्या जो किसी 'बाण' को बरबस कहना पड़ा—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥१६॥१॥

[हर्षचरित]

वसन्तश्री—देखिए न, 'काम' के प्रताप से 'वसन्तश्री' की कैसी शोभा है—

कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य ।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिश्वासमिवोत्ससर्ज ॥२५॥
असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां संपर्कमासिञ्जितनूपुरेण ॥२६॥
सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे ।

निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥२७॥
वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥२८॥
बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥२९॥३॥

[कुमारसंभव]

'वनस्थली' के 'नखक्षत' के पहले जो 'कर्णिकार' में 'निर्गन्धता' का दोष देखा गया सो क्यों ? इस से 'काम' का प्रकर्ष तो मारा गया न ? कवि ने 'वर्णप्रकर्ष' में यह अपकर्ष का कांड क्यों छेड़ा ? तो क्या यही कामदेव के सखा का खोटापन उसके पतन का कारण हुआ ? देखिए न, कवि का ही कथन है—

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥४०॥
लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः ।
मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत् ॥४१॥
निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम् ।
तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥४२॥३॥

लीजिए । नन्दी की उँगली क्या उठी, सब की सोटीपटाकी बन्द हो गई और सखा वसन्त का सारा उत्साह जाता रहा । नहीं तो स्थिति थी—

लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ॥३०॥
मृगाः प्रियालद्रुममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः ।
मदोद्धताः प्रत्यनिलं विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥३१॥
चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥३२॥
हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं यत्र विशेषकेषु ॥३३॥३॥

वसन्तसखा—सखा वसन्त के उद्योग का परिणाम यह हुआ कि तपस्वी

भी विचलित हो उठे और फिर किसी प्रकार अपने मन को इस यात्रा से रोक सके। उनकी गति फिर क्या हुई? इससे कवि का प्रयोजन नहीं। उसे तो इसके आगे यह बताना है—

तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने सपन्ने।
काष्ठागतस्नेहरसानुविद्ध द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ॥३५॥३॥

चराचर में मिथुन सचेष्ट हो उठा तो आश्रम में ललित की ललकार मची और—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥३६॥
ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥३७॥

पशुपक्षियों तक ही यह ललित लीला सीमित न रही अपि तु—

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे ॥३८॥

और 'किंपुरुष' से बढ़कर कहीं पुरुषार्थ दिखाया पादप ने—

पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥३९॥३॥

[कुमारसंभव]

वसन्तविकास—ऐसी विकट परिस्थिति में स्थाणु ने जो कुछ किया उसको सभी जानते हैं। हाँ, नहीं जानते हैं तो यह कि इस वसन्त-वर्णन में भी कवि ने इस तथ्य को सत्य कर दिखाया है। विकासक्रम पर ध्यान देकर देखिए तो सही, कवि का पक्ष है क्या। लीजिए—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥२६॥९॥

[रघुवंश]

समय से हो, असमय से हो, जब कभी भी हो, प्रकृति के यथाक्रम में व्यतिक्रम नहीं। वह तो सदा एकरस रहता है। हाँ, इस प्रकार दशरथ के यहाँ भी

वसन्त का आविर्भाव हो गया तो उनका रथ भी दिग्विजय कर दक्षिण से उत्तर आ पहुँचा और—

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
अभिययुः सरसो मधुसंभृतां कमलिनीमलिनीरपतत्त्रिणः ॥२७॥
कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥२८॥
विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्त्रविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरवका रवकारणतां ययुः ।
सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥३०॥
उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयार्पितलज्जया ॥३१॥
व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥३२॥
अभिनयान् परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥३३॥
प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥३४॥६॥

वसन्त-विलास—किं बहुना ? वसन्त के इस सच्चे, सजीले और सरस वर्णन में यमक की फुहार यों ही नहीं उठी है । नहीं, उसका तो भाव है प्रकृति-पुरुष वा नर-नारी को एकरस बना सर्वथा एक कर देना । फलतः—

अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसंगतया मनः ।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥४२॥
अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरैः ।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥४३॥६॥

'नवमल्लिका' वधू की मन्द मुसकान से तरुनाथ भले ही बच रहे हों पर कोई नरदेव 'रक्तांशुका' देवी से कहाँ बच सके ? 'अबला' का बल तो देखिए । कहने

को साधन के रूप में विराजमान है 'अंशुक' और 'यवांकुर'। कह लें सहायक कोकिल भी अनुकूल हैं जिनकी शंखध्वनि हुई नहीं कि अबला की जीत का नगाड़ा बज गया और विश्व नर की दृष्टि में नारिमय हो गया। फिर तो वह उद्वाह मचा कि—

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥४४॥
ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥४५॥६॥

और होते होते यह हो चला कि विग्रह सन्धि में परिणत हो गया और अबलाजन भी आलिंगन को ललक उठा। कोकिल का उपदेश भी व्यर्थ न गया। फलतः—

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥४६॥
त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥४७॥६॥

कौशल—'स्मरमते' उलटफेर से 'रमते स्म' बन गया तो फिर बनने को रह क्या गया और क्या रह गया होने को भी ? कालिदास की समस्त रचना में कौशल प्रत्यक्ष बोलता है यहीं। कला की दृष्टि से ही इसकी सृष्टि हुई है, इसे कोई भी देखते ही कह सकता है। 'शिल्प' का ऐसा सजग उदाहरण अन्यत्र कहाँ ? 'छन्द' भी कितना सजीला ! कामशास्त्र में सहसा कुछ भी शोभन नहीं होता। कवि ने कुछ समझ-बूझ कर ही 'यमक' और 'द्रुतविलम्बित' को एकत्र किया है। द्रुतविलम्बित की लय, गति तथा अर्थ को दृष्टि में रखकर इस 'वसन्त' का अनुशीलन करें तो अवगत होगा कि कवि ने किस विद्या और किस बुद्धि से इसमें 'यमक' का योग दिया है और दोनों के सहयोग से वह काम लिया है जो कहीं देखने को नहीं तो पढ़ने तक को भी नहीं मिलता। अलंकार की भरमार से धन की दुन्दुभी बजती है कुछ धन्या का शील नहीं उभरता। उसके हेतु तो कुछ मंगल-मंडन ही पर्याप्त होता है न ?।

प्रकृति-परिषद्—प्रकृति का पारखी कवि मानव प्रकृति को परखता और अपने काव्य में बराबर इसका आभास देता रहता है कि प्रकृति भी मानव रूप में ही अपने को चरितार्थ कर कृतार्थ होती है। अन्यथा किसी लता को वधू बनाने का महत्त्व क्या? प्रतीत होता है कि कवि के हृदय में एक ही प्राण सर्वत्र छाया है और उसी का उल्लास सर्वत्र द्युति-रूप में विराजमान है। उसका निधुवन सभी योनियों में समान है। सुखदुःख में कोई किसी से अलग नहीं। देखिए तो सही 'अज' का विषाद है—

इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहः सखी।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥५८॥
कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥५९॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥६०॥
मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसांप्रतम् ॥६१॥८॥

[रघुवंश]

और तातकाश्यप का कातर स्वर—

भो भोः संनिहितास्तपोवनतरवः!
पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥९॥४॥

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

इसी शील-निदर्शन का तो व्यापक प्रभाव है कि जर्मन कवि गेटे को अपनी अनुभूति के उल्लास में ऐसा कुछ कहना पड़ा कि जिसका संस्कृतरूप है—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।

एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो
रैश्वर्यं यदि वांछसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

[संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६५]

प्रकृति-दर्शन—'शकुन्तला' के सेवन से जिस मेधा का उदय होगा उसका उल्लेख तो हो गया पर इससे यह कहाँ खुला कि कालिदास के परिशीलन से क्या होगा। सो इसको थोड़ा और भी देख लीजिए। सन्ध्या का समय है। शिव गन्धमादन पर पार्वती जी से कहते हैं—

रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि ! भान्त्यमूः ।
द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥४५॥
सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च ।
पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सांध्यमातपम् ॥४६॥८॥

[कुमारसंभव]

किन्तु इस शिखर पर चढ़ते हुए 'आतप' के कुछ ही पहले स्थिति यह थी कि सभी प्राणी सचेत हो उठे थे और बढ़ती हुई सन्ध्या के कारण सभी जीव कर्मभूमि से विरत हो भोगभूमि की ओर बढ़ चले थे। फलतः शिव जी अपनी प्रिया के साथ इस प्रकृति-छटा में मग्न थे और जीव मात्र के क्रियाकलाप में रस ले रहे थे मानो पार्वती को रह रह कर यह दिखा रहे थे कि यह विभु कितना रम्य है। रमणीयता में उनकी रति खो सी गई थी और मति मानो उसी की टोह में लगी थी। ललक कर बोल ही तो उठे—

पद्मकान्तिमरुणत्रिभागयोः संक्रमय्य तव नेत्रयोरिव ।
संक्षये जगदिव प्रजेश्वरः संहरत्यहरसावहर्पतिः ॥३०॥
सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥३१॥८॥

निर्झर के कणों के इन्द्रधनुष का लोप भला किसी को भा सकता है ? फिर भी 'मरीचि' के अभाव में उसकी सत्ता कैसी ? अब तो समय ही कुछ और हो चला है। फलतः—

दष्टतामरसकेसरस्रजोः क्रन्दतोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः ।
निघ्नयोः सरसि चक्रवाकयोरल्पमन्तरमनल्पतां गतम् ॥३२॥

स्थानमाह्निकमपास्य दन्तिनः सल्लकीविटपभङ्गवासितम् ।
आविभातचरणाय गृह्णते वारि वारिरुहबद्धषट्पदम् ॥३३॥८॥

देखिए न, एक ही वेला में अपने सत्त्वानुसार कोई 'क्रन्दन', कोई 'बन्धन', और कोई 'ग्रहण' में लीन है। फिर भी प्रिया का मुख न जाने क्यों नहीं खुलता। निदान शिव को कुछ उभार कर कहना पड़ता है—

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे ! विवस्वता ।
लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥३४॥८॥

'इन्द्रचाप' की खोई हुई श्री का साक्षात्कार फिर इस 'सुनहरे सेतु' में हो गया तो कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का उद्बोधन भी हो गया और यह भी परिलक्षित हो गया कि वास्तव में इन्द्रधनुष है क्या। किन्तु अभी कवि की कल्पना का निखार तो होने को है। लो लीजिए। वह भी तो सामने ही है—

एष वृक्षशिखरे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम् ।
हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु ! पिबतीव बर्हिणः ॥३६॥
पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिर्व्यक्तपङ्कमिव जातमेकतः ।
खं हृतातपजलं विवस्वता भाति किंचिदिव शेषवत्सरः ॥३७॥
आविशद्भिरुटजाङ्गणं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः ।
आश्रमाः प्रविशदग्निधेनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नयः ॥३८॥
बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम् ।
षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ॥३९॥
दूरमग्नपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरुणेन भानुना ।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥४०॥८॥

कवि का यह वर्णन कितना यथार्थ और संगत है, इसे तो कोई भी कह सकता है। मयूर वृक्ष पर बैठा किसी चन्द्रक के नाते 'आतप' को पी रहा है तो आश्चर्य क्या ? एक ही सर में पानी और कीचड़ का विलगाव यह भी कितना निराला है ? आश्रम में धेनु का प्रवेश और कमलकोश का यह प्रिय स्वागत कितना उदार और मधुर है ? सब कुछ सही, परन्तु पश्चिम दिशा का यह कन्यका-रूप किसी नववधू के किस काम का ?

प्रकृति-प्रेरणा—प्रकृति-प्रेम के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। प्रकृति-पुरुष का प्रपंच इतना मधुर क्यों? शिव पार्वती को प्रकृति में रमाते क्या हैं उनके भाव को जगाते जाते हैं और धीरे धीरे प्रकृति भी देखते-देखते आलम्बन का भाव छोड़ उद्दीपन का काम करने लग जाती है। चन्द्रोदय हुआ नहीं कि सन्ध्योपासन की खीझ जाती रही और पार्वती भी यह सुनने को प्रस्तुत हो गईं—

पश्य पक्कफलिनीफलत्विषा बिम्बलाञ्छितवियत्सरोम्भसा।
विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिथुनं विडम्ब्यते ॥६१॥
शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसंपुटैः कराः ॥६२॥
अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥६३॥८॥

[कुमारसंभव]

उद्बोधन—प्रिय-प्रिया के इस प्रसंग में प्रकृति का जैसा दिव्य दर्शन मिला है उससे लाभ क्या? हाँ, साथ ही प्रातःकाल के इस उद्बोधन को भी देख लें तो प्रकट हो कि कवि किस अवसर पर प्रकृति में क्या देखते हैं। तो समवयस्क बन्दिपुत्रों का 'रघुप्रतिनिधि' अज को जगाना है—

रात्रिर्गता मतिमतांवर! मुञ्च शय्यां
धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्र-
स्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥६६॥
निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥६७॥
तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन ताव-
त्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।

प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥६८॥
वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां
संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः
सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥६९॥
ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥७०॥५॥

[रघुवंश]

पशु-पक्षी---प्रकृति की ओर से दृष्टि फिरी तो घर के पशु-पक्षी भी उद्बुद्ध गोचर हुए और फलतः बन्दी और भी खुलकर बोल पड़े---

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः
स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगा---
द्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥७२॥
दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु
निद्रां विहाय वनजाक्ष ! वनायुदेश्याः ।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि
लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥७३॥
भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता---
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः ॥७४॥५॥

हाथी, घोड़े और सूए का प्रभात, बन्धन और व्यवस्था के कारण, कुछ विशेष ढंग का हुआ है । पता नहीं सेंधा नमक चाटने का यह कार्य 'वनायुदेश' के घोड़ों

तक ही सीमित था अथवा अश्वमात्र के लिए यह विधान था। 'पटमण्डप' का प्रबन्ध भी विचारणीय है। जो हो, राजजीवन में इन पशुपक्षियों का इतना योग है कि जंगल में भी राजा दशरथ को इनका भान होता है, देखिए न—

उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥७१॥६॥

और अश्व का उपयोग यहाँ यह कि मृग के पीछे पड़ा तो फेनयुक्त हो गया—

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरंगमेण ॥७२॥६॥

वराह—'मृगया' के प्रसंग में कवि ने किस पशु को किस रूप में देखा है और कहाँ तक उसको रूप देने में समर्थ हुआ है, इसके विवरण को यहाँ स्थान कहाँ! निदान थोड़े में दिखाया यह जाता है कि एक 'वराह' से कवि ने कितना काम लिया है और कहाँ तक सफल रहा है उसके स्वरूप के चित्रण में। देखिए। मृगया में—

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्या—
न्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम्।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं
सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः ॥५९॥

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीष—
द्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा
वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥६०॥६॥

[रघुवंश]

मृगयालु और दयालु राजा दशरथ ने मृगयावश वराह का शिकार जिस रूप में किया वह प्रत्यक्ष हो गया तो उसके सहज रूप का साक्षात्कार शिव की इस वाणी में करें—

उत्तरन्ति विनिकीर्य पल्वलं गाढपङ्कमतिवाहितातपाः।
दंष्ट्रिणो वनवराहयूथपा दंष्ट्रभङ्गुरविसाङ्कुरा इव ॥३५॥८॥

[कुमारसंभव]

तथा यह भी जान लें कि वास्तव में उसकी मूल प्रकृति क्या है । कहते हैं–

सभद्रमुस्तं परिशुष्ककर्दमं सरः खनन्नायतपोतृमण्डलैः ।
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं वराहयूथो विशतीव भूतलम् ॥१७॥१॥

[ऋतुसंहार]

'भूतल' में प्रविष्ट होने की इस प्रवृत्ति का ही तो परिणाम है कि पृथिवी के उद्धार के हेतु महावराह का अवतार हुआ । युद्धवीर अज की प्रशंसा में कहा गया है—

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ॥५६॥७॥

[रघुवंश]

और इस रूप का चरम उत्कर्ष तो तब गोचर हुआ जब कवि ने आह्लाद में आकर लिख दिया—

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं
वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रा—
त्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥७७॥१३॥

मृग—'वराह' से मानव का फिर भी दूर का नाता है । 'मृग' घर का प्राणी बन गया है । उसके प्रति कालिदास का जो अनुराग है वह कहाँ नहीं टपकता ! अभिज्ञानशाकुन्तल में वैखानस का आदेश है—

न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मि-
न्मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः ।
क बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥१०॥१॥

तो रघुवंश में दशरथ का आचरण—

प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गा—
न्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषा—
मत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥६२॥९॥

और है कुमारसंभव में तपश्चर्या में मग्न पार्वती का व्यवहार—

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥१५॥५

फिर इस प्राणी के विषय में कहा ही क्या जाय ! पशुयोनि का सबसे प्यारा प्राणी यही तो है ? पुरूरवा को प्रिया का भेद इसी से तो मिला था ! लीजिए—

अस्यान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा।
तामयमनन्यदृष्टिर्मुग्धग्रीवो विलोकयति ॥३२॥४॥

[विक्रमोर्वशीय]

मृग-परिवार का साक्षात्कार आगे चलकर राजा पुरूरवा का शकुन बन गया तो राजा दुष्यन्त का यह समीक्षण उनके भविष्य का परिचायक। मृग की चेष्टा ठहरी, भयभीत मृग की—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥९॥१॥

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

'मृग' को निकाल देखिए, फिर 'शकुन्तला' में रह क्या जाता है ! यही तो अभिज्ञानशाकुन्तल की रस-धारा का उत्स है ? शकुन्तला ने राजपुर में अन्त में तो इसी की साखी को अपना परम साधन समझा था न ? 'सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति' का परिणाम कितना भयंकर निकला ! कालिदास का काव्य मृग ही तो है ! अन्यथा ऋष्यंक में उसकी शय्या क्यों होती ! उत्प्रेक्षावल्लभ का निनाद ठहरा—

वाल्मीकिरस्तु विजयी प्रथमः कवीनां
तस्यानुसारसरलः स च कालिदासः।
अन्ये भवन्तु जयिनः कवयोऽधमा वा
तेषां कृतः कृतिषु नैव मयाऽवगाहः ॥

[भिक्षाटन]

मयूर—फिर भी 'यक्ष' को 'मृग' से वह स्नेह नहीं जो उसे 'मयूर' से है। देखिए न, उसकी प्रिया का विनोद है—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जद्वलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥१८॥२॥

[मेघदूत]

अथवा यहाँ की 'भवानी' की स्थिति है—

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४६॥१॥

[मेघदूत]

'पुत्रप्रेम' का उल्लेख कवि ने यों ही नहीं कर दिया है। 'कुमार' की अभिरुचि होती ही ऐसी है। देखिए न, कोई कुमार किसी तापसी से कहता क्या है। यही न कि—

यः सुप्तवान् मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः ।
तं मे जातकलापं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम् ॥१३॥५॥

[विक्रमोर्वशीय]

कहता भी क्यों नहीं ! आश्रम का लाड़ला सर्वदमन भी तो इसमें रमता है ! तापसी का ही यह भी प्रसंग है। सर्वदमन से उसका निवेदन है—

वत्स ! अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि ।

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

उधर स्वच्छन्द मयूर की स्थिति यह है कि दिलीप के रथ की ध्वनि कान में पड़ी तो उसका कंठ फूट पड़ा और कवि ने उसका अंकन भी कर दिया इस रूप में—

मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥३९॥१॥

[रघुवंश]

परन्तु यह तो धोखे का गान ठहरा न ? आह्लाद की बात तो कुछ और ही है। लीजिए समय आ गया तो मयूर भी नाच उठा और सहसा दृष्टिपथ में आ गया अपने इस उन्मत्त रूप में—

सदा मनोज्ञाम्बुदनादसोत्सुकं विकीर्णविस्तीर्णकलापशोभितम् ।
सविभ्रमालिङ्गनचुम्बनाकुलं प्रवृत्तनृत्यं कुलमद्य बर्हिणाम् ॥६॥२॥

[ऋतुसंहार]

और वर्षा का आवेग बढ़ा तो उन्हें कुछ और ही समझा गया। कवि की सूझ ठहरी। लीजिए—

विपत्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका विहायभृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।
पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ॥१४॥२॥

किन्तु इससे भी विचित्र बात तो यह है कि ग्रीष्म में आतप के मारे वैर का नाम भी नहीं रह जाता। कहते हैं किस ठान से—

हुताग्निकल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः कलापिनः क्लान्तशरीरचेतसः ।
न भोगिनं घ्नन्ति समीपवर्तिनं कलापचक्रेषु निवेशिताननम् ॥१६॥१॥

[ऋतुसंहार]

परन्तु यह तो कविसमय सा हो गया है। सभी कवि सरलता से इसको लिख लेते हैं। निदान इसको छोड़ लीजिए कवि के इस निरीक्षण को। शिव पार्वती को दिखाते हुए कहते हैं—

चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजलबिन्दुभिर्गिरिः ।
मेखलातरुषु निद्रितानमून्बोधयत्यसमये शिखण्डिनः ॥६७॥८॥

[कुमारसंभव]

शरभ—तात्पर्य यह कि कालिदास ने पशु-पक्षी को भी हृदय की आँख से देखा है और उनकी प्रवृत्ति का भी पूरा परिचय दिया है। हाँ, उनके यहाँ एक ऐसा प्राणी भी है जिसे पहिचान पाना सरल नहीं। वह पशु है अथवा पक्षी, इसका निर्णय भी आज कठिन ही दिखाई देता है। कालिदास का उसके विषय में कथन है—

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वांगभंगाय तस्मि-
न्मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लंघयेयुर्भवन्तम् ।

तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णा-
न्केषां न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५६॥१॥

[मेघदूत]

'मेघ' के प्रसंग में तो वह पशु ही प्रतीत होता है। उसके पक्षी होने का कोई आभास नहीं। परन्तु 'ऋतुसंहार' के इस कथन में उसकी स्थिति स्पष्ट नहीं। उसे 'पक्षी' भी कहा गया है। कहते हैं—

श्वसिति विहगवर्गः शीर्णपर्णद्रुमस्थः
कपिकुलमुपयाति क्लान्तमद्रेर्निकुञ्जम्।
भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छ-
ञ्छरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात्॥२३॥१॥

हमारी धारणा है कि यह पशुविशेष ही है। यदि टीकाकार श्री मल्लिनाथ इसे 'अष्टापदमृग विशेष' न कह जाते और अपने प्रमाण में विश्वकोष की साक्षी- 'शरभः शलभे चाष्टापदे प्रोक्तो मृगान्तरे' तो हम सरलता से कह पाते कि 'द्राविड' मन्दिर में जो अश्व की आकृति और हस्ती के मुख का पशु विशेष मिलता है वही 'शरभ' है। कारण कि 'मेघदूत' के साथ ही 'ऋतुसंहार' का वर्णन भी उसमें यथार्थ घटता दिखाई देता है। 'ऋतुसंहार' के सम्पादकद्वय उसे 'पक्षी' मानते हैं। परन्तु 'विहगवर्ग' की दशा का उल्लेख पहले आ चुका है। प्रथम पंक्ति पर ध्यान दें तो स्थिति आप ही स्फुट हो उठे। द्वितीय पंक्ति में 'कपिकुल' का निर्देश है जो 'द्रुमस्थ' के साथ ही 'भूमिस्थ' भी होता है। तृतीय पंक्ति में स्पष्ट ही नाम दिया गया है 'गवययूथ' का जो पानी की चिन्ता में भ्रमणशील है। अन्तिम पंक्ति में 'शरभकुल' है ही। इसकी विशेषता है 'कूप' से पानी ग्रहण करना। 'प्रोद्धरत्यम्बु कूपात्' में 'कूप' का महत्त्व क्या है? क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वस्तुतः यह हाथी सा सूँडवाला प्राणी है और सीधे 'कूप' से उसी की भाँति अपने शुंड से पानी ग्रहण करता है, सामान्यतः पानी के अभाव में। 'अजिह्म' इसी का तो परिचायक है? निदान उक्त जन्तु को शरभ कहने का प्रस्ताव है। हाँ, सूँड़ के साथ शरीर उसका अश्व का है ही। फिर कोई विप्रतिपत्ति क्या?

सिंह—सब कुछ सही, पर किसी 'सिंह' के साक्षात्कार-बिना किसी राजसिंह का महत्त्व कैसा ? सो भी सामने हैं। देखिए न उसका स्वरूप है दिलीप के सामने—

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२६॥२॥

[रघुवंश]

किन्तु यह तो माया का केसरी ठहरा न ? दिलीप की दृढ़ता के सामने अन्त में इसका भी तो लोप ही हुआ न ? फिर किसी पुरुषसिंह के सामने किसी 'सिंह' का दर्प ही क्या ? न हो, तो भी सिंह सिंह ही है। उसको भी किसी सेना का भय नहीं। किसी का कोलाहल उसका कर क्या सकता है ? निदान—

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम् ।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम् ॥७२॥४॥

दिग्विजयी रघु उसे गुहा में छोड़ सकता है। उसे उससे लेना क्या ? परन्तु मृगयाविहारी उसका पौत्र दशरथ कब उसे यों ही छोड़ने लगा ? फलतः—

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दो मृगेषु ॥६४॥
तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त॥६५॥६॥

मृगया—हाथी का उपकार सिंह के विनाश का कारण बना तो ठीक ही हुआ। इसका समर्थन तो समीचीन है। परन्तु दशरथ ने जो प्रमाद में आकर हाथी का आखेट किया वह कहाँ तक न्याय्य था ? निवेदन है, इसी से तो इसका फल भी उनको भोगना पड़ा। सच है कवि की यह वाणी—

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥७४॥६॥

रजोनिमीलित मृगया के विषय में कविगुरु का अभिमत है—

परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥४६॥६॥

लक्ष्यभेद के साथ ही शरीर भी मृगया से बन जाता है तो कोई बात नहीं। यहाँ तक तो सब की बुद्धि का प्रसार हो सकता है। परन्तु कालिदास का लक्ष्य इससे भी कहीं अधिक गहरा है जो पुकार कर कहता है कि वस्तुतः कालिदास शील का कवि है कुछ श्रृंगार का रसिया नहीं। 'इंगितबोधन' का विधान यों ही नहीं बना है। नहीं। उससे वाग्विलास का स्रोत हाथ लगा है। फलतः वेष भी वैसा ही बना है। लीजिए—

> मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः।
> गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥५०॥
> ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः।
> तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥५१॥
> तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः।
> ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोशलम् ॥५२॥६॥

[रघुवंश]

मृगया-जीवन—'वनदेवता' ने मृगयावेषधारी राजा दशरथ को जिस आँख से देखा उसकी स्तुति में कहा क्या जाय ? हाँ, ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि वेष ऐसा बना है जिससे राजा भी वन में अपरिचित न लगे। अन्यथा मृगया का अखाड़ा उखड़ जायगा और शिकार आँख से ओझल हो जाने का प्रयत्न करेगा। वेष में दुराव का भाव है ही। इसी से वह भी 'रजोनिमीलित' है।

जो हो, मृगया-जीवन की एक झाँकी विदूषक के इस कथन में मिल जाती है।

भो दिष्टम्। एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि। अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजिष्वाहिण्ड्यते अटवीतोऽटवी। पत्रसंकरकषायाणि कटुष्णानि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानुधावनकण्डितसंधे रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति। ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि। इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति।

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

माधव्य के इस कथन में जो कुछ विस्तार से कहा गया है वही रघुवंश में भी सूत्ररूप में अंकित हुआ है। मृगया से अभिज्ञानशाकुन्तल में यदि विवाह का कार्य सधा है तो रघुवंश में उसी से 'शाप' का। दोनों में उसका उपयोग हुआ है 'संविधान' की दृष्टि से। तो भी देशकाल अथवा जीवन-प्रवाह की दृष्टि से इनका महत्त्व निराला है। ग्रीष्म ही मृगया का समय है। इसी से कवि उभय स्थानों पर इसे स्पष्ट करता है। माधव्य ने ग्रीष्म का नाम लिया है तो दशरथ के प्रसंग में उसका निर्देश है—

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसंनिभः ॥४८॥६॥

[रघुवंश]

यवनी—मृगया के प्रसंग में माधव्य विदूषक ने यह भी कहा था—

एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः।

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकालना साधु न होगा कि वस्तुतः 'यवनी' का मृगयावेष भी प्रायः वही था जो था दुष्यन्त अथवा स्वयं राजा दशरथ का? 'अभिज्ञान' को लें वा लें 'विक्रमोर्वशीय' को दोनों में ही 'यवनी' 'धनुर्ग्राहिणी' के रूप में आती है और जैसे इसीलिए सदा राजा के साथ ऐसे अवसर पर गोचर होती है। तभी तो पुरूरवा के 'धनुर्धनुस्तावत्' के उत्तर में—

भर्तः एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्

कहकर आज्ञा का पालन करती है। मुगलकाल में यही 'यवनी' 'तुरकनी' के रूप में गोचर होती और भाषा में 'उरदाबेगनी' केनाम से नामी हो जाती है।

वर-यात्रा—इसी प्रकार उस समय की राजयात्रा भी कुछ ऐसी होती थी जो 'मुगल' में भी प्रत्यक्ष गोचर होती है। अज की विदर्भ यात्रा में कवि लिखता है—

तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥४१॥५॥

[रघुवंश]

इतना ही नहीं अपितु इस यात्रा में स्त्रियाँ भी साथ हैं—

सच्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नात्तपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेना निवेशं तुमुलं चकार ॥४६॥५॥

[रघुवंश]

'रामापरित्राण' की पहेली कुछ गूढ़ सी प्रतीत होती है। 'अज' अभी अविवाहित हैं और विवाह के हेतु ही यात्रा कर रहे हैं। अभी उनके अन्तःपुर का कोई प्रश्न ही नहीं। हाँ, स्मरणीय बात यह है कि शिव के विवाह में वर-यात्रा में सप्तमातृकाएँ भी हैं। देखिए—

तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः ।
मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरिक्षम् ॥३८॥७॥

[कुमारसंभव]

तो क्या इस बरात में माताओं का होना संभव नहीं ? कवि ने कुछ समझ कर ही तो लिखा है—

तं श्लाघ्यसंबन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥४०॥५॥

[रघुवंश]

एवं यह भी तो विदित रहे कि राजन्यगण से संघर्ष छिड़ने पर—

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरंगः ॥३६॥७॥

आशय यह कि वास्तव में अज की यह वर-यात्रा थी कुछ निरी स्वयंवर-यात्रा नहीं। इसी से स्वयंवर के अनन्तर पाणि-ग्रहण भी तत्काल ही हो गया। दशरथ की भाँति यहाँ 'रघु' का आना कहाँ हुआ ? निदान उक्त 'रामा' को 'सुवासिनी' कहना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

उपकार्या—'रामापरित्राण' में 'रामा' का रहस्य कुछ भी हो उससे इतना तो व्यक्त ही है कि उक्त 'उपकार्या' में रामानिवास अथवा 'अवरोध' भी है और है साथ ही कहीं कहीं 'पटमण्डप' भी। हाँ, दशरथ के प्रस्थान की भी स्थिति प्रायः यही है। कवि का निवेदन है—

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥६३॥११॥

जिससे सिद्ध ही है कि यह 'उपकार्या' भी कुछ कम नहीं। 'उर्दू' की भाँति ही यह भी राजा की जंगम राजधानी ही है। अज के प्रसंग में वहीं इतना और भी कहा गया है—

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां
प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां
बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥६३॥५२॥

अस्तु इस 'उपकार्या' में अध्ययन की आवश्यकता है और देखने की यह कि वास्तव में भारत में मुगल सम्राट् कहाँ तक कालिदास के 'आसमुद्रक्षितीश' का अनुसरण करते थे। उनके 'उर्दू' का कुछ विचार 'उर्दू की हकीकत' शीर्षक लेख में किया गया है। उसमें दिखाया गया है कि वस्तुतः जंगम-निवास अथवा 'उपकार्या' का नाम 'उर्दू' है कुछ किसी 'लश्कर' वा 'बाजार' का नहीं। 'यवनी' और 'उपकार्या' के अध्ययन में यहाँ इतना निर्देश पर्याप्त है। विशेष के लिए 'विचार-विमर्श' को देखना चाहिए—

राजधानी—'उपकार्या' का विवरण नहीं। उसकी कल्पना भर की जा सकती है। किन्तु 'राजधानी' का वर्णन अनेक अवसरों पर अनेक रूपों में किया गया है। 'अयोध्या' की करुणकथा में उसकी छवि पहले ही उतर चुकी है। यहाँ 'ओषधिप्रस्थ' की छटा पर ध्यान दें—

अलकामतिवाह्येव वसतिं वसुसंपदाम्।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशितम् ॥३७॥
गङ्गास्रोतःपरिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौषधि।
बृहन्मणिशिलासालं गुप्तावपि मनोहरम् ॥३८॥
जितसिंहभया नागा यत्राश्वा बिलयोनयः।
यक्षाः किंपुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः ॥३९॥

शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम् ।
अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः ॥४०॥
यत्रकल्पद्रुमैरेव विलोल-वटपांशुकैः ।
गृहयन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिता ॥४१॥
यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु ।
ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम् ॥४२॥
यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसंचराः ।
अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः ॥४३॥
यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकः कुसुमायुधात् ।
रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः ॥४४॥
भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललिताङ्गुलितर्जनैः ।
यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणामाप्रसादार्थिनः प्रियाः ॥४५॥
संतानकतरुच्छायासुप्तविद्याधराध्वगम् ।
यस्य चोपवनं बाह्यं गन्धवद्गन्धमादनम् ॥४६॥६॥

[कुमारसंभव]

'ओषधिप्रस्थ' पर दृष्टि पड़ी नहीं कि कवि ने उसकी श्री, समृद्धि, स्थिति आदि सभी कुछ को एक वितोन में देख लिया और यह भी जता दिया कि वहाँ कितनी सुख-शान्ति है। जीव का कहना ही क्या? वहाँ के 'वेश्म', वहाँ की 'पताका', और वहाँ की 'पानभूमि' भी तो कुछ और ही है। नगर का वर्णन हो और 'अभिसारिका' का दर्शन न हो भला यह कब संभव है? सो भी कालिदास के यहाँ। फलतः वह भी यहाँ सानन्द है। अन्धकार की वहाँ बाधा क्या जहाँ स्वभावतः 'ओषधिप्रकाश' हो! रहे प्राणी, सो प्रणय के कारण चाहे जितना कलह हो, नहीं तो कष्ट का नाम नहीं। कहने को कुछ दुःख का भी तो सत्कार होना चाहिए न? सो दुःखवर्ग ही वहाँ दुःखी है।

शिल्प—फिर भी इससे वहाँ के शिल्प का कितना बोध हुआ? वह तो उसकी उदात्तता में खो गया न? सो लीजिए। कवि को उसका भी ध्यान है। 'अलका' और 'गन्धमादन' की छटा का कहना ही क्या? बात यक्ष के घर की है। लीजिए—

तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं त्वदमरधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योद्याने कृतकतनयो वर्धितः कान्तया मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥१५॥
वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैः स्फीता विकचकमलैर्दीर्घवैडूर्यनालैः ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्राप्य हंसा ॥१६॥२॥

[मेघदूत]

'यक्ष' को 'हंस' को सुधि कहाँ से आ गई ? मन की बात ठहरी । आगे का विधान है—

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥१७॥२॥

मेघदूत में छंदों का क्रम एक नहीं। किसी ने किसी छन्द को पहले रख दिया है तो किसी ने उसी को उसी के पश्चात् अथवा कहीं अन्यत्र । कारण यह कि किसी ने घटना-क्रम पर ध्यान दिया है तो किसी ने यक्ष की मनोदशा पर, हमारी समझ में तो यक्ष की प्रकृति-कृपणता मेघदूत में मुख्य है । अतः कभी इसको स्वस्थ क्रम में देखना ठीक नहीं । तथापि प्रकरण के विचार से पश्चात् स्थान है इस छन्द को—

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥१८॥२॥

तथा इसके अनन्तर—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ॥१९॥२॥

को। कारण यह कि इसी के उपरान्त यक्ष कहता है—

एभिः साधोः हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥२०॥२॥

परन्तु 'प्रकृतिकृपणता' के विचार से यह संभव नहीं कि 'गेह' की बात उठे और 'गेहिनी' की मूर्त्ति आँख में न आ विराजे। फलतः यदि 'मद्गेहिनी' का नाम आते ही यक्ष विह्वल हो उठा और बीच में ही उसके परिचय में मग्न हो गया तो हुआ तो उसकी मनोदशा के सर्वथा अनुकूल ही न? प्रिया भी ऐसी कि देखते ही बने। वैसे 'गेह' में ऐसी 'गेहिनी' कि—

तन्वी श्यामा शिखरदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥२२॥२॥

[मेघदूत]

सच तो यह है कि विधाता की सृष्टि को शोभित करने का काम मानव ने किया है। इसी से तो उसके जीवन में कला और शिल्प का इतना महत्व है? स्मरण है न? यक्ष ने मेघ से कहा था—

द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।

चित्रकला—जी। उसके 'द्वारोपान्त' पर 'शंख' और 'पद्म' का रूप बना था। ऐसा रूप कि देखते ही कोई कह उठे कि यह 'शंख' है और यह 'पद्म'। प्रतिमा ने प्रतीक का रूप धारण कर विश्व में जो चमत्कार किया और अपनी प्रतिभा के बल पर कूटस्थ अक्षर को कागद का अक्षर बना मानव ने जो कुछ साध लिया उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। चित्र का आदर्शरूप कालिदास की दृष्टि में यह है—

सानुमती—यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालेखितुकामो भवेत्।

राजा—श्रूयताम्।

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥१७॥६॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) यथाहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः ।

राजा—वयस्य अन्यच्च । शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृतमस्माभिः ।

विदूषकः—किमिव ।

सानुमती—वनवासस्य सौकुमार्यस्य विनयस्य च यत्सदृशं भविष्यति ।

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे ! शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥१८॥६॥

कला-कौशल—यहाँ तक तो सामान्य बात रही । अब कला-कौशल का साक्षात्कार कीजिए—

विदूषकः—भोः किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमावार्य चकितचकितेव स्थिता । (सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा) आः एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्र भवत्या वदनकमलमभिलङ्घते मधुकरः ।

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः ।

विदूषकः—भवानेवाविनीतानां शासिताऽस्य वारणे प्रभविष्यति ।

राजा—युज्यते । अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे ? किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि ?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता ।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥६॥

अभी तक तो 'विनोद' की सीमा के भीतर की बात है । हाँ, इसके आगे है कला का प्रभाव । पात्रत्रय की अनुभूति पर दृष्टिपात तो कीजिए । कवि अपनी कला की कला में मुग्ध है । लीजिए—

सानुमती—अद्याभिजातं खल्वेष वारितः ।

विदूषकः—प्रतिषिद्धापि वामैषा जातिः ।

राजा—एवं भो न मे शासने तिष्ठसि । श्रूयतां तर्हि संप्रति ।

आक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियाया—
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥६॥

विदूषकः—एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति (प्रहस्य आत्मगतम् ।) एष तावदुन्मत्तः । अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः । (प्रकाशम् ।) भोः चित्रं खल्वेतत् ।

राजा— कथं चित्रम् !

सानुमती—अहमपीदानीमवगतार्था । किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येषः ।

[अभिज्ञानशाकुन्तल]

सानुमती का यह कथन बड़े महत्त्व का है। उक्त चित्र से सबसे अधिक प्रभावित हुआ है राजा दुष्यन्त । वह भुक्तभोगी जो है । और सबसे कम प्रभावित हुआ है विदूषक । वह 'मृत्पिण्डबुद्धि' जो है। रही दोनों के मध्य में सानुमती की स्थिति । सो प्रत्यक्ष ही एक प्रकार से शकुन्तला की माता सी है। फिर उसका भी स्नेह चित्र से ही है। तात्पर्य यह कि रसानुभूति भी हृदय देखकर होती है और सच्ची कला विवेक को पनपने नहीं देती । यथार्थ में अंकन में कला का उत्कर्ष है तो रहे, पर अभिप्रेत प्रसाधन के बिना मानव को सुख कहाँ ? विधाता की सृष्टि मानव के हाथ सुखद होती है न ? यदि दुष्यन्त शकुन्तला की छवि भर उतार कर रह जाता तो उसमें छवि भरने का काम कौन करता ? 'अभिप्रेत' का अंकन ही तो कला का प्राण है ! अन्यथा एक शरीर में कितने भाव होते हैं और एक भाव के कितने अनुभाव । भाव यह कि कला की सफलता है जीव की तन्मयता में, कुछ रंग के चोखापन में नहीं । अभाव को भाव में परिणत कर देना कला का काम है और किसी की छवि उतार लेना किसी छायाग्राही का धर्म । विधाता की सृष्टि को मानव का योग मिला तो वह खिल उठी अन्यथा अपने आप जैसी की तैसी बनी रही । वह कला की खोज

में है कला उसकी खोज में नहीं। मानव की प्रतिभा की ही तो वह कला है कि 'चित्र' में 'मूल' का धोखा खा सिंह झपट पड़ता है और हाथी का मस्तक फाड़ अपनी भ्रान्ति को सफल करता है। देखिए—

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥१६॥१६॥

[रघुवंश]

कलानन्द—कैसा रंग में भंग का दृश्य उपस्थित हो गया! तो भी कला का आनन्द आ गया न? कवि का ही तो कथन है—

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥२५॥१४॥

[रघुवंश]

दण्डकवन में दुःख चाहे जितना रहा हो पर आज चित्र के रूप में प्रकट हो वह सुख का ही साधन बन गया है न? फिर चित्र की महिमा क्या कही जाय! दुःख को सुखद बनाना कला का काम ठहरा। फिर उसके रहते किसी को दुःख की चिन्ता क्या? कारण यक्ष के मुँह से सुनिए। किस विषाद में वह कहता है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥४७॥२॥

[मेघदूत]

विचारने की बात है कि दुःख में दुःख की ही क्यों विशेष सूझती है। यक्ष को 'प्रणयकुपिता' से ही इतना अनुराग क्यों? कलाकार के रूप में दुःख के अतिरेक के कारण उसे कला का आनन्द तो न मिला, परन्तु कौन कह सकता है कि सामाजिक के रूप में अपनी सिद्ध कला का रस उसे नहीं मिलता! यदि 'प्रणयकुपिता' का चित्र उतर गया होता तो उसके अवलोकन में उसे अवश्य आनन्द मिलता और प्रसादन का व्यापार सरस हो उठता। यक्ष का सोचना भी

कितना सटीक है ! उधर भी चित्ररचना का सुखद विलास है। कवि ठीक ही तो कहता है—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके ! त्वं हि तस्य प्रियेति ।।२५।।२।।

[मेघदूत]

प्रतिकृति—अस्तु । कहा जा सकता है कि वियोग की दशा में प्रिय-प्रिया को 'प्रणयकुपिता' और 'विरहतनु' के अंकन में ही क्रमशः आनन्द आता है। किन्तु 'प्रतिकृति' का महत्त्व इससे भी अधिक है। अज के प्राण से इसका कितना लगाव है ! यही जीवनाधार है। इसी को भर आँख देख लेने से उसकी व्यथा कम हो जाती है। परन्तु इससे प्रणय का मार्ग भी प्रायः खुल जाता है। कवि ने मालविकाग्निमित्र में इसका सफल प्रदर्शन कर दिया है। यहाँ तो 'चित्र' ही राग का कारण बनता है। अग्निमित्र में इसका सफल प्रदर्शन कर दिया है। यहाँ तो 'चित्र' ही राग का कारण बनता है। अग्निमित्र स्वयं ही कहता भी है—

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामास्थया लब्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः ।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्
कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य ।।१।।४।।

[मालविकाग्निमित्र]

कान्ति—काम-रस की इस कथा के साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट रहे कि इस 'राग' का कारण 'चित्र' ही है। वह कहता भी है आप ही विदूषक से—

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।
संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ।।२।।२।।

'चित्रगता' मालविका के दर्शन का अवसर मिला 'चित्रशाला' में। ऐसा क्यों हुआ ? कारण यहीं विराजमान है। वह 'श्रुतिपथगता' जो है। यही कारण है कि 'चित्र' से उसमें 'राग' उत्पन्न हुआ और वह कल्पना के लोक में जा

पहुँचा। उसने चित्र को 'शिथिलसमाधि' का परिणाम समझा। परन्तु क्या उसके रसभोग में वह स्वयं 'शिथिलसमाधि' न था? समाधान के पहले परिस्थिति को देख लें, जो है—

शृणु। चित्रशालां गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागां चित्ररेखामालोकयन्ती चिरं तिष्ठति। तस्मिन्नन्तरे उपस्थितो भर्ता।

प्रतीत होता है कि भर्ता 'चित्ररेखा' पर ही मुग्ध हो गए और 'कान्ति' को 'कान्ता' के रूप में देख बैठे।

वाद्य—परन्तु चित्र में कान को भोजन कहाँ! निदान परितः परितृप्ति की योजना बनी और संगति के लिए संगीत का उपाय सूझा। अखाड़ा गरम हुआ तो 'परिव्राजिका' भी बोल उठी—

हन्त प्रवृत्तं संगीतकम्। तथा ह्येषा—

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरै-
रुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था
मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥२१॥१॥

और राजा का तो कहना ही क्या? उनके जी की खलबली तो देखते ही बनती है—

धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम्।
अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्येव ॥२२॥१॥

गीत—'वाद्य' का कार्य बन गया तो गीत का प्रश्न उठा और स्वयं आचार्य ने निश्चय कर दिया—

देव शर्मिष्ठायाः कृतिर्लयमध्या चतुष्पदा। तस्याश्चतुर्थवस्तुकं प्रयोगमेकमनाः श्रोतुमर्हति देवः।

किन्तु 'एकमना' होकर सुनना देव के लिए था कितना कठिन! वहाँ तो 'चित्रगता' को 'प्रत्यक्षदर्शना' करने की पड़ी थी न? फलतः विदूषक से बोल ही तो पड़े सब की आँख बचा कर—

नेपथ्यगृहगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करणीम् ॥१॥२॥

'गीत' का प्रदर्शन हो गया तो उसमें पढ़ा भी गया यह—

जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये
वचनमभिनयन्त्या स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम्।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षा-
दहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः ॥५॥२॥

नृत्त—'नृत्त' का कहना ही क्या? उसकी प्रशंसा भी देव करते हैं—

वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥६॥२॥

और अंत में 'प्राश्निक' का निर्णय होता है—

यथादर्शनं सर्वमनवद्यम्। कुतः-
अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावोभावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥८॥२॥

कसौटी—'संगीत' का प्रदर्शन हो गया तो कला की तृप्ति हो गई और समीक्षा का शास्त्र खुला। प्राश्निक ने जो कुछ कहा उससे 'आचार्य' को तोष कहाँ? निर्णय में तृप्ति कहाँ? निदान आचार्य का प्रश्न हुआ विपक्षी से आत्म-तृप्ति के हेतु—

देवः कथं वा मन्यते?

उधर से उत्तर मिला—

गणदास! स्वपक्षे शिथिलाभिमाना वयं संवृत्ताः।

आचार्य का मुख खुला—

अद्य नर्तयितास्मि।
उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु ॥९॥२॥

[मालविकाग्निमित्र]

स्मरण रहे, 'अभिनय' की भाँति ही 'काव्य' की कसौटी में भी कविगुरु ने यही कहा है—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥१०॥१॥

[रघुवंश]

प्रशस्ति—परन्तु सच पूछिए तो कला वा काव्य की सच्ची सफलता है विपक्षी के 'शिथिलाभिमान' में। अथवा भारत के किसी अप्रतिम महात्मा की वाणी में—

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहि बखान ॥१४॥१॥

[रामचरितमानस]

तुलसी की तुला ठहरी। उसपर उनके अतिरिक्त कोई कब तुला ? किन्तु कालिदास के सम्बन्ध में जो यह कहा गया है उसके अक्षरशः सत्य होने में किसी को संदेह क्या ? कहते हैं—

म्लायन्ति सत्कलाः कालिदासेनासन्नवर्तिना ।
गिरः कवीनां दीपेन मालतीकलिका इव ॥

कारण यह कि—

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः ।
तेनेवं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥

नाट्य—'काव्य' के विषय में कविगुरु की अभिरुचि क्या थी और क्या थी 'नाट्य' के विषय में, आदि प्रश्नों की मीमांसा में पड़ने के पहले ही प्रसंगवश इतना जान लें कि कवि के ही कथनानुसार कहा जाता है यह कि—

वयं वा भवभूतिर्वा नाटकेषु वयमेव वा
उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते ॥

जिसका आशय यह हुआ कि 'नाट्य' में ही कवि की विशेष रुचि थी। नाट्याचार्य गणदास के इस विवेचन पर ध्यान तो दीजिए—

कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता । न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्यागौरवम् । कुतः—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥४॥१॥

[मालविकाग्निमित्र]

प्रयोग—और यह 'नाट्य' की ही तो विशेषता है कि उमा-रुद्र के प्रणयोल्लास में खेला गया कोई नाटक। कवि की वाणी थोड़े में बहुत कुछ कहा चाहती है। लीजिए—

तौ संधिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥६१॥७॥

[कुमारसंभव]

यही क्यों ? 'विक्रमोर्वशीय' में तो इसका और भी खुल कर स्वागत हुआ है न ? देखिए न भरत शिष्यों का वार्तालाप है—

प्रथमः—सखे पल्लव ! महेन्द्रसदनं गच्छतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहितः । अग्निशरणसंरक्षणाय स्थापितोऽहम् । अतः खलु पृच्छामि । अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्या परिषदाराधिता ?

द्वितीयः—गालव ! न जाने आराधिता न वेति । तस्मिन् पुनः सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरेषु तन्मय्यासीत् । किं तु—।

'किंतु' की बात अब अगोचर नहीं। 'अग्निशरणसंरक्षण' और 'चाक्षुष क्रतु' पुकार कर कहते हैं कि यह कार्य कितना पवित्र है। 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' कह जाने का फल 'उर्वशी' को भोगना पड़ा। परन्तु 'मालविका' का काम बन गया 'छलित' के अभिनय से। 'सामाजिक' को किसमें कितना आनन्द मिला, इससे कोई प्रयोजन नहीं। 'प्रयोग' की सफलता 'प्रेक्षक' की आराधना पर आश्रित है इसमें संदेह नहीं।

भाषा—और भी मननीय बात यहाँ यह है कि भरत का 'प्रथम' शिष्य संस्कृत बोलता है तो 'द्वितीय' प्राकृत। उसका मूल कथन है—

गालव । ण आणे आराहिदा ण वत्ति। तस्सिं उण सरस्सई किदकव्वबन्धे लच्छीसअंवरे तेसु तेसु रसन्तरेसु तम्मआ आसि । किंतु—

कारण का बोध कदाचित् कवि के इस कथन से आप ही हो जाय। पार्वती का पाणिग्रहण पूरा हो गया तो—

पत्रान्तलग्नैर्जलबिन्दुजालैराकृष्टमुक्ताफलजालशोभम्।
तयोरुपर्यायतनालदण्डमाधत्त लक्ष्मीः कमलातपत्रम् ॥८९॥
द्विधाप्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ॥९०॥७॥

[कुमारसंभव]

'सुखग्राह्यनिबन्धन' की दृष्टि से सरस्वती ने प्राकृत का सहारा लिया तो ठीक ही किया। सबका हित भी तो इसी में था न कि जो भाषा जिसको भाती हो उसी में उससे कुछ कहा जाय ! नहीं तो जानने को तो पार्वती भी संस्कृत जानती ही थीं।

शिक्षा—शिल्प-शिक्षा का उस समय जैसा कुछ महत्त्व था वह 'मालविकाग्निमित्र' में भली भाँति देखा जा सकता है। वेतनभोगी गणदास का कितना सच्चा अभिमान है—

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरो-
स्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकैव
तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥१७॥१॥

[मालविकाग्निमित्र]

साथ ही उसका यह उद्घोष वा विश्वास भी—

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥६॥१॥

'मालविका' और 'इरावती' तक ही यह शिक्षा सीमित नहीं है। सारसक के इस कथन पर ध्यान तो दें—

तेन महासाराणि रत्नवाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठं परिजनं चोपायनीकृत्य भर्तुः सकाशं प्रेषितो दूतः श्वः किल भर्तारं द्रक्ष्यति।

तथा शकुन्तला की प्रिय सखियों की इस उक्ति पर विचार तो करें—

अये अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु त आभरणविनियोगं कुर्वः। [अभिज्ञानशाकुन्तल]

लेख—'चित्रकर्म' ने क्रमशः 'वर्णकर्म' का रूप कैसे पकड़ा और फिर मानव उसके सहारे किस वेग से आगे बढ़ा आदि प्रश्नों के समाधान में भी कालिदास से कुछ सहायता मिल सकती है। यक्ष के प्रसंग में देखा गया है कि उसके द्वारपार्श्व में 'शङ्ख' और 'पद्म' की 'आकृति' बनी है और वह स्वयं यक्षिणी की 'भावगम्य' 'प्रतिकृति' के अंकन में असफल हो गया है। तो भी न जाने क्यों वह मेघ के हाथ कोई पत्र उसके पास नहीं भेजता। भेजता तो क्या? इसकी कल्पना भी नहीं करता। हाँ, शकुन्तला यह कार्य अवश्य करती है। देखिए—

शकुन्तला—हला चिन्तितं मया गीतवस्तु। असंनिहितानि पुनर्लेखन-साधनानि।

प्रियंवदा—एतस्मिञ्शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु।

'लेखनसाधन' के अभाव में 'मदनलेख' का यह विधान विचारणीय है। अन्यत्र भी कहा गया है—

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥७॥१॥

[कुमारसंभव]

अनुदर्शन—नृपुलेख, भावलेख, मदनलेख, प्रतिलेख, सभाजनलेख, लेख आदि विविध लेखों के विवरण से कोई विशेष लाभ नहीं। फिर भी समय की जानकारी के विचार से इतना तो जानना ही होगा कि उस समय का एक 'अनुदर्शन' लेख है—

स्वस्ति। यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्यानुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजसूययज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं गोप्तारं वसुमित्रमादिश्य संवत्सरोपावर्तनीयो निर्गलस्तुरगो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणे रोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनानां प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।

ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ॥१५॥५॥

सोऽहमिदानीमंशुमतेव सगरः पौत्रेण प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।

[मालविकाग्निमित्र]

सेनापति पुष्यमित्र के इस पत्र के विषय में इतना और विदित रहे कि वस्तुतः यह वेष्टित रूप में था। कारण कि वहाँ यह एक निर्देश मिलता है कि—

राजा सहसोत्थाय प्राभृतकं सोपचारं परिगृह्य शिरसि कृत्वा परिजनायार्पयति लेखं च नाट्येन उद्वेष्टयति।

वर्णबोध—यह 'लेख' वास्तव में भूर्जपत्र पर लिखा गया वा ताडपत्र पर, कर्पट पर लिखा गया था वा किसी प्रकार के 'कागर' या 'कागद' पर, इसकी सच्ची जानकारी के अभाव में हमें निवेदन यह कर देना है कि उस समय वर्णशिक्षा की विधि थी और उसका लक्ष्य था 'वाङ्मय' में पारंगत करा देना। देखिए। रघु के विषय में कवि का कथन है—

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥२८॥३॥

[रघुवंश]

लिपिद्वारा जिस ज्ञानार्णव का अवगाहन आज मानव कर सकता है उसका कहना ही क्या! वपुर्लेख से लिपिलेख तक पहुँचने तक प्राणी को क्या कुछ करना पड़ा, इसकी पड़ताल लिपिविज्ञान के प्रसंग में आए दिन होती ही रहती है। उससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमारा उद्देश्य तो इतना और भी दिखा देना है कि अज का अभ्यास बढ़ा तो हस्तलाघव भी कुछ और ही हो गया। यहाँ तक कि समरांगण में—

सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम्।
यशो हृतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः॥६५॥७॥

और साथ ही 'वर्णाक्षर' की स्पष्टता यह कि—

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान्।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः॥३८॥७॥

शास्त्र—हाँ, अक्षर की वह सुबोधता भारत को यों ही नहीं प्राप्त हो गई। नहीं, इसके मूल में उसकी 'संस्कार' की पूत भावना है। कवि पुराण कवि का कीर्तन करता हुआ कहता है—

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥३६॥१०॥

सचमुच भारती तभी सच्ची भारती बन सकती है जब वह यथार्थतः 'वर्णस्थाना' और 'कृतसंस्कारा' हो। इस संस्कार की विशेषता तो देखिए कि कवि ने 'काव्य' में शास्त्र से कितना कस कर काम लिया है। उदाहरण के लिए 'राम' को लीजिए। रामादि का विवाह क्या हुआ, कवि की भाषा में 'प्रत्ययप्रकृति' का योग हो गया। लीजिए—

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम्।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसंनिभः ॥५६॥११॥

'प्रकृति' और 'प्रत्यय' का प्रयोग हो गया तो 'धातु' और 'आदेश' का रंग देखिए। कितना सरल ढंग है—

स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥५८॥१२॥

राजा जाता आता रहता है। उससे प्रकृति का मूल नहीं बदलता। राजा का 'आदेश' चलता है 'आगम' नहीं। साथ ही 'अपवाद' और 'उत्सर्ग' का भी तो ध्यान रहता है। लीजिए। यह सब भी यहाँ है ही—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परंतपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥७॥१५॥

अथवा कवि के पांडित्यप्रदर्शन को यों भी समझ लें कि—

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥९॥१५॥

संस्कार—फिर भी शास्त्र को समझते कितने लोग हैं? लोकबुद्धि के प्राणी सूक्ष्म को नहीं समझ सकते। फलतः कवि का अवसाद है राम की ही वाणी में—

अवैमि चैनामनघेति किंतु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥४०॥१४॥

आज भारत की प्रजा 'कृतसंस्कार' भारती में जो महत्त्व पा रही है वह कहाँ तक उसकी भूमि की छाया का प्रसाद है, इसे हम नहीं कहते। परन्तु तो भी इतना जानते अवश्य हैं कि उसमें आंग्ल छाया की प्रधानता अवश्य है। फिर भी संतोष की बात है कि आंग्ल अन्धा नहीं दृष्टि का पिपासु है। उसके संसर्ग से वाणी को फिर स्फूर्ति मिली है। संभव है। किसी दिन फिर अपनी-अपनी भाषा में विश्व को यह सुनने को मिले—

अन्ये प्रथन्तां कवयः सहस्रं अकहृदा वा भुवि कहृदा वा।
ते प्रस्तुता नेह परन्तु कालिदासे कवौ नैव कदाप्युदासे॥

[साहित्यालंकार]

अस्तु। साहित्य के अलंकार कविकुलगुरु कालिदास के स्तवन में उपसंहार-स्वरूप उसी विन्ध्याटवी के वर्तमान मधुर कवि श्री गोपालशरण सिंह जी भारती में कहा जाता है कि—

उपसंहार

जहाँ हैं वाल्मीक कविश्रेष्ठ
जहाँ हैं मुनिवर वेदव्यास,
वहीं ऊँचा कर के निज शीश
खड़े हो तुम भी उनके पास;
सदा जो रहता है उत्फुल्ल
काव्य-सर के हो तुम जलजात,
विश्व की प्रतिभा के उत्कर्ष
हुए तुम कालिदास विख्यात।

तुम्हारे ग्रन्थों से सम्पन्न
हुआ है भारत का साहित्य,
दिया तुमने जग को आलोक,
देश-नभ के बन कर आदित्य;

कहा था तुमने "है हिमवान्
महो का मानदण्ड अवदात"
किन्तु भारत-गौरव के आप
बन गए मानदण्ड तुम ख्यात ।

खिली जो कली प्रेम-जल-सिक्त
कुसुम-कलिका-सी मृदु कमनीय,
छिन्न कोमल लतिका-सी आज
हुई वह शकुन्तला दयनीय;
खींच कर तुमने उसका चित्र
दिखाया अद्भुत योग-वियोग,
एक क्षण में अपार सुख-भोग
एक क्षण में अपार दुख-भोग ।

किया सुरपति से पाकर दण्ड
यक्ष ने राम-शैल में वास,
नियति ने दया-भाव से खींच
तुम्हें पहुँचाया उसके पास;
विरहिणी पत्नी की कर याद
हो गया जब वह विकल विशेष,
बना कर वारिधरों को दूत
तुम्हीं ने भिजवाया सन्देश ।

छुड़ाने को शंकर का ध्यान
चलाया स्मर ने उन पर बाण,
हुआ तब हर को रोष महान्
बचा सुर सके न उसके प्राण;
द्रवित होकर तुमने कविवर्य ?
कराया रति से करुण विलाप,

मिला फिर उसको यह वरदान
मिटेगा तेरा यह सन्ताप ।

किया तुमने रचकर 'रघुवंश'
प्रवर्धित रघु-कुल का सम्मान,
न भूला उसको निज कर्तव्य
आपदा भी जब पड़ी महान्;
प्राण संकट में थे अत्यन्त
हुए पर विचलित नहीं दिलीप,
दिखा कर साहस-शौर्य विचित्र
बन गए नरपति-वंश-प्रदीप ।

मिला जो जग में तुमको स्थान
देश को है उसका अभिमान,
तुम्हारी रचना का सम्मान
हमारे लिए हुए हुआ वरदान;
हुए कितने ही कवि उत्पन्न
गए हैं बीत हजारों वर्ष,
किन्तु किञ्चित् भी हुआ न क्षीण
तुम्हारी कविता का उत्कर्ष ।

काव्य का जो प्रासादिक रूप
दिखाया तुमने मनोभिराम,
कहाँ से लाकर भरी अनूप
छटा उसमें स्वर्गीय ललाम ?
हृदय में करते शीघ्र प्रवेश
तुम्हारे उर के मृदु उद्गार,
बह रही है जग में सर्वत्र
तुम्हारी काव्य-सुधा की धार ।

दिया तुमने पवित्र शृंगार
प्रेम से करके ओत-प्रोत,
हो गई आर्द्र भारत की भूमि
बहाया तुमने करुणा-स्रोत;
दिखाया तुमने हमें विचित्र
प्राकृतिक सुषमा का संसार,
जगा कर मन में भाव नवीन
किया तुमने रस का संचार।

कहाँ से पाकर अद्भुत शक्ति
काव्य की तुमने की थी सृष्टि ?
विश्व को तुमने दी थी दिव्य
कहाँ से लाकर अन्तर्दृष्टि ?
छोड़ कर अनुपम कीर्ति-विभूति
किया तुमने जग से प्रस्थान,
किन्तु निज कृतियों को अमरत्व
यहाँ भी तुम कर गए प्रदान।

परिशिष्ट

कालिदास का दूत-कर्म

कुन्तलेश्वर—राजकवि कालिदास के विलास की तो बात ही और है पर उनका 'दौत्य' भी किसी से कम नहीं है। देखिए भोजराज कहते हैं:—

तत्र पदान्यथाकरणं द्विधा प्रकृतितो विभक्तितश्च। तत्र प्रकृतितो यथा—

असकलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या,
मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां,
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥

अत्र त्वयीत्यस्य स्थाने यदा मयीति पठ्यते तदैतत्प्रार्थनावाक्यमपि अनुमतिवाक्यं भवति।

[सरस्वतीकंठाभरण, द्वितीय परिच्छेद]

राजा भोज के प्रस्तुत अवतरण के प्रसंग वा संदर्भ का कुछ भी पता नहीं चलता पर इतना व्यक्त हो जाता है कि इसकी 'प्रार्थना' पाठभेद के कारण 'अनुमति' बन गई है। अच्छा, तो यह प्रार्थना थी किसकी? वही राजा भोज फिर कहते हैं—

नैयायिकी यथा—कालिदासः किं कुन्तलेश्वरः करोतीति विक्रमादित्येन पृष्ट उक्तवान् असकलहसितत्वात्......इदमेवोहयित्वा विक्रमादित्यः प्रत्युवाच—

पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां,
मयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥ इति॥

[शृंगारप्रकाश, अष्टम प्रकाश]

पिबति और पिबतु—भोजराज के इस अवतरण से जहाँ यह अवगत हुआ कि 'कालिदास' की उक्त 'प्रार्थना' पाठभेद के कारण 'विक्रमादित्य' की 'अनुमति' हो गई वहीं यह अड़चन भी सामने आगई कि वास्तव में मूल पाठ

है क्या? एक ओर तो भोज 'पिबतु' को ठीक मानते हैं और दूसरी ओर 'पिबति' को। फिर वस्तुस्थिति का ठीक पता कैसे हो?

भाग्यवश यही पद्य राजशेखर के काव्यमीमांसा एवं मंखक के साहित्यमीमांसा नामक ग्रंथ में भी आया है। राजशेखर 'हरण' पर विचार करते हुए लिखते हैं:—

पादैकदेशग्रहणमपि पादैकदेशोपलक्षणपरम्। यथा—

असकलहसितत्वात्............

यथा चोत्तरार्द्धे—

पिबतु............

[काव्यमीमांसा, एकादश अध्याय]

एवं मंखक 'नैयायिकी' के सम्बन्ध में कहते हैं—

ऊहविपर्ययविपरिणामाध्याहारवाक्यशेषव्यवहितकल्पनादिभिरुपकल्पमाना नैयायिकी यथा—कालिदासः किं कुन्तलेश्वरः करोतीति विक्रमादित्येन पृष्ट उक्तवान्—

असकलहसितत्वात्.........

इति। विक्रमादित्यः पिबतु मयीत्यूहयित्वा इदमेव पद्यमुत्तरं पपाठ। इयमूहतो नैयायिकी। [साहित्यमीमांसा, द्वितीय प्रकरण]

निदान हम देखते हैं कि राजशेखर तथा मंखक दोनों ही आचार्य इस बात में एक मत हैं कि वास्तव में कालिदास ने 'पिबति' और 'त्वयि' का प्रयोग किया था किन्तु विक्रमादित्य ने उन्हें 'पिबतु' और 'मयि' के रूप में कर लिया। 'त्वयि' और 'मयि' के विषय में तो कोई विवाद है नहीं। हाँ, 'पिबति' और 'पिबतु' में द्वन्द्व अवश्य है। सो बहुमत तो यही है कि कालिदास ने 'पिबति' कहा और विक्रमादित्य ने 'पिबतु' के रूप में उसे ग्रहण किया। होना भी यही था।

उद्देश्य—'पिबति' और 'पिबतु' पर विचार बाल की खाल निकालने के लिए नहीं प्रत्युत यह दिखाने के हेतु किया जा रहा है कि वस्तुतः कालिदास का दौत्य कैसा था। कालिदास किस काम से भेजे गए थे, इसका पता नहीं; पर इतना तो निर्विवाद है कि उनके वापस लौट आने पर उनसे प्रश्न किया जाता है कि कुन्तलेश्वर क्या करते हैं? अब यदि इसका उत्तर यह दिया जा रहा है

कि अधरामृत का पान करते हैं तो ठीक। कारण कि इससे उनके 'वर्त्तमान' का बोध होता है। और यदि 'पिबतु' का प्रयोग करते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि कालिदास वस्तु-स्थिति को स्पष्ट न कर विक्रमादित्य से 'प्रार्थना' करते हैं कि उसे वैसा करने की 'अनुमति' मिले। किन्तु बात ऐसी है नहीं। कालिदास तो कुन्तलेश्वर के वर्त्तमान को बताते हैं और विक्रमादित्य चट ताड़ लेते हैं कि अब उससे कोई भय नहीं। वह भले ही अधरामृत का पान करता रहे, हम तो उससे कोई विरोध नहीं रखते। चलो, अब तो उसकी चिन्ता दूर हुई। बस उसका विलास अब उसे और आगे बढ़ने न देगा।

परन्तु यह कुन्तलेश्वर है कौन जो विक्रमादित्य को इतना व्यथित कर देता है कि उसकी गति-विधि का पता लगाने के लिए कवि कालिदास को दूत बन कर जाना पड़ता है? साहित्य अभी इसके सम्बन्ध में मौन है। हाँ, उपलब्ध सामग्री से इतना पता चलता है कि कालिदास ने कुन्तलेश्वर के यहाँ भी कुछ कर दिखाया था। क्षेमेन्द्र कहते हैं—

अधिकरणौचित्यं यथा कुन्तलेश्वरदौत्ये कालिदासस्य—

इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणां,
इह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं,
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम्॥

अत्र महाराजदूतोऽपि सामन्तास्थाने स्वप्रभुसमुचितगौरवपूजार्हमासनमनासाद्य कार्यवशेन भूमावेवोपविष्टः प्रागल्भ्यगाम्भीर्येणैवं ब्रूते, यथाऽस्मद्विधानां वसुधातल एव भुजगपतिभोगस्तम्भः प्राग्भारनिष्कम्पे धरासने स्थानं युक्तं, यस्मादिहैव मेरुरचलचक्रवर्ती समुपविष्टः, सप्तमहाब्धयश्च तत्तुल्यतैवास्माकमौचित्यमधिकरणपदसंबद्धमेव॥[1]

[औचित्यविचारचर्चा]

---

१. ध्यान देने की बात है कि यही प्रसंग श्रीबल्लाल कवि के यहाँ कुछ और ही रूप धारण कर लेता है जिससे किसी को इसकी साधुता में सन्देह हो सकता है। पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। बल्लाल कवि का ध्यान इतिहास पर था ही

'पूजार्हमासनमनासाद्य' के साथ ही 'पूजार्हमासनमापाद्य' पाठ भी देखने में आया है जिससे कालिदास के साथ कुन्तलेश्वर के व्यवहार में बड़ा अन्तर आ जाता है। किन्तु प्रकरण पर विचार करने से प्रथम पाठ ही अधिक संगत सिद्ध हुआ है और विद्वानों ने प्रायः माना भी इसी को साधु है। फलतः मानना

नहीं; उन्हें तो किसी प्रकार कवि, काव्य एवं मर्मज्ञ रसिक का रूप दिखाना था। कहते हैं—

"ततः प्रविशति द्वारपालः—"देव ! कोऽपि कौपीनावशेषो विद्वान् द्वारि तिष्ठति" इति।

राजा—"प्रवेशय" इत्यवोचत्। ततः प्रवेशितः कविरागत्य "स्वस्ति" इत्युक्त्वानुक्त एवोपविष्टः प्राह—

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणाम्।
इह हि निहितभारा सागराः सप्त चैव॥
इदमतुलनन्तं भूतलं भूरिभूतः।
अभवद्धरणसमर्थं स्थानमस्मद्विधानाम्॥५६॥

राजा प्राह—"महाकवे ! किं ते नाम ? अभिधत्स्व।" कविः प्राह—"नामग्रहणं नोचितं पण्डितानाम्। तथापि वदामो यदि जानासि।"

कवि संकेत में अपना परिचय देता है "स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः" तो कालिदास कहते हैं:—

"सखे क्रीडाचन्द्र ! चिरात् दृष्टोसि। अथ कथम् ईदृशी ते दशा मण्डले मण्डले विराजत्यपि राजनि बहुधनवति" ?

[भोजप्रबन्ध, दशम प्रबन्ध]

उत्तर पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत प्रकरण से प्रत्यक्ष है कि यहाँ इस पद्य को और ही रूप मिल गया है और इससे काम भी कुछ और ही लिया गया है। कालिदास के 'सखा' 'क्रीडाचन्द्र' का रहस्य क्या है, इसे कौन बताए ? पर इतना तो व्यक्त ही है कि बल्लाल की दृष्टि में इस पद्य का सम्बन्ध क्रीडाचन्द्र ही से है। तो भी यह कहा नहीं जा सकता कि वास्तव में बल्लाकाल पक्ष ही ठीक है, क्षेमेन्द्र का नहीं। वस्तु-स्थिति तो यह प्रतीत होती है कि

पड़ता है कि कुन्तलेश्वर का व्यवहार कालिदास के प्रति शिष्ट न रहा, किन्तु कालिदास ने अपनी प्रतिभा के सहारे उससे वह काम लिया कि कुन्तलेश्वर की आँख खुल गई और उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया कि चक्रवर्ती के लक्षण क्या हैं। सारांश यह कि अपनी निपुणता से कालिदास ने उन्हें परास्त कर ऐसा मोह लिया कि फिर कभी उनको उपद्रव की न सूझी और विक्रमादित्य के प्रतिकूल न हुए।

प्रणय—कालिदास के 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' काव्य का पता नहीं, परन्तु उसके दो उपलब्ध पद्यों के आधार पर पुराविदों ने मनमाना प्रासाद खड़ा कर लिया है और इतिहास की कतिपय गुत्थियों को सुलझाने का पूरा पूरा श्रम भी कर लिया है। प्रायः सभी विद्वानों को इस दौत्य का मधुर फल प्रणय ही दिखाई दिया है और फलतः इसी प्रणय की पूर्ति में मनमाने वर भी ढूंढ़े गए हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तो हैं ही, उनके पुत्र[1] कुमारगुप्त तथा पौत्र

कालिदास के प्रकृत पद्य में ही हेरफेर कर प्रस्तुत पाठ बना लिया गया है और क्रीडाचन्द्र को कालिदास का सखा बना दिया गया है। यदि यह ठीक है तो इतिहास के क्षेत्र में इसका कुछ महत्त्व नहीं; यह तो केवल कवि-सभा के योग्य है। और यदि 'क्रीडाचन्द्र' में 'चन्द्र' की 'क्रीडा' का संकेत हो तो बात और है।

१, कुमारगुप्त के पक्ष में बहुमत दिखाई देता है। श्रीबल्लाल कवि का एक पद्य है—

> अष्टौ हाटककोटयस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः।
> पञ्चाशन्मधुगन्धमत्तमधुपाः क्रोधोद्धताः सिन्धुराः॥
> अश्वानामयुतं प्रपञ्चचतुरं दिव्याङ्गनानां शतं।
> दत्तं पाण्ड्यनृपेण यौतकमिदं वैतालिकायार्प्यताम्॥१७०॥

[भोजप्रबन्ध, अष्टात्रिंशत्तम प्रबन्ध]

बल्लाल कवि का यह कथन बड़े काम का होता यदि उन्हें इतिहास से कुछ रुचि होती। तो भी सहसा यह कहा नहीं जा सकता कि इसमें इतिहास की गन्ध भी नहीं है। सम्भव है गुप्तकुल की कोई वधू 'पाण्ड्यनृप' की कन्या रही हो। 'पाण्ड्यनृप' और 'कुन्तलेश्वर' का विचार होना चाहिए। हमारी समझ में

स्कन्दगुप्त[1] भी इसी काम में लाए गए हैं और वाकाटक रुद्रसेन भी इससे दूर नहीं रहे हैं। किन्तु सच पूछिए तो इन पद्यों में प्रणय का नाम तक नहीं है। इनमें तो शुद्ध और खरी राजनीति ही बोल रही है। तनिक प्रश्न और उत्तर—करोति और पिबति—पर ध्यान दीजिए तो पता चले कि 'पिबतु' पर ही इसकी

काकुत्स्थ-कन्या से कुमारगुप्त का विवाह मानना भूल है। कुमारगुप्त की दो देवियों का प्रमाण मिलता है। इनमें से 'अनन्तदेवी' का नाम तो 'भीतरी' की राज-मुद्रा पर अंकित है और 'देवकी' का नाम स्कन्दगुप्त के उसी भीतरी के 'स्तम्भ-लेख' से अनुमानतः निकाला गया है जिसका आधार है—'इतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः' ॥६॥ इनमें से कौन किसे काकुत्स्थ-कन्या मानता है इसके विवेचन की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में स्मरण रखने की बात यह है कि कुमारगुप्त ध्रुवस्वामिनी के पुत्र थे जो रामगुप्त के निधन के उपरान्त चन्द्रगुप्त की 'पत्नी' बनी थी। अस्तु, कुमारगुप्त का जन्म सन् ३८० ई० के पूर्व मानना किसी प्रकार भी संगत नहीं दिखाई देता। यदि यह ठीक है तो सन् ३९० या ३९२ के लगभग उनका विवाह मानना कुछ ठीक नहीं जँचता। उनके सहोदर गोविन्दगुप्त के विषय में भी यही कहा जा सकता है। (प्रकृत मत के लिए देखिए 'दी मौखराज, ई० ए० पाइरेस (Pires) मद्रास, १९३४ ई०, बी. जी. पाल को० (पृष्ठ ३२-३४)

१. समय की गड़बड़ी से ऊबकर 'कदम्बकुल' के यशस्वी लेखक ने 'स्कन्द-गुप्त' को ही इस प्रणय के योग्य ठहराया है, किन्तु अनुमान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से काम नहीं लिया है। उन्होंने वाकाटक-वधू अज्झिताभट्टारिका को भी काकुत्स्थ-कन्या मान लिया है जिसके कारण काकुत्स्थ का समय बहुत इधर खींच लिया है। उनके तर्क से कुमारगुप्त का जन्म लगभग ३७० ई० के सिद्ध होता है, जो किसी प्रकार साधु नहीं कहा जा सकता। निदान यह मत सर्वथा निर्मूल है। प्रसंगवश हम यहाँ इतना और स्पष्ट कह देते हैं कि उनकी कल्पना बहुत कुछ इसी आधार के कारण गिर गई है और फलतः कदम्बकुल का काल बहुत बाद में बैठाया गया है। (देखिए 'दी कदम्बकुल') ज्यार्ज एम० मोरेस (Moraes) बम्बई पृष्ठ २७)।

समाप्ति हो जाती है; इसके उपरान्त विक्रमादित्य को किसी विवाह की चिन्ता नहीं रह जाती। यदि कोई विवाह हो जाता है तो बात ही और है। उसका इस दौत्य से सम्बन्ध क्यों जोड़ा जाय ?

सेतुबन्ध—हाँ, तो 'कुन्तलेश' की चिन्ता में संस्कृत-साहित्य को मथा गया तो उसमें से कृष्ण कवि का यह पद्य निकल आया—

जलाशयस्यान्तरगाढमार्गमलब्धबन्धं गिरि चौर्यवृत्त्या।
लोकेष्वलं कान्तमपूर्वसेतुं, बबन्ध कीर्त्या सह कुन्तलेशः ॥४॥

[भरतचरित, प्रथम सर्ग]

उधर बाण कवि ने पहले से ही कह रखा था—

कीर्त्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥१५॥

[हर्षचरित, आरम्भ]

फिर 'सेतुबन्धम्' के रचयिता प्रवरसेन को 'कुन्तलेश' मान लेने में अड़चन क्या थी ? सो भी तब जब उसके टीकाकार महाराज भूपति रामदास ने स्पष्ट कर दिया था—

इह तावन्महाराजप्रवरसेननिमित्तं महाराजाधिराजविक्रमादित्येनाज्ञप्तो निखिलकविचक्रचूडामणिः कालिदासमहाशयः सेतुबन्धप्रबन्धनं चिकीर्षुः ॥

[रामसेतुप्रदीप, आरम्भ]

अथवा—

धीराणां काव्यचर्चाचतुरिमविधये विक्रमादित्यवाचा,
यं चक्रे कालिदासः कविकुमुदविधुः सेतुनामप्रबन्धम्।
तद्व्याख्या सौष्ठवार्थं परिषदि कुरुते रामदासः स एव,
ग्रंथं जल्लालदीन्द्रक्षितिपतिवचसा रामसेतुप्रदीपम् ॥

[वही]

रामदास का प्रस्तुत कथन पुराविदों के बड़े काम का सिद्ध हुआ और उनको 'कुन्तलेश' की खोई हुई कड़ी मिल गई। 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' के 'कुन्तलेश' का पता कृष्णकवि से मिला तो 'सेतुबन्धम्' के रचयिता प्रवरसेन एवं

कालिदास तथा विक्रमादित्य का नाता महाराज रामदास भूपति की कृपा से जुट गया। परन्तु रामदास भूपति के प्रकृत कथन पर विचार करते समय भूलना न होगा कि उनके सामने सम्राट् अकबर विराजमान हैं जिन्हें वे महाराजाधिराज विक्रमादित्य के रूप में पा रहे हैं और अपने आप को निश्चय ही महाकवि कालिदास के रूप में। अतः उनके इस कथन का सहसा यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि प्रवरसेन का तो 'सेतुबन्धम्' से केवल ऊपरी सम्बन्ध है। कारण कि स्वयं रामदास ही फिर कहते हैं—

अभिनवेन राज्ञा प्रवरसेनेनारब्धा। कालिदासद्वारा तस्यैव कृतिरियमित्याशयः प्रवरसेनो भोजदेव इति केचित्॥

[प्रथम आश्वास, ८९ की टीका]

किन्तु ध्यान से देखा जाय तो महाराज रामदास की दृष्टि में प्रवरसेन भोजदेव तो माने जा सकते हैं, परन्तु 'कुन्तलेश' कदापि नहीं। और 'कुन्तलेश' का जो नाता 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' में महाकवि कालिदास अथवा महाराजाधिराज विक्रमादित्य से जुटा है वह सर्वथा उससे भिन्न है जो 'सेतुबन्धम्' में उनमें जुट रहा है। 'सेतुबन्धम्' में तो प्रवरसेन 'अभिनवराजा' के रूप में सामने आते हैं और टीकाकार रामदास की दृष्टि में महाकवि कालिदास के प्रसाद से कवि बन जाते हैं। फिर भला यहाँ कुन्तलेश्वरदौत्यम् का विकट रूप कहाँ है? यहाँ तो सभी पात्रों में स्नेह और सद्भाव है; शंका और सन्देह नहीं।

कुन्तलेश—'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' के 'कुन्तलेश', 'सेतुबन्धम्' के 'कुन्तलेश' (?) हो नहीं सकते। माना कि कृष्णकवि ने अपने काव्य में 'सेतुबन्धम्' के रचयिता को 'कुन्तलेश' लिख दिया, पर इससे यह सिद्ध कैसे हो गया कि उनका यह कथन ही यथार्थ है। 'सेतुबन्धम्' के टीकाकार महाराज रामदास ने 'सेतुबन्धम्' के रचयिता 'अभिनव राजा' प्रवरसेन, महाराजाधिराज विक्रमादित्य एवं कालिदास में जो सद्भाव तथा सद्व्यवहार दिखाया है क्या वही सद्भाव और वही सद्व्यवहार किसी को 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' में भी दिखाई देता है? भला 'सेतुबन्धम्' के प्रवरसेन कालिदास की अवहेलना कर सकते हैं और 'सेतुबन्धम्' के 'विक्रमादित्य' अपने दौहित्र प्रवरसेन के लिए यह कामना कर सकते

हैं कि वह सदा विलास में मग्न रहे ? नहीं, यह तो पुराविदों की उतावली है जो कुन्तलेश की खोज में बेतुकी बातें कर बैठते हैं और शोध की उमंग में ऐसी भोली स्थापना कर जाते हैं जो वस्तु-स्थिति अथवा घटनाचक्र से सदा अनभिज्ञ रहती है। उचित तो यह था कि कृष्णकवि की भूल का पता लगाया जाता और रामदास के भोजदेव पर भी कुछ विचार कर ही 'कुन्तलेश' की खोज की जाती पर प्रायः हुआ यही है कि कृष्णकवि के सहारे ही प्रवरसेन को कुन्तलेश मान लिया गया है और 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' का सम्बन्ध भी उसी प्रवरसेन से जोड़ दिया गया है। परन्तु यह एक अति प्रसिद्ध और इतिहास-सिद्ध बात है कि सेतुबन्धम् का प्रवरसेन विक्रमादित्य का कृपापात्र क्या सचमुच उसका दौहित्र वाकाटक प्रवरसेन ही है। यह तो खुली बात है कि वाकाटक भोजों पर राज्य करते थे और कुछ अजब नहीं कि इसी कारण प्रवरसेन भी भोजदेव बन गए हों और जनश्रुति के कारण रामदास को लिखना पड़ा हो कि 'प्रवरसेनो भोजदेव इति केचित्।'

प्रवरसेन—प्रवरसेन को कुन्तलेश मानने का कोई ठोस आधार नहीं। उपलब्ध सामग्री के आधार पर कौन कह सकता है कि प्रवरसेन का शासन वहाँ था भी ? सच है, 'अजन्ता' के लेख से यह सिद्ध होता है कि प्रवरसेन के पिता-मह पृथिवीषेण ने कुन्तल को जीत लिया था। पर उससे यह सिद्ध कैसे हो जाता है कि उसके पौत्र प्रवरसेन का भी शासन कुन्तल पर रहा अथवा 'कुन्तलेश' वाकाटकों की उपाधि ही हो गई ? सच तो यह है कि कुन्तल की कौन कहे और भी अनेक प्रान्त वाकाटक साम्राज्य से निकल गए थे और प्रवरसेन एक सामान्य महाराज के रूप में ही रह गया था। वाकाटक वंश का उदय फिर कहीं हरिषेण के समय में हुआ जिसने फिर कुन्तल को जीत लिया। वाकाटक इतिहास में दो समय ऐसे आते हैं जब कुन्तल उनके राज्य में दिखाई देता है जिनमें से एक तो महाराज प्रवरसेन के पितामह पृथिवीषेण का समय है और दूसरा उन्हींके प्रपौत्र हरिषेण का समय। हाँ, इसी बीच में एक बात और हो जाती है। वह यह कि प्रवरसेन का पुत्र नरेन्द्रसेन कुन्तल की राजकुमारी अज्झिताभट्टारिका से ब्याहा जाता है। सो भी ध्यान रहे कि वह ८ वर्ष की अवस्था में ही सिंहासन

पर जा विराजा था। निदान प्रवरसेन को कुन्तलेश मानने का कोई पुष्ट आधार[1] नहीं।

कदम्बकुल—हाँ, तो वाकाटकवंश के साथ ही साथ कुन्तलदेश पर जिस वंश का राज्य चल रहा था वह इतिहास में कदम्बकुल के नाम से ख्यात है। इसी वंश के एक शासक के सम्बन्ध में उसके पुत्र का लेख है—

कदम्बानां धर्म्ममहाराजस्य अश्वमेधयाजिनः समरार्जितविपुलैश्वर्यस्य सामन्तराजविशेषरत्नस्य नागजानाक्रम्यदायानुभूतस्य शरदमलनभस्योदितशशिसदृशैकातपत्रस्य धर्ममहाराजस्य श्रीकृष्णवर्म्मणः प्रियतनयो देववर्म्मयुवराजः।

[इंडियन एंटीक्वेरी, भाग ७, पृ० ३३-४]

---

१. डाक्टर दिनेशचन्द्र सरकार ने अपनी पुस्तक 'दी सक्सेसर्स ऑव सातवाहनाज' में इसे भलीभाँति दिखा दिया है कि किसी वाकाटक शासक को कभी 'कुन्तलेश' नहीं कहा गया है। उनका यह भी कहना है कि इस प्रकार का शिथिल प्रयोग चालुक्यों के लिए ही पाया जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर कृष्णकवि की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। कृष्णकवि के समय के सम्बन्ध में इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि वे सुबन्धु और बाण के उपरान्त ही हुए। कारण कि उनका स्वयं कहना है—

> बृहत्कथाकारसुबन्धुबाणाः केषामिवाश्चर्यपदं न ते स्युः।
> यतः प्रसिद्धैरपि गद्यबन्धैः श्लोकाननेकान् भुवने वितेनुः ॥६॥

[भरतचरित, प्रथम सर्ग]

इसके अतिरिक्त स्वयं 'भरतचरित' में ऐसी सामग्री उपलब्ध है जिसके प्रमाण पर उन्हें पाण्ड्याधिपति राजसिंह (७४०-६५ ई०) का राजकवि बताया जा सकता है। इससे भी यही भान होता है कि उनके भ्रम का कारण चालुक्यों का 'कुन्तलेश' होना ही है। डाक्टर सरकार के मत के लिए देखिए उक्त पुस्तक के पृष्ठ २१५-१६ एवं पृष्ठ २५३-४ की पाद टिप्पणियाँ।

लेख में श्रीकृष्णवर्म्मा के जो विशेषण दिए गए हैं उनमें से एक अभी तक अस्पष्ट है। पुराविदों में 'नागजानाक्रम्यदायानुभूत' की चर्चा प्रायः होती रहती है और इसका अर्थ भी कुछ न कुछ अपने अनुकूल निकाल लिया जाता है। इसके सम्पादक फ्लीट महोदय को भी यह पाठ साधु तो नहीं जँचा है फिर भी उन्होंने किसी प्रकार इसका कुछ अर्थ निकाल ही लिया है। उनकी दृष्टि में इसका अर्थ है कि उसने वह 'दाय' भोगा जो नागवंश में किसी को प्राप्त न हुआ। पर इस नागवंश का संकेत क्या? इसी प्रकार एक दूसरा अर्थ यह निकाला गया है कि उसने नागों को जीतकर[1] अपना 'दाय' भोगा। पर सच पूछिए तो उक्त किसी भी दशा में इसका अर्थ नहीं खुलता। कारण कि प्रत्यक्ष ही वही लेख उसे कदम्बकुल का बताता है और अन्यत्र भी कहीं वह नागवंश का नहीं माना गया है। नागवंश कहीं सम्राट्-सत्ता का प्रतीक माना गया हो ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। हाँ, नागवंश को जीतने का जो अर्थ निकाला जाता है अवश्य ही वह कुछ सीधा है, पर उसमें भी दोष यह आ जाता है कि 'दाय' से उसकी संगति नहीं बैठती। इतिहास में उस समय कोई ऐसा प्रबल नागवंश नहीं दिखाई देता जिसके पराजय का उल्लेख किसी अश्वमेधी की विजय के प्रसंग में किया जाय। निदान मानना पड़ता है कि इस 'नागजानाक्रम्य' का रहस्य कुछ और ही है।

नागजा—'नागजानाक्रम्य' के सम्बन्ध में हमारी धारणा तो यह है कि वास्तव में इसका शुद्ध पाठ है 'नागजामाक्रम्य'। अर्थात् हमारी दृष्टि में मूल शब्द 'नागज' नहीं प्रत्युत नागजा है और 'नागजाम्' रूप है इसका एक वचन द्वितीया का, जिसका अर्थ होगा 'नागजा' को।

---

१. देखिए 'इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस इलाहाबाद' सन् १९३८ ई० की 'प्रोसीडिंग्ज', पृष्ठ ४९। डाक्टर हेमचन्द्र राय-चौधरी ने इस विषय पर अच्छा विचार किया है; परन्तु 'नागजान्' को स्पष्ट नहीं किया है। 'उभयकुलालंकार-भूता' से प्रभावती गुप्ता का तात्पर्य 'वाकाटक' और 'गुप्त' कुल से दिखाई देता है, कुछ 'नाग' और 'गुप्त' से नहीं। हमारी समझ में इसका शुद्ध पाठ है 'नागजाम्' जिसका अर्थ है 'प्रभावतीगुप्ताम्'। शेष में हम उक्त विद्वान् से सहमत हैं।

अच्छा, तो यह 'नागजा' है कौन ? निवेदन है उसी महाराज पृथिवीषेण की पुत्रवधू जिसके सम्बन्ध में लिखा गया है—

.........पार्त्थिवेन्द्रस्य प्रश (शा) स धर्म्मेण मेदिनी (म्) ।
कुन्तलेन्द्र (म्) वि (जित्य) (पृ) थिवी (षेण)......।।८।।

[अजन्ता का लेख; आ० स० वे० इं० भाग ४, पृष्ठ १२५]

वाकाटक पृथिवीषेण के कुन्तलेन्द्र को जीत लेने का प्रमाण आपके सामने है। अब 'नागजा' की साखी लीजिए। पृथिवीषेण की पुत्रवधू श्रीप्रभावती गुप्ता के दानपत्र में जो उसीके शासन में निकला है, स्पष्ट कहा गया है कि वह नागकुल की कन्या महादेवी कुबेरनागा की सन्तान है—

वाकाटकललामस्य (क्र) मप्राप्तनृपश्रियः जनन्या युवराजस्य शासनं रिपु शास (न) म् ।।

से स्पष्ट है कि उसका युवराज की ओर से 'शासन' भी चलता है। अर्थात् यह स्वयं युवराज के बाल्यकाल में शासन भी करती थी। अब रही उसके 'नागजा' होने की बात। सो उसी 'शासन' से यह भी सिद्ध है कि वह नागजा भी थी। लीजिए उसका कहना है—

परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसम्भूतायां श्रीमहादेव्या कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालंकारभूता-त्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराज श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज श्रीदिवाकरसेनजननी श्रीप्रभावतीगुप्ता।

[ए०, ई०, भाग १५, पृष्ठ ४१]

अब श्री प्रभावती गुप्ता के 'नागजा' [1] होने में न तो कोई सन्देह ही रहा और न उसके 'कुन्तलेन्द्र' पर अधिकार में कोई शंका ही। उधर श्रीकृष्णवर्मा भी

---

१. इस प्रकार के मातृकुल के व्यवहार के लिए देखिए डाक्टर सरकार की उक्त पुस्तक की पृष्ठ २२७ की पादटिप्पणी। डाक्टर सरकार ने जो प्रमाण जुटाए हैं उनसे यह तो प्रकट हो जाता है कि मातृकुल के नाम से भी सन्तान का उल्लेख हो जाता है, पर उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि चोलदेश पर कदम्बशासन था ही नहीं। हमारी धारणा तो यह है कि जो

'नागजा' को परास्त कर अपना दाय प्राप्त करते हैं। और यदि अब कहना चाहें तो यहाँ तक कह सकते हैं कि वस्तुतः इसी पुत्री-पराभव और श्रीकृष्णवर्मा के पराक्रम से व्यथित होकर महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने राजदूत कवि कालिदास से पूछा था 'किं कुंतलेश्वरः करोति'; और उधर से अनुकूल उत्तर पाकर कहा था—'पिबतु।'

संबंध—कहने को कह तो दिया पर विश्वास नहीं होता कि प्रचलित इतिहास के आधार पर यह विचार साधु भी समझा जा सकता है। उधर न जाने कितने इतिहास-प्रेमी एक स्वर से बोल रहे हैं कि 'यह तो इतिहास नहीं, कोरी उड़ान है। भला कभी कृष्णवर्मा प्रभावतीगुप्ता वा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन हो सकता है?' निवेदन है, रंचक धीर धरें और देखें कि उभय-कुल का इतिहास क्या बोलता है। कदम्बकुल का अभिमान है—

गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि,
स्नेहादरप्रणयसम्भवकेसराणि।
श्रीमन्त्यनेकनृपषट्पदसेवितानि,
योऽबोध्यद्दुहितृदीधितिभिः नृपार्कः॥

[तालगुन्द का लेख, ए० कर्नाटिका भाग ७, शिकारपुर १७६]

पुराविदों को 'छोटे मुँह' की 'बड़ी बात' खली तो अवश्य है पर उन्होंने किसी प्रकार इसका समाधान कर ही लिया है और काकुत्स्थवर्मा की पुत्री के गुप्तपति को मनमाना नाम दिया है। परन्तु इसके लिए भी कहीं अधिक भटकने की आवश्यकता नहीं है। 'व्याघ्रपराक्रम' समुद्रगुप्त के विवाह की बात प्रकट नहीं पर इतना तो विदित ही है कि—

शान्तिवर्मा को 'तालगुन्द' के लेख में 'पट्टत्रयार्पण विराजितचारुमूर्त्ति' कहा गया है उसका संकेत है कि पाण्ड्य, चोल और केरल का शासन उसे मिला था। पुराणों में इनका उल्लेख 'त्रैराज्य' के रूप में प्रायः पाया जाता है। देखिए डाक्टर जायसवाल की 'हिस्ट्री ऑव इंडिया' का पृष्ठ १२६: प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९३२ ई०।

(—) स्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का,
हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता ।
(—) गृहेषु मुदिताबहुपुत्रपौत्र-संक्रामणी
कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा ॥५॥

[का० इ० इ० भाग ३, नं० २]

एरण के शिलालेख में जो 'पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का' एवं 'हस्त्यश्वरत्नधन-धान्यसमृद्धियुक्ता' का उल्लेख है उस पर विवेक की आँख डालें तो पता चले कि इसका भी कुछ रहस्य है । यह एरण का शिलालेख आज भी साखी भर रहा है कि तालगुन्द का लेख सच बोल रहा है । समुद्रगुप्त ने प्रणय में सचमुच अपनी धर्मपत्नी को 'पौरुष' और 'पराक्रम' के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिया और उधर से जो कुछ मिला वह उसके गौरव और आनन्द का कारण बना । तो क्या यह प्रणय एरण[1] के संग्राम का परिणाम था ।

तुल्यकुलज—समुद्रगुप्त के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि उसको उसके पिता ने युवराज बना दिया था, सो वह भी कुछ ठोस नहीं जँचता । हरिषेण ने उसके विषय में जो कुछ लिखा है उससे तो यह सिद्ध नहीं होता । नहीं, हमारा कहना तो यहाँ तक है कि वह इस प्रचलित धारणा के प्रतिकूल भी है । लीजिए वह प्रमाण है—

---

१. एरण का लेख है तो अधूरा पर जो कुछ बचा है वह समुद्रगुप्त के जीवन का द्वार है । उसे स्वयं समुद्रगुप्त का लेख मानना भूल है । उसमें 'बभूव' 'अभूत्' आदि क्रियाओं का प्रयोग कुछ यों ही नहीं कर दिया गया है । उनका निर्देश है कि समुद्रगुप्त दिवंगत हो गए हैं । स्थिति तो यह है परन्तु शत्रु आज भी 'स्वप्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति ॥६॥' यही नहीं, मन्दिर पर जो 'श्मशान दृश्य' अंकित है वह भी इसी तथ्य का द्योतक है । कहाँ तक कहें, हमें तो इस लेख में समुद्रगुप्त का पूरा जीवन दिखाई देता है और हम इसे उसके जीवन का सूत्रधार समझते हैं । हमारी समझ में यह उसके उपरत हो जाने पर ही लिखा गया, कुछ उसके जीवन में कदापि नहीं ।

आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः,
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा,
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ॥४॥

[समुद्रगुप्त का प्रयाग की प्रशस्ति]

'तुल्यकुलज' का अर्थ 'सहोदर' करना कहाँ तक ठीक है और 'पाह्येवमुर्वीमिति' में 'एवं' का संकेत क्या है आदि बातों पर पूरा विचार होना चाहिए। 'आर्यो हि' भी कुछ कम महत्व का पद नहीं है। उधर 'कौमुदीमहोत्सव'[१] नाटक पुकार कर कह रहा है और कह रहा है सम्भवतः समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त के विषय में ही—

प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम् ॥१॥

[पंचम अंक]

अतएव हमारा कहना है कि समुद्रगुप्त को राज्य भी 'पौरुष' और 'पराक्रम' के बल से मिला था और मिली थी कदम्ब-बाला भी। 'एरण' के शिलालेख में जो 'पौरुषपराक्रम-दत्तशुल्का' कहा गया है उसका भेद भी यही है।

अनुग्रह—अच्छा, तो एक बार फिर प्रयाग-प्रशस्ति को लीजिए और देखिए तो सही कि वहाँ भी इस प्रणय का कोई सूत्र मिलता है वा नहीं। हरिषेण कहते हैं—

कौसलकमहेन्द्रमाहाकान्तारकव्याघ्रराज कौरालकमण्टराज पैष्टपुरकमहेन्द्र गिरि कौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमन काञ्चेयक विष्णु-

---

२. 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक का प्रकाशन 'ज० ऑ० हि० रि० सो०' भाग २ और ३ में हुआ है। 'नाटक' में कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे कालिदास का पूरा साम्य दिखाई देता है। उसका रचनाकाल अभी तक सन्दिग्ध ही है पर उसकी 'वस्तु' को प्रमाण माना जाता है। उसके प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि महाराज चन्द्रगुप्त का राज्य नष्ट हो चुका था और उन्हें अपने पराक्रम से ही फिर उसे प्राप्त करना पड़ा था। इसके विषय में देखिए डॉ० जायसवालजी के उक्त इतिहास का पृष्ठ ८० विशेषतः।

गोपावमुक्तकनीलराज वैंगेयकहस्तिवर्म्मपालक्ककोग्रसेन दैवराष्ट्रककुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृति सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभागस्य ।

हरिषेण के 'सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रह' का अर्थ चाहे जो लगाया जाय पर इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने 'सर्वदक्षिणापथ' का उल्लेख किया है और साथ ही 'ग्रहण', 'मोक्ष' एवं 'अनुग्रह' का नाम भी लिया है। फिर समझ में नहीं आता कि क्यों हमारे इतिहासप्रेमी पंडित इस 'सर्व' की उपेक्षा कर 'दक्षिणापथ' के एक विशिष्ट खण्ड (पश्चिमी घाट) को छोड़ जाते हैं और 'ग्रहण' एवं 'मोक्ष' की भाँति ही 'अनुग्रह' को भी स्वतंत्र रूप में क्यों नहीं लेते। क्या ऐसा करने से प्रशस्ति की पंक्तियाँ आप ही बोल नहीं उठतीं ?

भोग्या—पुराविदों ने प्रायः मान सा लिया है कि 'रघुवंश' में रघु की जो दिग्विजय है वह वास्तव में समुद्रगुप्त की दिग्विजय पर ही आश्रित है। अतः कुछ इस पर भी विचार होना चाहिए। कालिदास कहते हैं—

स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥५१॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलंघयत् ॥५२॥४॥

कालिदास के 'संयमी' रघु के इस विलास को सामने रखते हुए हरिषेण की रचना (प्रयाग-प्रशस्ति) पर ध्यान दें और कृपया भूल न जाएँ कि कालिदास दक्षिणापथ के उसी खण्ड का वर्णन कर रहे हैं जिसे प्रयाग-प्रशस्ति में छोड़ दिया गया है अथवा जिसका संकेत 'प्रभृति' और 'अनुग्रह' के द्वारा दिया गया है। सच है, हमें तो सावन के अन्धे की भाँति कालिदास में इतिहास ही दिखाई दे रहा है; पर आप तो सच कहें कि आपको कालिदास की इस रसिकता में क्या दिखाई दे रहा है ? क्या आप इतिहास का सहारा लेकर इससे दूर भाग सकते हैं ? हम तो नहीं समझते कि क्यों नहीं इसमें भी समुद्रगुप्त का इतिहास देखा जाय और उनकी धर्मपत्नी दत्तदेवी को काकुत्स्थ-कन्या समझ लिया जाय ? कालिदास और हरिषेण की साखी है तो इसी पक्ष में, वैसे पुराविदों की शोध जाने। तनिक 'मलयदर्दुरौ', 'सह्य' आदि से पूछ देखिए तो पता चले कि

कालिदास ने उनसे कौन सा काम लिया है और वस्तुतः उन्हें किस भोग्या का अंग बनाया है। कालिदास की उक्त विहारभूमि के शासक के बारे में उसी के औरस तनय का लेख है—

ज्यायोभिस्सह विग्रहोऽर्थिषु दया सम्यक् प्रजापालनम्।
दीनाभ्युद्धरणं प्रधानवसुभिः मुख्यद्विजाभ्यर्हणम्।
यस्यैतत्कुलभूषणस्य नृपतेः प्रज्ञोत्तरं भूषणम्।
भूपालः खलु मेनिरे सुरसुखं काकुत्स्थमत्रागतम्॥
घर्माक्रान्ता इव मृगगणा वृक्षराजं प्रविश्य,
छायासेवामुदितमनसो निर्वृत्तं प्राप्नुवन्ति।
तद्वज्ज्याये विहतगतयो बान्धवास्सानुबन्धाः,
प्रापुश्शर्माण्यथितमनसो यस्य भूमिं प्रविश्य॥
नानाविधद्रविणसारसमुच्चयेषु, मत्तद्विपेन्द्रमदवासितगोपुरेषु।
संगीतवल्गुनिनदेषु गृहेषु यस्य, लक्ष्म्यंगना हृतमती सुचिरं च रेमे॥

[तालगुन्द का लेख]

तो क्या यह इसी लक्ष्मी का प्रसाद था कि 'महादेवी दत्तदेवी' 'हस्त्यश्वरत्न-धनधान्यसमृद्धियुक्ता' थी? अच्छा न सही। पर इस शासक से तो समुद्रगुप्त का घोर संघर्ष हो नहीं सकता। क्योंकि इसका शील है—

यन्दैवसंपन्नमदीनचेष्टशक्तित्रयोपेतमथासनस्थं,
शेषैर्गुणैः पंचभिरप्यसाध्यास्सामंतचूडामणयः प्रणेमुः॥

[वही]

सारांश यह कि सभी प्रकार से हमें यही साधु दिखाई देता है कि काकुत्स्थ-वर्मा की दुहिता दत्तदेवी थी जिसका विवाह समुद्रगुप्त से हुआ था और जिसने हरिषेण के शब्दों में कदम्बकुल पर 'अनुग्रह' किया था। यह इसी 'दान' और इसी 'अनुग्रह' का परिणाम था कि 'सर्वदक्षिणापथ' की विजय में उक्त राज्य तथा शासक का उल्लेख नहीं हुआ और कालिदास ने भी उसकी भूमि को रघु की विहार-भूमि के रूप में देखा।

काकुत्स्थवर्मा का समृद्ध शासन कितनी भूमि पर फैला था, इसका याथातथ्य बोध होने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है फिर भी अटकल से इतना तो कहा

ही जा सकता है कि वह उतना तो अवश्य ही था जितना कि वंश-परम्परा अथवा उत्तराधिकार में मिला था। इसमें तो सन्देह नहीं कि अग्रज रघुवर्मा के शासन में युवराज काकुत्स्थवर्मा को भी स्वराज्य-रक्षा के हेतु घोर संग्राम करना पड़ा था और यह इसी संग्राम का परिणाम था कि कदम्बकुल का शासन बना रहा। रघु के तुमुल संघर्षों का उल्लेख प्रायः किया गया है और फलतः यहाँ तक कहा गया है कि—

रघुपार्थिवः पृथुश्री पृथुरिव पृथ्वीं प्रसह्य योऽरीनकृतपराक्रमतः स्ववंशभोज्याम्।

[तालगुन्द का लेख]

कह तो नहीं सकते, पर अनुमान यही कहता है कि यह संघर्ष वाकाटक प्रवीर सम्राट् प्रवरसेन के पराक्रम का प्रतिफल था। मयूरशर्मा के एक लेख के आधार पर कदम्ब-राज्य 'पारियात्रिक' से 'पुणाट' तक माना जा सकता है—

कदंबाणं मयूरशम्मणा विणिम्मि अं। तटाकं दूभ त्रेकूट आभीर पल्लव पारियात्रिक सकस्थाण सयिन्दक पुणाट मोकरिणा।

[चन्द्रवल्ली का लेख, मै० आ० रि० १९३०]

इनमें से 'त्रिकूट' का वर्णन तो कालिदास के 'रघुवंश' में है और रघु ने वहाँ 'जयस्तम्भ' भी गाड़ दिया है और यदि पुराणों का 'कनक' कदम्बकुल का कंगवर्मा है तो इस राज्य का विस्तार है—

स्त्रीराज्यत्रैराज्यमूषिकजनपदान् कनकाह्वयः भोक्ष्यति।

[विष्णुपुराण]

अब यदि स्व० डॉक्टर जायसवाल का यह मत साधु है कि इसमें स्त्रीराज्य तो कुन्तल का वाचक है और त्रैराज्य 'चोलपांड्यकेरलधरणीधरत्रय' का तो कालिदास का उक्त विहार-वर्णन और सटीक उतरता है और यह सर्वथा सिद्ध कर देता है कि हो न हो यही समुद्रगुप्त का 'श्वसुरपुरनिवास' है। तो क्या शान्तिवर्मा के "पट्टत्रयार्पणविराजितचारुमूर्त्तेः" के 'पट्टत्रय का भी यही 'त्रैराज्य' अर्थ है? यदि यह ठीक हुआ तो कालिदास का उक्त विहार-वर्णन तो और भी खरा उतरा। परन्तु इसकी सम्भावना लोगों को कुछ कम दिखाई देती है। श्रीशान्ति-

वर्मा 'पल्लवेन्द्र' का कुछ विशेष ध्यान रखते हैं। इसका भी तो कुछ कारण[1] होना चाहिए।

कुन्तलेश्वर—श्रीशान्तिवर्मा श्रीकाकुत्स्थ के ज्येष्ठ पुत्र थे और इसी से इतिहास में उनके उत्तराधिकारी भी प्रसिद्ध हो गए। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रमाण इसके प्रतिकूल प्राप्त होते हैं, उनके तनय श्रीमृगेशवर्मा का लेख है—

> श्रीशान्तिवरवर्म्मेति राजा राजीवलोचनः।
> खलेव वनिताकृष्टा येन लक्ष्मीर्द्विषद्गृहात् ॥
>
> [इंडियन ऐंटी०, भाग ६, पृष्ठ २४]

'द्विषद्गृहात्' का प्रयोग विशेष रूप से विचारणीय है। इसका सीधा संकेत है द्वेषी कृष्णवर्मा के घर से। बात यह है कि काकुत्स्थवर्मा के आँख मूंदते ही उनके शासन पर पराक्रमी कृष्णवर्मा की दृष्टि पड़ी और उसने उनके राज्य को अपने बड़े भाई से छीन लिया। कृष्णवर्मा बड़ा प्रतापी शासक निकला और अश्वमेधयाजी तक हो गया। उसका अन्त किस प्रकार हुआ इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं। हाँ, शिवनंदिवर्मा के एक लेख से इतना अवश्य पाया जाता है कि किसी संग्राम में उसकी हार (मृत्यु ?) हुई। कारण—

---

१. काकुत्स्थवर्मा के उपरान्त उनके वंश में जो द्वन्द्व चला उसका थोड़ा बहुत पता इतिहास से चल चुका है। विवाद अब इस बात का है कि वास्तव में यह विच्छेद हुआ कब ? अब तक प्रायः यही मान्य रहा है कि शान्तिवर्मा के निधन पर ही यह घटना घटी। यहाँ तक कि 'कदम्बकुल' में भी यही धारणा पुष्ट हुई। परन्तु इधर डॉ० सरकार ने इसे असाधु ठहरा दिया है। उनके मत में काकुत्स्थवर्मा के अनन्तर ही यह द्वन्द्व छिड़ा। इसमें तो सन्देह नहीं कि इस द्वन्द्व में अनुज श्रीकृष्णवर्मा ही विजयी रहे। पर साथ ही यह भी सम्भव क्या, सत्य सा दिखाई देता है कि शान्तिवर्मा भी पल्लवेन्द्र की कृपा से कुछ भूभाग (त्रैराज्य) के शासक बने रहे। 'तालगुन्द' के लेख में जो शिथिलता दिखाई देती है उसका कारण भी यही है। श्री० हेरस महोदय ने अपने एक लेख में इस त्रुटि पर विचार किया है जो विशेषरूप से विचारणीय है। देखिए 'ऑल इंडिया ओ० का०, सन् १९३३ पृष्ठ ५३६,।

शिवनंदिवर्मा "स्वदेशस्य क्षये नणक्कासपल्लवराजकृष्णवर्मराजयोः समरे तुमुलिने प्रवृत्ते कृषवर्मराजसैन्यभग्ने प्रशमितहृदयः संकलित संकल्पः कृतदर्भशयन......इन्द्रलोकसुखमकामयत ।'

[एपि० कर्नाटिका भाग ११, पु० १६]

'कृष्णवर्मराजसैन्यभग्ने' की व्याप्ति कहाँ तक जा सकती है इसका निर्णय तो होने से रहा पर पूरे प्रसंग पर ध्यान देने और शिवनंदिवर्मा के प्राणविसर्जन पर विचार करने से व्यक्त तो यही होता है कि वस्तुतः कृष्णवर्मा भी इसी तुमुल-समर में वीरगति को प्राप्त हो गए । तो क्या यह विक्रमादित्य के 'पिबतु' का दुःखद दुष्परिणाम और शान्तिवर्मा के किसी काण्ड का कुफल था ? अथवा कुछ और ? जो हो, इतना तो प्रत्यक्ष है कि कृष्णवर्मा का ज्येष्ठ तनय श्रीविष्णुवर्मा श्रीशान्तिवर्मा के अधीन है । देखिए—

विकसितसच्छत्रावतंसदक्षिणापथवसुमतीवसुपत्यश्वमेधयाजी श्रीकृष्णवर्म्माधर्म्ममहाराजज्येष्ठतनयेन मानव्यसगोत्रहारितीपुत्रप्रतिकृतस्वाध्यायचर्च्चकेन कदम्बेन श्रीविष्णुवर्म्माधर्म्ममहाराजेन रणरभसप्रवर्त्तदत्र्थाष्टादशमंडपिकमंडित वैजयन्तीतिलकसमग्रकर्णाटदेशभूवर्गभर्त्तारम् ज्येष्ठपितरं श्रीशान्तिवरवर्म्मा धर्म्ममहाराजमनुज्ञाप्य (म्) वर्त्तमाने संवत्सरे तृतीये फाल्गुनमासशुक्लपंचम्यां ब्राह्मणेभ्यः.........।

[बीरूर का ताम्रपत्रः—एपि० कर्नाटिका, भाग ६, अंक १६२]

अस्तु, उचित तो यही प्रतीत होता है कि शान्तिवर्मा ने कृष्णवर्मा के उपरान्त ही शासन-सूत्र हाथ में लिया और इसी कारण मृगेशवर्मा ने भी 'द्विषद्-गृहात्' का प्रयोग किया । 'अनुज्ञाप्य' विशेष विचारणीय है ।

अश्वमेधी कृष्णवर्मा का जो वृत्त हाथ लगा है उसके आधार पर किसी को यह मानने में कोई अड़चन नहीं प्रतीत हो सकती कि वास्तव में वही कालिदास 'का कुन्तलेश्वर' है । 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' का जो अंश अभी तक प्रकाश में आया है वह किसी विवाह का द्योतक तो है नहीं, फिर उसका नाता किसी प्रणय से क्यों जोड़ा जाय ? उसमें से तो खरी राजनीति झाँक रही है न ?

समुद्रगुप्त के स्वर्गस्थ होते ही गुप्त-साम्राज्य पर जो विपदा पड़ी उसकी

झलक (विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्'[1] में) आज भी विद्वानों को व्यथित कर देती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किस परिस्थिति में किस ढब से उसे सँभाला तथा उसे और भी उजागर कर दिया, यह तो विषय के बाहर की बात है। परन्तु साहित्य इस बात का साक्षी है कि उसमें कालिदास का योग भी कुछ कम नहीं। कुन्तलेश्वर में दर्प की कमी न थी। प्रभुता भी पैर तोड़कर वहाँ बैठी थी। ऐसी स्थिति में यदि कालिदास अपनी सजग सूझ से काम न लेते और कुन्तलेश्वर की अवहेलना से उबल पड़ते तो चन्द्रगुप्त को रणभूमि में उतरना अनिवार्य हो जाता, किन्तु क्रान्तदर्शी कवि कालिदास ने बातों में कुन्तलेश्वर को वह झाड़ बताई कि उनकी आँख खुल गई और वे चट विक्रमादित्य के मित्र बन गए। विक्रमादित्य ने भी उन्हें छेड़ना ठीक न समझा।

कदम्बसंवत्—काकुत्स्थवर्मा को समुद्रगुप्त एवं कृष्णवर्मा को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानना मनमाना नहीं प्रत्युत प्रमाण पर अवलम्बित है। काकुत्स्थवर्मा के एक 'संवत्' पर बड़ा विवाद है। कहते हैं—

"कदम्बानाम् युवराजः श्रीकाकुस्थवर्मा स्ववैजयिके अशीतितमे संवत्सरे भगवतामर्हताम्......खेटग्रामे वदोवरक्षेत्र (म्)...दत्तवा [न्]

[हल्सी का दानपत्र, इं० ऐंटि०, भाग ६, पृष्ठ २३]

'स्ववैजयिके' पद का प्रयोग मृगेशवर्मा[2] ने भी किया है। किन्तु वहाँ उसका अर्थ निश्चय ही 'स्वराज्ये' है। परन्तु यहाँ 'स्ववैजयिके' का अर्थ

---

१. साहित्य-शास्त्र के विवेचन में यत्र-तत्र इसके अवतरण दिखाई देते हैं। पूरा ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया।

२. देखिए "श्रीविजयपलाशिकायाम् यापनि (नी) यनिर्ग्रन्थकूर्चकानाम् स्ववैजयिके अष्टमे वैशाखे संवत्सरे कार्त्तिकपौर्णमास्याम्" (इ० ऐं०, भाग ७, पृष्ठ २४) यहाँ 'स्ववैजयिके' का अर्थ है अपने राज्य में, क्योंकि 'आत्मनः राज्यस्य तृतीये वर्षे पौषे संवत्सरे कार्त्तिकमासबहुलपक्षे दशम्याम् तिथौ उत्तराभाद्रपदे नक्षत्रे' का प्रयोग उन्होंने अन्यत्र भी किया है।

एक बात और। इसी तिथि के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि या तो मृगेशवर्मा ४३४–५ ई० में राजा हुआ या ४६६–७० में। कहने की

'स्वराज्ये' हो नहीं सकता, क्योंकि अभी तो काकुत्स्थवर्मा युवराजमात्र है। और प्रश्न है ८० वर्ष का। निदान मानना पड़ता है कि इसका संकेत कुछ और ही है।

'स्ववैजयिके' का अर्थ लक्षणाव्यापार से लिया जा सकता है कदम्बकुल के वैजयिके। परन्तु यहाँ बाधा यह उपस्थित हो जाती है कि कदम्बकुल का अपना कोई संवत् नहीं दिखाई देता। फलतः कुछ विद्वानों ने अपने विचारों में संगति बैठाने के निमित्त इसका संकेत मान लिया है गुप्त संवत्। जहाँ उन्होंने गुप्त संवत् (३२० ई०) में ८० जोड़ा कि उन्हें ४०० ई० का अभीष्ट गुप्तकाल मिल गया और काकुत्स्थवर्मा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन सिद्ध हो गया। कहना न होगा कि इस इष्टसिद्धि के लोभ के अतिरिक्त इस स्थापना में और कोई सार नहीं है। काकुत्स्थवर्मा के अतिरिक्त और किसने इस वंश में गुप्त-संवत् का प्रयोग किया है? और युवराज काकुत्स्थ भी उसका प्रयोग क्यों करने लगा? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। पक्की बात तो यही ठहरती है कि वस्तुतः यह कदम्बकुल की स्थापना का संवत् है। मयूरशर्मा से इसका वही लगाव है जो गुप्त संवत् का चन्द्रगुप्त से है।

अच्छा, तो इस 'स्ववैजयिके अशीतितमे संवत्सरे' का संकेत हुआ कदम्बकुल के ८० वें वर्ष में। पर कदम्बकुल की स्थापना[1] का समय है क्या? आइए, इसकी भी थोड़ी छानबीन कर ली जाय।

बात नहीं कि प्रचलित धारणा के दबाव के कारण उक्त डा० सरकार ने भी दूसरी तिथि को ही ठीक माना है, परन्तु हमारी दृष्टि में इसकी पहली तिथि ही ठीक ठहरती है। वास्तव में कृष्णवर्मा चन्द्रगुप्त का साथी था और सम्भवतः मरा भी उसके सामने ही था। उसके उपरान्त एक ओर तो शान्तिवर्मा का सिक्का जमा और दूसरी ओर उन्हीं की अधीनता में उसका आत्मज बैठा। शान्तिवर्मा के निधन पर फिर संग्राम छिड़ा पर मृगेश विजयी रहा। इस प्रकार ४३४–५ का राजगद्दी का समय ठीक बैठा।

१- श्रीमयूरशर्मा की तिथि के विषय में बड़ा मतभेद है। 'मलवल्ली' के एक लेख के बारे में विद्वानों में बड़ा विवाद है। लेख की भाषा भी विलक्षण है–

"सिद्धम्! जयति भगवान् मट्टपट्टिदेवो वैजयन्ती धर्ममहाराजाधिराजो

अश्वसंस्थ—कहा गया है कि कदम्बकुल के एक सज्जन मयूरशर्म्मा अपने गुरु वीरशर्म्मा के साथ पल्लवेन्द्रपुरी की घटिका में प्रवचन में पारंगत होने के विचार से गए। दैवयोग से एक 'अश्वसंस्थ' में ऐसा कलह उत्पन्न हो गया कि उनका ब्रह्मबल परास्त हो गया और चात्रधर्म की जीत हुई। फिर क्या था, उन्हें भी शास्त्र छोड़कर शस्त्र की सूझी और इसके फलस्वरूप धीरे धीरे एक

पतिकत साभजाय चचापरो कदंबाणं राजा शिव·········वम्मणा मानवसगोत्तेन वैजयन्तीपतिना पुव्वदत्तीति परित्यकूयेण (तुट्ठेन) मनसासि स मातुलाय बितीयं-दत्तम् कोण्डन्यसगोत्ताय कोसकी पुत्ताय कोण्डमानाकुलतिलकाय मिरिना-गदत्ताय······४ सव्वच्छरं पडमसरदपक्खं बितीय दिवसं पडमनस्वत्तं रोहिणियं संप्यदत्त च······"। (ए० क०, भाग ७, शिकारपुर, २४४)

इस लेख में दी गई तिथि को एक महानुभाव ने बुधवार, २० सितम्बर सन् २२४ ई० सिद्ध किया है और दाता को शिवस्कन्दवर्मा माना है। पर कुछ लोगों की धारणा है कि यह मयूरशर्मा का ही लेख है। कदंबाणं राजा और शिव······म्मणा की विभक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रथमा को तृतीया का विशेषण कैसे बनाया जा सकता है। पाठभेद का प्रश्न अलग है। निदान अभी इतना ही कहा जा सकता है कि यदि यह मयूरशर्मा का लेख है तो इससे उनके 'पट्टबन्ध' अथवा महाराज होने का समय निकाला जा सकता है जो २४० के लगभग आता है। और यदि उक्त सज्जन (बी० वी० कृष्णराव) के विचारानुसार इसे धर्ममहाराजाधिराज शिवस्कन्दवर्मा का समय मानें और उसे पल्लव वीरकूर्च का प्रतिद्वन्द्वी समझें तो इतना और स्फुट हो गया कि यही कदम्ब-पल्लव-कलह पल्लवेन्द्र के 'अश्वसंस्थ' में भी फूट पड़ा था। यही नहीं, इससे इतना और भी प्रकट हो गया कि नागकन्या के साथ वीरकूर्च को जो राज्य मिला था वह अधिक दिन तक पल्लवकुल में नहीं रहा। फिर कदम्बकुल के मयूरशर्मा ने उसे बहुत कुछ वापस ले लिया। वीरकूर्च के बाद स्कन्दशिष्य और फिर कुमारविष्णु हुए हैं। तो इस दृष्टि से मयूरशर्मा का समय सन् २६० के आसपास माना जा सकता है जो सभी प्रकार से ठीक बैठता है। परन्तु न जाने किस दृष्टि से श्री कृष्णरावजी ने मयूर-शर्मा का समय ३१०–४० ई० तक माना है। प्रतीत होता है प्रचलित मत

राज्य की स्थापना भी हो गई। अब अधिकांश विद्वान्[1] इस पक्ष के हो चले हैं कि 'तत्र पल्लवाश्वसंस्थेन कलहेन' का अर्थ यह है कि यह कलह 'अश्वसंस्थ' अर्थात् 'अश्वमेध' में उत्पन्न हुआ था। यदि यह ठीक है, और इसके ठीक होने में तनिक सन्देह भी नहीं है, तो इसका आशय स्पष्ट है कि यह घटना किसी पल्लवाश्वमेध में घटी। सौभाग्य से हमारे हाथ में एक ऐसा लेख है जो सारी स्थिति को स्वतः स्पष्ट कर देता है और किसी विवाद के लिए कोई विशेष स्थान भी नहीं छोड़ता। ध्यान से देखिए तो सही—

> अशोकवर्म्मादिषु देवभूयं गते (षु वंश्ये) ष्वथ पार्थिवेषु।
> वंशस्य चूडामणिराविरासीद्भर्त्तेन्दिराया इव कालभर्त्ता ॥५॥
> तत्सुतादजनि चूतपल्लवाद्वीरकूर्च्च इति विश्रुताह्वयः।
> यः फणीन्द्रसुतया सहाग्रहीद्राजचिन्हमखिलं यशाधनः ॥६॥
> अन्ववायनभश्चन्द्र [:] स्कन्दशिष्यस्ततोभवत्वि—
> (द्वि) जानां घटिकां राज्ञस्सत्यसेनात्जहार यः ॥७॥
> गृहीतकाञ्चीनगरस्ततोभूत्कुमारविष्णुस्समरेषु जि [ष्णुः]।
> भर्त्ता भुवोभूदथ बुद्धवर्म्मा [र्म्मा] यश्चोलसैन्यार्णववाडवाग्निः ॥८॥
> सविष्णुगोपे च नरेन्द्रवृन्दे गते ततो जायत नन्दिवर्मा।
> अनुग्रहाद्येन पिनाकपाणेः प्रनर्तितो दृष्टिविषः फणीन्द्रः ॥८६॥
>
> [सा० इं०, इं. भाग २ खंड ५, पृ. ५०८]

'वेलूरपालैयम्' के इस लेख से इतना तो प्रकट ही है कि मयूरशर्मा जिस 'घटिका' में प्रवचन-पटु बनने गए थे वह स्कन्दशिष्य के समय में पल्लवकुल के हाथ लगी और उसकी सारी काञ्चीपुरी तो कुमारविष्णु के शासन में पल्लव-

---

से प्रभावित हो गए हैं। देखिए—प्रोसीडिंग्ज, ई० हि० कांग्रेस, इलाहाबाद १९३८ ई०, पृष्ठ ८०। स्मरण रहे मयूरशर्मा का यह समय कतिपय अन्य विद्वानों को भी मान्य है। देखिए—मै० आँ० स० ऐ० रि०, १९२९ पृष्ठ ५६)।

१. श्री श्रीकंठशास्त्रीः—'सोर्सेज ऑफ कर्नाटक हिस्ट्री, भाग १, मैसूर यूनीवर्सिटी, सन् १९४० ई०, पृष्ठ १८। एवं डाक्टर सरकार—सक्सेसर्स ऑव सातवाहनाज् (वही) पृष्ठ १८४ तथा २३८ की पादटिप्पणियाँ।

नगरी बनी। जो हो, इस लेख की गवाही पर इतना तो मानना ही होगा कि कुमारविष्णु के पहले काञ्ची में किसी 'पल्लवाश्वसंस्थ' की योजना नहीं हो सकती थी। पल्लववंश के शासनों से विदित ही है कि कुमारविष्णु 'अश्वमेधयाजी' था। निदान सिद्ध हुआ कि इसी पल्लवेन्द्र के 'अश्वसंस्थ' में कुछ ऐसा कलह उत्पन्न हो गया कि ब्राह्मण मयूरशर्म्मा 'वर्मा' बनने के लिए लालायित हो उठा।

विष्णुगोप—मयूरशर्मा की भाँति ही कुमारविष्णु का समय भी अभी तक खटाई में पड़ा है, जिसे जो भाता है वही उसका भी समय हो जाता है। उक्त लेख के 'सत्यसेन' से भी कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु इस घोर निराशा में भी आशा की एक किरण फूटती दिखाई देती है जो हमारे बड़े काम की है। सौभाग्य से मयूरशर्मा और कुमारविष्णु दोनों ही महानुभावों की परम्परा प्राप्त है। इन परम्पराओं पर दृष्टि पड़ी नहीं कि आपका प्रयोजन सिद्ध हो गया। अच्छा तो मयूरशर्मा की परम्परा है—१. मयूरशर्मा, २. कंगवर्मा, ३. भगीरथ, ४. रघु और ५. काकुत्स्थवर्मा। उधर कुमारविष्णु की परम्परा है—१. कुमारविष्णु, २. स्कन्दवर्मा, ३. वीरवर्मा ४. श्रीविजयस्कन्दवर्मा और ५. विष्णुगोपवर्मा। इस दृष्टि से कदम्ब काकुत्स्थवर्मा का वही समय आता है जो पल्लव विष्णुगोपवर्मा का। अर्थात् काकुत्स्थ और विष्णुगोप को समकालीन स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। स्मरण रहे, उक्त दोनों परम्पराएँ उक्त वंशों के निजी[1] लेखों से ली गई हैं और सर्वथा प्रमाण के योग्य हैं।

अब विष्णुगोपवर्मा के सूत्र को पकड़ कर आगे बढ़िए और देखिए कि हरिषेण ने समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में किस सचाई से क्या लिख दिया है। कहते हैं 'काञ्चेयविष्णुगोप'। पुराविदों में यह भलीभाँति प्रतिष्ठित हो चुका है कि यह काञ्चेयक विष्णुगोप पल्लव ही है। तो भला अब किसी मनीषी को यह मानने में कितनी देर लग सकती है कि वास्तव में काकुत्स्थवर्मा भी समुद्रगुप्त का समकालीन है?

---

१. कदम्बकुल की तो सर्वमान्य है ही पल्लवकुल की भी 'ओम्गोड नं० १' (ए० इं०, भाग १५, पृष्ठ २४६) तथा 'उरुवुपल्ली (इं० एँ० भाग ५, पृष्ठ ५०) पर आश्रित है।

गुप्तान्वय—अभी अभी हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह कितना उदार, व्यापक और सारपूर्ण है और किस प्रकार उसके सहारे उस समय का सारा इतिहास सुलझाया जा सकता है, इसका विवेचन हम फिर करेंगे। यहाँ तो हमें केवल इतना ही दिखा कर सन्तोष कर लेना है कि वास्तव में काकुत्स्थ-कन्या का विवाह समुद्रगुप्त से हुआ था और कालिदास के दौत्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जो लोग इतने पर भी यह स्थापित करना चाहें कि समुद्रगुप्त के समय में ही समुद्र का नहीं, हाँ, विवाह उस कन्या का हुआ था चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से ही—क्योंकि चन्द्रगुप्त के समय तक भी तो काकुत्स्थ रह सकते हैं? तो निवेदन है, नहीं। इस तर्क का कोई आधार नहीं। चन्द्रगुप्त की प्रथम पत्नी कुबेरनागा तो निश्चय ही नागकुल की है। इसमें तो किसी को सन्देह नहीं। अब रही महादेवी ध्रुवस्वामिनी की बात। सो विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' एवं अन्य प्रमाणों से पुष्ट हो चुका है[1] कि वह पहले चन्द्रगुप्त की भ्रातृजाया थी और फिर चन्द्रगुप्त 'साहसांक' की जाया बनी। और तो और, स्वयं चन्द्रगुप्त का 'रूपकृती' सिक्का इसका दृढ़ और स्वच्छ प्रमाण है। एक बात और। ध्रुवस्वामिनी का बिवाह रामगुप्त से चाहे जब हुआ हो पर चन्द्रगुप्त से तो वह समुद्रगुप्त के उठ जाने पर ही हुआ। फिर कालिदास का दौत्य इसमें क्या काम दे सकता है? लोगों की धारणा तो यह है कि चन्द्रगुप्त पहले से ही उससे विवाह करना चाहता था पर रामगुप्त ने स्वयं उससे कर लिया अथवा स्वयं समुद्रगुप्त ने कर दिया! हाँ. ध्रुवस्वामिनी को तो कुछ लोग[2] शककन्या ही समझते हैं और शकाधिपति की माँग को भी इसी का फल मानते हैं। जब स्वयं ध्रुवदेवी की यह स्थिति है तब उसके पुत्रों—कुमारगुप्त, गोविन्दगुप्त आदि की तो स्थिति ही निराली है। भला उक्त काकुत्स्थ-कन्या से उनका विवाह कब हो सकता था? निदान, यह सम्बन्ध समुद्रगुप्त ही का साधु ठहरता है।

---

१. देखिए 'गुप्तसाम्राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९३९ ई०, रामगुप्त का प्रसंग।

२. हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार श्री जयशंकर प्रसाद ने इसी भावना से प्रेरित होकर 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की।

दौत्य—हाँ, तो कालिदास के दौत्य का किसी पाणि-ग्रहण से कोई सम्बन्ध न था। वह तो शुद्ध राजनीति की दृष्टि से भेजे गए थे। प्रभावतीगुप्ता को परास्त कर कुन्तलेश 'दक्षिणापथाधिपति' बन बैठा था और अपने पराक्रम का सूचक अश्वमेध तक कर डाला था। उसके और अधिक आगे बढ़ने की जो सम्भावना थी वह और अधिक टाली नहीं जा सकती थी। चन्द्रगुप्त स्वयं संकटों से घिरा था। निदान उसे कालिदास से कुशल व्यक्ति को दूत बनाकर भेजना पड़ा। कालिदास ने भूमि पर आसन जमाते ही वह वाग्विलास दिखाया और ऐसा गहरा बाण मारा कि कुन्तलेश्वर कट कर रह गए और विक्रमादित्य का लोहा मान लिया।

रामगिरि—कालिदास के 'दौत्य' की चर्चा समाप्त हुई पर उनके दूतकर्म की अभी इति नहीं हुई। 'कुन्तलेश' के प्रसंग में वाकाटक प्रवरसेन का उल्लेख हुआ था और उनकी एक रचना भी सामने आई थी। अब यहाँ उसको भी समझ लेना चाहिए।

यह तो एक अति प्रसिद्ध बात है कि कालिदास के 'मेघदूत' में कुछ आप-बीती भी सुनाई है। पर उस आपबीती का रहस्य क्या है इसे इतिहास के मुंह से सुनिए। 'रामगिरि' में पड़ी पड़ी प्रभावतीगुप्ता दान किया करती है। उसका एक दानपत्र है—

जित (तं) भगवता ॥ रामगिरिस्वामिन—पादमूलाद्गुप्तान (ना) मादिराजो महाराज श्रीघटोत्कचस्तस्य...महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य दुहिता......वाकाटकाना (नां) महाराज श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी वाकाटका-नांम्महाराज श्री दामोदरसेन प्रवरसेनजननी भगवत्पादानुध्याता साग्रवर्ष-शतदिवपुत्रपो (पौ) त्रा श्र (श्री) महादेवी प्रभ (भा) वति गुप्ता...... वाकाटकाना (नां) महाराज श्रीप्रवरसेनस्य राज्यप्रशासत (सं) वत्सरे एकोनविशंतितमे कार्त्तिकमासशुक्लपक्ष द्वादश्या (श्यां) (।) दूतक (को) देवन्दस्वामी (।) लिखितं। (ज०, ए०, सु०, बंगाल, भाग २०, पृ० ६०)

श्री प्रवरसेन अब 'अभिनवराजा' नहीं रहे। राज्य करते हुए उनके १६ वर्ष बीत गए। प्रभावती गुप्ता भी १०० वर्ष की बुढ़िया हो चली। पर रामगिरि वही रहा। कालिदास कहते हैं—

कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः,
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येन भर्त्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्य्याश्रमेषु ॥१॥

कहते हैं किसी वैयाकरण ने किसी हृदयालु को टोका था कि 'कश्चित् कान्ता' कहाँ की संस्कृत है। समाधान में उपहास भले ही हो पर हृदय नहीं। कालिदास की आँखों में था तो कान्ता का विरह किन्तु उन्हें लिखना पड़ा 'कान्त' (यक्ष) का विरह। विरहिणी कान्ता को रस भी तो इसी में मिल सकता था? अपना दुःख तो अपने आगे था ही, जब अपने कान्त का दुःख भी सामने आ गया तो वह सुख प्राप्त हुआ जो दुःख को आनन्द बना देता है। जनकतनया की स्नानभूमि पर भी ध्यान दें और कृपया भूल न जाएँ कि प्रभावती गुप्ता से भी कालिदास का कुछ लगाव है। कालिदास भी रामगिरि में जा विराजे हैं।

प्रभावती गुप्ता ने 'रामगिरि' के पुण्य 'आश्रम' को कब अपना स्थान बनाया, इसका यथार्थ उत्तर तो सहसा नहीं दिया जा सकता, पर अनुमान यही कहता है कि विधवा होने तथा पराजय पाने के पश्चात्। 'कुन्तलेश्वर' के प्रसंग में बताया जा चुका है कि प्रभावती गुप्ता के श्वसुर पृथिवीषेण ने 'कुन्तलेन्द्र' को जीत लिया था और फिर किसी 'कुन्तलेश' ने समय पाकर 'नागजा' पर चढ़ाई की और उसे परास्त कर अपना 'दाय' प्राप्त कर लिया। अजन्ता के लेख में पृथिवीषेण की बड़ी प्रशंसा की गई है। उन्हें 'धर्मविजयी' कहा गया है। जिसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने 'कुन्तलेन्द्र' की 'श्री' को हर लिया 'मेदिनी' को नहीं। किन्तु 'कुन्तलेश्वर' को जब 'अश्वमेध' की सूझी तब उन्होंने केवल वाकाटक-श्री को ही नहीं हरा अपितु उसकी कुछ 'मेदिनी' भी छीन ली। अब प्रभावती गुप्ता को उनसे कुछ दूर रहने की आवश्यकता पड़ी और कुछ सुख-शान्ति की भी। फलतः वह रामगिरि में जा बसी, और उसकी सान्त्वना तथा देखभाल के लिये कवि कालिदास को भी वहीं भेजा गया। प्रभावती गुप्ता का उपलब्ध सर्वप्रथम शासन इसीके निकट के नान्दिवर्धनग्राम का है जिसका वर्ष १३ दिया गया है। अजन्ता के लेख में यह भी कहा गया है कि पृथिवीषेण

'वर्षशतमभिवर्द्धमानकोशदंडसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिन्' थे। इधर प्रभावती गुप्ता रुद्रसेन की 'अग्रमहिषी' है और पुत्र युवराज दिवाकरसेन ही उसका प्रथम पुत्र है।

दिवाकरसेन—युवराज दिवाकरसेन का अन्त कब हुआ, इसे कौन कहे ? पर इतना तो कोई भी कह सकता है कि वह राज्याभिषेक के पहले ही चल बसा था, और राजमाता प्रभावतीगुप्ता को उसके अनुज प्रवरसेन की ओर से भी कुछ काल तक शासन करना पड़ा था। यदि इस काल की अवधि का पता निकल आता तो बड़े काम का सिद्ध होता। तो भी उसके अभाव में इतना तो बड़ी सरलता से कहा जा सकता है कि पिता के निधन के समय दिवाकरसेन की अवस्था (२५-१३) १२ वर्ष से अधिक न थी; कारण कि राज्याभिषेक की योग्यता की मर्यादा यही (२५ वर्ष ही) है। उधर पितामह पृथिवीषेण भी पौत्रिन् होकर मरे थे। तात्पर्य यह कि प्रभावती गुप्ता के पति रुद्रसेन अधिक दिन तक राजा नहीं रहे। उनका शासन कितना क्षणिक था, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि अजन्ता के एक लेख (आ० स० वे० इं०, भाग ४, पृ० १२५) में तो उन्हें 'भगवतश्चक्रपाणेः प्रमादोपार्जित श्रीसमुदायः' कहा गया है पर दूसरे (वही, पृ० १२६) में उनका नाम तक नहीं आया है। कारण यही प्रतीत होता है कि उनका शासन-काल अत्यन्त अल्प था। दिवाकरसेन के विषय में पहले कहा जा चुका है कि पिता के निधन के समय किसी दशा में भी उनकी अवस्था १२ वर्ष से अधिक[1] नहीं हो सकती। अब इतना और जोड़ लें

---

१. कालिदास का प्रभावती गुप्ता एवं प्रवरसेन से जो सम्बन्ध रहा है उसको देखते हुए यही मानने को जी चाहता है कि हो न हो रघुवंश में इस वंश की भी कुछ छाप है। कहते हैं—

मणौ महानील इति प्रभावात्, अल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या।
शब्दो महाराज इति प्रतीतः, तथैव तस्मिन् युयुजेऽर्भकेपि ॥४२॥
पर्य्यन्तसञ्चारितचामरस्य, कपोललोलोभयकाकपक्षात्।
तस्याननादुच्चरितो विवादः, चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥४३॥

एवं

न्यस्ताक्षराण्यक्षरभूमिकायां, कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्व्वाणि तावत् श्रुतवृद्धयोगात्, फलान्यपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥४६॥

कि पितामह पृथिवीषेण थे 'सन्तानपुत्रपौत्रिन्' । निदान, यही कहना पड़ता है कि कम से कम दिवाकरसेन तो उनके सामने उत्पन्न हो चुका था । सारांश यह कि रुद्रसेन का शासन कुछ ही दिनों का था । अन्त किस प्रकार हुआ, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं । सम्भव है किसी संग्राम में ही वीरगति को प्राप्त हुए हों ।

प्रवरसेन—अस्तु, अब विना किसी संकोच के सरलता से कहा जा सकता है कि प्रभावती गुप्ता पर सहसा जो वज्रपात हुआ था वह बड़ा ही भयावह और दुःखप्रद था । कृष्णवर्मा के आक्रमण ने उसे और भी जर्जर कर दिया । ऐसी विपदा के समय उदार पिता चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त उसका सहायक कौन

तो फिर यह मान लेने में क्या आपत्ति है कि सचमुच दिवाकरसेन भी ६ वर्ष की अवस्था में ही 'महाराज' हुआ । कारण कि इधर भी—

तं राजवीथ्यामधिहस्तियान्तम् , आधोरणालम्बितमग्र्यवेशम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात् , प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥३६॥१८॥

[रघुवंश]

आप चाहें तो इसे न भी मानें, पर कृपया भूल न जाएँ कि इसकी संगति बैठती सटीक है । दिवाकरसेन के १३ वर्ष के युवराजपन का उल्लेख हो चुका है । अब इसमें ६ वर्ष और जोड़ दीजिए । इस प्रकार न्यूनातिन्यून प्रायः उसके २० वर्ष के जीवन का पता चलता है जो सर्वथा साधु ठहरता है । स्मरण रहे प्रभावती गुप्ता ने 'अनुज' प्रवरसेन की ओर से भी शासन किया है । तो अब इस ६ वर्ष को मान ही लिजिए तो ठीक हो । साथ ही राज्ञी प्रभावती गुप्ता की स्थिति को भी आँक लें—

तं भावार्थप्रसवसमयाकांक्षिणीनां प्रजानाम् ।
अन्तर्गूढक्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्द्धं स्थविरसचिवैः हेमसिंहासनस्था,
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥५॥१९॥

[रघुवंश]

तो क्या सचमुच दिवाकरसेन प्रवरसेन से ६ ही वर्ष बड़े थे ? इतिहास के अभाव में 'काव्य' से तो यही स्वर निकलता है ।

हो सकता था ? पर चन्द्रगुप्त को भी तो सभी संकटों का सामना करना था ? जिस विपदा से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने प्रभावती गुप्ता का वाकाटक-कुल में विवाह किया था वह तो थी ही, इधर एक दूसरी विपत्ति भी आ पड़ी। विक्रमादित्य का आदित्य कुछ मेघाछन्न हो चला था कि सहसा कालिदास की प्रतिभा सामने आई और उसने अपनी आभा से उसको और भी अनुपम बना दिया। ऐसे संकट के समय कवि कालिदास ने जो 'दौत्य' किया उसकी चर्चा हो चुकी है। उससे 'विक्रमादित्य' की चिन्ता तो दूर रही पर अभी उनकी तनया प्रभावती गुप्ता का सन्ताप बना रहा। कहना न होगा कि उसी सन्ताप को दूर करने के निमित्त कालिदास भी उसकी सेवा में जा विराजे। दिवाकरसेन तो शीघ्र ही चल बसा पर दामोदर प्रवरसेन उनका प्रसाद पाने के लिए जीता रहा। 'सेतुबन्ध' के रचयिता प्रवरसेन को कौन नहीं जानता ? उसका राज्य चला गया पर उसकी कृति आज भी उसका नाम उजागर कर रही है। और 'दामोदर' ? वह तो और कुछ नहीं, बस इस भागवत जोड़ी का प्रसाद है। 'चक्रपाणि' की भक्ति इसी 'दामोदर' में भरी है, अन्यथा 'वाकाटक' थे तो शैव। दामोदर प्रवरसेन भी तो आगे चलकर शैव हो गया। तो क्या यह भी कालिदास का प्रभाव था ?

बरुआ—कालिदास और प्रवरसेन का सम्बन्ध पिता-पुत्र सा नहीं तो परस्पर गुरु-शिष्य का अवश्य था। अतः कालिदास के इस कर्म को दूतकर्म के भीतर कैसे गिना जाय ? कोई बात नहीं, परन्तु विषय को समाप्त करते-करते एक दूसरा प्रसंग भी सामने आ गया। कहते हैं कि कामरूप के कलितों को पंडित बनाने का श्रेय भी कवि कालिदास को ही प्राप्त है। प्रवाद है कि कालिदास पहले महामूर्ख थे। किसी बात पर खीझ कर उनकी पत्नी ने उन्हें खूब पीटा। फिर करें क्या, हार मान कर वन में तप करने चले गए और वहाँ जाकर ऐसा घोर तप किया कि उनकी आराधना से सरस्वती खिल उठीं। प्रसन्न हो उन्हें ऐसा जल-पात्र दिया कि उसके रंचक जलपान से जपाट की भी बुद्धि खुल जाय और सहज में ही विद्या का प्रकाश हो जाय। फिर क्या था, एक दिन कालिदास को कामाख्या-दर्शन की सूझी। मार्गभर विष का घड़ा कहकर उसकी रक्षा की। दैवयोग से एक बरुआ जीवन से ऊबकर अपना अन्त करना चाहता था। फिर

क्या था, विष के घड़े से थोड़ा विष-पान कर लिया ! परिणाम प्रत्यक्ष है । तभी से उसके कुल में विद्या चली आती है । कामरूप में बरुआ वा कलित ही प्रधान है[१] ।

कामरूप—यह तो हुई दन्तकथा । अब कालिदास की भी सुनिए । रघु चारों ओर से विजयी होकर कामरूप पहुँचते हैं तो—

तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥८३॥
कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदैवताम् ।
रत्नपुष्पोपहारेणच्छायामानर्च पादयोः ॥८४॥४॥

कामरूपेश्वर ने रघु की कुछ ऐसी पूजा की कि फिर उन्हें किसी और को जीतना न पड़ा । संग्राम की तो यह दशा है कि कामरूपेश्वर को यह महत्त्व दिया जा रहा है । उधर पुत्र अज का विवाह हुआ तो वहाँ भी—

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥७॥

अन्त में 'कामरूपेश्वर' का ही समादर हुआ न ? क्यों ?

कामरूप का जो वृत्त प्राप्त है उसमें एक विलक्षण बात यह गोचर होती है कि भगदत्त के ३००० वर्ष के अनन्तर जो शासक उत्पन्न होता है उसका नाम पुष्पवर्मा और उसके उपरान्त जो पुरुष सामने आता है उसका नाम समुद्रवर्मा है और उसकी स्त्री भी दत्तदेवी के नाम से ही प्रसिद्ध होती है । दत्तदेवी महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त की माता है तो समुद्रगुप्त उनके पिता और पुष्यमित्र नाम है उस ब्राह्मण सेनापति का जिसने मौर्यवंश से राज्य छीनकर किया था अश्वमेधयज्ञ । सारांश यह कि कामरूप के राजवंश में जो यह सम्राट्-समता लक्षित हो रही है, इसका कुछ रहस्य है । साथ ही इतना और भी स्मरण रहे कि जिस विदर्भ में अज का विवाह हो रहा है उसी विदर्भ में आगे चलकर 'नरक' का भी हुआ है । यही क्यों, पुराण-मत तो यहाँ तक हमारे

---

१. पूरे प्रसंग के लिए देखिए 'ईस्टर्न इंडिया' भाग ३, मांट्गोमेरी मार्टीन रचित और लीडनहाल स्ट्रीट लंडन से प्रकाशित, सन् १८३८ ई०, पृष्ठ ५४३ ।

पद्म में है कि 'नरक' को प्राग्ज्योतिष का राज्य भी 'मगध' वा विदेह की सहायता से मिला था। तो क्या कालिदास का रघुवंश पुराण का ही अनुकरण कर रहा है? नहीं, इसका प्रयोजन कुछ और भी है। पहले ही कहा जा चुका है कि प्रवाद है कि कालिदास के प्रसाद से ही बरुआ विद्वान् बने। सो बरुआ है भी ब्रह्मचारी का वाचक। अस्तु, इस प्रवाद में यदि कुछ भी सार है तो इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि किसी समय कालिदास ने कामरूप के प्रधान पुरुष को सन्मार्ग दिखाकर मृत्यु से बचा लिया था। अच्छा होगा, स्थिति को स्पष्ट करने के हेतु एक दूसरे प्रवाद पर भी विचार कर लें। कहा जाता है कि कामरूप का सुबाहु राजा बड़ा प्रतापी था। उसने अभिमान में आकर विक्रमादित्य के 'अश्व' को रोक लिया, किन्तु संग्राम में हार कर भाग गया।

'विक्रमादित्य' और कालिदास का जो सम्बन्ध है वह किसी से छिपा नहीं है। पर यह 'सुबाहु' है कौन? भास्करवर्मा के ताम्रपत्र से प्रकट है—

> वंशेषु तस्य नृपतिषु वर्षसहस्रत्रयं पदमवाप्य।
> यातेषु देवभूयं क्षितीश्वरः पुष्यवर्माभूत् ॥७॥
> मात्स्यःन्यायविरहितः प्रकाशरत्नःसुतो द्रुरथलघुः
> पंचम इव हि समुद्रः समुद्रवर्माभवत्तस्य ॥८॥

[ए० इ० भाग १२, पृष्ठ ७३]

समुद्रवर्मा—'निधनपुर' के इस ताम्रपत्र से व्यक्त ही है कि समुद्रवर्मा ही सचमुच वह व्यक्ति है जो किसी विक्रमादित्य से लोहा ले सकता है, और सन्देह नहीं कि 'सुबाहु' ने ही दर्प में आकर समुद्रगुप्त का नाम अपना लिया हो और अपने आपको समुद्रगुप्त का अवतार ही कहने लगा हो। उसकी महिषी का नाम भी तो 'दत्तदेवी' ही है। प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के समय में जो प्रत्यन्त-सन्धि थी वह चन्द्रगुप्त के शासन में कभी टूट गई थी और फिर 'अप्रतिरथ' पराक्रमी होने पर ही जुटी थी। कालिदास के द्वारा 'कलितों' में जिस ज्ञान का प्रसार हुआ उसका सम्बन्ध इसी विग्रह से तो नहीं है? एक बात और। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के भारत-कला-भवन में एक अश्व खड़ा है जो पास की बगल भूमि से वहाँ लाया गया है। उसपर 'चित्रगु' लिखा हुआ पढ़ा गया

है। इससे सिद्ध हो जाता है कि वास्तव में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया था। अस्तु, अब यह मान लेने में कोई प्रबल बाधा नहीं रह जाती कि इसी विक्रमादित्य से सुबाहु अथवा समुद्रवर्मा का युद्ध हुआ था, कुछ किसी और से नहीं।[1]

विक्रमादित्य के 'अश्वमेध' की जो इतनी कम चर्चा हुई है उसका मुख्य कारण सम्भवतः उनकी नीति ही है। कालिदास कहते हैं—

परामिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम्।
जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥७६॥१७॥

[रघुवंश]

मेहरौली का लेख—अब चाहे इस 'परामिसन्धान' का परिणाम हो चाहे कुछ और, पर इतना तो प्रकट ही है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को भी शत्रुओं से लोहा लेना पड़ा था। उसके लौहस्तम्भ से व्यक्त होता है कि उसे भी संग्राम करना पड़ा था। परन्तु पुराविदों में ऐसे पंडित भी हैं जो उक्त लौहस्तम्भ का सम्बन्ध किसी और ही 'चन्द्र' से जोड़ते हैं। अतः थोड़ा इसपर भी विचार हो जाना चाहिए। अच्छा, तो वह लेख है—

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्।
वंगेष्वाहववर्त्तिनोभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ॥
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः।
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥१॥
खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां,
मूर्त्या कर्म्म जितावनीं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ।

---

१. श्री बरुआ महोदय ने प्रकृत प्रवाद का सम्बन्ध अश्वमेधयाजी समुद्रगुप्त से जोड़ा है, पर वह ठीक नहीं बैठता। परम्परा विक्रमादित्य के पक्ष में ही है और वह भी अश्वमेधयाजी सिद्ध हो रहा है। सुबाहु का समुद्रवर्मा नाम भी तभी सार्थक सिद्ध होगा जब उसके पहले समुद्रगुप्त का आतंक फैल चुका हो। इस अनुकरण में स्पर्द्धा की झलक है। निदान, परम्परा को ही प्रमाण ठहराना चाहिए। देखिए, 'अर्ली हिस्ट्री ऑव कामरूप, शिलांग, १९३३ ई०, पृ० ४३।

शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा
नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥२॥
प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ ।
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता ।
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना धावेन विष्णौ (ष्णौ) मतिम् ।
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥३॥

[मेहरौली का लौहस्तम्भ]

चन्द्रवर्मा—'चन्द्राह्व' से इतना तो स्पष्ट है कि यह किसी 'चन्द्र' की ही गाथा है, पर वह चन्द्र है कौन ? इसी पर विवाद है । माना कि बंगाल के 'सुसुनिया' पहाड़ पर 'पुष्करणाधिपति' की कोई 'कृति'[1] निकल आई पर इससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि वस्तुतः उक्त 'महाराज' में "एकाधिराज्य" की क्षमता थी । सच तो यह है कि इस 'कृति' का जो उक्त वंग-विजय से कोई सीधा सम्बन्ध होता तो इसका उल्लेख भी यहाँ अवश्य होता । हमारी समझ में तो इस अति-संक्षिप्त लेख से यही ध्वनित होता है कि वास्तव में महाराज श्रीचन्द्र-वर्मा अपनी पुरानी मर्यादा भी खो बैठे थे और अब 'पुष्करणाधिपति' न रहकर केवल 'महाराज' ही रह गये थे । देखिए, उक्तलेख है—

पुष्करणाधिपतेर्म्महार (ा) जश्रीसिंहवर्म्मणः पुत्रस्य
महाराजश्रीचन्द्रवर्म्मणः कृतिः
चक्रस्वामिनः दास (ा) ग्र (ग्रे) ण (ा) तिसृष्टः

[ए० इं०, भाग १३, पृष्ठ १३३]

---

१. महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री का यह मत अब प्रायः प्राणहीन हो चुका है । कहने की आवश्यकता नहीं कि आपने इस लेख का सुचारु रूप से सम्पादन किया और इसके विषय में अपना उक्त मत प्रकट किया । विवाद उठने पर उनके शिष्य श्री राखालदास बनर्जी ने इसका पक्ष लिया पर यह प्रति दिन गिरता ही गया । इस पक्ष के लिए देखिए 'ए० ई० भाग १२, पृष्ठ ३१५; १३, पृ० १३३; १४, पृ० १६८-७१ ।'

और महाराज चन्द्रवर्मा के इस ह्रास का कारण है महाराजाधिराज अश्वमेधयाजी, सर्वराजोच्छेता श्री समुद्रगुप्त का 'अनेक आर्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्त' जिसमें 'चन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनअच्युतनन्दिबलवर्मा' आदि भी हैं। तो इसका अर्थ यह हुआ कि कभी महाराज श्रीचन्द्रवर्मा किसी समय गुप्त-सामन्त के रूप में 'सुसुनिया' पहुँच गए और वहाँ एक अपना वैष्णव स्मारक खड़ा कर दिया। 'चक्रस्वामिनः दासाग्र' भी सारगर्भित पद है। ध्यान रहे इसी वंश का बन्धुवर्मा निश्चय ही कुमारगुप्त का सामन्त था। अस्तु, कोई आश्चर्य नहीं कि किसी वंग-संग्राम में ही महाराज चन्द्रवर्मा वंग आए हों और लगे हाथों यह स्मारक भी छोड़ गए हों। जो हो, प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कभी भी यह सिद्ध नहीं होता कि वास्तव में 'सुसुनिया' के उक्त चन्द्रवर्मा में 'मेहरौली' का 'एकाधिराज' होने की क्षमता थी।

चन्द्रगुप्त—हाँ, उन विद्वानों के विचारों में कुछ सार अवश्य है जो महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त[1] को ही उक्त 'चन्द्र' मानते हैं। कारण कि 'स्वभुजार्जित' की संगति जैसी सटीक सहसा उनके साथ बैठती है वैसी किसी अन्य के साथ नहीं। साथ ही 'प्रयाग-प्रशस्ति' में जो 'निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति' कहा गया है वह भी उनके इसी वैभव का द्योतक है। और उसमें चद्रगुप्त कहे भी गए हैं निश्चय ही 'महाराजाधिराज'। फिर उन्हीं को उक्त लौहस्तम्भ का अधिनायक या नेता मान लेने में आपत्ति क्या ? निवेदन है, तनिक ध्यान से सुनें। माना कि 'प्रयाग-प्रशस्ति' में 'महाराजाधिराज' चन्द्रगुप्त ने अपने 'आर्य' पुत्र से 'निखिलां' मही के पालन को कहा, पर इससे यह सिद्ध कहाँ हुआ कि उनका आधिपत्य 'एकाधिराज्य' था। उसी प्रशस्ति में इतना और भी स्फुट कर दिया गया है—

उद्वेलोदितबाहुवीर्यरभसादेकेन येन क्षणादुन्मूल्याच्युतनागसेन.......
दण्डग्राहयतैव कोटकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडिता।

---

१. इस मत के प्रबल समर्थक आज भी पाए जाते हैं। इसके लिए देखिए दीवान बहादुर डा० एस० कृष्णास्वामी ऐंगरकृत 'ऐंश्यंट इंडिया एण्ड साउथ इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर' प्रथम भाग, ओ० बु० एजेंसी, पूना; सन् १६४१ ई०, पृष्ठ १६२-२१०।

जिससे स्पष्ट है कि उक्त सीमा का संकेत क्या था जिसका उल्लंघन नागसेन आदि ने किया। महाराज श्रीघटोत्कच के पुत्र महाराज श्रीचन्द्रगुप्त ने कुछ ऐसा पराक्रम किया कि उसके फलस्वरूप शीघ्र 'महाराजाधिराज' हो गए पर फिर कभी उससे आगे न बढ़े। और यदि 'कौमुदीमहोत्सव' को प्रमाण माना जाय तो कहना ही पड़ेगा कि अन्त में वह 'राजा' तक नहीं रह गए थे। फिर उनके निधन पर यह बात कैसे कही जा सकती है कि बुझ जाने पर भी आग का तेज बना ही है। अच्छा न सही, इसे न मानिए, पर तो भी इतना तो आपको भी मानना ही पड़ेगा कि प्रयाग-प्रशस्ति अथवा अन्यत्र कहीं भी महाराज चन्द्रगुप्त 'एकाधिराज' नहीं कहे गए हैं। हाँ, अधिक 'महाराजाधिराज' तक ही रह गए हैं, सो भी सर्वत्र नहीं।

'एकाधिराज' विरुद बड़े महत्त्व का है। इसकी समता 'महाराजाधिराज' से हो नहीं सकती। यह तो 'सम्राट्' का समकक्ष है। भला वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन के सामने महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त को 'एकाधिराज' की पदवी कौन दे सकता है? नहीं, यह सौभाग्य तो उसके 'आर्य' पुत्र समुद्रगुप्त को ही प्राप्त हुआ है। उसके पूर्व गुप्तों में किसी को 'एकाधिराज' का पद नहीं मिला था। निदान मानना पड़ता है कि मेहरौली के लौहस्तम्भ से महाराज श्रीघटोत्कच-सुत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त का लगाव नहीं।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य—हाँ, निश्चय ही मेहरौली का लौहस्तम्भ स्मारक है सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का और सुधि दिलाता है निपुण कवि कालिदास की मर्मभरी लेखनी और दूतकर्म की। सो कैसे, तनिक इसे भी शोध लें। कहने की बात नहीं कि प्रकृत लौहस्तम्भ के लेख में केवल 'वंग', 'वाह्लिक' और 'दक्षिण' का उल्लेख किया गया है, कुछ कहीं 'आर्यावर्त' का नहीं। कारण प्रच्छन्न नहीं कि कल्पना को कष्ट दिया जाय। प्रयाग-प्रशस्ति से अति प्रकट है कि 'आर्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः' किस तथ्य का द्योतक है। जो पूछा जाय कि फिर 'स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं' का संकेत क्या है तो तुरन्त कहना पड़ेगा कि बड़े काम का। रामगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी का प्रसंग[1] अब सामने

---

१. स्वर्गीय राखालदास बनर्जी ने इस तथ्य का भेद बताया और उनके

आ चुका है और 'शकाधिपति' की चर्चा भी खूब हो चुकी है। फलतः संक्षेप में कहना पड़ता है कि दाय-दृष्टि[1] से भी उक्त साम्राज्य 'स्वभुजार्जित' ही था और साथ ही यह भी ध्यान रहे कि प्रसंग 'एकाधिराज्य' का है कुछ आर्यावर्त[2] का नहीं।

सहाध्यापक डा० आल्टेकर ने उसको अनेक प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया। फिर तो अनेक पुराविदों ने उसे साधु माना और उसके सम्बन्ध में अपना अपना अभिमत दिया। सारांश के लिए देखिए श्री वासुदेव उपाध्याय एम० ए० कृत गुप्त साम्राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, इंडियन प्रेस, प्रयाग; रामगुप्त का प्रकरण।

१. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को समुद्रगुप्त ने अपना अधिकारी बनाया था किन्तु कुछ कारण ऐसा आ पड़ा कि उसको पहले उससे दूर ही रहना पड़ा। जब राज्य का लोभी रामगुप्त 'क्लीब' बन गया और शत्रु को स्त्री देने पर उद्यत हो गया तब चन्द्रगुप्त को साम्राज्य की चिन्ता हुई। उसने कपट-वेष में शत्रु का वध किया और फिर भाई से ऊबकर किसी प्रकार उसका भी अन्त कर दिया। इसी को लक्ष्य कर उसकी कीर्ति पर पानी फेरते हुए अमोघवर्ष के चारण ने कहा है—

> हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद् देवीं च दीनस्ततो,
> लक्षं कोटिमलेखयन् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः ॥

[ए० इं०, भाग १८, पृष्ठ २४८]

कैसे भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'तत्परिगृहीत' होने पर भी साम्राज्य के निमित्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को घर तथा बाहर, चारों ओर से लोहा लेना पड़ा। फिर वह 'एकाधिराज्य' अर्जित नहीं तो और क्या था न ? निश्चय ही वह चन्द्रगुप्त के साहस और पुरुषार्थ का प्रसाद था। यदि उसकी 'भुजा' में बल न होता तो उसका राज्य तो और ही के हाथ लग चुका था न? और जो उसका रक्षक होता वही तो उसका भक्षक बन बैठा था ? फिर 'स्वभुजार्जित' में सन्देह क्यों ?

२. 'वंग' 'वाह्लिक' एवं 'दक्षिण' का तो स्पष्ट उल्लेख है किन्तु 'आर्यावर्त' का नहीं है। परन्तु ध्यान से देखिए तो पता चले कि इस लेख में चन्द्रगुप्त का सारा जीवन समेट कर रख दिया गया है। मध्यदेश में किसी में इतनी शक्ति नहीं थी कि उसका विरोध करता। समुद्रगुप्त ने सबको उखाड़ फेंका था। क्लीब रामगुप्त कायर था। उससे लोहा लेने की बात ही नहीं थी। यह तो घर के काँटेको

सो वंग के विषय में तो व्यक्त ही है कि शत्रु संघटित रूप में डटे थे। रही 'वाह्लिक' की बात। सो अभी यही नहीं खुला कि वस्तुतः यह वाह्लिक था कहाँ। 'सिन्धोः सप्तमुखानि' भी तो अभी तक झगड़े का घर बना हुआ है? फिर इसके बारे में बताया क्या जाय? जो कुछ हो, पर इतना तो निर्विवाद ही है कि उक्त दोनों देश गुप्त-साम्राज्य के छोर पर ही थे और किसी संकट के समय ही उभर आए थे।

वंग—'वाह्लिक' से कालिदास का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई देता अतएव विचार के हेतु पहले हम केवल 'वंग' और 'दक्षिण' को उठाते हैं। सुबाहु की विक्रमादित्य से जो मुठभेड़ हुई थी वह वंग से मिली-जुली थी या नहीं, इसका निर्भ्रान्त उत्तर तो अभी दिया नहीं जा सकता, पर अनुमान से इतना बताया अवश्य जा सकता है कि इस सन्धि में कवि कालिदास का भी हाथ था। पता नहीं समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में 'वंग' का नाम क्यों नहीं आया। 'समतटडवाककामरूपनेपालकर्त्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपति' में 'समतट' और

दूर करना था। सो तनिक साहस से आप ही हो गया। किन्तु चारों ओर की स्थिति एक सी नहीं थी। समुद्रगुप्त ने जिन्हें राज्य करने को छोड़ दिया था उनका मन स्थिति को देखकर बढ़ा। वंग ने संघटित होकर द्वन्द्व मचाया तो महाराज को स्वयं रणक्षेत्र में कूदना पड़ा। कुछ चोट भी खानी पड़ी। दक्षिण बात-चीत से शान्त रहा। उत्तर और पश्चिम का अभी निर्णय नहीं। 'वाह्लिक' का अर्थ भी खुले तो पता चले। पर इतना तो निश्चित ही है कि 'प्रतीची' और 'उदीची' दोनों ही में परदेशी राज्य था। प्रयागप्रशस्ति में जो 'शकमुरुंड' और 'दैवपुत्र-शाहिशाहानुशाहि' आए हैं उनका निर्देश क्या है? क्या हम उन्हें 'वाह्लिकाः' के भीतर ले सकते हैं। क्या वाह्लिकों के चढ़ दौड़ने का अच्छा अवसर यही न था? स्वयं चन्द्रगुप्त को 'सिन्धु के सातमुखों को पार' कर उन पर चढ़ाई करने की क्या पड़ी थी? यदि हार जाता तो? स्मरण रहे, कालिदास कहते हैं—

> "कातर्य्यं केवला नीतिः शौर्य्यं श्वापदचेष्टितम्।
> अतः सिद्धिं समेताभ्याम् उभाभ्यामन्वियेष सः ॥४७॥१७॥

[रघुवंश]

'डवाक' की सीमा क्या है ? यह कैसे स्पष्ट हो। तो भी यह तो निश्चित ही है कि इसका सम्बन्ध 'वंग'[1] वा बंगाल से ही है। 'समतट' में तो कोई मतभेद नहीं पर 'डवाक' के बारे में कुछ धाँधली सी है। टाँकने की बात है कि कवि कालिदास रघु-दिग्विजय में 'बंगानुत्खाय' का स्पष्ट उल्लेख करते हैं पर कवि हरिषेण 'प्रशस्ति' में कहीं उसका नाम तक नहीं लेते। तो क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि समुद्रगुप्त के उठते ही 'वंग' एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया था जिससे सम्राट् चन्द्रगुप्त को स्वयं लोहा लेना पड़ा ? सम्भावना तो यह है कि समुद्रवर्मा भी कुछ इसी ताक में लगा था, किन्तु जब उसने देख लिया कि वस्तुतः विक्रमादित्य के सामने उसका पराक्रम ओछा है तब उनका साथी हो रहा और कालिदास का प्रिय पात्र बना। उसकी दुर्बुद्धि दूर हुई।

दक्षिण—'वंग' से कहीं अधिक बोलता प्रसंग है 'दक्षिण' का। कामरूप से कालिदास का जो सम्पर्क बताया गया है वह अनुमान और प्रवाद पर ही अवलम्बित है; परन्तु दक्षिण का दौत्य तो पुराविदों में घर कर चुका है। निदान उस पर कुछ खुलकर विचार होना चाहिए। मेहरौली के लेख से प्रकट है कि 'चन्द्र' की दक्षिणापथ से कोई लड़ाई नहीं हुई पर उसकी धाक वहाँ बनी रही। सो 'कौन्तलेश्वरदौत्यम्' के प्रकरण में बताया जा चुका है कि यथार्थतः इसका कारण क्या है। अतः यहाँ उसकी चर्चा व्यर्थ होगी। विचारणीय तो यह है कि कालिदास की सहज उपमा कौन सा तथ्य दिखाती है। लीजिए कालिदास का मत है—

---

१. देखिए श्री प्रमोदीलाल पाल एम० ए०, कृत 'दी अर्ली हिस्ट्री ऑव बंगाल', दी इंडियन रिसर्च इन्स्टीटयूट, कलकत्ता; १६३६ ई० भूमिका, पृष्ठ ४-५।

२. देखिए श्री बरुआ कृत 'अर्ली हिस्ट्री ऑव कामरूप', पृष्ठ ४२। कालिदास ने दिग्विजय में इसका अथवा 'समतट' का उल्लेख नहीं किया। इधर कुमारगुप्त के शासन में 'पुंड्रवर्द्धन' भुक्ति के रूप में दिखाई देता है। समुद्रगुप्त को भी किसी 'भस्ममाख्य' से युद्ध करना पड़ा था जो उसका अनुज और सम्भवतः गौड का शासक था। तात्पर्य यह कि इधर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

शक्येष्वेवाभवद् यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः ।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥५६॥७॥

[रघुवंश,]

कहना न होगा कि 'दवानल' विक्रमादित्य ने 'समीरण' कालिदास से जो काम लिया उसी का यह शुभ परिणाम था कि—

यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणः ।

ठीक है, जब 'दवानल' के 'समीरण' ने 'जलनिधि' को भी सुवासित कर दिया तब वह किसी 'अम्भ' की याचना क्या करे ! किन्तु काल की कृपा से यह 'दवानल' भी तो बुझ ही गया ? तो क्या, तेज तो उसका अब भी अपनी 'मधुर' आँच दिखाता ही रहा । देखिए—

शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्ना-
द्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेषक्षितिम् ॥

[मेहरौली का लौहस्तम्भ]

महाकवि कालिदास की 'उपमा' के पारखी चट बोल उठेंगे कि यह तो कालिदास की 'उपमा' है । सच है, कालिदास की सटीक उपमा किसे नहीं मोहती ? कौन जाने, सचमुच यह रचना कालिदास की ही हो । कारण—

सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः ।
अंगारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥४३॥७॥

[रघुवंश]

अथवा

तेन भूमिनिहितैककोटि तत् कार्म्मुकञ्च बलिनाधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥८१॥११॥

[रघुवंश]

में भी तो वही भावना घूमफिर कर नया नया रूप धारण कर रही है और कभी 'हुतभुज' वा 'हुताशन' के प्रिय रूप में प्रकट हो रही है तो कभी 'धूमकेतन' के अप्रिय रूप में; पर है वास्तव में सदा वही । फलतः स्वीकार करना होगा कि वस्तुतः इस लौहस्तम्भ के लेख का कालिदास से बना सम्बन्ध

है और कालिदासने भी तो इसके 'खिन्नस्य' में इसके सारे शील को भर दिया है। विक्रमादित्य की 'खिन्नता' फिर भारत से कब दूर हुई ?

कल्हन—'चन्द्र' के इस लौहस्तम्भ के सम्बन्ध में हिन्दी के महाकवि 'चन्द' ने जो कुछ लिखा है उसमें से कुछ इतिहास भी झाँक रहा है। वह कहता है—

> तब अनगानी पुत्ति, कहै सुनि पुत्त सुबत्तह।
> पुव्व कथा ज्यौं भई, सुनो त्यौं कहूँ अपुब्बह ॥१३॥
> हम पितु पुरिषा पुव्व, नृपति कल्हन वन क्रीलत।
> सुसा छंडि ता पुट्ठ, स्वान संचरिय सचलीत ॥१४॥
> सिसु संमुष हुइ बैठी सु तहाँ, भग्गि स्वान भैभीत हुअ।
> सब सथ्थ तथ्थ आचिज्ज भय, करि पारस ठट्ठे सुभय ॥१५॥
> व्यास ज्योति जग जोति तहँ सिद्ध महूरत ताब।
> दैव जोग सेसह सिरह, किल किल्लित सु आव ॥१६॥
> कल्हनपुर कल्हन नृपति, बासी नृप निज साज।
> कितक पाट अंतर नृपति, अनंगपाल भय राज ॥१७॥

[पृथ्वीराज रासो, तृतीय समय, ना० प्र० सभा, काशी]

इस 'कल्हन नृपति' के विषय में सम्पादकों का निष्कर्ष है—

दिल्ली में कुतुबमीनार के पास जो एक लोहे की बड़ी कीली अब तक विद्यमान है उसके विषय में पुरातत्त्ववेत्ता विद्वानों में मतभेद है। तबरों की ख्यातियों में कलहन, कलिहन, कल्हन और किल्हन का चन्द भी नामान्तर मिलता है। तथा कलहनादि नामान्तरों की चन्द्रवाचक व्युत्पत्ति हो सकती है। अतएव अनुमान होता है कि कीली पर जो नीचे लिखे (उक्त) श्लोक खुदे हुए हैं और उनमें जिस राजा चन्द्र का नाम है वह यही राजा कलहन उपनाम चन्द होगा।

[उपसंहारणी टिप्पणी, वही पृ० २७३]

'कलहन' की इस व्याख्या के साथ ही 'व्यास' की इस व्याख्या पर भी ध्यान दें—

व्यास राजगुरु का वाचक है। तँवर राजपूतों के पांडववंशीय गिने जाने से उनके राजगुरु व्यास कहाते थे। यह वह व्यास था जो कल्हन राजा के समय में राजगुरु था।

[पृथ्वीराजरासो, वही, पृ० २५८, पा. टि.]

किल्ली—इसी प्रकार 'सुसा-स्वान'—संघर्ष के विषय में कहा जा सकता है कि वास्तव में यह वह वीरभूमि है जहाँ 'स्वान' 'सुसा' से भयभीत होकर भाग गया और नृपति कल्हन ने पुरोहित वा राजगुरु व्यास के कहने पर उसे अपना स्थान बनाया। किन्तु यह स्थान था कहाँ ? मेहरौली या कहीं अन्यत्र ? चन्द कहता है—

सुनी बात इह तत्त प्रमानं व्यास करी किल्ली पुर थानं।
साठि सु अंगुल लोहय किल्ली, सुकर सेस नागन सिर मिल्लिय ॥२१॥
मुंध लोइ अचिज्ज सु मान्यौ, भावी गति सो व्यास न जान्यौ।
बरजे सह परिगह परिमानं, उष्षारी किल्ली भू थानं ॥२३॥

जिस क्रूर जिज्ञासा के कारण 'किल्ली' को उखड़वाया गया उसका परिणाम सुखद कब हो सकता था ? अतः 'व्यास' को विवश हो कहना पड़ा—

अनंगपाल चक्कवै, बुद्धि जो इसी उकिल्लिय।
भयौ तुअँर मतिहीन, करी किल्ली तैं ढिल्लिय ॥
कहै व्यास जग जोति, अगम आगम हौं जानों।
तूअँर तैं चहुआन, अंत व्है है तुरकानों ॥
तूअँर सु अवहि मंडव घरह, इक्क राय बलि विक्कवै।
नव सत्त अंत मेवातपति, इक्क छत्त महि चक्कवै ॥२६॥

एवं—

हूँ गड्डि गयौ किल्ली सजीव, हल्लाय करी ढिल्ली सईव।
तूअँर अवहि मंडव सुथान, भोगवै भूमि सुरतान पान ॥३०॥

अस्तु, इससे तो यही सिद्ध होता है कि अनंगपाल ने उसे कहीं इधर से उधर नहीं किया; अपितु उसी स्थान पर ठीक पहले की तरह ही उसे गाड़ना चाहा। परन्तु 'पाषाण' के उखाड़ लेने से वह 'ढिल्ली' हो गई और तभी से 'दिल्ली' नाम निकल आया।

अनंगपाल—किन्तु, उधर 'ओझा' जी का मत है—

यह प्रसिद्धि चली आती है कि तँवर अनंगपाल ने दिल्ली को बसाया। उसी ने वहाँ की विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर से प्रसिद्ध लोहे की लाट को, जिसको 'कीली' भी कहते हैं और जो वर्त्तमान दिल्ली से ७ मील दूर मिहरौली गाँव के पास कुतुबमीनार के निकट खड़ी है, उठाकर वहाँ खड़ी करवाई थी। उक्त लाट पर का प्रसिद्ध लेख राजा चन्द्र (चन्द्रगुप्त दूसरे) का है जिसने वह लाट उक्त पहाड़ी पर विष्णु के ध्वजरूप से स्थापित की थी। उसपर छोटे छोटे और भी पिछले लेख खुदे हैं जिनमें से एक 'संवत् दिल्ली ११०६ अनंगपाल वही' है। उससे पाया जाता है कि उक्त लेख के खुदवाए जाने के समय अनंगपाल का उक्त संवत् में दिल्ली का बसाना माना जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक की मसजिद के पास एक तालाब की पाल पर अनंगपाल के बनाए हुए एक मन्दिर के स्तम्भ अब तक खड़े हैं जिनमें से एक पर अनंगपाल का नाम भी खुदा है। पृथ्वीराज रासो के कर्त्ता ने अनंगपाल की पुत्री कमला का विवाह अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के साथ होना, उसी से पृथ्वीराज का जन्म होना तथा उसका अपने नाना अनंगपाल का राज्य पाना आदि जो लिखा है वह सारी कथा कल्पित है। पृथ्वीराज की माता दिल्ली के अनंगपाल की पुत्री कमला नहीं किन्तु चेदि देश के राजा की पुत्री कर्पूरदेवी थी।

[राजपूताने का इतिहास, प्रथम भाग, सं० १९८३, पृ० २३४-२३५]

पृथ्वीराज रासो क्षेपकों से इतना भर गया है कि उसके मूल का पता लगाना अत्यन्त कठिन हो गया है। फिर भी इस 'किल्ली-कथा' के सम्बन्ध में इतना तुरत कहा जा सकता है कि इसकी पहली कथा दूसरी से सर्वथा भिन्न है। पहली में इतिहास बोल रहा है तो दूसरी में चमत्कार अपना जौहर दिखा रहा है। किन्तु उसमें भी कुछ सार है। उसमें 'पाषाण' का प्रसंग कुछ दिखाने के लिये घुसेड़ दिया गया है। वास्तव में वह उक्त मन्दिर के शिला-न्यास का द्योतक है। दूसरी कथा का संकेत यह है कि 'पाषाण' छोड़ने के उपरान्त किल्ली गाड़ी गई। सब कुछ ठीक हो जाने पर अनंगपाल को व्यासवचन में सन्देह हुआ और फलतः 'पाषाण' उखाड़ लिया गया। जब बात सच निकली तब किल्ली फिर से गाड़ी गई पर वह दैववश ढीली ही रह गई। इस प्रकार 'किल्ली' के

'ढिल्ली' हो जाने के कारण उस पुर का नाम ही ढिल्ली हो गया। अस्तु, इस कथा का मुख्य लक्ष्य इतिहास नहीं प्रत्युत 'दिल्ली' की व्याख्या और 'तँवर' का पतन दिखाना है।

कल्हनपुर—पहली कथा का 'कल्हनपुर' कहाँ है? 'दिल्ली' को तो मान नहीं सकते। कारण कि उसे तो अनेक पीढ़ी के उपरान्त अनंगपाल ने बसाया था। अच्छा, तो वह विष्णुपद पहाड़ी कहाँ है जहाँ पर उक्त स्तम्भ स्थापित हुआ था? श्री ओझाजी ने 'प्रसिद्धि' का उल्लेख तो कर दिया है पर यह दिखाने की चिन्ता नहीं की है कि वास्तव में वह पहाड़ी है कहाँ? 'वहाँ की विष्णुपद नाम की पहाड़ी' से व्यक्त ही है कि उनकी दृष्टि में वह पहाड़ी वहीं कहीं दिल्ली के पास ही है। कुछ दूसरे लोग भी यही साधु समझते हैं पर उनमें से कुछ कभी कभी यह भी कह जाते हैं कि वस्तुतः वह 'किल्ली' पहले[1] से ही वहीं गढ़ी है। परन्तु अभी तक यह प्रकट नहीं हुआ कि उक्त स्थान के विष्णुपद होने का प्रमाण क्या है और क्यों अनंगपाल के साथ उसका ऐसा सारगर्भित सम्बन्ध जुट गया है।

इतिहास के पन्नों से पता चलता है कि 'तँवर' पालों का मुख्य स्थान लाहौर रहा है। गजनवियों से पराजित होने के कारण ही अनंगपाल को दिल्ली बसानी पड़ी। ऊपर कहा गया है कि अनंगपाल के दिल्ली बसाने का समय संवत् ११०९ अर्थात् ई० सन् १०५२ है। अब गजनवियों के इतिहास पर विचार करें तो अवगत हो कि यह अभी उनका संकट-काल[2] है। महमूद गजनवी ने पाल-वंश को परितः परास्त कर दिया था। जयपाल, अनंगपाल (अनन्दपाल) और जयपाल के अनन्तर द्वितीय अनंगपाल ने भी उसका सामना किया किन्तु अन्त

---

१. श्री दीवान बहादुर डा० एस० कृष्णस्वामी ऐंगर ने इस पर विशेष ध्यान दिया है। इसके लिये देखिए 'ऐंश्यंट इंडिया एण्ड साउथ इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर' प्रथम भाग का उक्त प्रकरण।

२. देखिए—'हिस्ट्री ऑव अफगानिस्तान' सर पर्सी साइकेस (Percy Sykes) प्रथम भाग, मै० एण्ड को लण्डन १९४० ई०, पृष्ठ २०७। यहाँ १०४९ से १०५२ तक प्रायः वही स्थिति रही जो बहादुरशाह के बाद मुगलवंश की।

में उसे लाहौर छोड़कर अजमेर भागना पड़ा और लाहौर महमूद के प्रिय 'माशूक' सेनानी 'अयाज' का अड्डा बना। अनंगपाल का दैव फिरा तो 'गजनी' में फूट हुई और सेलजूक वंश का उदय (१०३७ ई०) हुआ। फिर क्या था, राजपूतों का भी सितारा चमका और सन् १०४२ ई० में हांसी, थानेश्वर आदि तो फिर हाथ लगे ही, नगरकोट में फिर एक मन्दिर भी बन गया। किन्तु सन् १०५२ ई० में सुल्तान अब्दुलरशीद ने उसे छीन[1] लिया। तात्पर्य यह कि इसी १० वर्ष के उदय में अनंगपाल ने दिल्ली में अपना शासन दृढ़ किया और दिल्ली नगर बसाया।

अनंगपाल का मन्दिर बन गया तो उसे उस लाट की सूझी जो 'कल्हनपुर' में न जाने कब से गड़ी पड़ी थी और कालचक्र के प्रभाव से अब तुरुकों के राज्य में आ गई थी। अनंगपाल ने अवसर देखा तो तुरन्त उसे अपना लिया और अपने मन्दिर की शोभा का स्तम्भ बनाया।

बाह्लीक—विष्णुपद की जो शोध हुई है उसमें सबसे अधिक सफल दिखाई देती है सुदामापर्वत[2] के विष्णुपद की शोध। महाराज दशरथ के निधन पर जो चर भरत को बुलाने के हेतु केकय भेजे गए हैं मार्ग में देखते हैं कि—

---

१. देखिए—'हिस्ट्री ऑव दी पंजाब' सैयद मुहम्मद लतीफ, कलकत्ता सेन्ट्रल प्रेस कम्पनी, १८९१ ई०, पृष्ठ ८६–९० ।

डॉ० धीरेन्द्रचन्द्र गंगोली ने जो यह कह दिया है कि परमार भोज और कलचुरि कर्ण के जीते जी मुसलमानों ने फिर आक्रमण नहीं किया ठीक नहीं। अनंगपाल को फिर कष्ट भोगना पड़ा और १०५२ में आक्रमण हुआ और सफल रहा। श्री गंगोली के मत के लिए देखिए प्रो० आल इंडिया ओ० कान्फरेन्स, १९३३ ई०, पृष्ठ ५३७ ।

२. डॉ भंडारकर की प्रेरणा से श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने इस पर ध्यान दिया पर सफल न रहे। उनके अनन्तर उन्हींके एक दूसरे शिष्य श्री योगेन्द्र घोष ने इस पर विचार किया और 'विष्णुपद गिरि' शीर्षक लेख में (इंडियन कल्चर, प्रथम भाग, पृष्ठ ४१५......) इसका पूरा पता दिया। इधर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने उसमें इतना और योग दिया कि इसका सम्बन्ध उक्त 'वाह्लिक

अवेदयाञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान्वेदपारगान् ।
ययुर्मध्येन बाह्लीकान्सुदामानं च पर्वतम् ॥१८॥
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणां विपाशां चापि शाल्मलीम् ।
नदीर्वापीस्तटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥१९॥
पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहव्याघ्रमृगद्विपान् ।
ययुः पथाऽतिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥२०॥

[वा० रा०, अ० कांड, ६८ सर्ग]

'बाह्लीक' और 'विष्णुपद' पर दृष्टि पड़ते ही प्रफुल्ल हो जी चाहता है कि बस इसी को 'चन्द्र' का विष्णुपद मान लो। परन्तु उधर से कतिपय[1] विद्वानों की हुंकार सुनाई पड़ती है; 'नहीं' कदापि नहीं। इस वाह्लीक के कारण तो कभी भी नहीं। कारण, इसका शुद्ध पाठ है 'वाहीक'। वाह्लीक तो कभी पंचनद में था ही नहीं। क्योंकि—

पुराने ग्रन्थों में वाह्लीक और वाहीक नामों में बहुत गड़बड़ हुई है। वाहीक पंजाब या पंचनद का भाग था और वाह्लीक भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा का घेरा था। यह कम्बोज और लम्पाक आदि के पास ही था। वाह्लीक देश के हींग और कुंकुम बहुत प्रसिद्ध हैं। अतएव वाह्लीक पंजाब में हो ही नहीं सकता। पंजाबान्तर्गत तो वाहीक ही है।

[श्री भगवद्दत्त रचित भारतवर्ष का इतिहास, सन् १९४०, लाहौर, पृ० १५७]

वाहीक और वाह्लीक की उलझन कुछ ऐसी नहीं कि बातों में सुलझाई जा सके। अनेक स्थलों पर जो वाह्लीक का प्रयोग 'वाहीक' के लिए पाया जाता है

विजय' से ही है। उनके मत के लिए देखिए 'ज० वि० ओ० रिसु०' भाग २०, पृष्ठ ६७।

१. डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने डाक्टर भंडारकर के मत का खंडन किया है और उन्होंने उक्त स्तम्भ में दिग्विजय का दर्शन किया है। उनकी दृष्टि में उसका संकेत है वंग, वाह्लिक, सिन्धोः सप्तमुखानि और दक्षिण। इसमें सन्देह नहीं कि इससे चारों दिशाओं का निर्देश हो जाता है पर इसका प्रमाण क्या है? उनके मत के लिए देखिए 'ए वाल्यूम ऑव स्टडीज इन इंडोलॉजी, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना २, १९४१ ई०, पृष्ठ ४६९।

तो इसका भी कुछ हेतु होना चाहिए। डाक्टर[1] सरकार ने तो डाक्टर भंडारकर के मत के खंडन में बड़ी तत्परता दिखाई है और 'वाहीक' की निरुक्ति भी ढूंढ निकाली है—

बहिश्च नाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ।
तयोरपत्यं वाहीका नैषा सृष्टिः प्रजापतेः॥

[महाभारत, कर्णपर्व, अ० ४४, प० १०]

किन्तु इस बात की चिन्ता तक नहीं की है कि इस 'पिशाच' का रहस्य क्या है? क्या वाह्लीकों के प्रभुत्व से इसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है! करें क्या, आज भी तो देशों के कुछ प्रयोग ऐसे प्राप्त हो जाते हैं जो चक्कर में डाल देते हैं। पंजाब का 'गुजरात' क्या इस 'वाह्लीक' से कम विलक्षण है? यही दशा तो 'मालव' की भी रही है। हमें तो संक्षेप में यही आता है कि इस वाह्लीक (वाहीक) को उस वाह्लीक का उपनिवेश भर समझें जो भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा का देश था।

विष्णुपद—'वाह्लीक' की व्याख्या के पहले कुछ 'विष्णुपद' की भी टीका हो ले। अब तो यह बताने की बात नहीं रही कि वास्तव में यही वह विष्णुपद है जो अनंगपाल के राज्य में था और फिर गजनवियों के हाथ में चला गया था। अवसर पाकर राजपूतों ने फिर इसे छीन लिया इसका भी संकेत मिल चुका है। अब यहाँ केवल इतना भर कह देना है कि अनंगपाल ने जब यह देखा कि तुरुकों को निकाल बाहर करना कठिन है तब अपने आपही वहाँ से निकलकर दिल्ली में आ बसा अथवा वहाँ फिरसे नगर बसाया। इस लौहस्तम्भ से उसे इतना मोह था कि इसे भी समय पाकर उखाड़ लाया और अपने मन्दिर में गड़वा दिया। इसका राज्य तो गया गजनी की शक्ति और सबल नीति से, पर उसका सम्बन्ध जोड़ा गया 'ढिल्ली किल्ली कथा' से। यह सिद्ध ही है कि सं० ११०९ में दिल्ली बसाई गई यह भी निश्चित है कि उसी सन् १०५२ ई० में अब्दुल-रशीद फिर 'नगरकोट' का स्वामी हो गया। निदान जनता को यह कहने का

---

१. वही।

अवसर मिल गया कि इस तुरुष्कजय का कारण है अनंगपाल का यह अपराध। होना था सो हो गया। अब ऊहा के अतिरिक्त और क्या है?

भावुक भक्तों को यह कहने में कितनी देर लग सकती है कि यह तो भक्त[1] सुदामा का प्रभाव था जो उनके नाम के पर्वत और सो भी विष्णुपद पर यह स्तम्भ खड़ा किया गया। अवश्य ही वैष्णव दृष्टि से यह एक पक्की बात है। पर भूखे पुराविदों का पेट इतने से ही तो भरने से रहा। भला भ्रष्ट वाहीकों में उसे स्थापित करने की क्या आवश्यकता थी? वहाँ तो दर्शन[2] भी कठिन था। नहीं, इसका भी कुछ कारण है। क्या आप भूल गए कि चन्द ने 'पहली किल्ली कथा' में क्या कहा था? यही न कि यह भूमि का प्रताप था कि 'सुसा' ने 'स्वान' को भगा दिया और उसे देखकर 'ढल्हन' ने उसे अपना स्थान बनाया? तो फिर आप इसे इतिहास में क्यों नहीं ढूँढते? क्या बाण ने स्पष्ट नहीं कहा कि—

अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।

[हर्षचरित, षष्ठ उच्छ्वास]

एवं शंकरार्य ने नहीं लिखा है कि—

शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः।

[उसी की टीका]

शकाधिपति—तो क्या ध्रुवदेवी वेषधारी चन्द्रगुप्त 'सुसा' एवं 'शकानामाचार्यः' 'शकाधिपतिः' उक्त 'स्वान' नहीं है? नहीं कहने का किसी को उत्साह नहीं पर इतने से ही इतिहास की गुत्थी कहाँ सुलझी? इससे न तो 'अरिपुर' का भेद मिला और न 'शकाधिपति' का ही पता चला। पुराविदों ने खोज की भी तो उलझन बढ़ती ही गई। किसी ने 'श्रृंगारप्रकाश' के 'अलिपुर'[3] को ठीक

---

१. कल्हण ने 'राजतरंगिणी' (तृतीय तरंग) में विक्रमादित्य और मातृगुप्त के परस्पर व्यवहार विशेषतः मातृगुप्त के कश्मीर-गमन का जो चित्र खींचा है वह किसी सुदामा से कम नहीं है। इस पर्वत का यह नाम भी विचारणीय है।

२. महाभारत कर्णपर्व, विशेषतः शल्य की भर्त्सना।

३. डाक्टर भंडारकर और डाक्टर जायसवाल इसीको साधु समझते हैं।

माना तो किसी ने[1] काठियावाड़ के शकों को 'शकाधिपति' ठहराया, परन्तु किसी का अनुमान अभी तक प्रमाण न हुआ। परिस्थिति तो विकट है, पर जिज्ञासा भी पंगु नहीं कि पैर तोड़कर बैठ रहे। निदान हमारा कहना है कि वास्तव में यह 'शकानामाचार्यः शकाधिपतिः' और कोई नहीं, वही लौहस्तम्भ का 'वाह्लीक' है जो समुद्रगुप्त के उपरत हो जाने पर गुप्तों पर चढ़ दौड़ा था और जिसका विनाश चन्द्रगुप्त ने बड़ी चातुरी से कर दिया। प्रतीत होता है कि पारसीक पराक्रमी शापुर द्वितीय के निधन (३७६ ई०) अथवा उसी के प्रोत्साहन से अवसर पाकर उसने ऐसा किया और समुद्रगुप्त के यश को लूटना चाहा।

हाँ, तो उदयगिरि-गुहा के लेख को ध्यान से पढ़ा जाय तो प्रत्यक्ष हो जाय कि इस घटना का काठियावाड़ अथवा शकक्षत्रप-विजय से कोई सम्बन्ध नहीं। कारण कि उसका स्पष्ट कथन है—

> तस्य राजाधिराजर्षेरचिन्त्यो (— —) मनः।
> अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृतसन्धिविग्रहः ॥३॥
> कौत्सश्शाव इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया।
> शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः ॥४॥
> कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः।
> भक्त्या भगवतः शम्भोर्गुहामेतामकारयत् ॥५॥

'कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन' से आप ही प्रकट हो जाता है कि इस यात्रा का यथार्थ लक्ष्य क्या है। उधर 'राजाधिराजर्षि' पद भी उसकी प्रतिष्ठा को व्यक्त कर रहा है। यही नहीं, यहाँ यह भी स्पष्ट रहे कि उक्त लेख में 'विक्रमावक्रय-क्रीतादास्यन्यग्भूतपार्थिवो' भी कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि अन्य सभी शासकों को अधीन कर ही यह 'कृत्स्नपृथ्वीजय' की यात्रा हुई है। कहते हैं[2]

देखिए 'मालवीय कम्मेमोरेशन वाल्यूम, हिन्दू० यू० बनारस, सन् १९३२ ई०, पृष्ट १९४...; एवं ज० बि० ओ० रि० सु० भाग १८ पृष्ठ २९।

१. देखिए ज० बि० ओ० रि० सु० भाग १४ तथा १५ में डाक्टर अल्टेकर का लेख।

२. इस प्रवाद के लिए देखिए 'हिस्ट्री ऑव गुजरात'।

कि सौराष्ट्र-विजय का कार्य युवराज कुमारगुप्त ने किया था, स्वयं महाराज चन्द्रगुप्त ने नहीं। यदि यह ठीक है तो इस शक-विजय का सम्बन्ध उस 'शकाधिपति' से किसी प्रकार जुट ही नहीं सकता। निःसन्देह यह महाराज के अश्वमेध की यात्रा है। हाँ, यह 'राजर्षि' चन्द्रगुप्त का प्रस्थान है, स्त्रीवेषधारी कुमार चन्द्रगुप्त का नहीं।

तो 'शकानामाचार्यः' की लीला समाप्त कहाँ हुई ? कोई कवि कहता है—

दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्,
यस्मात्खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे,
गीयन्ते तव कार्त्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः॥

[काव्यमीमांसा]

'खसाधिपति' को 'शकाधिपति' एवं 'श्रीशर्मगुप्त' को 'श्रीरामगुप्त' मान लेने में कोई अड़चन नहीं। प्रायः विद्वानों ने किया ऐसा ही है। अस्तु, इस दिशा में इतना और संकेत मिला कि उक्त घटना किसी 'कार्त्तिकेयनगर' में घटी थी जो हिमालय पर था।

कार्तिकेयनगर—डाक्टर भंडारकर ने इस 'कार्तिकेय' नगर का जो पता दिया है वह नाम की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है और एक 'विष्णुपद' के पड़ोस में भी है। पर अब[1] उनके विचार में उक्त विष्णुपद 'सुदामा' पर्वत पर है जो कहीं विपाशा के पास कश्मीर[2] के निकट है। अतः अब यह नहीं कहा जा सकता कि

---

१. डाक्टर भंडारकर ने 'विष्णुपद' को पहले (मालवीय कम्मेमोरेशन वाल्यूम सन् १९३२ में) हरिद्वार के पास माना था और वहीं कार्त्तिकेयपुर का भी पता बताया था किन्तु आगे चलकर (सन् १९३७ ई० में) उन्होंने सुदामागिरि के 'विष्णुपद' को साधु ठहराया। देखिए ज० आ० हि० रि० सु० भाग १० पृष्ठ ८६...... ।

२. महाभारत में कहा गया है—

एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥८॥

इस 'कार्तिकेतनगर' के सम्बन्ध में वस्तुतः उनकी धारणा क्या है। फलतः इसकी यहाँ कुछ स्वतंत्र चर्चा की जाती है। हमारी समझ में वास्तव में आज का 'नगरकोट' ही कभी 'कार्तिकेयनगर' के नाम से प्रसिद्ध था जो मुखसुख अथवा किसी कारणविशेषवश 'नगरकोट' में परिणत हो गया। जब आस-पास के लोग आज भी 'अहमदनगर' वा 'विजयानगर' को सुविधा के लिये 'नगर' ही कहते हैं तब कभी 'कार्तिकेयनगर' के लिये भी केवल 'नगर' का ही प्रयोग होता रहा हो और काल पाकर रूढ़िबद्ध हो गया हो तो इसमें आश्चर्य क्या ? बचत की यह प्रवृत्ति तो घर घर गोचर होती है। निदान मानने को मन चाहता है कि वस्तुतः उक्त नगरकोट ही वह पुण्य पराक्रम-स्थान है जहाँ पर रामगुप्त किंवा श्रीशर्मगुप्त घिर गये थे। देखिए श्रीअबुलहसन अली (१०२६ ई०) की साखी भी कुछ यही है। कहते हैं—

रासल कफन्द का पौत्र और अयन्द का पुत्र था। रव्वाल के सिंहासन पर बैठने के पहले वह खदेड़ दिया गया था। उसके पुत्र ने रव्वाल पर चढ़ाई की रव्वाल ने भागकर अपने भाई तथा सामन्तों के साथ एक ऊँची पहाड़ी पर शरण ली जहाँ पहले से ही एक दृढ़ दुर्ग बना था। वहाँ उन लोगों ने अपने आपको सुरक्षित समझ लिया था, पर किसी प्रकार शत्रु वहाँ भी पहुँच गया और अधिकार जमाना ही चाहता था कि रव्वाल की ओर से सन्धि का प्रस्ताव हुआ। उत्तर में कहा गया कि उक्त कन्या के साथ अन्य सामन्तपुत्रियों को भी भेज दें तो मैं उन्हें अपने सामन्तों को दे दूँ और यहाँ से टल जाऊँ। रव्वाल ने व्यथित होकर अपने अन्धे मन्त्री 'सफर' से मन्त्रणा की जिसने समझाबुझाकर यह परामर्श दिया कि ऐसा कर लेना ही ठीक है। वे तत्पर हो ही रहे थे कि उनका

अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवान् ऋषिः।
बन्धात्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ॥९॥
कश्मीरमंडलञ्चैतत् सर्वपुण्यमरिन्दम।
महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥१०॥

[वनपर्व अ० १३०]

'कश्मीरमंडल' और 'विष्णुपद' के इस लगाव पर 'मातृगुप्त' के प्रसंग में अधिक विचार होगा।

भाई 'बरकामरिस' आ पहुँचा और प्रणाम कर प्रार्थना की कि एक ही पिता के पुत्र होने के नाते यदि उसकी भी कुछ सुनी जाय तो ठीक है। युवा समझकर उसकी उपेक्षा न की जाय। जब बात सामने आई तब प्रस्ताव किया कि उसे स्त्रीवेष में अन्य सामन्त-कुमारों के साथ शत्रु-स्कन्धावार में जाने दिया जाय। उसने यह भी कहा कि उन स्त्रीवेषधारी कुमारों को एक एक छुरा और उसे एक ढोल दे दी जाय। जब सभी कुमार सामन्तों के पास पहुँच जायँगे और वह उक्त अधिपति का काम तमाम कर लेगा तब दुन्दुभी बजा देगा और और फिर क्षणभर में सारा उपद्रव शान्त हो जायगा। इधर से चट आक्रमण होगा और शत्रु मारे जायँगे। रव्वाल प्रसन्नतापूर्वक उसकी सम्मति में आ गया। परिणाम यह हुआ कि शत्रु का एक भी सवार जीता न बचा। वह वहीं मार डाला गया और उस पहाड़ से नीचे फेंक दिया गया। सभी नष्ट हो गए और रव्वाल की शक्ति बढ़ गई।

[दी हिस्ट्री ऑव इंडिया, सर एच० एम० एलियट, प्रथम भाग पृष्ठ ११]

अबुलहसन अली ने इस वृत्त को एक अरबी ग्रंथ से लिया है जो स्वयं किसी हिन्दू ग्रंथ पर आश्रित था। अरबीलिपि-दोष के कारण नामों में परिवर्तन हो गया है तो भी 'रव्वाल' को 'रामपाल' और 'बरकामरिस' को 'विक्रमादित्य' मानने में कोई दोष नहीं। अस्तु, इस घटना से भी यही सिद्ध होता है कि स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किसी 'रासल' की सन्तान का वध किया और गुप्त-साम्राज्य का विस्तार किया।

अच्छा तो इस 'शकाधिपति' की खोज में कहीं दूर भटकने की आवश्यकता नहीं। सौभाग्य से स्व० डाक्टर जायसवाल ने इसे भी ढूंढ़[1] निकाला है। उनका कहना है कि 'खुर' (नमक की पहाड़ी, पंजाब) से जो 'राजा (ति) राजमहाराज तोरमाण शाहि जौ......' का लेख मिला है वह वास्तव में इसी 'शकाधिपति' का लेख है। उनका यह भी कहना है कि अल्बेरूनी का 'लग तोरमान' भी यही है। सचमुच डाक्टर जायसवाल का यह मत सर्वथा असाधु नहीं है। कारण कि उसमें इसके विषय में जो कुछ लिखा है वह उक्त शकाधि-

---

१. देखिए ज० वि० ओ० रि० सु०, भाग १८, पृष्ठ २०१।

पति में पूरा पूरा घट जाता है। और यदि कुछ अन्तर दिखाई देता है तो उसका प्रधान कारण है अल्बेरूनी का लिखित सामग्री के अभाव में प्रवाद पर[1] विश्वास करना अल्बेरूनी को इस बात का पता था कि 'नगरकोट' में उक्त सामग्री सुरक्षित है पर दुर्दैववश उसे देख न सका। न सही, पर इतना तो निर्विवाद है कि उसके समय में वहाँ 'पालों' का राज्य था। तो क्या सम्भव नहीं कि रव्वाल अथवा 'राजपाल' का 'पाल' भी इसी 'पाल' प्रभुता का प्रसाद है? पाल की इस पकड़ के सहारे मेहरौली के लौहस्तम्भ का कुछ पता लगाया जा सकता है और यह भी बताया जा सकता है कि क्यों अनंगपाल को उससे इतनी ममता थी।

जगतसुख—'रासो' की पहली 'किल्ली कथा' में बताया गया है कि पहले वह उसी वीरभूमि में गाड़ी गई थी जहाँ 'सुला' ने 'स्वान' को खदेड़ दिया था। अब यहाँ यह दिखाया जा रहा है कि वास्तव में वह स्थान है नगरकोट के उत्तर 'जगतसुख' में। 'जगतसुख' के विषय में भूलना न होगा कि उसका प्राचीन नाम है 'नष्ट'[2]। प्रतीत होता है कि इसी पुण्य घटना के उपरान्त उसका नाम 'नष्ट' से 'जगतसुख' हो गया। यहाँ विशेष रूप से विचार करने की बात यह भी है कि यह भी 'नगरकोट' की भाँति ही महत्त्व का स्थान है। अनुमान से सिद्ध यह होता है कि समुद्रगुप्त के निधन पर जो वाह्लीक दौड़ आए थे उनका स्कन्धावार था यही जगतसुख और इसी जगतसुख में वाह्लीक हुए विजित और यहीं बधे गए 'शकाधिपति' और फिर यहीं गाड़ा गया चन्द्रगुप्त का उक्त स्मारक लौहस्तम्भ जो हार जाने के कारण उखाड़कर फिर गाड़ा गया मेहरौली (मिहिर-मूल) के पास; जहाँ राजधानी बनी पालवंश की दिल्ली।

मातृगुप्त—हाँ, तो अल्बेरूनी सुनीसुनाई बात के आधार पर कहता है कि 'लगतोरमान' का 'मंत्री' 'कल्ल'[3] पहले तो गड़ा द्रव्य पाने के कारण बड़ा

---

१. देखिए अल्बेरुनीज इंडिया, द्वितीय भाग, ई० सी सचाऊ (Sachau) सन् १९१० ई०, पृष्ठ १०-११।

२. देखिए कॉंगडा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, १९१७; पृष्ठ २१; पंजाब डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, भाग ३० ए।

३. इसे 'कल्लर' भी कहा गया है। अरबी-लिपि में नामों का ठीक-ठीक लिखा जाना असम्भव है। रासो के 'कल्हन' से तो इसका कोई सम्बन्ध नहीं है?

प्रभावशाली हो गया, फिर सुधार के विचार से विषयी राजा तोरमान को बन्दी बना लिया किन्तु राज-सुख के प्रलोभन में पड़कर फिर स्वतन्त्र शासक हो गया। अल्बेरूनी उक्त पाल-वंश को इसी ब्राह्मण-वंश की परम्परा बताता है। पर इतिहास है कुछ और ही। पाल माने गए हैं क्षत्रिय। तो इसका भी कुछ कारण होना चाहिए। आखिर उसे ऐसा भ्रम क्यों हुआ?

यहाँ, हमारी समझ में कल्हन की साखी बड़े काम की सिद्ध होती है। कहते हैं—

हिरण्यतोरमाणाख्यौ व्यधत्तामथ तत्सुतौ।
साम्राज्ययुवराजत्वभाजने रञ्जनं क्षितेः ॥१०२॥
भ्रात्राहतानां प्राचुर्यं विनिवार्यासमञ्जसम्।
तोरमाणेन दीन्नाराः स्वाहताः संप्रवर्तिताः ॥१०३॥
मामवज्ञाय राज्ञेव कस्मादेतेन वल्गितम्।
इति तं पूर्वजो राजा क्रोधनो बन्धने व्यधात् ॥१०४॥

[राजतरंगिणी, ३ तरंग]

तोरमाण के 'बन्धन' का कारण सामने है, पर अभी ब्राह्मण की स्थिति स्पष्ट नहीं हुई। सो विदित ही है कि—

पितुर्बन्धेन सक्रोधं तं कालापेक्षयाक्षमम्।
शिक्षयित्वा जयेन्द्रोथ कार्यशेषाय निर्ययौ ॥१२१॥
उत्पिञ्जोत्पादनात् सज्जे तस्मिन्भ्रात्रा यदृच्छया।
बन्धात्त्यक्तो नृतरणिस्तोरमाणोस्तमाययौ ॥१२२॥
निष्वार्य मरणोद्योगं मातुर्निर्वेदखेदितः।
ययौ प्रवरसेनोथ तीर्थौत्सुक्याद्दिगन्तरम् ॥ १२३॥
रक्षित्वा दशमासीनाः क्ष्मामेकत्रिंशतिं समाः।
तस्मिन्क्षणे हिरण्योपि शान्ति निःसंततिर्ययौ ॥१२४॥

[वही]

परिणाम यह हुआ कि—

अथवास्यैव सूक्तेन स्मारितोस्म्यधुना यथा।
वर्तते राजरहितं काम्यं कश्मीरमण्डलम् ॥१८६॥

पात्रायास्मै महीपालान्महतोप्यर्थनापरान् ।
अवधीर्य मही तस्मात्सा मया प्रतिपाद्यते । ॥१८७॥
इति निश्चित्य चतुरं नृपायामेव पार्थिवः ।
गूढं व्यसर्जयद्दूतान्काश्मीरीः प्रकृतीः प्रति ॥१८८॥
आदिदेश च तान्यो वो दर्शयेच्छासनं मम ।
मातृगुप्ताभिधो राज्ये निःशंकं सोभिषिच्यताम् ॥१८९॥

[वही]

मातृगुप्त के ब्राह्मण होने का प्रमाण है—

पुण्यां वाराणसीं गत्वा तस्माच्छमसुखोन्मुखः ।
इच्छामि सर्वसंन्यासं कर्तुं द्विजजनोचितम् ॥२९७॥

[वही]

सारांश यह कि कल्हण के कथनानुसार 'हिरण्य' और 'तोरमाण' में परस्पर ठन गई तो 'पूर्वज' हिरण्य ने अनुज तोरमाण को बन्दी बना लिया । जब वर्षों के बाद उसे छोड़ा भी तब वह उससे पहले ही चल बसा । फिर हिरण्य भी निःसन्तान मरा । इस प्रकार कश्मीर का सिंहासन सूना हो गया तो शकारि विक्रमादित्य ने कवि मातृगुप्त को वहाँ का शासक बनाया जो अन्त में विरक्त हो गया और वाराणसी की ओर चला गया ।

तोरमाण—मातृगुप्त और विक्रमादित्य के सम्बन्ध पर विचार करने के प्रथम ही 'तोरमाण' का स्पष्टीकरण हो जाय तो ठीक । कल्हण के कथन से व्यक्त होता है कि वस्तुतः कश्मीर विक्रमादित्य के अधीन था और इसीलिये उन्हें उसके प्रबन्ध की चिन्ता करनी पड़ी । यदि यह ठीक है तो इसी के आधार पर इतना और भी कहा जा सकता है कि यह वास्तव में सम्राट् विक्रमादित्य की नीति का प्रसाद था कि एक ही राज्य के दो राजा बना दिये गए थे जो परस्पर भिड़ गए थे । विक्रमादित्य की इस तोड़-नीति का कारण था उक्त राज्य का शक-संग्राम में योग देना । अल्बेरूनी ने जो 'लग तोरमान' लिखा है वस्तुतः वह है 'लघु तोरमाण' । इस 'लघु'[1] का 'लग' रूप आज भी देखने में आता है । 'हिरण्य' के अनुज का

१. ध्यान देने की बात है कि 'लग' का प्रयोग आज भी उक्त प्रदेश के

यह नाम कैसे पड़ा यह कैसे कहा जा सकता है, पर इतना तो भासता ही है कि राजातिराज तोरमाण से इसका कुछ सम्बन्ध अवश्य था। प्रतीत होता है कि उक्त शकाधिपति के वध के उपरान्त ही कुशल चन्द्रगुप्त ने उक्त देश को द्विराज[1] में विभक्त कर दिया और जब उसका कोई अधिकारी नहीं रह गया तब ब्राह्मण मातृगुप्त को उसका राज्य मिला।

प्रवरसेन—जी। मातृगुप्त के शासन का शीघ्र ही अन्त हो गया। बात यह है कि तोरमाण की पत्नी इक्ष्वाकु[2] कुल की कन्या थी। संघर्ष के समय उसने एक कुलाल के घर में शरण ली और वहीं प्रवरसेन को जन्म दिया। यही प्रवरसेन जब तीर्थयात्रा में था तब उसे कश्मीर का समाचार मिला और उसे फिर राज्य की चिन्ता हुई और—

त्रिगर्तानां भुवं जित्वा स व्रजन्नथ भूपतिः।
विक्रमादित्यमशृणोत्कालधर्ममुपागतम् ॥२८४॥
तस्मिन्नहनि भूभर्त्रा शोकान्निःश्वसतानिशम्।
नास्नायि नाशि नास्वापि स्थितेनावनताननम् ॥२८६॥
अन्येद्युर्भुवमुत्सृज्य कश्मीरेभ्यो विनिर्गतम्।
शुश्राव मातृगुप्तं स नातिदूरे कृतस्थितिम् ॥२८७॥

[वही]

लिए पाया जाता है। देखिए उक्त काँगडा गजेटियर का चित्र नं० १। 'नगर' और 'जगतसुख' इसी प्रदेश में हैं।

१. इस नीति के लिए देखिए कालिदासकृत 'मालविकाग्निमित्र' में राजा का कथन—

"मौद्गल्य! तत्रभवतोर्भ्रात्रोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमवस्थापयितुकामोऽस्मि"
(अं० ५, प० २३ के पूर्व)

२. इसके लिए देखिए वाल्मीकि रामायण का 'पितृपैतामहीं पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम्'। स्मरण रहे, यह सुदामा पर्वत के पहले का प्रदेश है। फलतः यहीं से त्रिगर्त पर प्रवरसेन का आक्रमण हुआ होगा। राजतरंगिणी में उसके मामा का उल्लेख है ही।

'त्रिगर्त' की राजधानी 'नगरकोट' (?) में प्रवरसेन को समाचार मिला कि मातृगुप्त 'जगतसुख'[1] (?) में पड़ाव डाले है। फिर तो दोनों नरपुंगवों में जो बातचीत हुई सो हुई ही। परिणाम उसका यह रहा कि—

अथ वाराणसीं गत्वा कृतकाषायसंग्रहः।
सर्वं संन्यस्य सुकृती मातृगुप्तोभवद्यतिः ॥३२०॥
राजा प्रवरसेनोपि कश्मीरोत्पत्तिमञ्जसा।
निखिलां मातृगुप्ताय प्राहिणोद्दृढनिश्चयः ॥३२१॥
स हठात्पतितां लक्ष्मीं भिक्षाभुक्प्रतिपादयन्।
सर्वार्थिभ्यः कृती वर्षान्दश प्राणानधारयत् ॥३२२॥

[वही]

कल्हण इस त्रयी के उपसंहार में किस उल्लास से कहते हैं—

---

१. मातृगुप्त ने विक्रमादित्य के निधन का समाचार सुना तो काशी-वास के लिए चल पड़ा। विदित होता है कि इसी यात्रा में वह लौह लेख लिखा गया जो आज मेहरौली में विराजमान है। मातृगुप्त की इस समय जो स्थिति थी और जिस परिस्थिति में विक्रमादित्य का अन्त हुआ था, उसको सामने रखकर उक्त लेख का अध्ययन करें तो सारा रहस्य आप ही खुल जाय। मातृगुप्त कहते भी हैं—

यन्ममोपकृतं तेन तद्विना प्रत्युपक्रियाम्।
जीर्णमेवाधुनांगेषु प्रभवत्वेष निश्चयः ॥३१६॥
या गतिर्भूभुजोमुष्य मया तामनुगच्छता।
पात्रापात्रविवेक्तृत्वख्यातिर्नेया प्रकाशताम् ॥३१७॥
एतावत्येव कर्तव्ये यातेस्मिन्कीर्तिशेषताम्।
भोगमात्रपरित्यागाद्विदध्यां सत्यसंधताम् ॥३१८॥

(राजतरंगिणी, ३ तरंग)

सब की तो नहीं पर अपनी जानते हैं कि मेहरौली का लौह स्तम्भ इसी मुख से बोल रहा है। तनिक 'ख्याति' और 'कीर्ति' पर ध्यान तो दें फिर कहें कि आपका पक्ष वास्तव में क्या है?

अन्योन्यं साभिमानानामन्योन्यौचित्यशालिनाम् ।
त्रयाणामपि वृत्तान्त एष त्रिपथगापयः ॥३२३॥

[वही]

कालिदास—अस्तु, अब इस मातृगुप्त की भी थोड़ी चिन्ता होनी चाहिए क्योंकि यह कहता है—

मातृगुप्तस्ततोवादीत्कोपस्मितसिताधरः ।
अस्मानुत्सहते कश्चिन्नापकर्तुं बलाधिकः ॥२६३॥
नयता गण्यतामस्मानन्तरङ्गेन तेन हि ।
न भस्मानि हुतं सर्पिर्नोप्तं वा सस्यमूषरे ॥२६४॥

[वही]

इस मधुर फटकार का प्रवरसेन पर प्रभाव यह पड़ा कि यह गुप्त-वंश का आजीवन मित्र बन गया और—

वैरिनिर्वासितं पित्रे विक्रमादित्यजं न्यधात् ।
राज्ये प्रतापशीलं स शीलादित्यापराभिधम् ॥३३०॥
सिंहासनं स्ववंश्यानां तेनाहितहृतं ततः ।
विक्रमादित्यवसतेरानीतं स्वपुरं पुनः ॥३३१॥

[वही]

मातृगुप्त, प्रवरसेन और विक्रमादित्य के इस इतिहास पर पुराविदों ने विचार तो किया पर वह सर्वथा साधु न ठहरा। डाक्टर भाऊदाजो ने 'मातृगुप्त' को जो कालिदास सिद्ध किया था उसका[1] खंडन तो हो गया पर उससे यह सिद्ध कैसे

---

१. वस्तुतः उक्त डाक्टर महोदय के तर्क का ही खंडन किया गया है उनकी स्थापना का नहीं। हम स्वयं उक्त तर्कों से सहमत नहीं हैं और इस प्रवरसेन को 'सेतुबन्ध' के रचयिता प्रवरसेन से सर्वथा भिन्न मानते हैं। वाकाटक प्रवरसेन और दूत कालिदास का विचार हो चुका है। अब 'गोनन्द' प्रवरसेन एवं 'महाराज' कुमारगुप्त पर विचार करना है। सो इसके सम्बन्ध में सीधी सी बात यह है कि 'मातृगुप्त' ने कभी अपने आपको कश्मीर का शासक नहीं समझा। उन्होंने वहाँ जो कुछ किया सम्राट् विक्रमादित्य की ओर से ही किया और तभी

हो गया कि वस्तुतः 'मातृगुप्त' 'कालिदास' से सर्वथा भिन्न हैं। नहीं, यह हो नहीं सकता। मातृगुप्त निश्चय ही कालिदास हैं। मेहरौली के लौह स्तम्भ पर जो 'खिन्नस्य' का व्यवहार हुआ है यथार्थतः वह इसी खिन्नता का द्योतक है और इसी पड़ाव में लिखा भी गया है।

सप्तमुखानि—मेहरौली के लौहस्तम्भ के लेख को विशेष महत्त्व देने का कारण अब प्रकट होता है और अब टूटता है उसका वह पिनाक जो इतने दिनों से विद्वानों को भरमा रहा है। कहते हैं—

तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जितावाह्लिकाः।

का अर्थ है—

येन सिन्धोः सप्तमुखानि तीर्त्वा समरे वाह्लिकाः जिताः।

निवेदन है, नहीं। इसका सीधा अन्वय है—

येन सप्तमुखानि तीर्त्वा समरे सिन्धोः वाह्लिका जिताः।

आप कहेंगे—अर्थ? सो उसे भी देख लीजिए।

कहना न होगा कि आज तक विद्वानों ने जो 'सिन्धोः सप्तमुखानि' को साधु मानकर अर्थ किया है वह 'सिन्धु' के निकलने से 'गिरने' तक दौड़ता रहा है।

तक राज्य किया जब तक वे जीवित रहे। तात्पर्य यह कि उन्होंने जो कुछ किया सम्राट् विक्रमादित्य के अनुरूप किया। यही कारण है कि उन्होंने 'मधुसूदन' का मन्दिर बनवाया शिव का नहीं। कहा जा सकता है कि फिर उसका नाम 'मातृगुप्त' क्यों रखा। निवेदन है, यह नाम भी तो उसी वंश का है। इसे भी आप उसी रूप में ग्रहण क्यों नहीं करते? यह भी तो सम्राट् का ही अंश है? एक बात और। 'प्रबन्धचिन्तामणि' से विदित होता है कि कालिदास वस्तुतः 'पशुपाल' थे। 'वररुचि' की धूर्तता से उनका विवाह विक्रमादित्य की 'सुता प्रियंगुमंजरी' से हो गया। फिर किस प्रकार कालिका की उपासना से वे कवि बने, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। यहाँ तो बस इतना भर निवेदन करना है कि उनका संबंध कहाँ तक व्याप्त हो चुका है। निदान यह मानने में कोई भी आपत्ति नहीं कि अवश्य ही मातृगुप्त कालिदास हैं। इस प्रसंग के लिए देखिए 'प्रबन्ध चितामणि' सिंघी जैन ग्रन्थमाला, शान्ति-निकेतन बंगाल, सन् १९३३ ई० पृष्ठ ३-५।

नदी अपने 'नायक' समुद्र से मिलने जाती है। अतः जहाँ समुद्र से मिलती है वही उसका मुख कहा जाता है। किन्तु यहाँ इस 'मुख' से काम नहीं चलता। सिन्धु के इस 'सप्तमुख' में 'वाह्लीक' रहे कब ? 'शक सत्रप' को भी तो लोग ठीक नहीं मानते ? नहीं, 'सप्तमुखानि' का अर्थ 'गिराव' नहीं 'निकास' है। यहाँ 'मुख' का वही अर्थ है जो 'पंचमुख' या 'निशामुख' में 'मुख' का। किन्तु नदी के अर्थ में यह प्रचलित तो नहीं है ? निष्कर्ष यह कि 'सप्तमुखानि' को पकड़ो तो 'वाह्लिकाः' दूर भाग जाता है और 'वाह्लिकाः' को घेरो तो 'सप्तमुखानि' अलग टूट जाता है। दोनों की संगति बैठती नहीं। इसमें तो सन्देह नहीं कि 'येन वाह्लिकाः जिताः' ही इसमें मुख्य वाक्य है और यही मुख्य कर्म भी। सो 'वाह्लिकाः' पर ही विद्वानों को विशेष विचार करना था और यह भी तुरन्त देख लेना था कि उसका सिन्धु से क्या सम्बन्ध है। किन्तु उन्होंने ऐसा कुछ किया नहीं और 'सिन्धोः सप्तमुखानि' के चक्कर में न जाने कहाँ कहाँ भटकते रहे !

'वाह्लिकाः' के विषय में यह पहले भी कहा जा चुका है कि 'बलख' तो 'वाह्लिक' का मूल है किन्तु 'वाहीक' उसका उपनिवेश बन गया है। वाह्लीक, वाल्हीक, बाह्लिक आदि शब्दों के प्रयोग पर कुमारी[1] पद्मा मिश्रा ने जो छानबीन की है उससे प्रकट है कि आगे चल कर तीनों पर्याय हो गए हैं और वाह्लीक में ही वाहीक भी आ गए हैं। यहाँ दिखाया यह जाता है कि इसी उपनिवेश का संकेत भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इस प्रकार आया है—

हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥

[नाट्यशास्त्र, १७-३२, गा० ओ० सी०]

अथवा—

वाह्लीकभाषोदीच्यानां खसानां च स्वदेशजा ॥

[नाट्यशास्त्र, १७-५२ गा० ओ० सी०]

---

१. इंडियन कल्चर, भाग ८, अंक १, पृष्ठ ८५-८६। पर्याप्त प्रमाणों से 'वाह्लीक' में 'वाहीक' सिद्ध किया गया है और दोनों को महाभारत में पर्याय सा बताया गया है। स्वयं पंजाब में दो बाह्लीक देश दिखाए गए हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि उक्त लौह-स्तम्भ का 'वाह्लिकाः' और कुछ नहीं यही वाह्लिका है। अब आपके सामने दो वाह्लीक हैं जिनमें से एक तो 'बलख' और दूसरा पंचनद अथवा 'वाहीक में है। इन दोनों में भेद उत्पन्न करने का भला इससे सुगम मार्ग और क्या होगा कि इसे 'सिन्धोः' से बाँध दिया जाय जिससे किसीको तनिक भी भ्रम न हो कि कहाँ के 'बाह्लीक'? अवश्य ही कवि को यही 'सिन्धोः वाह्लिकाः' इष्ट है।

स्मरण रहे, ऐसा मानने का एक दृढ़ प्रमाण भी है कि वात्स्यायन मुनि ने लिखा है—

बाह्लीकदेश्या आवन्तिकाश्च ॥२२॥
चित्ररतेषु त्वासामभिनिवेशः ॥२३॥

[कामसूत्र, अधिकरण २, अध्याय ५]

और इसकी टीका में श्री जयमंगल जी कहते हैं—

बाह्लीकदेश्या उत्तरापथिकाः।

एवं उदीच्य कवि आर्यश्यामिलक भी साखी देते हैं—

एतज्जंगमं बिटतीर्थमुदीच्यानां बाह्लीकानां कारुशमलदानां चेश्वरो महाप्रतीहारो भद्रायुध एषः।

[पादताडितक पृष्ठ २०]

रही 'सिन्धु' के 'सप्तमुख' की बात, सो इसे भी देख लें। 'वात्स्यायन' का ही यह भी कथन है उसी के आगे—

सिन्धुषष्ठानां च नदीनामन्तरालीया औपरिष्टिकसात्म्याः ॥२५॥

और इसकी भी जयमंगलकृत टीका है—

सिन्धुषष्ठानां चेति। सिन्धुनदः षष्ठो यासां नदीनाम्। नद्यया विपाट् शतद्रुरिरावती चन्द्रभागा वितस्ता चेति पञ्चनद्यः। तासामन्तरालेषु भवाः।

[वही]

इससे सिद्ध ही है कि संस्कृत की परम्परा 'सिन्धु' के 'सप्तमुख' के पक्ष में नहीं है। उसमें तो 'सिन्धुषष्ठानां' का ही विधान है। और यदि कहीं हो तो उसका उल्लेख होना चाहिए। उसके अभाव में इसका प्रमाण क्या?

अस्तु, 'सिन्धोः' का खुला अर्थ है सिन्धु प्रदेश का। उसी सिन्धु प्रदेश का जिससे 'हिन्दु' बना है और बना है जिससे 'सैन्धव' जिसका अर्थ होता है 'लवण' और 'अश्व'। अर्थात् इस 'सिन्धोः' से यह भी प्रकट हो गया कि कहाँ का कौन जीता गया। खुर ('नमक की पहाड़ी') से जो 'राजा (ति) राज महाराज तोरमाण शाहि' का लेख मिला है वस्तुतः वही 'सिन्धोः वाह्लिकाः' का प्रतीक है। इस 'सिन्धु' को 'सिन्ध' समझना भारी भूल है। कारण यह कि 'वात्स्यायन' का ही यह भी वचन है—

परिस्कन्दाः कर्मकराश्चान्तःपुरेष्वनिषिद्धा अन्येऽपि तद्रूपाश्च सैन्धवानाम् ॥३६॥

[कामसूत्र, अधिकरण ५, अध्याय ६]

और सैन्धवानाम् की जयमंगली व्याख्या है—

सिन्धुनामा नदस्तस्य पश्चिमेन सिन्धुदेशस्तत्र भवानाम्।

अर्थात् यह 'सिन्धु' वर्तमान 'सिन्ध' नहीं। हाँ, उदीच्य का 'सिन्धु' है।

अच्छा, तो अब 'सप्तमुखानि' का गुर भी जान लीजिए। 'समर' के प्रसंग में 'सप्तमुखानि' का अर्थ होगा—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्तांगराज्यमुच्यते ॥

[मनुस्मृति ९-२९४]

और अब 'सप्तमुखानि तीर्त्वा' का संकेत होगा विना 'राजा, मंत्री, पुर, राष्ट्र, कोश, दंड और मित्र' के। यही क्यों? इनको भी तो उसे पार करना पड़ा? कितनी विलक्षण बात है। कोई 'समर' में जाने को उद्यत है। राज्य का 'सप्तमुख' उसके प्रतिकूल है। प्रेम का पारावार सामने उमड़ रहा है। किन्तु वाह रे वीर! तुमने सब की अनसुनी कर 'साहस' और 'सूझ' से ऐसा काम लिया कि 'स्मर' को 'समर' बना दिया और विवेक का ऐसा हाथ मारा कि वैरी का शिर कहीं और धड़ कहीं, और तभी तो तेरा राजकवि भी बोल उठा 'तीर्त्वा सप्तमुखानि'। किन्तु क्या तेरा वैरी कोई एक ही वीर था कि उसे हल कर मैदान मार लेता? नहीं। उसके तो सप्तांग थे। निदान 'समरे जिताः वाह्लिकाः'। सो कहाँ के

वाह्लीक ? बस, इसी सिन्धु के। अतः 'सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः'। निदान कवि ने उल्लास में आकर 'प्रगटत दुरत' लिख ही तो दिया—

तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः।

साहसांक—तो क्या फिर भी जानना चाहते हैं कि वह अनुपम साहसी वीर है कौन ? मेहरौली का लौह-स्तम्भ आज भी उसे 'चन्द्र' ही बता रहा है। कारण अब वह 'गुप्त' नहीं, रक्षक नहीं, भस्म होकर नामशेष रह गया है और उसका राजकवि भी विरक्त होकर 'काशी-वास' को चल पड़ा है। वह इस वीर के विषय में अधिक नहीं लिख सकता। वह 'विवरण' का भक्त नहीं, व्यंजना का विधाता है। हाँ, उस वीर के विषय में कुछ और जानने के लिए उसके साथी विशाखदत्त से पूछ देखिए। वह कभी का 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में सारा चिट्ठा खोल चुका है। फिर कालिदास उसी का पचड़ा क्यों गाएँ और क्यों न विन्दु में सिन्धु को समा दें ?

अच्छा ! तो उस वीर की प्रतिज्ञा है—

सद्वंशान्पृथुवंशविक्रमबलान्दृष्ट्वाद्भुतान्दन्तिनः,
हासस्येव गुहामुखादभिमुखं निष्क्रामतः पर्वतात्।
एकस्यापि विधूतकेसरजटाभारस्य भीताः मृगाः,
गंधादेव हरेर्द्रवन्ति बहवो वीरस्य किं संख्यया ॥

फलतः 'सप्तमुखानि तीर्त्वा' उसने 'सिन्धु के वाह्लीकों को जीत लिया' और विश्व में 'साहसांक' और 'सिंहचन्द्र' आदि अनेक वीरविरुदों से विख्यात हुआ। मेहरौली का लौहस्तम्भ और कुछ नहीं, उसीकी कर्मलीला को समेटकर आज भी इस दिव्य भूमि में किसी से कुछ कहने को खड़ा है। पर उसकी सुनने के कान कहाँ ?

दूतकर्म—तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे का अर्थ येन समरे सप्तमुखानि तीर्त्वा करके भी लगाया जा सकता है, परन्तु 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से लेकर आज तक जो सामग्री इस विषय की उपलब्ध हुई है उसके आधार पर उक्त अर्थ ही साधु तथा समीचीन समझ पड़ा है। साथ ही इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि क्यों कालिदास को ही शकारि विक्रमादित्य ने कश्मीर का शासक बनाया और क्यों कालिदास ने वहाँ 'मातृगुप्त' के नाम से शासन किया। कल्हण ने राजा-

तरंगिणी में इसके बारे में जो कुछ लिखा है वह इतना स्पष्ट है कि बरबस कालिदास को ही 'मातृगुप्त' जानने को जी चाहता है। मातृगुप्त पर विक्रमादित्य के वियोग का कितना गहरा प्रभाव पड़ा वह इसी से चट जान लिया जाता है कि उनके निधन की सूचना मिली नहीं कि मातृगुप्त ने गुप्तता का बाना उतार दिया और तुरन्त धारण कर लिया संन्यासी का वेष। तपस्वी प्रवरसेन समझाता ही रह गया पर मातृगुप्त के भरे कानों ने उसकी एक न सुनी और वह मार्ग दिखाया जिससे उसकी आँख खुल गई और वह गुप्त-वंश का पक्का मित्र बन गया और संकट के समय उसका साथ भी भरपूर दिया। बस यही कालिदास के दूतकर्म की अन्तिम झलक है। उनके दस वर्ष के शेष जीवन से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं और प्रयोजन नहीं उस वेश्या-विलास[1] से जिसके कारण उनका विनाश बताया जाता है। नहीं वह कोई और ही कालिदास होगा, किसी विक्रमादित्य का दूत कालिदास नहीं। इस कालिदास का रूप तो यह है—

गुणी च दृष्टकष्टश्च वदान्यश्च स पार्थिवः।
विक्रमादित्यतोऽप्यासीदभिगम्यः शुभार्थिनाम् ॥२५८॥
विवेचकतया तस्य श्लाघया सुरभीकृताः।
लक्ष्मीविलासाः क्ष्माभर्त्तुरशोभन्त मनीषिणः ॥२५९॥

[राजतरंगिणी, ३ तरंग]

---

१. 'भोजप्रबन्ध' की तो बात ही छोड़िए 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' में भी कहा गया है—

अथ कुमारसम्भवमहाकाव्ये नवभिः सर्गैः श्रृंगारसुरतवर्णनकुपितयोमया कालिदासकवेः शापो दत्तः। यत् त्वं स्त्रीव्यसनेन मरिष्यसि। तेन वेश्याव्यसनी बभूव। राजा श्रीविक्रमेण व्यसनिनं मत्वा तिरस्कृतः।

[सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९३६ ई०, पृष्ठ १००]

कालिदास की मृत्यु का सम्बन्ध जिस 'समस्या' पूर्ति से माना जाता है वह भिन्न भिन्न बताई गई है। एक कथा में तो उसका सम्बन्ध सिंहल के कुमारदास से भी जोड़ा गया है। कल्हण के विरक्त 'यती मातृगुप्त' का अन्त कैसे हुआ, इसे हमने नहीं देखा, पर जिस वेश्या-व्यसन के कारण कालिदास की हत्या हुई वह 'शाप'

विवादी बोल उठेगा'—मातृगुप्त' 'कालिदास' क्यों ? उत्तर होगा—कल्हण की परम्परा ही कुछ ऐसी है। देखिए न वहाँ विक्रमादित्य का नाम क्या है। कहते हैं—

तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान्हर्षापराभिधः।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत् ॥१२५॥

[राजतरंगिणी, ३ तरंग]

तथा उनके आत्मज हैं—

राज्ये प्रतापशीलं स शीलादित्यापराभिधम्।

अस्तु, हमारा कहना है कि यदि 'विक्रमादित्य' का नाम कल्हण के यहाँ 'हर्ष' एवं उनके आत्मज 'कुमार गुप्त' का 'प्रतापशील' वा 'शीलादित्य' है तो उसी न्याय और उसी ढंग से कालिदास का नाम भी 'मातृगुप्त' है। हमको तो इस मान्यता में कोई छिद्र नहीं दिखाई देता। औरों की राम जाने।

एककवि—देखिए तो सही विधि की विडंबना अथवा दैव का दुर्विपाक कि जिस कालिदास ने अपनी वचन चातुरी, वाग्पटुता और दूरदर्शिता से अपनी प्रतिभा के बल पर इतना कुछ किया और जीवनभर विक्रमादित्य के पुरुषार्थ का सारथी रहा वही आज पंडितों की मंडली में विलासी ही नहीं घोर लम्पट बना और जाने क्या क्या मडौआ करता रहा। कुशल यही रही कि इतने पर भी उसकी निपुणता मारी नहीं गई और राजा भोज की भरी सभा में भी विवश हो कवि 'बाण' को कहना ही पड़ा—

समे भवंतः सर्व एव कवयः विषमे स्थाने तु स एक एव कविः।

[भोजप्रबन्ध, १२ प्रबन्ध]

क्रान्तदर्शी कवि कालिदास ! तू धन्य है कि विरोधी भी तेरा लोहा मान रहे हैं और विपक्षी भी तेरा गुण गा रहे हैं। किन्तु, भारतवसुन्धरे ! तुझे अपने इस अनुपम रत्न की भी कुछ सुधि है ? यदि होती तो तेरी यह दशा ही क्यों होती !

का परिणाम था, लिप्सा का प्रतिफल नहीं। कालिदास ने यहाँ भी अपना करतब ही दिखाया था पर कञ्चन ने कञ्चनी को जीत लिया। तो क्या यह सच है ?

परिशिष्ट—२

कालिदास-जयन्ती

स्थिति—कविकुलगुरु कालिदास के विषय में अबतक जो कुछ कहा गया है उससे सिद्ध ही हो गया होगा कि वास्तव में कवि कालिदास की स्वतन्त्र सत्ता है। यह सत्ता मूलतः हमारी संस्कृति के मूल में कहाँ तक काम कर रही है और उसके आगे के विकास में कहाँ तक काम देने वाली है इसको भली भाँति देख रहे हैं। फिर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि वस्तुतः उनकी जयन्ती भी आज ठौर-ठिकाने से नहीं मनाई जा रही है। कहने को इसके निमित्त एक तिथि निश्चित सी हो गई है पर सच पूछिये तो अभी तक उसका विशेष सत्कार नहीं हुआ है। उद्योग करने पर भी कभी उससे इष्टसिद्धि हो सकेगी इसमें विश्वास नहीं जमता और रह रह कर यह वितर्क होता रहता है कि इससे कालिदास का ऐसा नाता क्या जो इस तिथि को ही उनकी जयन्ती का सन्मान दिया जाय। हमारी समझ में कालिदास-जयन्ती के हेतु जिस तिथि का प्रस्ताव किया गया है वह वस्तुतः कालिदास की महिमा के अनुरूप नहीं है। यह सच है कि परम्परा से कालिदास का विक्रमादित्य से अटूट सम्बन्ध है और यह भी झूठ नहीं कि जब कोई मनीषी कालिदास के अनुशीलन में लीन होता है तब वह किसी न किसी रूप में किसी न किसी विक्रमादित्य से उनका नाता अवश्य जोड़ता है। यहाँ तक कि आज भी उनका आविर्भाव काल इतना अनिश्चित होने पर भी माना जाता है किसी न किसी विक्रमादित्य के साथ ही। स्थिति को देखते हुए यह सरलता से कहा जा सकता है कि आज प्रायः द्वन्द्व रह गया है संवती विक्रमादित्य के साथ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही। कालिदास के परिशीलन से अपना पक्ष बना है द्वितीय के साथ ही। हम संवती विक्रमादित्य की सत्ता को मानते हुए भी कवि कालिदास को उनका राजकवि नहीं मान पाते। फिर भी हमारा विचार है कि हम इस अवसर पर 'कालिदास-जयन्ती' का निर्णय संवती विक्रमादित्य को ही दृष्टि में रखकर करें।

विक्रम-जयन्ती—सो प्रत्यक्ष ही है कि संवती विक्रमादित्य जहाँ के माने जाते हैं वहाँ उनके संवत् का आरम्भ होता है कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से। इस हेतु इस तिथि की सार्थकता यदि सिद्ध होती है तो इसी नाते कि वस्तुतः कालिदास संवती विक्रमादित्य के कवि थे और उन्हीं के प्रसाद से प्रकाश में आ सके थे। अतएव उन्हीं के संवत् के साथ कालिदास का संवत् चलना चाहिए; परन्तु क्या यह समीचीन और साधु भी है और सचमुच क्या इससे इस 'वाग्देवतागुरु' को महत्त्व भी मिलता है? सोचिए तो सही, जयन्ती तो आप मनाने चले हैं कवि कालिदास की और तिथि इसके लिए चुन रहे हैं राजा विक्रमादित्य की। क्यों? क्या इसके बिना आप का काम ही नहीं चल सकता? निवेदन है, कदापि नहीं। सच्ची बात तो यह है कि अभी राष्ट्र ने 'विक्रमादित्य' के महत्त्व को नहीं समझा और नहीं जाना उस सत्त्व को जो इस विरुद के पीछे सदा से काम करता रहा है। जिस दिन स्वतन्त्र राष्ट्र ने चेत लिया कि संवती विक्रमादित्य ने ऐसा कुछ सार्वभौम कार्य किया कि उसके पश्चात् जिस किसी प्राणी ने जहाँ कहीं भी जितना कुछ भी वैसा कार्य किया झट अपने आपको 'विक्रमादित्य' घोषित कर दिया—यहाँ तक कि विदेशी 'मुगल' से 'दिल्ली' को स्वतन्त्र करने वाला 'हेमू बक्काल' भी इसी पुण्य प्रेरणा से कुछ काल के लिए 'हेमचन्द्र विक्रमादित्य' बन गया—उस दिन हो गया स्वतन्त्रता का सचमुच साक्षात्कार। कारण कि यह ठहरा 'विक्रमादित्य' का प्रताप और यह रहा 'विक्रमादित्य' का आकर्षण। अतः हमारी अल्प मति में तो यही आता है कि इस तिथि को 'विक्रम-जयन्ती' सर्वत्र धूम-धाम से मनाई जाय। दीपावली का दरिद्र दूर हुआ तो फिर 'विक्रम' का उत्सव इस 'अन्नकूट' के दिन क्यों न मनाया जाय? नवीन संवत् का उदय नवीन चेतना का प्रतीक है और हमारी समझ में इसी प्रतीक का नाम है 'विक्रमादित्य'। अतएव स्वभावतः इस तिथि को सर्वत्र सरलता से 'विक्रम-जयन्ती' ठाट-बाट से मनाई जा सकती है और सरकारी छुट्टी का सदुपयोग भी जन-जन में सहज में ही हो सकता है। रही 'कालिदास-जयन्ती' की तिथि, सो उसका विचार हम आगे कर रहे हैं जिसकी उपादेयता में किसी को सन्देह नहीं और जो संवती विक्रमादित्य से भी दूर नहीं।

समीचीन तिथि—सौभाग्य की बात है कि महाकवि की रचना में एक

ऐसी भी तिथि है जिसकी उपयोगिता में कोई बाधा नहीं और जिसकी समीचीनता सर्वथा अक्षुण्ण है। नाम लिया नहीं कि काम सारा आप ही सध गया। प्रस्ताव हुआ नहीं कि समर्थन और अनुमोदन की वर्षा हुई। फिसलन बस रह गई उस रूढ़ि की जो कुछ दिनों से कुछ बन चली है और धीरे-धीरे समस्त राष्ट्र में व्यापना चाहती है। परन्तु उसका भी अपना महत्त्व है, यह पहले के विवेचन से स्पष्ट है। उसकी पुकार तो यह भी है कि उसे 'विक्रमादित्य' के ही लिए सुरक्षित रहने दिया जाय और उसका ही तो अनुरोध है कि कालिदास के लिए किसी अन्य तिथि को चुन लिया जाय? सो यहाँ भी हमारा राष्ट्रकवि हमारा गुरु है। वह आप ही इसका भी विधान कर जाता है। समय ध्यान देने का है।

प्रेमदृष्टि——सो कौन नहीं जानता कि कवि के जीवन में जो महत्त्व 'मेघदूत' का है वह उसकी किसी भी अन्य रचना का नहीं? इस रसीली रचना में किसने क्या पढ़ा है, इसको कौन कहे? किन्तु स्मरण रखने की बात है कि एक हिन्दी मनीषी की दृष्टि में—

'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी है या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी कभी मग्न हुआ करता है वह घूम घूमकर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देशप्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूपमाधुरी पर सीधी सादी प्रेमदृष्टि।

[चिन्तामणि, पहला भाग, पृष्ठ २०३]

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की भारती 'कविता क्या है' की व्याख्या में जिस 'ध्यान' का नाम लेती और जिस 'प्रेमदृष्टि' का उल्लेख करती है उसके प्रसार और परिशीलन की कितनी आवश्यकता है, यह कहने की बात नहीं। 'भारतभूमि' की इस 'रूपमाधुरी' के साक्षात्कार के बिना राष्ट्रचेतना का उदय कैसा? लोकहित की भावना 'अधिकार' में 'प्रमत्त' होने से नहीं होती। नहीं, उसके लिए तो शापतप्त करुणार्द्र हृदय अपेक्षित होता है जो किसी का अहित

नहीं चाहता। हाँ, सदा सबके हित की ही सोचता रहता है। परन्तु फिर भी लोकमर्यादा का ध्यान इतना रखता है कि यदि कोई अपने मार्ग को छोड़कर किसी के मार्ग में अड़ंगा लगाने के लिये अकारण ही आ जाय तो उसकी मरम्मत भी 'करकाग्रवृष्टिपात' से खूब कर दी जाय। यह तो रही शापग्रस्त हृदय की अनुकम्पा। किन्तु यहाँ भी ध्यान देने की बात यह है कि 'भारतभूमि' के इस 'सबसे भावुक हृदय' की यह सहृदयता मुखर होती है 'आषाढ़' में ही। 'बारहमासा' में यह मास अपना अलग महत्त्व रखता है। कहते हैं कि जिसकी 'आषाढ़' में बिगड़ गई उसकी 'बारहमास' बिगड़ी ही रहती है। ऐसी है लोकदृष्टि में आषाढ़ की महिमा। फिर भी कालिदास का ध्यान कहीं अन्यत्र है। उनके यक्ष की तो 'कार्तिक' में बिगड़ती है न? हाँ, आषाढ़ में उसे सजग और सावधान होने की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। प्रिया की प्राणरक्षा का वह जो प्रबन्ध करता है उसमें ध्यान देने योग्य है उसका यह आश्वासन—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।

कारण यह कि 'चौमासा' बीता नहीं कि—

पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं,
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु।

किन्तु सोचिए तो सही, इस 'शरच्चन्द्रिका' के दिन रह कितने जाते हैं? कितने भी रहें, कवि से इसकी जानकारी क्या? 'शार्ङ्गपाणि' के जग जाने पर फिर कष्ट कैसा? तभी तो आस्तिक प्राणी आज भी इसी दिन इस प्रभु से व्रत रखकर यह प्रार्थना करता है—

इयन्तु द्वादशी देव प्रबोधार्थं विनिर्मिता।
त्वयैव सर्वलोकानां हितार्थं शेषशायिना॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द त्यज निद्रां जगत्पते।
त्वयि सुप्ते जगन्नाथ जगत्सुप्तं भवेदिदम्॥

[विश्वपञ्चाङ्ग]

जयन्ती का दिन—भाव यह कि 'सर्वलोकहितार्थ' जिस दिन 'शार्ङ्गपाणि' का 'प्रबोध' होता है कालिदास की दृष्टि में वही 'शापमुक्ति' का दिवस है। हमारी समझ में इसी से वस्तुतः यही इस 'राष्ट्रहृदय' कवि की जयन्ती का दिन है। प्रतीत होता है कामी यक्ष इसी 'व्रत' के दिन अपने 'अधिकार' में चूक गया था जिससे उसको वर्ष भर का वियोग मिला। शिव के देश में 'विष्णु' की उपेक्षा हो गई क्या जो 'यक्ष' को यह शाप मिला? हुआ कुछ भी हो किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि कविकुलगुरु की दृष्टि में इसका महत्त्व क्या है। और सच तो यह है कि यही एक तिथि है जिसका स्वयं कवि ने स्पष्ट निर्देश किया है। फिर इसकी उपेक्षा क्यों?

सामंजस्य—कहा नहीं जा सकता किन्तु कहने को जी यही चाहता है कि हो न हो इसका कुछ रहस्य है जो शैव कालिदास 'मेघदूत' में विष्णु का इतना उल्लेख करते हैं। हमारी समझ में तो यह आता है कि परम भागवत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन को जो भारत का स्वर्णयुग कहा गया है उसका एक प्रमुख कारण है 'श्री' और 'सरस्वती' का संयोग। विष्णु और शिव की यह समन्विति। कालिदास की समीक्षा में कहते हैं 'घटखर्पर' ने कहा था—

> एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
> नूनं न दृष्टं कविना हि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी॥

ठीक ही तो है। कालिदास को इस दारिद्र्य का साक्षात्कार कब हुआ? किन्तु सच तो कहें, उनके यक्ष की स्थिति क्या है? क्या एक ही दोष के कारण उसका वर्ष भर का जीवन भार नहीं हो गया? परन्तु तो भी ध्यान देने की बात यह है कि यह दारिद्र्य-दोष शाश्वत नहीं, सहजात नहीं, कृत्रिम और उपार्जित है। कवि ने इसी से तो यक्ष को भी इतना दयनीय बना दिया है? कहाँ 'राजराज' की 'अलका' और कहाँ निर्वासित 'अनुचर' का यह 'आश्रम'! हाँ, यह आश्रम ही तो कालिदास की दृष्टि में सब कुछ है। राष्ट्रहृदय का निर्माण इसी निर्वासित राम को लेकर तो हुआ है? 'रामगिरि' से 'राम' का जो इतना लगाव दिखाया गया है और वहाँ 'मेघ' को भी जो कुछ क्षण के ही लिए सही, 'गोपवेष' में देख लिया गया है उसका कारण है इस यक्ष-हृदय को विष्णुमय

कर देना। ब्रह्मवैवर्त पुराण में इस यक्ष का नाम जो 'हेममाली' मिल गया तो अच्छा और वहीं उसकी विरहिणी जो 'विशालाक्षी' बन गई तो और भी अच्छा। इनका नाम तो कुछ न कुछ रहा ही होगा। परन्तु कालिदास को इनके नाम का पता नहीं। उनको तो बस ले-दे-कर यही बताना इष्ट है कि इसने इस दिन अपने 'अधिकार' का पालन नहीं किया। उसमें 'प्रमत्त' हो गया। उसके प्रमाद का पता नहीं। 'पुराण' को पता हो पर कालिदास को उसका पता नहीं। और हो भी तो उससे उनका प्रयोजन क्या? उनको तो अपनी मधुर भाषा में बस इतना भर बता देना है कि शिव की भूमि में 'विष्णु' का अनादर न हो। शेष-शायी भगवान् की अप्रतिष्ठा से कल्याण नहीं। भाव यह कि साम्प्रदायिक संकीर्णता को यहाँ स्थान नहीं। यह देवोत्थान का समय है। 'राष्ट्रहृदय' की जयन्ती का यह दिन! 'शिव' के यहाँ 'विष्णु' का यह आदर!! फिर 'मानवता' के विकास में बाधा क्या?

अभिमत—औचित्य ही नहीं, उपयोगिता और उपादेयता की दृष्टि से भी वास्तव में यही तिथि कालिदास की जयन्ती के लिए सर्वथा उपयुक्त और यथार्थ होगी। कारण यह कि इस दिन सभी शिक्षा-संस्थाएं खुली रहती हैं। प्रतिपदा को तो संस्कृत-पाठशालाएं यों भी नहीं लगतीं। 'दीपावली' के कारण उस दिन सर्वत्र छुट्टी रहती है। फिर इसके पश्चात् ही भ्रातृद्वितीया पड़ जाती है जिसके कारण यह तिथि कहने को ही 'कालिदास-जयन्ती' रह जाती है। सचमुच इस दिन किसी शिक्षा-संस्था में छुट्टी होने के कारण कोई 'जयन्ती' नहीं मनाई जा सकती। अतः कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को 'कालिदास-जयन्ती' का दिन ठहराना ठीक नहीं। इधर कार्तिक शुक्ला द्वादशी की स्थिति यह है कि इस दिन सभी शिक्षा-संस्थाएं खुली रहती हैं और 'हरि-बोधिनी एकादशी' के पश्चात् सर्वत्र उल्लास भी नया रहता है। फलतः हमारा यह प्रस्ताव है कि राष्ट्रचेतना के विचार से इस राष्ट्रकवि की जयन्ती इस दिन सर्वत्र एक साथ मनाई जाय और जहाँ किसी परिस्थितिवश इस दिन न मनाई जा सके वहाँ कार्तिक की पूर्णिमा तक किसी दिन सुविधानुसार मना ली जाय। कहने का भाव यह कि देवोत्थान के साथ ही देववाणी का उत्थान माना जाय और 'हरि-बोध' के साथ ही लोकबोध का भी विधान किया जाय। भारतहृदय, वाग्देवतागुरु, कवि कालिदास का अभिमत यही है। वैसे स्वतन्त्र भारत की इच्छा।

लोकवाद

१—ऋतुसंहार

स्त्रियः सुदुष्टा इव जातविभ्रमाः प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥७॥२॥

ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना वृद्धिं प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला ॥७॥३॥

सर्वं चारुतरं वसन्ते ॥२॥६॥

ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः ॥४॥६॥

२—मालविकाग्निमित्र

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ॥२॥१॥

मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥२॥

आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति ॥३॥ (प.)

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥४॥

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः ॥६॥

दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥६॥

अहो दुरासदो राजमहिमा ॥१०॥ (प.)

अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः ॥१२॥

अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः ॥१२॥

पत्तने सति ग्रामे रत्नपरीक्षा ॥१५॥ (प.)

अन्योन्यकलहप्रिययोर्मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशमः ॥१६॥ (पू.)

विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति ॥१६॥ (प.)

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥१७॥

अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्य पुनरन्याय्यं प्रकाशनम् ॥१७॥ (प.)

सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय ॥१८॥ (पू.)

प्रभवन्त्योऽपि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः ॥१८॥

सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शने न निष्णातो भवति ॥१६॥ (पू.)

प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य ॥१६॥ (प.)

प्रभवति प्रभुरात्मनः परिजनस्य ॥१६॥ (प.)

प्रायः समानविद्याः परस्परयशः पुरोभागाः ॥२०॥१॥

उपस्थितं नयनमधु संनिहितमाक्षिकं च ॥१॥२॥ (प.)

अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपविशेषस्य ॥२॥ (प.)

अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति ॥६॥ (पू.)

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः ॥७॥

मया नाम शुष्कघनगर्जितेऽन्तरिक्षे जलपानमिच्छता चातकायितम् ॥१०॥ (प.)

पण्डितसन्तोषप्रत्यया ननु मूढजातिः ॥१०॥ (प.)

दरिद्र आतुर इव वैद्येनोपनीयमानमौषधिमिच्छसि ॥११॥ (प.)

उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति ॥१२॥२॥ (प.)

निसर्गनिपुणाः स्त्रियः ॥२॥३॥ (प.)

[उचितः] उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥२॥

एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता ॥६॥ (पू.)

अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवातः ॥६॥

न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः ॥६॥ (प.)

मदः किल स्त्रीजनस्य सविशेषं मण्डनम् ॥१२॥ (प.)

चूताङ्कुरं विचिन्वत्याः पिपीलिकाभिर्दष्टम् ॥१२॥ (पू.)

अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्यः ॥१३॥ (प.)

भ्रमरसंपातो भविष्यतीति वसन्तावतारसर्वस्वभूतः किं न चूतप्रसवोऽवतंसितव्यः ॥१४॥ (पू.)

स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः ॥१४॥

परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥१५॥

अविश्वसनीयाः पुरुषाः ॥१६॥ (प.)

कर्मगृहीतेनापि कुम्भीलकेन संन्धिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति ।१६। (प.)

न शोभते प्रणयिनि जने निरपेक्षता ॥२०॥३॥ (पू.)

अविषोऽपि कदाचिद्दंशो भवेत् ॥४॥४॥ (प.)

कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥६॥

कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः ॥८॥ (पू.)
न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रवृत्तीनि विलोचनानि ॥८॥
रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः ॥१५॥ (पू.)
दर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्यां वर्षितुं विरमति ॥१५॥ (प.)
अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यति ॥१६॥
बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो बिडालिकाया आलोके पतितः ॥१७॥४॥ (प.)
कष्टः खलु संनिधिवियोगः ॥६॥५॥ (पू.)
आगामि सुखं दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयति ॥६॥ (प.)
चन्दनं खलु मया पादुकापरिभोगेण दूषितम् ॥१०॥ (पू.)
अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः ॥१२॥ (पू.)
सर्वो नववरो लज्जातुरो भवति ॥१८॥ (पू.)
जातरूपेण मणिः संयोगमर्हति ॥१८॥
प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः ॥१६॥
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम् ॥१६॥५॥

३—कुमारसंभव

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥३॥१॥
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥१२॥
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥२७॥
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥५१॥
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥५२॥
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥५६॥१॥
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥४०॥२॥
विकारे सांनिपातिके उपायाः प्रतिहतक्रियाः ॥५१॥
कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ॥५२॥
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥५५॥२॥
प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ॥१॥३॥
व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः ॥१३॥
अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥१६॥

समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥२१॥

प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥२८॥

आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥४०॥

नहीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥६३॥३॥

स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥२६॥४॥

दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥२८॥

अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः ॥४३॥

रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ॥४४॥४॥

प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥१॥५॥

पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥४॥

क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥५॥

न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥६॥

न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥१६॥

भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ॥३१॥

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥३३॥

सतां हि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥३९॥

कः करं प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ॥४३॥

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥४५॥

मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥६४॥

अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥७३॥

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥७५॥

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ॥७६॥

न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ॥७७॥

न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥७८॥

न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥८२॥

न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥८३॥

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥८६॥५॥

स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥१२॥६॥

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥१३॥
प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः ॥२०॥
विक्रियायै न कल्पन्ते संबन्धाः सदनुष्ठिताः ॥२१॥
प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरंध्रीणां प्रगल्भता ॥३२॥
यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ॥५६॥
विनियोगप्रसादा हि किंकराः प्रभविष्णुषु ॥६२॥
श्रेयसामुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिनः ॥७४॥
अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता ॥७९॥
प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ॥८५॥
भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥८६॥६॥
स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः ॥२२॥७॥
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥९३॥७॥
भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥१२॥८॥
येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥४४॥
विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥६५॥
नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसैव गुणदोषयोर्गतिः ॥६६॥८॥

४—विक्रमोर्वशीय

वसुधाधरकन्दराद्विसर्पी प्रतिशब्दोऽपि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥१७॥१॥
अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः ॥१७॥ (प.)
दुर्लभाभिनिवेशी मदनः॥
विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति ॥३॥२॥ (प.)
स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीपतरणं हि तत् ॥५॥
अतिस्नेहः खलु कार्यदर्शी ॥८॥ (प.)
अभिमुखीष्विव काङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥९॥
नास्त्यगतिर्मनोरथानाम् ॥१२॥ (पू.)
ननु प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता ॥१४॥ (प.)
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥१५॥
सर्वत्र प्रमादी वैधेयः ॥१८॥ (प.)

स्रोत्रेण गृहीतस्य कुम्भीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम् ॥१६॥ (प.)
सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥२०॥
न खल्वनिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते ॥२१॥२॥ (प.)
भवितव्यतानुविधायीनि इन्द्रियाणि ॥१॥३॥ (पू.)
स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ॥१॥
सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः ॥६॥ (प.)
शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम् ॥७॥ (प.)
अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन ॥७॥ (प.)
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणीभवति ॥८॥
अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरिका भार्यायामधिकं दक्षिणा भवन्ति ॥१२॥ (प.)
न युक्तं सुभाषितं प्रत्याचरितुम् ॥१२॥ (प.)
छिन्नबन्धे मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति—गच्छ धर्मो मे भविष्यतीति ॥१४॥ (पू.)
नोच्छ्वसिति तपनकिरणैः सूर्यस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥१६॥
किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम् । न वा तत्राश्यते न वा पीयते ।
केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना विडम्ब्यन्ते ॥१८॥ (पू.)
अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः ॥१८॥
यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम् ॥२१॥
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥२१॥३॥
दूरारूढः खलु प्रणयोऽसहनः ॥२॥४॥ (प.)
नास्ति विधेरलङ्घनीयं नाम ॥३॥ (पू.)
परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि ॥६॥ (प.)
प्रभुता रमणेषु योषितां न हि भावस्खलितान्यपेक्षते ॥२६॥
महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः ॥२७॥
स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥३१॥
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥३४॥
परिभवास्पदं दशाविपर्ययः ॥६०॥४॥
को देवतारहस्यानि तर्कयिष्यति ॥८॥५॥ (प.)

व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥१६॥
अयं सोऽर्थोऽनर्थानुबन्धः ॥१६॥ (प.)
न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता ॥१७॥
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः ॥१८॥
सूर्यः समेधयत्यग्निसग्निः सूर्यं च तेजसा ॥२०॥५॥

५—मेघदूत

(पूर्वमेघ)

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥३॥१॥
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥५॥
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥६॥
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥६॥
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः ॥१७॥
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥१६॥
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥२१॥
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥३०॥
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥४२॥
आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥५७॥
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५८॥
कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥५६॥

(उत्तरमेघ)

सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥२०॥
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥३५॥
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदूनः ॥४२॥
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥५२॥

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति ॥५५॥

प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥५७॥

६—रघुवंश

प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥३॥१॥

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥१०॥

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥१८॥

फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥२०॥

त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यङ्गुलीवोरगक्षता ॥२८॥

संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥६९॥

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥७९॥१॥

स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥४॥२॥

भक्त्योपपन्नेषु हि प्रसादचिह्नानि पुरः फलानि ॥२२॥

न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥३४॥

शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्ष्यं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ॥५३॥

स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥५६॥

एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥

संबन्धमाभाषणपूर्वमाहुः ॥५८॥२॥

त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥१३॥३॥

क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥२९॥

पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥४६॥

पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥६२॥३॥

प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥६४॥४॥

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥८६॥४॥

सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥१३॥५॥

पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥१६॥
निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥१७॥
उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥५४॥५॥
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥२२॥६॥
भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥३०॥
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥४६॥
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥६६॥
रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥७६॥
शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तम् ॥८५॥
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ॥८५॥६॥
मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥१५॥७॥
(तस्मादपावर्तत) पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥३३॥
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूमः ॥४३॥
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥५५॥
न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥७१॥७॥
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥३१॥
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥३८॥
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥४०॥
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥४३॥
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥४६॥
धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥५१॥
समदुःखसुखः सखीजनः ॥६५॥
विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ॥८३॥
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥८५॥
स्वजनाश्रु किलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥८६॥
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ॥८७॥
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥८७॥
अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम् ॥८८॥

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ ॥८६॥
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥९०॥८॥
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥७४॥९॥
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ।८०।९।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥६॥१०॥
रसान्तराण्येकरसं दिव्यं पयोऽश्नुते ॥१७॥
तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥१॥११॥
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥२॥
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥२७॥
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥५०॥
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥७५॥
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥७६॥
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥८९॥
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः ॥९२॥११॥
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥३३॥१२॥
काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥६९॥१२॥
यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥३५॥१४॥
लोकापवादो बलवान् मतो मे ॥४०॥
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥४०॥
आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥४६॥
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥४८॥
मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥५६॥
श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥६१॥
नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ॥६७॥
(तामर्पयामास) निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥८०॥१५॥
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥३॥१५॥
धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥४॥
कष्टात्कष्टतरं गता ॥४३॥

आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥६२॥१५॥
सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥१॥१६॥
रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥८॥
स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥१२॥
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥१४॥
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥३८॥
विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥४५॥
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥६९॥
स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥७४॥
प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥८०॥१६॥
धूमादग्नेः शिखा पश्चादुदयादंशवो रवेः ॥३४॥१७॥
किं तत्साध्यं यत्साधयेयुर्नसंगताः ॥३८॥
वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ॥४३॥
कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ॥४७॥
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः ॥५२॥
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥५४॥
कस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥५५॥
हीनान्यनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते ॥५८॥
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥६०॥
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥६४॥
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥६६॥
प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ॥७१॥
उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥७२॥
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥८०॥१७॥
ननन्द सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन संपत्तिफलोन्मुखेन ॥२॥१८॥
सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥१८॥
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥३८॥
मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ॥४२॥

वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ता प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥४९॥१८॥

ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥५॥१९॥

स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥४९॥१९॥

७—अभिज्ञानशाकुन्तल

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥२॥१॥

आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥११॥

भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१६॥

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१९॥

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥२१॥

न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥२४॥

अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम ॥२५॥१॥

गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः ॥१॥२॥ (पू.)

अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥१॥(पू.)

कामी स्वतां पश्यति ॥२॥

स्वयमप्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि ॥२॥ (प.)

मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥५॥

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ॥७॥

सर्वः खलु कान्तमात्मीयं पश्यति ॥७॥ (प.)

यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिड्यामभिलाषो भवेत्-
तथेयमभ्यर्थना भवतः ॥८॥ (प.)

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ॥१२॥२॥

विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य ॥७॥३॥ (प.)

स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति ॥८॥ (प.)

सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति ॥

क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते ॥१०॥ (प.)

लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥२॥३॥

क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ॥२॥ (प.)

ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥१५॥
विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ॥१६॥ (प.)
विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः ॥२३॥२॥ (पू.)
आकृतिविशेषा न गुणविरोधिनो भवन्ति ॥१॥४॥ (पू.)
कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति ॥१॥ (प.)
को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ॥२॥ (पू.)
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥३॥
दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता ॥४॥ (पू.)
पीडयन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेपदुःखैर्नवैः ॥६॥
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ॥१६॥
न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ॥१७॥ (प.)
स्नेहः पापशङ्की ॥१९॥ (प.)
अर्थो हि कन्या परकीय एव ॥२२॥४॥
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥२॥५॥
अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः ॥३॥ (प.)
भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव ॥
रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति ॥
शेषः सदैवाहित भूमिभारः ॥४॥
सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः ॥६॥ (पू.)
राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव ॥६॥ (पू.)
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥६॥
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥७॥
भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः ॥१२॥
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः ॥१२॥
अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम् ॥१३॥ (प.)
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ॥१४॥
समानयँस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥१५॥

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ॥१७॥

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥१८॥

प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणम् ॥२१॥ (प.)

सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति ॥२२॥ (पू.)

तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञो जनः कैतवस्य ॥२२॥ (पू.)

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ॥२२॥

आत्मकृतं चापलमप्रतिहतं दहति ॥२४॥ (पू.)

अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥२४॥

परातिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥२५॥

उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥२६॥

वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥२८॥५॥

सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ॥१॥६॥

नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः ॥१॥ (प.)

एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः ॥१॥ (प.)

उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः ॥४॥ (प.)

सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् ॥६॥ (पू.)

रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः ।

भवितव्यता खलु बलवती ॥८॥ (प.)

न कदापि सत्पुरुषा शोकवास्तव्या भवन्ति ॥९॥ (पू.)

ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः ॥९॥ (पू.)

कः पतिदेवतामन्यः परामष्टुंमुत्सहेत ॥९॥ (प.)

संमोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः ॥९॥ (प.)

न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः॥१०॥(पू.)

मनोरथा नाम तटप्रपाताः ॥१०॥

अवश्यंभाव्यचिन्तनीयः समागमो भवति ॥१०॥ (प.)

अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत् ॥१२॥

स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य जातः सखे प्रणयवान् मृगतृष्णि-

कायाम् ॥१६॥

एषोऽत्रभवान्नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां संक्रान्तः ॥१६॥ (प.)

पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः ॥२१॥ (प.)

सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति ॥२५॥ (प.)

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ॥२६॥

हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥२८॥

प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ॥२९॥

उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥३०॥

प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः ॥३१॥६॥

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ॥४॥

उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना ॥१२॥ (प.)

प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः ॥१२॥ (प.)

अभूमिरियमविनयस्य ॥१४॥ (पू.)

स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ॥१५॥

अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥१७॥

अनार्यः परदारव्यवहारः ॥२०॥ (प.)

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥२२॥

स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥२४॥

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः ॥

छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥३२॥

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः ॥३५॥

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ॥३५॥७॥

ग्रन्थ-सूची

अमरकोष—[क्षीरस्वामी की टीका] ले० अमरसिंह, सं० हरदत्तशर्मा और एन० जी० सरदेसाई, प्र० ओरियंटल बुक एजेन्सी, पूना सन १९४१ ई०।

अवन्तिसुन्दरीकथा—ले० दण्डी, सं० शे० कु० रामनाथ शास्त्री, दक्षिण भारत ग्रन्थमाला, त्रिचुर।

आर्यासप्तशती—ले० गोवर्धनाचार्य, सं० दुर्गाप्रसाद, प्र० काव्यमाला-सीरीज, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।

उभयाभिसारिका—[चतुर्भाणी] ले० वररुचि, सं० एम० रामकृष्ण कवि और एस० के० शास्त्री, प्र० डी० जी० शर्मा एण्ड कृष्णा, बाकेरगंज, पटना, सन १९२२ ई०।

ऐतरेयोपनिषद्—निर्णयसागर प्रेस, मुंबई।

औचित्यविचारचर्चा—ले० क्षेमेन्द्र, सं० दुर्गाप्रसाद और काशिनाथ शर्मा, प्र० काव्यमाला सीरीज, सन १८८६ ई०।

कादम्बरी—ले० बाणभट्ट, सं० काशीनाथ पाण्डुरंग परब, प्र० निर्णयसागर यन्त्रालय, मुंबई, सन १९२८ ई०।

कामसूत्र—ले० वात्स्यायन, सं० दामोदर गोस्वामी, प्र० जयकृष्णदास-हरिदासगुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस।

कालिदास-ग्रन्थावली—[दूसरा खण्ड] सं० सीताराम चतुर्वेदी, प्र० अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्, काशी सं० २००७।

काव्यमीमांसा—ले० राजशेखर, सं० सी० डी० दलाल और आर अनन्त-कृष्णशास्त्री, प्र० गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, सन १९१६ ई०।

किरातार्जुनीय—ले० भारवि, सं० शोभित मिश्र, प्र० जयकृष्णदास हरि-दासगुप्त, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस सं० २००९ वि०।

कौमुदी-महोत्सव—ले० विज्जिका, सं० म० रामकृष्ण कवि, प्र० दक्षिण भारती संस्कृत सीरीज, आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, सन १९२९ ई०।

गाथासप्तशती—ले० सातवाहन (हाल), सं० केदारनाथ और वासुदेव-शर्मा, काव्यमाला सीरीज, सन १९११ ई० ।

गुप्तसाम्राज्य का इतिहास—प्रथम भाग, ले० वासुदेव उपाध्याय, प्र० इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद सन १९३९ ई० ।

छान्दोग्योपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस, मुंबई ।

ध्रुवस्वामिनी—ले० जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका—विक्रमांक, सं० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००१ वि० ।

नाट्यदर्पण, प्रथम भाग—ले० रामचन्द्र गुणचन्द्र, सं० एल० बी० गांधी और जी के० गोंडेकर, प्र० गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, अंक ४८ सन १९२९ ई० ।

नाट्यशास्त्र—ले० भरत मुनि, सं० श्री मानवल्लि रामकृष्ण कवि, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, अंक ६८, सन १९३४ ई० ।

नारद स्मृति—ले० नारदमुनि, सं० जे० जोली, प्र० एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता ।

नैषधीयचरित—ले० श्री हर्ष, सं० शिवदत्त शर्मा, प्र० खेमराज श्रीकृष्ण-दास, मुंबई सन १९२७ ई० ।

पद्मप्राभृतक—[चतुर्भाणी] ले० शूद्रक । देखिए चतुर्भाणी ।

पादताडितक— ,, ले० आर्यश्यामिलक । ,, ,,

पार्वती-परिणय—ले० बाणभट्ट, सं० मंगेश रामकृष्ण तेलंग और वासुदेव शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, सन १९१० ई० ।

पार्वती-मंगल—[तुलसी ग्रंथावली, द्वितीय भाग] ले० तुलसीदास, सं० रामचन्द्र शुक्ल आदि, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं २००४ वि० ।

पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह—प्र० सिंघी जैन ग्रन्थमाला, सन १९३६ ई० ।

पुरुषसूक्त—ऋग्वेद, दशम मंडल, ९०वाँ सूक्त ।

पृथ्वीराजरासो, तृतीय समय—ले० चंदवरदाई, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ।

प्रबन्ध चिन्तामणि—ले० मेरुतुंगाचार्य, सं० जिनविजय मुनि, प्र० सिंघी जैन ग्रंथमाला, शान्ति-निकेतन, बंगाल, सन १९३३ ई० ।

बुद्धचरित—अश्वघोष, सं० ई० एच० जांसटन ।

भरतचरित—कृष्णकवि, सं० गणपति शास्त्री, प्र० अनन्तशयन ग्रन्थावली, त्रिवेन्द्रम् ।

भोजप्रबन्ध—ले० बल्लाल कवि, सं० श्री आशुबोध विद्याभूषण तथा श्री नित्यबोध विद्यारत्न, वाचस्पत्य, यन्त्र, कलकत्ता, सन १९२३ ई० ।

मनुस्मृति—ले० मनु, टीकाकार कुल्लूक भट्ट ।

मालतीमाधव—ले० भवभूति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, मुम्बई ।

मृच्छकटिक—ले० शूद्रक, सं० और प्र० आर० डी० करमरकर, आर्य-भूषण प्रेस, पूना ४ ।

मेघसन्देश—[विद्युल्लता टीका] पूर्ण सरस्वती, सं० श्रीकृष्ण सूरि, प्र० श्रीवाणीविलास मुद्रायन्त्रालय, श्रीरंग नगर ।

रहीम ग्रंथावली—ले० अब्दुर्रहीम खानखाना, सं० ब्रजरत्नदास ।

राजतरंगिणी—ले० कल्हण, सं० दुर्गाप्रसाद, मुम्बई ।

राजपूताने का इतिहास—प्रथम भाग, ले० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मु० वैदिक यन्त्रालय अजमेर, सं० १९८२ ।

रामचरित—ले० अभिनन्द, सं० के० एस० रामस्वामी शास्त्री, प्र० गाय-कवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, सन १९२९ ई० ।

रामचरितमानस—ले० तुलसीदास, सं० शंभुनारायण चौबे, प्र० नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००५ वि० ।

वाक्यपदीय—ले० भर्तृहरि, प्र० वाराणसी पुस्तकमाला, ब्रजभूषणदास और कम्पनी, ठठेरी बाजार, बनारस ।

वाल्मीकि रामायण—सं० शास्त्री, श्रीनिवास कट्टी मुधोलकर, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, मुंबई सन १९१२ ई० ।

वासवदत्ता—ले० सुबन्धु, सं० श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, गोवर्धन यन्त्रालय, कलकत्ता, सन १९०७ ई० ।

विक्रमस्मृतिग्रंथ—सं० सूर्यनारायण व्यास आदि, प्र० विक्रम द्वि० सहस्त्राब्दी समारोह समिति, ग्वालियर राज्य, सिन्धिया ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, ग्वालियर, सं० २००१ वि० ।

विक्रमादित्य और उनके नवरत्न—ले० ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश', प्र० मातृ-भाषा-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग, सन १९४४ ई० ।

विद्धशालभञ्जिका—ले० राजशेखर, सं० भास्कर रामचन्द्र आर्त्रे, प्र० आर्यभूषण प्रेस, पूना, सन १८८६ ई० ।

विधानपारिजात—ले० अनन्तभट्ट, सं० ताराप्रसन्न विद्यारत्न, प्र० एशियाटिक सुसाइटी आव बंगाल, ५७ पार्कस्ट्रीट कलकत्ता, सन १९०५ ई० ।

वीरमित्रोदय—ले० मित्र मिश्र, सं० नित्यानन्द पंत, प्र० जयकृष्णदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस, सन १९१३ ई० ।

बृहदारण्यकोपनिषद्—निर्णयसागर प्रेस, मुंबई ।

बृहदारण्यकवार्तिकसार—प्र० अच्युत ग्रन्थमाला, काशी ।

शिशुपालवध—ले० माघ, प्र० जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सं० १९८५ वि० ।

शृंगार प्रकाश—ले० भोजदेव, सं० वी० राघवन, अंशतः प्रकाशित ।

श्रीमद्भगवद्गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

संस्कारगणपति—ले० रामकृष्ण, सं० ढुण्ढिराज शास्त्री और मार्तण्ड-शास्त्री, प्र० जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सं० १९९५ वि० ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास—पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, काशी।

संस्कृत कवि-चर्चा— „ „ „ „

सरस्वतीकंठाभरण—ले० भोजदेव, सं० केदारनाथ शर्मा, काव्यमाला९४ ।

साहित्य मीमांसा—मंखक, सं० साम्बशिव, प्र० अनन्तशयन ग्रन्थमाला, त्रिवेन्द्रम् ।

सुभाषितरत्नभांडागार—सं० श्रीपरब, प्र० निर्णयसागर यन्त्रालय, मुंबई।

सूक्तिमुक्तावली—ले० भगदत्तजल्हण, सं० एम्बर कृष्णमाचार्य, प्र० गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा सन १९३८ ई० ।

सेतुबन्ध—ले० प्रवरसेन, सं० केदारनाथ और शिवदत्त शर्मा, प्र० काव्य-माला सीरीज, निर्णयसागर यन्त्रालय, मुम्बई सन १८९५ ई० ।

सौन्दरनन्द—ले० अश्वघोष, सं० ई० एच जांसटन, प्रा० पंजाब विश्व-विद्यालय, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, सन १९२८ ई० ।

हर्षचरित—ले० बाणभट्ट, सं० काशीनाथ पांडुरंग और वासुदेवशर्मा, प्र० निर्णयसागर यन्त्रालय, मुम्बई सन १९२५ ई० ।

हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, ले० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्र० विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, सन १९५३ ई० ।

अंग्रेजी

Alberuni's India, Vol II—E. C. Sachau, 1910.

Ancient India & South Indian History & Culture —Dr. S. Krishnaswami Ayenger, Vol I, Oriental Book Agency, Poona 1941.

Archeological Survey of India, Vol IV (Ajanta Inscriptions).

A Volume of Studies in Indology, Oriental Book Agency, Poona 2, 1941.

Corpus Indica

Early History of Kamrupa, Shillong Barua, 1933.

Eastern India, Vol III—Montgomery Martin, Leadon Hall St., London.

Epigraphia Carnatica, Vol VI

,, ,, ,, VII, Shikarpur.

,, ,, ,, XI

,, *Indica*, ,, XII

,, ,, ,, XIII

,, ,, ,, XIV

Epigraphia Indica, Vol XV

,, ,, ,, XVIII

History of Afganistan Vol I,—Sir Percy Sykes, Macmillon & Co., London 1940.

History of India—Dr. K. P. Jayaswal, Motilal Banarasidas, 1932.

History of Punjab—Syed Muhammad Latif, Calcutta Central Press Co., 1891.

History of Sanskrit Literature—Krishnamachariar, Madras.

Indian Antiquary, Vol V

,, ,, ,, VI

,, ,, ,, VII

Indian Costume (भारतीय वेषभूषा)—Ghurye, The Popular Book Depot, Bombay.

Indian Culture, Calcutta, Vol I

,, ,, ,, ,, VIII, No. I

Journal Bihar Oriental Research Society Vol X

,, ,, ,, ,, ,, ,, XVIII

,, *of the Andhra Historical Research Society* Vol II & III.

Journal of the Oriental Historical Research Society Vol X.

Kangra District Guzetteer, 1917.

Malviya Commemoration Volume, Hindu University, Banaras, 1932.

Mysore Archeological Report, 1930· Mysore.

Proceedings of the All India Oriental Conference 1933.

Proceeding of the Indian History Congress, Allahabad, 1938.

Punjab Dtsirict Gazeteers.

Select Inscriptions, by Dr. Dinesha Chandra Sarkar.

Sixth All India Oriental Conference.

Sources of Carnatic History, Vol I Shri Shrikantha Shastri, Mysore University 1940.

South Indian Inscriptions, Vol II, Part V.

The Early History of Bengal, Pramodilal Pal, M. A., The Indian Research Institute, Calcutta, 1939

The History of India—Sir H. M. Elliot, Vol I

The Kadamba-kula—George M. Moraes, Bombay.

The Maukharis—E. A. Pires, Madras E., B. G. Pal Co.

The Mind in action—Eric Berne, John Lehmann London 1949.

The Successors of Satavahanas—Dr. Dinesh Chandra Sarkar.

अनुक्रमणिका

[शब्द के सामने पृष्ठ संख्या दी हुई है]

क—पुस्तक

ख—व्यक्ति तथा स्थान

च

छ

ज

भ

म

ह

प्रणेता की अन्य प्राप्य रचनाएँ

साहित्य

१—तुलसीदास

२—केशवदास

३—हिन्दी कवि-चर्चा

४—साहित्य-संदीपिनी

५—विचार-विमर्श

भाषा

१—राष्ट्र भाषा पर विचार

२—हिन्दी गद्य का निर्माण

३—ए प्ली फार नागरी हिन्दी (अंग्रेजी में)

४—शासन में नागरी

५—नागरी का अभिशाप

विविध

१—एकता

२—मुसलमान ?

३—कुर्आन

४—तसव्वुफ अथवा सूफीमत

संपादित

१—अनुराग बाँसुरी

संस्कृत

१—शूद्रक

प्रणेता की नवीनतम रचना

तुलसी की जीवन-भूमि

"गोस्वामी तुलसीदासजी के जन्मस्थान तथा जीवनवृत्त के संबंध में कई भिन्न-भिन्न मत साहित्य-समाज में प्रचलित हैं। कोई उन्हें काशी का, राजापुर का और कोई सूकरखेत का कहता है। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने तर्क और अध्ययन की कड़ी कसौटी पर रखकर उन समस्त मतों का विवेचन करते हुये स्वयं गोस्वामीजी की रचनाओं से यह निष्कर्ष निकाला है कि वे कहाँ के थे और उनका जीवनवृत्त क्या था। लेखक ने गोस्वामीजी के समसामयिक संतों और कवियों की रचनाओं की, सरकारी कागज-पत्रों की तथा ऐसी समस्त अन्यान्य सामग्री की छानबीन अत्यन्त बारीकी से की है और उन्हीं के आधार पर अपना पक्ष उपस्थित किया है। संक्षेप में, विद्वान् लेखक की दृष्टि बड़ी पैनी और सूक्ष्म तथा सिद्धांत सर्वथा मौलिक हैं। तुलसी का अध्ययन करने-वालों के लिये इस ग्रंथ का परिशीलन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। बढ़िया ऐंटिक कागज पर छपी तीन सौ से अधिक पृष्ठों की पक्की जिल्द की इस पुस्तक का मूल्य केवल ३) है।"

—नागरीप्रचारिणी पत्रिका।

प्रकाशक—श्री सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, पो० ब० ७५ बनारस
मुद्रक—श्री शान्तिलाल जैन, जैनेन्द्र प्रेस, नेपाली खपरा, बनारस